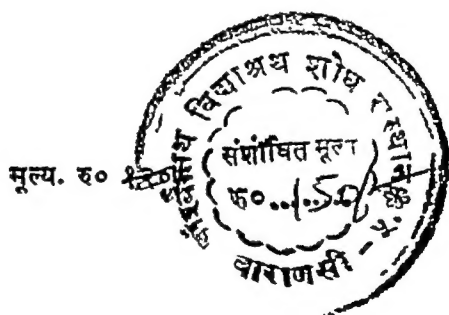


भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त

प्रकाशक एव प्राप्ति-स्थान
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान
आई० टी० आई० रोड
वाराणसी-२२१००५

प्रकाशन-वर्ष
१९८१



मुद्रक
पाठ—तारा प्रिंटिंग वर्क्स, कमचूडा, वाराणसी
चित्र—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी

प्रकाशकीय

जैन प्रतिमाविज्ञान पर हिन्दी भाषा में अद्यावधि दो-तीन लघुकाय कृतिया ही प्रकाशित हुई हैं। डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी की यह विशालकाय कृति न केवल गवेषणापूर्ण अध्ययन पर आधारित है, अपितु विषय को काफी गहराई से एव व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है। आशा है विद्वत् जगत् में इस कृति को समुचित स्थान प्राप्त होगा।

भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में जैन प्रतिमाओं का ऐतिहासिकता एव कला-पक्ष दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जैन प्रतिमाविज्ञान में जिन प्रतिमाओं के साथ-साथ यक्ष-यक्षी युगलो, विद्यादेवियों और सरस्वती आदि की प्रतिमाओं का भी विशिष्ट स्थान रहा है। डॉ० तिवारी ने इन सबको अपने ग्रन्थ में समाहित किया है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी पार्श्वनाथ विद्याश्रम के शोध छात्र रहे हैं और उनको अपने शोध-प्रबन्ध 'उत्तर भारत में जैन प्रतिमाविज्ञान' पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा ई० सन् १९७७ में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। प्रस्तुत कृति उनकी उक्त गवेषणा का सशोधित रूप है जिसको प्रकाशित कर पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करते हुए मुझे अति प्रसन्नता हो रही है।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली एव जीवन जगन् चैरिटेबल ट्रस्ट, फरोदाबाद ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, इस हेतु मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। इस सहायता के कारण ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका है। मैं लालमाई दलपतमाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, जैन जर्नल, कलकत्ता तथा भारत कला भवन, वाराणसी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु कुछ चित्रों के ब्लाक्स उपलब्ध कराकर सहयोग प्रदान किया है।

मैं संस्थान के निदेशक, डॉ० सागरमल जैन, डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी एव डॉ० हरिहर सिंह का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थ के मुद्रण एव प्रूफरीडिंग सम्बन्धी उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर इस प्रकाशन को सम्भव बनाया है।

अन्त में मैं संस्थान के मानद मन्त्री माई भूपेन्द्रनाथ के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिनके प्रयत्नों के कारण ही संस्थान के प्रकाशन कार्यों में अपेक्षित प्रगति हो रही है।

शादीलाल जैन

अध्यक्ष

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र

जयपुर

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी-२२१००५

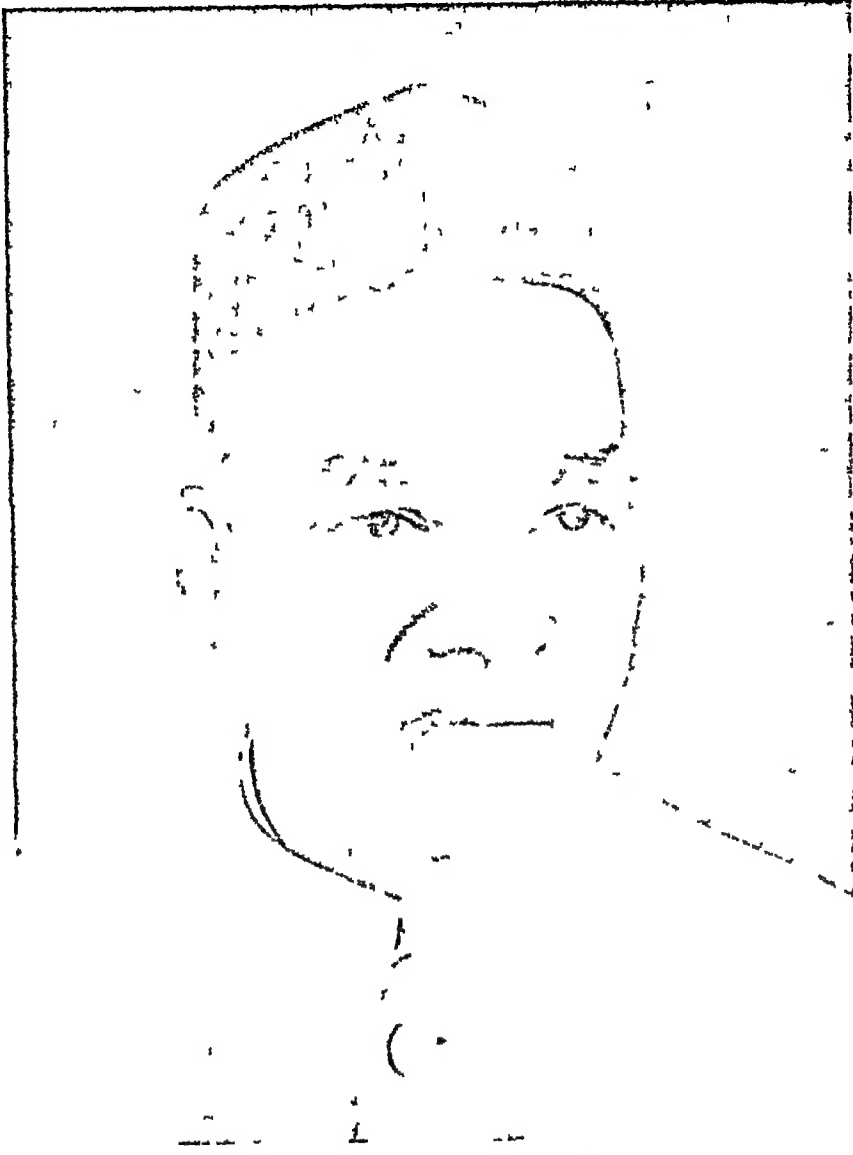
दुर्बलता नहीं रहती, अतः वे कल्याण का उपदेश देकर असंख्य प्राणियों के जीवन को धर्ममय बनाने में सफल होते हैं। दूसरा उपाय है दण्ड द्वारा लोक जीवन को अधर्म से विमुक्त करना। ऐसे व्यक्ति लोकनायक कहलाते हैं। इन (लोकनायको) में मुख्य चक्रवर्ती, नारायण और बलभद्र होते हैं। पहला उपाय सृजनात्मक है और दूसरा निषेधात्मक। पहला उपाय है—अधार्मिकों के जीवन में से अधर्म दूर करके उन्हें धार्मिक बनाना अर्थात् हृदय परिवर्तन द्वारा धर्म की स्थापना जब कि दूसरा उपाय है—अधर्मियों और दुष्टों को दण्ड भय द्वारा अधर्माचरण और दुष्टता में रोकना। न मानने पर उन्हें दण्डित करना। हृदय परिवर्तन का प्रभाव स्थाई होता है। प्राणी का कल्याण हृदय-परिवर्तन द्वारा ही हो सकता है, जब कि दण्ड केवल भय उत्पन्न करके अस्थायी रूप से दुष्टता का निवारण कर सकता है। इसलिये धर्म नायक तीर्थकरो की मान्यता और प्रभाव सर्वोपरि है।

इन धर्मनायको का इतिहास पुराणों और कथा ग्रन्थों में सुरक्षित है किन्तु लोक भाषा में एक ही ग्रन्थ में सब नायको का इतिहास नहीं मिलता। इसलिये ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है, जिसमें सरल भाषा और सुबोध शैली में इन धर्मनायको और लोकनायको का इतिहास हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ-निर्माण का इतिहास

उपर्युक्त आवश्यकता के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास' की संयोजना की गई है। इस संयोजना के सूत्रधार पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज रहे हैं। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में एक ऐसे ग्रन्थ का निर्माण किया जाय, जिसमें चौबीस तीर्थकरो का पावन चरित्र गुम्फित हो। साथ ही जिसमें चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और प्रतिनारायणों का भी चरित्र हो। उन्होंने अपनी यह इच्छा मुझे पर व्यक्त की और यह कार्य भार लेने के लिये मुझे आदेश दिया। मैं आजकल 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थों का इतिहास' तैयार करने में व्यस्त हूँ, जो भारतीय ज्ञानपीठ के तत्वावधान में भारत-वर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी की ओर से पाँच भागों में तैयार हो रहा है। इस व्यस्तता के कारण मैंने विनम्रतापूर्वक आचार्य महाराज से अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। किन्तु आचार्य महाराज ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता और उपयोगिता का तीव्रता से अनुभव कर रहे थे। उन्होंने स्वनामधन्य साहू शान्ति प्रसाद जी से अपनी यह इच्छा व्यक्त की। साथ ही उन्होंने यह दायित्व मुझे सौंपने का आग्रह किया। मान्य साहू जी भी ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता से सहमत थे। अतः उन्होंने मुझमें यह दायित्व स्वीकार करने की प्रेरणा की। मैं इस दायित्व की गुरुता का अनुभव कर रहा था। किन्तु मैं इन सम्माननीय और कृपालु महानुभावों की आज्ञा की उपेक्षा करने का साहस न कर सका और मैंने बड़े सकोच के साथ यह दायित्व ओढ़ लिया।

तभी मैंने विचार किया कि यदि त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र की तरह भगवान महावीर की परम्परा के दिगम्बर जैन आचार्यों, भट्टारकों, कवियों और लेखकों का भी इतिहास तैयार किया जा सके तो भगवान ऋषभदेव से लेकर अबतक का दिगम्बर जैन धर्म का यह एक सर्वाङ्ग सम्पूर्ण इतिहास हो जायगा। अब तक न तीर्थकरो आदि का चरित्र आधुनिक शैली में हिन्दी भाषा में लिखा गया और न आचार्यों के इतिहास से सम्बन्धित ही कोई ग्रन्थ लिखा गया। तीर्थकरो आदि के चरित्र प्राचीन पुराणों आदि में तो अवश्य गुम्फित मिलते हैं, किन्तु एक तो वे प्राकृत, संस्कृत या अपभ्रंश भाषा में हैं, दूसरे उनकी अपनी वर्णन शैली है, जिसमें कथाओं में अन्तर्गत कथाएँ, भव-भवान्तरो का निरूपण, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों के द्वारा चरित्र निरूपण और सिद्धान्तों और उपदेशों की बहुलता रहती है। आज का व्यस्त किन्तु जिज्ञासु पाठक सरल भाषा में संक्षेप में तीर्थकरो आदि का चरित्र पढ़ना चाहता है। इसी प्रकार जैनाचार्यों, भट्टारकों आदि के सम्बन्ध में पत्र-पत्रिकाओं और ग्रन्थों की भूमिकाओं में परिचयात्मक सामग्री तो निकलती रही है, किन्तु संमस्त आचार्यों आदि का परिचयात्मक इतिहास सम्बन्धी कोई एक ग्रन्थ अबतक प्रकाशित नहीं हुआ। श्वेताम्बर आचार्यों के सम्बन्ध में तो इस प्रकार के कई ग्रन्थ निकल चुके हैं, किन्तु दिगम्बर आचार्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ आज तक प्रगट नहीं हुआ।



जैन विद्या के निष्काम सेवक

एव

पार्श्वनाथ विद्याश्रम

के

मानद् मन्त्री

लाला हरजसरायजी

को

सादर समर्पित

भगवान की स्तुति करते हुए उनके तीर्थ को जन्म-मरण रूप समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिए तर्ण-पथ बताया है।

तीर्थ के कर्ता तीर्थकर

तीर्थकर तीर्थ के कर्ता होते हैं। वे धर्म-तीर्थ की पुनः स्थापना करते हैं। तीर्थकर केवल चतुर्थ काल में ही उत्पन्न होते हैं। वही काल उनकी उत्पत्ति के अनुकूल होता है। एक अवगणिता या उत्सर्पिता काल में तीर्थकरों की संख्या २४ ही होती है। न इससे कम, न इससे अधिक। इसे हम प्रकृति का नियम कह सकते हैं। वे किसी अव्यक्त शक्ति के अवतार नहीं होते। [जैन धर्म में ससार की उत्पत्ति, विनाश और संरक्षण करने वाली कोई ऐंगी अव्यक्त शक्ति नहीं मानी है, जो ससार का संचालन करती हो। वस्तुतः ससार में जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक पद द्रव्य हैं, उनके अपने स्वभाव और कार्य-कारण भाव से ससार का उत्पाद, व्यव्य और ध्रौव्य माना है। आधुनिक विज्ञान भी इस कार्य-कारण भाव को स्वीकार करता है।] तीर्थकर भी मनुष्य होते हैं, किन्तु सामान्य मनुष्यों से असाधारण होते हैं। उनमें वह असाधारणता तीर्थकर नाम कर्म के कारण होती है। तीर्थकर नाम का एक कर्म होता है। उस कर्म का बन्ध उस व्यक्ति को होता है, जिसने किसी तीर्थकर, केवली या श्रुतकेवली के पाद मूल में किसी जन्म में ग्यारह अंगों का अध्ययन किया हो, दर्शन विमुक्ति आदि मोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया हो तथा भावना की हो कि मैं ससार के दुखी प्राणियों का दुख किस प्रकार दूर करूँ। ऐसी उच्च भावना और आशय वाले व्यक्ति को तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध होना है। तीर्थकर नामक कर्म प्रकृति महान पुण्य का फल होती है। इसलिये शास्त्रों में इस कर्म प्रकृति के लिये कहा गया है-‘पुण्य फला अरहन्ता’। इस महान पुण्य फल वाली तीर्थकर प्रकृति का बन्ध करके वह व्यक्ति किसी जन्म में तीर्थकर बनता है। तीर्थकर केवल क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होता है। [चूँकि तीर्थकर असाधारण पुण्य सचय करके उत्पन्न होते हैं, इसलिए असाधारण पुण्य के फलस्वरूप उन्हें असाधारण सासारिक लक्ष्मी प्राप्त होती है। उनके असाधारण पुण्य का ही यह फल है कि इन्द्र, देव, मनुष्य और तिर्यच उनके चरणों के सेवक बन जाते हैं। उनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण के अवसर पर इन्द्र और देव यहाँ आकर उनकी स्तुति करते हैं। और पाचों अवसरों पर, जिन्हें कल्याणक कहा जाता है, वे उत्सव मनाते हैं। वे अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये उनके गर्भ में आने से छह माह पूर्व से गर्भ काल अर्थात् पन्द्रह मास तक रत्न वर्षा करते हैं। केवल ज्ञान होने पर उनके लिए समवमरण को रचना करते हैं तथा विभिन्न अवसरों पर अपनी भक्ति का प्रदर्शन देवी रीति से करते हैं जो मनुष्य लोक को विस्मयकारी और अद्भुत प्रतीत होता है।]

[विदेह क्षेत्र में भरत क्षेत्र से भिन्न प्राकृतिक नियम हैं। वहाँ चौबीस नहीं, बीस तीर्थकर होते हैं और सदा बीस ही विद्यमान रहते हैं। उनके जो नाम समझे जाते हैं, उन्हीं नामों से तीर्थकर के निर्वाण होने पर दूसरा तीर्थकर उस स्थान की पूर्ति कर देता है। वहाँ पाच कल्याणकों का भी नियम नहीं है। वहाँ किसी तीर्थकर के पाच कल्याणक होते हैं, किसी के कम। कम से कम दो कल्याणक अवश्य होते हैं-केवल ज्ञान और निर्वाण कल्याणक]।

इस भरत क्षेत्र के २४ तीर्थकरों में ५ तीर्थकरों ने विवाह नहीं किया था। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। उनके नाम हैं-वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर। दिगम्बर परम्परा में ऐसी ही मान्यता है। [श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आगम ग्रन्थों की मान्यता भी इसी प्रकार है, किन्तु ‘कल्पसूत्र’ के काल से इससे भिन्न मान्यता का प्रचलन प्रारम्भ हो गया। उसके पश्चात्कालीन श्वेताम्बर आचार्यों ने भी उसी मान्यता का अनुकरण किया। किन्तु उनमें भी मत-विभिन्नता उपलब्ध होती है। वासुपूज्य, मल्लिनाथ और नेमिनाथ अविवाहित रहे तथा महावीर ने विवाह किया, इस विषय में उन आचार्यों में ऐकमत्य पाया जाता है। किन्तु पार्श्वनाथ के विवाह के सम्बन्ध में उनमें भी मतभेद है, यहाँ तक कि हेमचन्द्राचार्य ने त्रिपिट शलाका पुरुष चरित्र में एक स्थान पर पार्श्वनाथ को विवाहित लिखा है और दूसरे स्थान पर उन्हें अविवाहित घोषित किया है। लगता है,

हेमचन्द्र को पार्व्वनाथ के विवाहित होने का कल्पना कही नहीं। कल्पमृत्कार और उसका अनुकरण करने वाले आचार्या को प्राचीन परम्परागत मान्यता के विरुद्ध महावीर आदि को विवाहित होने की नवीन कल्पना क्यो करने पड़ी, यह अवश्य अनुसन्धान का विषय है। संभवतः उन्हें इस विषय में बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित बुद्ध चरित्र अनुकरणीय प्रतीत हुआ हो।

द्वितीय प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में महावीर का आहाणी देवानन्दा के गर्भ में आना, फिर इन्द्र की आज्ञा में नैगमेयी देव द्वारा उस गर्भस्थ शिशु को यशला के उदर में पहुँचाना विज्ञान की लाख दुहाई देने पर भी बुद्धि को भ्रमना नहीं है। श्वेताम्बर विद्वान् प० सुगलाल जी मधर्मा इस कल्पना को कृष्ण के गर्भपरिवर्तन की कल्पना का अनुकरण मानते हैं।

दिगम्बर परम्परा में यह मान्यता है कि तीर्थंकर दीक्षा लेने पर केवल ज्ञान की प्राप्ति तक अर्थात् छद्मस्थ काल में मौन रहते हैं। किन्तु श्वेताम्बर मान्यता ऐसी नहीं है। वहाँ महावीर को छद्मस्थ काल में चण्डकौशिक सप्रे को उपदेश देते हुए बताया है।

इन मान्यता - भेदों का उत्तरेण इसलिये किया गया है जिसमें तीर्थंकरों के सम्बन्ध में सामान्य नियमों की एकस्यता दृष्टि में आ सके। प्रस्तुत ग्रन्थ में, तीर्थंकरों के सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में जहाँ मान्यता भेद है, उमका निष्पक्ष दृष्टि में उल्लेख किया गया है।

प्रत्येक तीर्थंकर के मुनि सघ में सात प्रकार के सघ होते हैं—पूर्वघर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, विक्रिया ऋद्धिधारी, निपुण गति और वादी। इसी सघ के आधार पर प्रत्येक तीर्थंकर के मुनियों की सत्या इस ग्रन्थ में दी गई है।

एक तीर्थंकर का तीर्थकाल आगामी तीर्थंकर के तीर्थ स्थापन तक रहता है। इस प्रकार धर्म की परम्परा अविच्छिन्न रूप में चलती रहती है। किन्तु इस हुण्डावमपिणी के काल-दोष से सात काल ऐसे आये, जब धर्म की व्युत्थिति हो गयी। ये सात समय सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तजाय और धर्मनाथ के तीर्थकाल में आये। दोष तीर्थंकरों के काल में धर्म की परम्परा निरन्तर चलती रही। इसका कारण यह था कि उम समय किमी ने दीक्षा नहीं ली थी। उक्त सात तीर्थों में क्रम से पावपत्य, अर्द्धपत्य, पीनपत्य, पत्य, पीन पत्य, पत्य, और पाव पत्य प्रमाण धर्म-तीर्थ का उच्छेद रहा।

अन्तिम निवेदन और आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत ग्रन्थ समय की आवश्यकता का परिणाम है। समाज में बहुत समय से इस आवश्यकता का तीव्रता से अनुभव किया जा रहा था। यह आवश्यकता थी-तीर्थंकरों का चरित्र पौराणिक शैली से उबार कर आधुनिक परिप्रेक्ष्य, भाषा और शैली में निबद्ध किया जाय किन्तु शैली बदलने पर भी उसके मूल रूप अर्थात् मौलिक चरित्र को और विशेषताओं को सुरक्षित रखा जाय। इसके साथ-साथ यदि उनके व्यक्तित्व का समर्थन जैनेतर ग्रन्थों, इतिहास और पुरातत्व से किया जा सके तो किया जाए। ऐसे चरित्र-ग्रन्थ से तीर्थंकरों का सही परिचय पाठकों को मिल सकेगा।

परम पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने इस प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता बताते हुए मुझे इसे तैयार करने का अवसर प्रदान किया। इस कृपा के लिए मैं पूज्य आचार्य श्री का ऋणी हूँ। जो कुछ भी और जिस रूप में भी यह ग्रन्थ तैयार हो सका है, वह सब आचार्यश्री के आशीर्वाद का परिणाम है। उन्होंने न केवल मुझे यह अवसर प्रदान किया, बल्कि उन्हीं की कृपा से इसके प्रकाशन के सब साधन जुट सके। आचार्यश्री की मेरे ऊपर सदा से कृपा रही है। यह मेरी परम सौभाग्य है। उनके चरणों में मेरी वार-वार नमोऽस्तु।

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में—

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में एक आवश्यकता की पूर्ति हुई। अनेक जैनाजैन म्त्री पुरूप चौबीस तीयकरो का सरल भाषा म इतिहास जानना चाहते थे, इस ग्रन्थ में उनकी इच्छा की पूर्ति हुई। मैंने अनेक जैन मन्दिरों में म्त्री-पम्पो को इसका स्वाध्याय करते हुए देखा। यह अनेक घरों में पढ़ा जाता है। वास्तव में यह अत्यन्त लोकप्रिय हो गया है। इसकी लोकप्रियता देखकर कई लोगों ने 'जैनतीर्थकरो का इतिहास' नाम से पुस्तकें छाप दी हैं, जिनमें शब्दशः या भावशः उक्त ग्रन्थ की नकल की गई है। कई लोगों ने जैन रामायण और जैन महाभारत नाम से इस ग्रन्थ से सामग्री लेकर पुस्तकें प्रकाशन कर दी हैं। यह इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का ही प्रमाण है।

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण समाप्त हो चुका है। और इसकी माग निरन्तर बनी हुई है। इसका प्रथम संस्करण लाला केशरीचन्द श्रीचन्द जैन चावल वाले दिल्ली के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित हुआ था। इसकी लोकप्रियता को देखकर आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी के परम भक्त, धर्मानुरागी लाला राजेन्द्र कुमार जी जैन (कम्मोजी) की भावना इसे पुनः प्रकाशित करने की हुई। उन्होंने इसके लिये मेरी सहमति चाही। मैंने प्रचार की दृष्टि से सर्वप्रथम अपनी सहमति प्रदान कर दी। फलतः स्वनाम धन्य लालाजी इसे प्रकाशित कर रहे हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रथम संस्करण के समान इस संस्करण को भी लोकप्रियता प्राप्त होगी।

कुन्दकुन्द भारती
18 वीं स्पेशल इन्स्टीच्यूशनल एरिया
नई दिल्ली-110 067

बलभद्र जैन

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद		
१	जैनधर्म विश्व का अनादि सत्य आत्मा का शाश्वत रूप आत्मा और अनात्म का चिरकालिक सघर्ष अनात्म पर आत्म-विजय की राह आत्म विजय के पुरस्कर्ता-जिन जिनदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही जैनधर्म है प्राचीन साहित्य में जैन धर्म का नामोल्लेख भारतीय सस्कृति की दो धाराएँ—श्रमण और वैदिक श्रमण सस्कृति ब्राह्मण आर्हत पुरातत्व और प्राग्वैदिक सस्कृति	१—१२
२	जैनधर्म में तीर्थंकर-मान्यता पंच परमेष्ठी तीर्थंकर धर्म नेता है, धर्म-संस्थापक नहीं जैनधर्म में अवतारवाद नहीं है तीर्थंकरों के नाम तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य— वश, वर्ण, विवाह	१३—१६
३	तीर्थंकर और प्रतीक-पूजा मन्दिर-निर्माण की पृष्ठभूमि मूर्ति-निर्माण का इतिहास जैन मन्दिरों की संरचना और उनका क्रमिक विकास तीर्थंकरों के चिन्ह जैन प्रतीकों का परिचय	१७—२६
द्वितीय परिच्छेद		
	भगवान ऋषभदेव	२७—३१
१.	भगवान ऋषभदेव से पूर्वकालीन परिस्थिति काल चक्र	
	मानव की आद्य सस्कृति प्रकृति-परिवर्तन कुलकर अन्तिम कुलकर नाभिराज नाभिराज द्वारा युग-प्रवर्तन	
२	भगवान ऋषभदेव का जन्म देवों द्वारा अयोध्या की रचना नाभिराज की पत्नी मरुदेवी मरुदेवी का स्वप्न दर्शन भगवान का गर्भावतरण भगवान का जन्म-महोत्सव इन्द्र द्वारा आनन्द नाटक भगवान का नामकरण	३१—३६
३	बाल्य काल भगवान का दिव्य लालन पालन भगवान की बाल क्रीडाएँ जन्म के दस अतिशय	३६—३७
४	भगवान गृहस्थाश्रम में भगवान का विवाह पुत्र पुत्रियों का जन्म भगवान के सौ पुत्र लिपि और अक्षर विद्या का आविष्कार पुत्रों को विविध कलाओं का प्रशिक्षण	३८—४१
५	ऋषभदेव द्वारा लोक-व्यवस्था वन्य सस्कृति से कृषि सस्कृति तक वर्ण व्यवस्था कवीलो से नागर सभ्यता की ओर दण्ड-व्यवस्था विवाह व्यवस्था भगवान का राज्याभिषेक राज्य संस्थापना वश-स्थापन भगवान के विविध नाम और गृहस्थ जीवन का काल	४१—४६

६. ऋषभदेव का वैराग्य और दीक्षा
नीलाञ्जना का नृत्य और मृत्यु
भगवान का वैराग्य
पुत्रो को राज्य-विभाजन
भगवान का अभिनिष्क्रमण
भगवान की दीक्षा
प्रयाग तीर्थ
तपोभ्रष्ट मुनिवेशी मरीचि का विद्रोह ४७—५१
७. भगवान मुनि-दशा मे
भगवान की कठोर साधना
भगवान की जटाये
विद्याधर जाति पर आधिपत्य
राजकुमार श्रेयान्स द्वारा दानतीर्थ की प्रवृत्ति ५२—५६
८. भगवान को कैवल्य की प्राप्ति
कैवल्य-प्राप्ति ५७—६३
अक्षय वट
समवसरण की रचना
समवसरण और देवालय
भगवान का वैभव
श्वेताम्बर परम्परा मे मान्य चौतीस अतिशय
भगवान का परिवार
भगवान के ८४ गणधर
९. भगवान द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन ६३—६८
प्रयाग मे भगवान द्वारा धर्म चक्र-प्रवर्तन
दिव्य ध्वनि
धर्म-चक्र
भगवान के प्रचारक
भगवान का धर्म-विहार
१०. भगवान का अष्टापद पर निर्वाण ६८—७०
कैलाश मे निर्वाण
भगवान का निर्वाण-कल्याणक
सिद्धक्षेत्र कैलाश (अष्टापद)
११. नाभिराज और मरुदेवी ७१—७२
जैन पुराणो मे नाभिराज और मरुदेवी
श्रामद्भागवत मे नाभिराज और मरुदेवी
१२. ऋषभदेव का लोकव्यापी प्रभाव ७२—८५
ऋषभदेव से सम्बन्धित तीर्थ और पर्व
श्रीमद्भागवत मे ऋषभदेव
भगवान ऋषभदेव और प्रमुख वैदिक देवता
ऋषभदेव और शिवजी
ऋषभदेव और ब्रह्मा
- वैदिक साहित्य के वातरशना तथा केशो
और भगवान ऋषभदेव
जैनैतर ग्रन्थो मे ऋषभदेव
भावनात्मक एकता के प्रतीक ऋषभदेव
भरत-बाहुबली खण्ड
१३. भरत की धर्म-रचि ८६—८७
पुत्रोत्पत्ति, चक्रोत्पत्ति और भगवान को केवल
ज्ञान-प्राप्ति के तन समाचार एक समय मे
प्रथम कैवल्य-पूजा, सासारिक कार्य वाद मे
१४. भरत की दिग्विजय ८७—९०
दिग्विजय द्वारा चक्रवर्ती-पद
१५. भरत के भाई-बहनो का वैराग्य ९०—९२
ब्राह्मी और सुन्दरी का दीक्षा-ग्रहण
भाइयो का वैराग्य
१६. भरत-बाहुबली-युद्ध ९२—९६
भरत और बाहुबली का निर्णायक युद्ध
बाहुबली का वैराग्य
पोदनपुर-निर्णय
१७. चक्रवर्ती का वैभव ९६—९७
चक्रवर्ती का राज्याभिषेक
भरत का वैभव
१८. भरत द्वारा वर्ण-व्यवस्था मे सुधार ९७—९८
ब्राह्मण वर्ण की स्थापना
१९. भरत के सोलह स्वप्न ९८—१००
२०. भरत की विदेह वृत्ति १००—१०४
राज प्रासाद मे वन्दनमालाएँ
लोक मे वन्दनमाला की परम्परा
भरत की मुनि-भक्ति
भोग मे भी विराग वृत्ति
२१. भरत का निष्पक्ष न्याय १०४—१०८
सुलोचना स्वयम्बर
युवराज का अन्याय
युवराज की पराजय
चक्रवर्ती का न्याय
णमोकार मन्त्र का प्रभाव
जयकुमार का दीक्षा ग्रहण
२२. भरत का निर्वाण १०६
२३. भरत और भारत १०६—११२
भारत का प्राचीन नाम
जैन साहित्य और भारत
जैनैतर साहित्य और भारत

तृतीय परिच्छेद

भगवान् अजितनाथ	११३	११४
पूर्व भव		
भगवान् का गर्भकल्याणक		
भगवान् का जन्म महोत्सव		
भगवान् का दीक्षा ग्रहण		
भगवान् को केवलज्ञान		
भगवान् का परिवार		
भगवान् का निर्वाण कल्याणक		
भगवान् अजितनाथ का तीर्थ		
यक्ष-यक्षिणी		

सगर चक्रवर्ती	११५—११६
पट्ट खण्ड का अधिपति सगर चक्रवर्ती।	
मणिकेतु द्वारा सगर को समझाने का यत्न	
सगर द्वारा मुनि-दीक्षा	
सगर का निर्वाण	
तीर्थ के रूप में गंगा की प्रसिद्धि का कारण	

चतुर्थ परिच्छेद

भगवान् संभवनाथ	११७—११९
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
निष्क्रमण कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण महोत्सव	
श्रावस्ती	
पुरातत्व	

पंचम परिच्छेद

भगवान् अभिनन्दननाथ	१२०—१२१
पूर्व भव	
गर्भावतरण	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष यक्षिणी	

षष्ठ परिच्छेद

भगवान् सुमतिनाथ	१२२—१२३
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिवार	
मोक्ष कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	

सप्तम परिच्छेद

भगवान् पद्मप्रभ	१२४—१२७
पूर्व भव	
गर्भावतरण	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का सद्य	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
कौशाम्बी	
पभौसा	

अष्टम परिच्छेद

भगवान् सुपाश्वर्चनाथ	१२८—१३१
पूर्व भव	
गर्भकल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
सुपाश्वर्चनाथ कालीन स्तूप	
सुपाश्वर्चनाथ की मूर्तियाँ और सर्प-फण-मण्डल	
स्वस्तिक	
वाराणसी	
काशी में नाग-पूजा	
पुरातत्व	

नवम परिच्छेद

भगवान् चन्द्रप्रभ	१३२—१३४
पूर्व भव	
गर्भकर्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिवार	
भोक्ष कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
चन्द्र पुरी	

दशम परिच्छेद

भगवान् पुष्पदन्त	१३५—१३७
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
निष्क्रमण कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का सघ	
निर्वाण कल्याणक	
अपर नाम	
यक्ष-यक्षिणी	
काकन्दी	
ककुभग्राम	

एकादश परिच्छेद

भगवान् शीतलनाथ	१३८-१४१
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का सघ	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
भगवान् शीतलनाथ की जन्म-भूमि-भद्रिकापुरी	
मिथ्यादान का इतिहास	

द्वादश परिच्छेद

भगवान् श्रेयान्सनाथ	१४२—१४४
पूर्व भव	
गर्भावतरण	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिवार	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
सिंहपुरी	
त्रिपृष्ठ नारायण	१६१—१६३

त्रयोदश परिच्छेद

भगवान् वासुपूज्य	१६४—१६८
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का सघ	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
चम्पापुरी	
अचल बलभद्र, द्विपृष्ठ नारायण, तारक	
प्रतिनारायण	१६८—१६९

चतुर्दश परिच्छेद

भगवान् विमलनाथ	१७०—१७३
पूर्व भव	
जन्म कल्याणक	
गर्भ कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षी	
कम्पिला	
धर्म बलभद्र. स्वयंभुवनारायण. मध प्रतिनारायण	[१७३

पंचदश परिच्छेदः

भगवान् अनन्तनाथ	१७४—१७५
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षी	
अनन्त चतुर्दशी व्रत	१७५—१७६
पुरुषोत्तम नारायण, सुप्रभ बलभद्र, मधुसूदन	
प्रतिनारायण	१७६—१७७

षोडश परिच्छेद

भगवान् धर्मनाथ	१७८—१७९
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
रतनपुरी	
सुदर्शन, बलभद्र, पुरुषसिंह नारायण, मधुक्रोड	
प्रतिनारायण	१७९—१८०
मघवा चक्रवर्ती	१८०—१८१
सनत्कुमार चक्रवर्ती	१८१—१८३

सप्तदश परिच्छेद

भगवान् शान्तिनाथ	१८४—१८२
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाणकल्याणक	

यक्ष-यक्षिणी
हस्तिनापुर

अष्टादश परिच्छेद

भगवान् कुन्थुनाथ	१९३—१९५
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	

एकोनविंशति परिच्छेद

भगवान् अरनाथ	१९६—१९८
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का धर्म परिवार	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
सुभौम चक्रवर्ती	१९८—२०१
पूर्व भव	
परशुराम द्वारा सहस्रबाहु का सहार	
सुभौम का जन्म	
सुभौम को चक्रवर्ती पद की प्राप्ति	
नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण,	
निशुम्भ, प्रतिनारायण	२०१—२०२

विंश परिच्छेद

भगवान् मल्लिनाथ	२०३—२०५
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का सध	

निर्वाण कल्याणक यक्ष-यक्षिणी मिथिला नगरी पद्म चक्रवर्ती नन्दिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण, बलीन्द्र प्रतिनारायण	२०६ २०६—२०७
---	----------------

एकविंश परिच्छेद

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ पूर्व भव गर्भ कल्याणक जन्म कल्याणक दीक्षा कल्याणक केवलज्ञान कल्याणक भगवान् का चतुर्विध सध निर्वाण कल्याणक राजगृही-जन्म नगरी मगध साम्राज्य की राजधानी के रूप में वर्तमान राजगृह बलभद्र राम, लक्ष्मण नारायण, रावण प्रतिनारायण	२०८—२११ २११—२१२
--	--------------------

द्वाविंश परिच्छेद

जैन रामायण इक्ष्वाकुवंश, सूर्यवंश, चन्द्रवंश रघुवंश नारद की उत्पत्ति राक्षस वंश, वानर वंश राक्षस कुल में रावण का जन्म राजा जनक के भामण्डल और सीता का जन्म धनु परीक्षा और राम-सीता का विवाह भामण्डल और सीता का मिलन राम का वनवास वज्रकर्ण का कष्ट-निवारण लक्षण को वनमाला का लाभ राम का जटायु से मिलन सीता का अपहरण लका के उद्यान में सीता सुग्रीव में राम की मित्रता लक्ष्मण द्वारा कोटिशिला उठाना	२१३—२६४
---	---------

हनुमान का लका-गमन राम का लका पर आक्रमण लक्ष्मण के शक्ति का लगना रावण द्वारा बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करना रावण की मृत्यु राम का लका-प्रवेश और अयोध्या-गमन बलभद्र, नारायण की विभूति भरत घर में वैरागी राम-लक्ष्मण का राज्याभिषेक शत्रुघ्न द्वारा मथुरा-विजय सीता का परित्याग लव-कुश का जन्म और दिग्विजय सीता जी की अग्नि-परीक्षा दीर्घ सूत्री भामण्डल का करण निघन राम का वैराग्य और मोक्ष-गमन	
--	--

त्रयोविंशतितम परिच्छेद

नारद, वसु और पर्वत का संवाद प्राचीन काल में यज्ञों का रूप मत्स्य पुराण में यज्ञों के विकास का इतिहास महाभारत में वसु का चरित्र	२६५—२७१
---	---------

चतुर्विंशतितम परिच्छेद

भगवान् नमिनाथ पूर्व भव गर्भ कल्याणक जन्म कल्याणक दीक्षा कल्याणक केवल ज्ञान कल्याणक भगवान् का चतुर्विध सध निर्वाण कल्याणक यक्ष-यक्षिणी जयसेन चक्रवर्ती	२७२—२७४ २७४—२७५
--	--------------------

पंचविंशतितम परिच्छेद

भगवान् नेमिनाथ पूर्व भव हरिवंश की उत्पत्ति हरिवंश की स्थापना हरिवंश की परम्परा वसु की वंश-परम्परा में जरासन्ध	२७६—२७७ २७८—३०१
--	--------------------

महाराज समुद्रविजय का राज्याभिषेक वसुदेव की कुमार लीलाये अनेक कन्याओं के साथ विवाह रोहिणी की प्राप्ति वलभद्र वलराम का जन्म कस का जन्म और वसुदेव द्वारा वचन दान वसुदेव-देवकी का विवाह कृष्ण-जन्म कृष्ण का बाल्य-जीवन कृष्ण द्वारा देवियों का मान-मर्दन गोवर्धन पर्वत उठाने का रहस्य देवकी का पुत्र में मिलन कृष्ण की शस्त्र-विद्या का शिक्षण चाणूर और कस का वध माता-पिता से कृष्ण का मिलन सत्यभामा और रेवती का विवाह यादवों के प्रति जरासन्ध का अभियान भगवान का गर्भ कल्याणक जन्म कल्याणक यादवों द्वारा शौर्यपुर का परित्याग द्वारका नगरी का निर्माण रुक्मिणी के साथ कृष्ण का विवाह प्रद्युम्न का जन्म और अपहरण प्रद्युम्न को विजय-लाभ प्रद्युम्न की दृढ शील-निष्ठा प्रद्युम्न कुमार का माता-पिता से मिलन	३०२—३०६
महाभारत-युद्ध	
कुरुवंश राजकुमारों का प्रशिक्षण पाण्डवों का अज्ञातवास द्रौपदी-स्वयम्बर पाण्डवों का पुनः अज्ञातवास पाण्डव विराट नगर में पाण्डव द्वारिका में यादव कुल के प्रति जरासन्ध का कोप कुरुक्षेत्र में महाभारत-युद्ध माता कुन्ती और कर्ण की भेंट व्यूह रचना युद्ध का भेरी-घोष श्रीकृष्ण द्वारा जरासन्ध का वध श्रीकृष्ण द्वारा दिग्विजय	३०६—३१५

पाण्डवों का निष्कासन नेमिनाथ का शौर्य प्रदर्शन नेमिनाथ के विवाह का आयोजन भगवान का दीक्षा कल्याणक राजीमती द्वारा दीक्षा भगवान नेमिनाथ का केवलज्ञान कल्याणक भगवान का धर्म विहार भगवान का धर्म परिकर गजकुमार मुनि पर उपसर्ग भगवान की भविष्यवाणी द्वारका दाह श्रीकृष्ण का करुण निधन मोह विह्वल बलराम की प्रव्रज्या पाण्डवों की निर्वाण-प्राप्ति भगवान नेमिनाथ का निर्वाण कल्याणक जरत्कुमार की वध-परम्परा भगवान नेमिनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व श्रीकृष्ण के गुरु श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार मानने की परिकल्पना भगवान नेमिनाथ से सम्बद्ध नगर भगवान नेमिनाथ की निर्वाण भूमि—गिरनार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती श्वेताम्बर परम्परा में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हिन्दू परम्परा में ब्रह्मदत्त कथानक	३१५—३२५ ३२५—३२८ ३२८—३३२ ३३२—३३८ ३३८—३४५
--	---

षड्विंशतितम परिच्छेद

भगवान पाश्र्वनाथ पूर्व भव प्रथम भव द्वितीय भव तृतीय भव चौथा भव पाचवाँ भव छटवाँ भव सातवाँ भव आठवाँ भव नौवाँ भव गर्भ कल्याणक	३४६—३६४
---	---------

पार्श्वनाथ के माता पिता, वश
 और जन्म तिथि
 भगवान का जन्म कल्याणक
 पार्श्वनाथ और महीपोल तपस्वी
 पार्श्वकुमार का विवाह ?
 पार्श्वनाथ का वैराग्य और दीक्षा
 सम्बर द्वारा पार्श्वनाथ के ऊपर उपसर्ग
 केवलज्ञान कल्याणक
 भगवान का चतुर्विध सघ
 निर्वाण कल्याणक
 पार्श्वनाथ और सबर के भवान्तर
 यक्ष-यक्षिणी

भगवान पार्श्वनाथ का लोकव्यापी प्रभाव ३५८—३६१
 पार्श्वनाथ की जन्म नगरी—काशी
 पार्श्वनाथ की निर्वाण-भूमि सम्मेद शिखर

सप्तविंशतितम परिच्छेद

भगवान महावीर

३६५—४०६

पूर्व भव
 गर्भ कल्याणक
 जन्म कल्याणक
 जन्म-नगरी—वैशाली
 महावीर के माता-पिता
 वश और गोत्र
 नामकरण
 बाल-लीलाएँ
 चिरकुमार महावीर
 कुमारामात्य और महावीर
 जीवन्त स्वामी की प्रतिमा
 वैराग्य और दीक्षा
 रुद्रकृत उपसर्ग

चन्दनवाला का उद्धार
 केवलज्ञान कल्याणक
 गणधर का समागम
 धर्म-चक्र-प्रवर्तन
 भगवान के गणधर
 भगवान का धर्म-सघ
 भगवान की दिव्यध्वनि
 तत्कालीन राजन्य वर्ग पर भगवान का प्रभाव
 श्रेणिक विम्बसार
 वैशाली का राज-परिवार
 सिद्धार्थ
 उदायन
 शतानीक
 दशरथ
 जीवन्धरकुमार
 अन्य नरेशगण
 महावीर का लोकव्यापी प्रभाव
 महावीर के समकालीन तैथिक
 पूर्णकाश्यप
 मंखलि गोशालक
 अजितकेश कम्बल
 प्रक्रुद्ध कात्यायन
 सजय वेलट्टिपुत्र
 गौतम बुद्ध
 भगवान महावीर का परिनिर्वाण
 भगवान महावीर के यक्ष-यक्षिणी

भगवान महावीर के कल्याणक स्थान

४०६—४१०

जन्म कल्याणक स्थान
 दीक्षा कल्याणक स्थान
 केवलज्ञान कल्याणक स्थान
 निर्वाण कल्याणक स्थान

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

तीर्थंकर चरितावली

प्रथम भाग



प्रथम परिच्छेद

जैन धर्म

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। क्षुद्र कीट पतंग से लेकर महान शक्ति-सामर्थ्य और ज्ञान विवेक से युक्त देव और मानवो तक सभी की इच्छा और प्रयास सुख की प्राप्ति के लिये ही होता है। अपनी इच्छा और कामना की पूर्ति में ही सुख समायो रहता है। दूसरो द्वारा बलात् थोपा गया सुख पीडा ही विश्व का अनादि सत्य निपजाता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणी सुख की अभिलाषा करता है और उसका काम्य सुख स्वाधीनता में प्रगट होता है। अर्थात् साध्य सबका सुख है और उसका साधन स्वाधीनता है। स्वाधीनता के विना सुख मिलता नहीं, पराधीनता में दुःख जाता नहीं। स्वाधीनता ही तो सुख मिल सकता है। इसलिए सुख की उपलब्धि स्वाधीनता के विना संभव नहीं है। इसलिये कहना होगा कि सुख और स्वाधीनता ही विश्व का अनादि सत्य है और यही चरम सत्य भी है।

किन्तु यह भी सत्य है कि समग्र प्राणधारी सत्व, विश्व के समस्त जीव सुख चाहते हैं, प्रयत्न भी सुख के लिये करते हैं, किन्तु उनके हर प्रयत्न का परिणाम दुःख होता है, उनके सारे आयोजनों का परिपाक अनचाहे दुःख में होता है। सुख के लिये उनकी यह दौड़ मृग-मरीचिका बनकर रह जाती है। यह कैसी विडम्बना है कि सब सुख चाहते हैं, किन्तु सुख मिलता नहीं, दुःख नहीं चाहते, किन्तु दुःख टलता नहीं। दुःख के कटु बीज बोकर सुख के मीठे फल लगेंगे, यह कभी संभव नहीं। किन्तु प्रत्येक जीव आशा यही करता है। क्षुद्र प्राणियों की तो बात ही क्या है, बुद्धि के कौशल से सुविधा के साधनों का अम्बार इकट्ठा करने वाले मनुष्य को भी अभी समझना शेष है कि सुख के स्वादिष्ट फल सुख के वृक्ष पर ही लगेंगे और सुख का वह वृक्ष सुख का बीज बोकर ही उगेगा।

सुख का बीज स्वाधीनता है। दुःख कोई दूसरा नहीं देता, दुःख पर ही स्वाधीनता से आता है। सुख कोई दूसरा देता नहीं है, सुख स्वाधीनता में से आता है। सुख और दुःख का यह विचार अनुभव में से निकला है। यह दर्शन शास्त्र का दुरुह तत्व नहीं, यह चिन्तन का सहज फल है। दुःख मिलता है तो उसका कोई कारण भी रहा होगा। विचार करते हैं तो दृष्टि की पकड़ में दोष दूसरो का आता है। इसलिये उपालम्भ भी दूसरो को देते हैं। दुःख से बिलबिलाते हैं किन्तु दूसरो को उपालम्भ देकर हम उसका निदान करने की भ्रम से बच जाते हैं। इससे दुःख की मात्रा तो कम होती नहीं, उपालम्भ की मात्रा बढ़ जाती है। दुःख का यही एकनात्र निदान व्यक्ति के

पास शेष रह गया है। किन्तु क्या इससे दुःखो से मुक्ति मिल जाती है? निश्चय ही नहीं मिलती। तब समझना चाहिये कि दुःख का यह निदान ही गलत है। सही निदान हो तो सही उपचार की आशा की जा सकती है। गलत निदान हो तो रोग की हर औषधि व्यर्थ हो जाती है।

दुःख प्राणी मात्र का रोग है आज का नहीं, अनादि का रोग है। इस रोग को दूर करना है तो उसका सही निदान करना ही होगा। रोग का कारण पकड़ में आ जाय तो उस कारण को दूर करके रोग दूर किया जा सकेगा। रोग का कारण बना रहे और रोग दूर हो जाय, यह कभी संभव नहीं हो सकेगा।

ससार की प्रत्येक वस्तु मूलतः शुद्ध है और स्वतन्त्र भी। जब दूसरे तत्व से ससर्ग होता है, तब वस्तु अपने मूल रूप को छोड़कर अशुद्ध बनती है, उसमें विकार आता है। वह पराधीन होकर ही विकारी बनती है। ससार में प्राणी नाम का कोई मूल तत्व नहीं है। प्राणी तो प्राणधारी को कहते हैं। प्राण दस है—स्पर्शन, आत्मा का शाश्वत रूप रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाच इन्द्रिया, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु। ससार के प्रत्येक प्राणधारी जीव में इन दस प्राणों में से कम से कम चार प्राण और अधिक से अधिक दस प्राण होते हैं। इन प्राणों को लेकर ही जीवन है। प्राण है, इसीलिये तो वह प्राणी कहलाता है। किन्तु प्राण शाश्वत रहने वाले नहीं हैं। आयु की मर्यादा को लेकर प्राण है। आयु समाप्त होते ही प्राणों का वियोग हो जाता है। इसलिये प्राण नामक कोई मूलतत्व नहीं है। आत्मा मूल तत्व है, प्राण उसके साथ सयुक्त है। अतः कहना होगा कि आत्मा और प्राण दो भिन्न वस्तु हैं। इसके साथ प्राणों का सयोग-वियोग चलता रहता है। प्राणों के सयोग-वियोग की यह आख मिचौनी ही जन्म-मरण कहलाती है। किन्तु यह जन्म-मरण आत्मा का नहीं होता, प्राणों का होता है। प्राण शरीर के अंग हैं, अतः वस्तुतः जन्म-मरण आत्मा का नहीं, शरीर का होता है। प्राण और शरीर जड़ हैं, आत्मा चेतन है।

चेतन का अर्थ है ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ये दोनों उपयोग सभी आत्माओं के स्वभाव है। ये किसी के निमित्त से नहीं हैं, ये तो आत्मा के गुण धर्म हैं। (इनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गल के गुण धर्म हैं। प्राण और शरीर पुद्गल हैं। पुद्गल की पहचान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से होती है। वह अचेतन है।

आत्मा का एक गुण आनन्द है। आनन्द को ही सुख कहते हैं। आत्मा में सुख और आनन्द का अनन्त सागर लहरा रहा है, उसके स्वभाव में दुःख का लेश भी नहीं है। (दुःख जड़ पुद्गल का धर्म नहीं। पुद्गल में दुःख नाम का कोई गुण नहीं, सुख नाम का भी गुण नहीं। उसका स्वभाव तो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श है। तब प्रश्न उठता है—दुःख न आत्मा का स्वभाव है, न पुद्गल का। तब आत्मा को दुःख क्यों है?) [जबकि सुख आत्मा का स्वभाव है तो आत्मा को सदाकाल सर्वत्र सुख ही मिलना चाहिये। दुःख कभी नहीं मिलना चाहिए। किन्तु ससार के प्राणी सुखी नहीं, बल्कि दुःखी हैं। प्राणी के जीवन में सुख का आभास तक नहीं होता और दुःख प्रति पल होता है। इसलिये ससार में कोई प्राणी सुखी नहीं, सभी दुःखी हैं, ऐसा क्यों है?]

जब हम दुःख के कारणों की खोज करते हैं तो लगता है कि दुःख आत्मा ने स्वयं उपार्जित किये हैं। वह स्व में स्थित नहीं रहा, पर में स्थित हो गया। स्व में स्थित रहता तो सुख मिलता क्योंकि स्व के भीतर ही सुख रहता है। स्व के साथ अनुभूति हो तो निश्चय ही सुख प्राप्त होता है। किन्तु वह पर के साथ सलग्न हो गया, पर में स्थित हो गया, अतः उसे दुःख प्राप्त हुआ। अर्थात् स्वाश्रितता में सुख और पराश्रितता में दुःख है। 'स्वस्थ' रहे तो सुख मिले, किन्तु वह 'अस्वस्थ' रहा, अतः उसे दुःख मिला। दुःख आत्मा का रोग है। यह रोग नाना नाम-रूप वाला है, किन्तु सबका कारण एक ही है और वह है अस्वस्थता। आत्मा अपना आलम्बन छोड़कर हर क्षण हर अवसर पर पुद्गल का आलम्बन करता है। पर का आलम्बन तभी लिया जाता है, जब स्वयं पर विश्वास नहीं रह जाता। पुद्गल आत्मा से भिन्न है, पर है। आत्मा को अपने ऊपर, अपनी शक्ति पर, अपने स्वरूप पर विश्वास नहीं है, इसलिये ही उसे पुद्गल का सहारा लेना पड़ रहा है। पुद्गल का सहारा लेते-लेते वह इस स्थिति तक जा पहुँचा है कि वह अपने सुख के लिए पुद्गल पर निर्भर हो गया है। अपने भीतर रहने वाले सुख पर अविश्वास करने लगा है और यह विश्वास करने लगा है कि सुख पुद्गल में है, पुद्गल से ही उसे सुख मिल सकता है। स्पर्शन, रसना,

जैन धर्म

घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाचो इन्द्रियाँ और मन पुद्गल की रचना है। इनकी सचालक शक्तियाँ आत्मा का पुद्गल अर्थात् अनात्म के साथ सम्पर्क की परिणाम हैं। आत्मा अनात्मा की भाषा में सोचता है, उसी पर विश्वास करता है और उसी के सहारे कार्य करता है। आत्मा की यह असहाय स्थिति ही उसके सारे दुखों की मूल है।

आत्मा जब बहुत दुखी होता है तो वह इस असह्य स्थिति से छुटकारे का प्रयत्न करता है, कभी छुटकारे की भावना उसके अन्दर जागने लगती है। इस प्रकार की स्थिति कभी-कभी सत्सगति पाकर होती है, कभी सन्तो-मुनियों की अमृतवाणी सुनकर होती है, कभी सत् शास्त्र आत्म और अनात्म का अध्ययन-मनन करने पर होती है और कभी ससार के दुखों से मुक्त होने का प्रयत्न करने का चिरकालिक सघर्ष वाले अथवा मुक्त हुए महापुरुषों के जीवन से प्रेरित होकर होती है। किन्तु इस प्रकार की स्थिति प्रायः अल्पकालिक होती है। अधिकांशतः तो वह पौद्गलिक सरचनाओं के प्रति आसक्ति और उनके प्रति विभिन्न प्रकार के मानसिक द्वन्द्वों से अभिभूत ही बना रहता है। यह आसक्ति ही विषय और मानसिक द्वन्द्व ही कषाय कहलाते हैं। इन्द्रियों की अपने भोगों के प्रति आसक्ति ही विषय कहलाते हैं। दूसरों को लेकर मन में क्रोध, अहंकार, माया और लोभ की जागृति कषाय कहलाती है। वस्तुतः आत्मा अपने भीतर के इन विषय-कषायों को लेकर ही दुखी रहता है। दुख विषय-कषाय का परिणाम मात्र है, विषय-कषाय तो स्वयं दुख रूप है। ये तो ऐसी आग है जो आत्मा के सम्पूर्ण गुणों को, शान्ति एवं सुख को भस्म कर देती है। ये तो ऐसी अमर वेल है कि ये जिस आत्मा के सहारे उगती है, उसी का रस पी-पीकर बढ़ती जाती है। ये तो ऐसे विष-वृक्ष हैं कि एक बीज बोकर हजारों विष-फल लगते हैं। आत्मा अपने भीतर इन्हीं विष-बीजों को बोती रहती है और जब इसके विष वृक्ष बड़े होते हैं और उन पर विष-फल लगते हैं तो उन्हें खाकर निरन्तर बिलबिलाता और छटपटाता रहता है।

कौन आत्मा है जो सुख नहीं चाहता। किन्तु कितनी आत्मा है जो इन विषय और कषायों से मुक्त होने का प्रयत्न करती है। ससार की अधिकांश आत्माएँ तो यह भी नहीं जानती कि विषय-कषाय आत्मा के शत्रु हैं या ये आत्मा का अहित करते हैं। ये आत्माएँ तो घोर अज्ञानान्धकार में भटक रही हैं। वे दुख का सही निदान नहीं जानती, फिर दुख से उनका छुटकारा कैसे हो। शेष आत्माएँ-जिनकी सस्या अत्यल्प है—यह जानती हैं कि आत्मा के शत्रु केवल मेरे अपने ही विषय-कषाय हैं। जानती तो हैं किन्तु इसे मानती नहीं हैं, सुनकर-पढ़कर जान लिया प्रवच्य किन्तु उनकी मान्यता (विश्वास) और आचरण उन आत्माओं जैसा है, जो अज्ञान के कारण जानती तर्क नहीं। जानती हैं, किन्तु मानती नहीं, क्योंकि उन्हें पुद्गल के प्रति मोह है, उन्हें अपने प्रति आस्था नहीं, उनकी आस्था पुद्गल के प्रति है। आस्था अपने प्रति हो तो उनके भीतर आत्मा के सच्चिदानन्द रूप को पाने की ललक भी जागे। इसलिये उनका जानना भी निरर्थक हो जाता है।

किन्तु कुछेक आत्मा ही हैं जो इस तथ्य को जानती हैं, इसे मानती भी हैं और उसके लिये अपने आचरण में सुधार भी करती हैं। इस प्रकार वे ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की समन्वित एकता के द्वारा अज्ञान और मोह से सघर्ष करती हैं। पुद्गल उन्हें वलात् पथभ्रष्ट नहीं करता, उनको पथभ्रष्ट करने की सामर्थ्य तो उनके अपने भीतर के अज्ञान और मोह नामक विकार में है। ये अनादिकालीन सस्कार क्षण भर में दूर नहीं हो पाते। सत्य सकल्प का सबल लेकर इनसे सघर्ष करने का पुरुषार्थ जगाना पड़ता है। सकल्प और पुरुषार्थ में जितना तेज और बल होगा, मुक्ति की राह उतनी तीव्रता और शीघ्रता से तय होती जायगी। यह तथ्य मदा स्मरण रखना होगा कि ('आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन') अर्थात् स्वयं आत्मा ही अपना शत्रु है और आत्मा स्वयं अपना मित्र है। इस तत्त्व-दर्शन में अभाव-अभियोगों को कोई अवकाश नहीं है। यह तो आत्मा की अनन्त सामर्थ्य के प्रति अडिग आस्था का लीह-नेख है। अज्ञान और मोह आत्मा की निर्बलता के प्रमाण-पत्र हैं। इन प्रमाण-पत्रों को नष्ट कर ही आत्मा की शुचिता के दर्शन होते हैं। यह तो आत्मा का सम्पूर्ण अनात्म के प्रति—चाहे वह आत्मा का अज्ञान और मोहरूप विकार हो, चाहे पुद्गल की सरचना हो—सघर्ष की उद्घोषणा है और उस आत्म-अनात्म के सघर्ष में आत्मा की विजय की स्वीकृति है।

आत्मा अज्ञान, मोह अथवा भ्रम के कारण अनात्म पुद्गल के प्रति अपनत्व का नाता जोड़ लेता है। इस

अपनत्व की प्रक्रिया के कारण एक ऐसी आकर्षण-विकर्षण की सतत लहरे आन्दोलित होने लगती हैं कि आत्मा अपने आपको भूल जाता है और पुद्गल को अपना मान बैठता है, पुद्गल को लेकर सुख-दुःख की अनात्म पर आत्म-विजय की राह अपना लाभ-हानि मान बैठता है। इस मिथ्या मान्यता में फसकर उसका सम्पूर्ण ज्ञान और क्रिया भी मिथ्या हो जाती है। तब पुद्गल की वर्गणाये आकृष्ट होकर उसके साथ सग्लिष्ट हो जाती है। पुद्गल का यह सश्लेष ही कर्म-बन्ध कहलाता है। कर्मों के बन्धन में बद्ध होकर आत्मा जब पुद्गल के लिये ही सारा व्यापार करने लगता है।

[किन्तु गहराई में उतर कर देखे तो हम पायेंगे कि आत्मा को पुद्गल कर्मों ने कभी नहीं बाधा। उसके बन्धन तो उसके निजी विकार है। दोष पुद्गल का नहीं, स्वयं आत्मा का है। जब तक दृष्टि स्व पर न लग कर पर पर लगी है, तब तक उसके विश्वास, चिन्तन और कार्य कलाप का केन्द्र-विन्दु पर रहेगा। जब तक केन्द्र-विन्दु पर रहेगा, तब तक वह पर में ही उलझा रहेगा। और वह अपने सारे दुःखों के लिये पर को उत्तरदायी बनाता रहेगा। इन अभाव-अभियोगों के जाल को वह कभी तोड़कर बाहर नहीं निकल पायेगा। किन्तु जब अन्तर्दृष्टि पर से हट कर स्व पर केन्द्रित हो जाती है, तब उसकी अनुभूति का केन्द्र स्व बन जाता है। स्व की अनुभूति में सुख का सम्बेदन होने लगता है। दृष्टि बदली कि सृष्टि बदली। अतः आवश्यक है कि सुख के अन्वेषण की राह में कदम बढ़ाने से पहले दृष्टि बदले। मिथ्या दृष्टि को छोड़कर सम्यग्दृष्टि अपनाये। दृष्टि का सम्यक्त्व यह है कि आत्मा स्व की ओर उन्मुख हो, पर की ओर उन्मुखता बन्द करे।

[स्व की ओर उन्मुखता का अर्थ स्पष्ट समझ लें। आत्मा तो सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। उसे दुःख मिलता है अपनी भूल से। भूल से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं, जिन्हें विषय-कषाय कहते हैं। अतः दुःख की जिम्मेदारी पदार्थ की नहीं, हमारी अपनी है। अतः पदार्थों का जोड़-तोड़ करना बन्द करें। न पदार्थ हमारे सुख-दुःख का कर्ता है, न हम पदार्थ के भोक्ता हैं। न हम पदार्थ के कर्ता हैं, न पदार्थ हमारा भोक्ता है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने परिणामन का कर्ता-भोक्ता है। ससार में अनन्त पदार्थ हैं, रहे। हम उनके ज्ञाता-दृष्टा रहे। मैं अपना कर्ता-भोक्ता स्वयं हूँ, अन्य नहीं, इस दृष्टि को जगाये तो अपने प्रति आस्था जागेगी। तब यह विश्वास संतेज हो उठेगा कि मैं ही अपने दुःख का उत्तरदायी हूँ। मेरी भूल, अज्ञान और मोह ही मेरे शत्रु हैं, अन्य नहीं। यह दृष्टि आई कि पर निर्भरता और पराधीनता दूर हुई। इससे पर के प्रति आसक्ति दूर होगी और अपनी अनन्त शक्ति के प्रति विश्वास प्रबल होगा। तब हमारा ज्ञान सार्थक हो उठेगा और जो कुछ करेंगे, वह अपने लिये स्वयं करेंगे। यही स्व के प्रति उन्मुखता कहलाती है।]

ससार में ऐसे मनुष्य मिल जायेंगे, जो सिंह को चारों पैर पकड़ कर पछाड़ दे, ऐसे भी व्यक्ति मिलेंगे जो मदोन्मत्त हाथी का मद अपने मुष्टिका-प्रहार से गलित कर दें, ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो आत्म-विजय के भयानक शत्रु-वीरो को युद्ध में पराजित कर दें। ऐसे व्यक्तियों को वीर कहा जाता है। किन्तु जो पुरस्कर्ता-जिन अपने आत्म-विकारों पर विजय प्राप्त कर लें, अथवा अपने ऊपर विजय प्राप्त कर लें, ऐसे व्यक्ति विरल मिलेंगे। ऐसे आत्मजयी पुरुष 'जिन' कहलाते हैं, वे वीर नहीं महावीर कहे जाते हैं।

['जिन' किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। जो आत्म-विकारों पर सदा-सर्वदा के लिये विजय प्राप्त कर लेते हैं, उन विकारों को सदा के लिये आत्मा में से दूर कर देते हैं, ऐसे आत्मजयी व्यक्ति ही 'जिन' कहलाते हैं। आत्म-विजय किसी के अनुग्रह का फल नहीं है, वह तो आत्मा के स्व के प्रबल पुरुषार्थ से निपजती है। आत्म-विजय अस्वस्थता-परोन्मुखता से हटकर आत्मा की स्वोन्मुखता एव स्वस्थता द्वारा होती है। आत्म-विजय साधना से निष्पन्न होती है। जो आत्म विजय कर लेते हैं, उनके अन्तर की विषय-कषाय और कर्ममल नष्ट हो जाते हैं। तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप-सच्चिदानन्द रूप प्रगट हो जाता है। वे ही महाभाग 'जिन' कहलाते हैं।]

जब तक 'जिन' इस मानव-शरीर को धारण किये हुए रहते हैं, तब तक ही उन्हें 'जिन' कहा जाता है। उन्हें अर्हत्, सकल या सशरीरी परमात्मा भी कहा जाता है। जब आयु समाप्त हो जाती है और इस शरीर से

मुक्त हो जाते हैं, तब वे सिद्ध या निकल अर्थात् अशरीरी परमात्मा कहलाने लगते हैं। फिर उनका जन्म-मरण नहीं होता। उन्हें शरीर नहीं धारण करना पड़ता। उनके सम्पूर्ण विकार, समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और आत्मा का अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि सहज और वास्तविक स्वरूप प्रगट हो जाता है। वे अपने इसी स्वरूप में स्थित रहते हैं।

‘जिन’ को ही सम्मानसूचक अर्थ में जिनदेव, जिनेश्वर, जिनेन्द्र आदि शब्दों द्वारा व्यवहृत किया जाता है। आशय की दृष्टि से इन शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। इन्हीं को पूज्य अर्थ में अर्हन्त, अर्हन्त, अरिहन्त अथवा अरहन्त भी कहा जाता है। अरहन्त शब्द में शब्दार्थ की दृष्टि से यह भी आशय निगूढ है कि उन्होंने आत्मा के जो विषय, कषाय अथवा कर्म शत्रु थे, उन्होंने इन सबका नाश कर दिया।

जिनदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही जैन धर्म है

विषय और कषाय आत्मा की सहज स्वाभाविक परिणति नहीं है, ये तो वैभाविक-विकारी परिणामन हैं। इन भावनात्मक विकारों को आत्मा में से निर्मूल कर दिया, उनको जीत लिया है। इसी आशय में कहा जाता है कि उन शत्रुओं का नाश कर दिया है। विषय और कषाय रूप विकृतियों को ही राग-द्वेष कहा जाता है। इन राग-द्वेष रूप विकृतियों को जीतकर ही वीतराग और जिन बनते हैं।

उन वीतराग जिन ने आत्म-विजय का जो उपदेश दिया, जो राह बताई, उसका एक निश्चित रूप तो है, किन्तु नाम कुछ नहीं है। किन्तु लोक में व्यवहार के लिए, सुविधा के लिये, उसका एक नाम रख लिया। वह ‘जिन’ का धर्म था, अतः ‘जिन’ का धर्म ‘जैन धर्म’ कहलाने लगा। यही यह समझ लेना सचिकर होगा कि ‘जिन’ किसी अमुक व्यक्ति का नाम नहीं है, यह तो एक पदवाचक शब्द है। जिसने भी आत्म-विजय की है, वही जिन कहलाने लगा। चूँकि आत्म-विजय करने वाला वीतराग होता है, इसलिये उन्होंने आत्म-विजय के लिये जिस धर्म का उपदेश दिया, वह धर्म भी वीतराग धर्म है। उसका प्रारम्भ अथवा उसकी स्थापना किसी व्यक्ति विशेष ने नहीं की, इसलिये जैनधर्म का प्रारम्भ किसी काल-विशेष में नहीं हुआ। वह तो आत्म-विजय की चिरन्तन राह है, वह तो आत्मा के सच्चिदानन्द रूप की प्राप्ति की सार्वदेशिक और सार्वकालिक जीवन-पद्धति है। यह तो वह जीवन-दर्शन है, जिस पर चलकर ‘जिनो’ ने आत्म-विजय की है और भविष्य में भी जो आत्म-विजय करेंगे, वे इसी राह पर चलकर ही करेंगे। इसलिये कहना होगा कि जैन धर्म वस्तुतः शाश्वत सत्य है। आज धर्म सम्प्रदाय के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। किन्तु जैन धर्म सम्प्रदाय नहीं, किन्तु यह तो आत्मा के लिये है, आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाता है, आत्मा में प्रतिष्ठित होता है। इसलिये इसे आत्म-धर्म कहना तथ्य को स्वीकार करना होगा। सुविधा के लिये इसे हम जिनधर्म, जैनधर्म, अर्हन्त धर्म कह सकते हैं और चाहें तो इसे निज धर्म भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में यह बात विशेष महत्वपूर्ण है कि प्राचीन साहित्य में जैनधर्म का नामोल्लेख नहीं है। इससे उन लोगों का तर्क स्वयं खण्डित हो जाता है, जो यह कहते हैं कि जैनधर्म का उदय तथाकथित ऐतिहासिक काल की उपज है अथवा यह कि जैनधर्म की स्थापना पार्श्वनाथ अथवा महावीर ने की या यह प्राचीन साहित्य में कि जैनधर्म ब्राह्मण धर्म की हिंसामूलक यज्ञ-परम्परा की प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में जैनधर्म का नामोल्लेख आया। वस्तुतः जैनधर्म आत्म-दर्शन के रूप में उस समय से प्रतिष्ठित रहा है, जबसे आत्म-विजय की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ है। वेदत्रयी के परवर्ती साहित्य में जिन और जैन मत के स्पष्ट उल्लेख होने लगे थे। संभवतः इस काल में आकर लोग इस धर्म को जैनधर्म और उसके पुरस्कर्तियों को ‘जिन’ नाम से व्यवहृत करने लगे थे। योगवाशिष्ठ,^१ श्रीमद् भागवत्,^२ विष्णुपुराण,^३ शाकटायन व्याकरण,^४ पद्मपुराण,^५

१ योगवाशिष्ठ अ० १५ श्लोक ८

२ श्रीमद्भागवत ५।५

३ विष्णुपुराण २।१

४ शाकटायन-अनादि सूत्र २८६ पाद ३

५ पद्म पुराण (व्यकटेश प्रस) पृ० २

मत्स्यपुराण^१ आदि में जिन, जैनधर्म आदि नामों से उल्लेख मिलता है। प्राचीन साहित्य में जैनधर्म के लिये श्रमण शब्द का भी प्रयोग मिलता है। अतः श्रमण क्या है, इस पर विचार करना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति कही जाती है। भारतीय संस्कृति पावनतया गंगा है। उसमें दो महान नदियाँ आकर मिली हैं—श्रमण और वैदिक। इन दोनों के सगम से भारतीय संस्कृति की दो विशाल भारतीय संस्कृति की गंगा बनी है। न अकेली श्रमण धारा को हम भारतीय धाराएँ-श्रमण और वैदिक संस्कृति कह सकते हैं और न अकेली वैदिक धारा को हम भारतीय संस्कृति का नाम दे सकते हैं। ये दोनों धाराएँ परस्पर विरोधी लगती हैं, किन्तु दोनों ने मिलकर ही भारतीय संस्कृति का निर्माण किया है।

दोनों धाराओं की भी अपनी अपनी संस्कृति रही है। उन दोनों संस्कृतियों के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है—

“मुनि शब्द के साथ ज्ञान, तप और वैराग्य जैसी भावनाओं का गहरा सम्बन्ध है। मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्यों में बहुत ही कम हुआ है। श्रमण संस्कृति में ही यह शब्द अधिकांशतः प्रयुक्त है। पुराणों में जो वैदिक तथा वैदिकोत्तर धाराओं का समन्वय प्रस्तुत करते हैं, ऋषि और मुनि दोनों शब्दों का प्रयोग बहुत कुछ मिले जुले अर्थ में होने लगा था। दोनों संस्कृतियों में ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से भिन्नता है। ऋषि या वैदिकी संस्कृति में कर्मकाण्ड की प्रधानता और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी तो श्रमण संस्कृति या मुनि संस्कृति में अहिंसा, निरामिपता तथा विचार सहिष्णुता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी।”

श्रमण और वैदिक संस्कृति के अन्तर को सक्षेप में समझने के बाद यह समझना आवश्यक है कि श्रमण का अर्थ या आशय क्या है ?

दशवैकालिक सूत्र १७३ की टीका में आचार्य हरिभद्र सूरि ने श्रमण शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—
श्राम्यन्तीति श्रमणा तपस्यन्ते इत्यर्थः । अर्थात् जो श्रम करता है, कष्ट सहता है, तप करता है वह श्रमण है।

श्रमण शब्द की इस व्याख्या में ही श्रमण संस्कृति का आदर्श अन्तर्निहित है। जो श्रम करता है, तपस्या करता है और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करता है, वही श्रमण कहलाता है। अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करने वाले और पुरुषार्थ द्वारा आत्म-सिद्धि करने वाले क्षत्रिय होते हैं। इसलिये कहना होगा कि श्रमण संस्कृति पुरुषार्थमूलक क्षत्रिय संस्कृति रही है।

(प्राचीन वैदिक साहित्य में-विशेषतः वेदों में याज्ञिक कर्मकाण्ड द्वारा विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने और उनसे सासारिक याचना करने के विधान पाये जाते हैं। याचना करना ब्राह्मणों का धर्म है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति ब्राह्मण संस्कृति है। इसीलिये इस संस्कृति में ब्राह्मणों को ही सर्वाधिक गौरव प्रदान किया गया है। यह संस्कृति परम्परामूलक रही है।)

हमारी इस मान्यता का समर्थन वैदिक साहित्य से भी होता है। तैत्तिरीय आरण्यक में (२ प्रपाठक ७ अनुवाक १-२) में वर्णन आया है कि—

“वातरशन श्रमण ऋषि ब्रह्मपद की ओर उत्क्रमण करने वाले हुए। उनके पास अन्य ऋषि प्रयोजनवश उपस्थित हुए। उन्हें देख कर ऋषि कही अन्तर्हित हो गये। वे वातरशन कूष्माण्ड नामक मंत्र वाक्यों में अन्तर्हित थे। तब उन्हें अन्य ऋषियों ने श्रद्धा और तप से प्राप्त कर लिया। ऋषियों ने उन वातरशन मुनियों से प्रश्न किया—‘किस विद्या से आप अन्तर्हित हो जाते हैं। वातरशन मुनियों ने उन्हें निलय आये हुए अतिथि मानकर कहा—‘हे मुनिजनों! आपको नमोऽस्तु है। हम आपका सत्कार किससे करें?’ ऋषियों ने कहा—‘हमें पवित्र आत्म-विद्या का उपदेश दीजिये जिससे हम निर्णय हो जाय।’

(इस उल्लेख से स्पष्ट है कि श्रमण मुनि आत्म विद्या में निष्णात थे, जबकि वैदिक ऋषियों को आत्मविद्या

का ज्ञान नहीं था। आत्मविद्या के जानकार केवल क्षत्रिय श्रमण ही होते थे, वैदिक ऋषियों के लिये आत्मविद्या अज्ञात थी। श्रमण जैन परम्परा की यह मान्यता कि सभी तीर्थंकर केवल क्षत्रिय ही होते हैं, हमारी इस धारणा को पुष्ट करती है कि श्रमण परम्परा क्षत्रियों की परम्परा रही है।

श्रीमद्भागवत में श्रमणों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो वातरशन ऊर्ध्वमन्थी श्रमण मुनि हैं, वे शान्त, निर्मल, सम्पूर्ण परिग्रह से सन्यस्त ब्रह्म पद को प्राप्त करते हैं।'

श्रमणों की उपर्युक्त पहचान वस्तुतः सही है। इसलिये निघण्टु की भूषण टीका में श्रमण शब्द की व्याख्या इस रूप में की है—

'श्रमणा दिगम्बरा श्रमणा वातरशनाः ।'

श्रीमद्भागवत ११२ में उपर्युक्त व्याख्या का ही समर्थन इस प्रकार किया गया है—श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदा ।

श्रमण दिगम्बर मुनि होते थे। उन मुनियों को ही भागवतकार ने ऊर्ध्वरेता, वातरशना, आत्मविद्या में विशारद बतलाया है।

भागवतकार ने स्कन्ध १२ अध्याय ३ श्लोक १८-१९ में श्रमणों की जो प्रशंसा की है, वह उनके उच्च आचार-विचार की द्योतक है। महर्षि शुकदेव राजा परीक्षित को उपदेश देते हुए कहते हैं—

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृति ।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥
सन्तुष्टा करुणा मैत्रा. शान्ता दान्तास्तितिक्षवः ।
आत्मारामाः समदृश प्रायशः श्रमणा जनाः ॥

अर्थात् हे राजन! कृतयुग (सतयुग) में धर्म के चार चरण होते हैं—सत्य, दया, तप और दान। इस धर्म को उस समय लोग निष्ठापूर्वक धारण करते हैं। सतयुग में प्रायः श्रमण ही सन्तुष्ट, करुणाशील, मैत्रीपरायण, शान्त, इन्द्रियजयी, सहनशील, आत्मा में रमण करने वाले और समदृष्टि वाले होते हैं।

इस प्रकार के दिगम्बर श्रमणों का उल्लेख अति प्राचीन काल से होता आया है। ऋग्वेद १०।६४।११ में श्रमणों का सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है। रामायण (वाल्मीकि) में भी अनेक स्थलों पर श्रमणों का उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया गया है। रामचन्द्रजी ने जिस शवरी का आतिथ्य ग्रहण किया था, वह श्रमणों थी (श्रमणी शवरी नाम श्रमणा श्रमणोत्तमा)। राजा जनक जिस प्रकार तापसों को भोजन कराते थे, श्रमणों को भी वैसे ही कराते थे (तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनियों को कहा जाता था। भारत में श्रमणों का अस्तित्व अति प्राचीन काल से पाया जाता है। श्रमण आत्मविद्या में पारंगत थे। वैदिक ऋषि उनसे आत्मविद्या सीखते थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल^१ के अनुसार 'श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में दानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला।'

प्राचीन काल में जैनो को ही श्रमण कहा जाता था। प्राचीनतम भारतीय साहित्य में श्रमणों के उल्लेख मिलते हैं।

वैदिक ग्रन्थों में जैनधर्मानुयायियों को अनेक स्थलों पर ब्राह्मण भी कहा गया है। व्रतों का आचरण करने के कारण वे ब्राह्मण कहे जाते थे। संहिता-काल में ब्राह्मणों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। संहिताओं में ब्राह्मणों के लिये बड़े आदरसूचक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। जब तक वैदिक आर्य ब्राह्मणों के निकट सम्पर्क में नहीं आये थे और उनके साथ वैदिक आर्यों को निरन्तर सघर्ष करना पड़ा था, उस समय ऋग्वेद में जो मंत्र लिखे गये, उनसे ज्ञात होता है कि कीकट (मगध) देश का राजा प्रमगद था। वह ब्राह्मण था। उसके राज्य में ब्राह्मणों के पास अपार धन, गाये और वैश्व था।

^१ प्राक्कथन जैन साहित्य का इतिहास, पृ० १३

इन्द्र से अनेक मन्त्रों द्वारा उनके धन और गायों को दिलाने की प्रार्थना की गई है। इससे ज्ञात होता है कि कीकट देश में ब्राह्मणों का शासन था और ब्राह्मणों की राजनैतिक और सैनिक शक्ति वैदिक आर्यों से श्रेष्ठ थी।

किन्तु धीरे धीरे जब वैदिक आर्य ब्राह्मणों के निकट सम्पर्क में आये और उनकी आत्म-साधना, उन्नत आध्यात्मिक ज्ञान एवं उच्च मान्यताये देखी तो वे उनसे बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने यज्ञों के विरोधी ब्राह्मणों की प्रशंसा में अनेक मन्त्रों की रचना की। ब्राह्मणों की यह प्रशंसा ऋग्वेद काल से लेकर अथर्ववेद काल तक प्राप्त होती है। अथर्ववेद में तो स्वतंत्र ब्राह्मण सूक्तों की रचना भी मिलती है।

इसी ब्राह्मण सूक्त में एक मन्त्र द्वारा ब्राह्मणों की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

(‘जो देहधारी आत्माये है, जिन्होंने अपनी आत्मा को देह से ढका है, इस प्रकार के जीव समूह समस्त प्राण-धारी चैतन्य सृष्टि के स्वामी है, वे ब्राह्मण कहलाते हैं।’)

एक मन्त्र में ब्राह्मणों के निन्दकों की भर्त्सना करते हुए कहा है—

(‘जो ऐसे ब्राह्मणों की निन्दा करता है, वह ससार के देवताओं का अपराधी होता है।’)

कर्मकाण्ड को ही धर्म मानने वाले ब्राह्मणों की अपेक्षा साधारण ब्राह्मणों को श्रेष्ठ बताते हुए एक मन्त्र में कहा गया है—

‘यद्यपि सभी ब्राह्मण आदर्श पर इतने ऊँचे चढ़े हुए न हों, किन्तु ब्राह्मण स्पष्टतः परम विद्वान्, महाधिकारी, पुण्यशील, विश्ववद्य, कर्मकाण्ड को धर्म मानने वाले ब्राह्मणों से विशिष्ट महापुरुष होते हैं, यह मानना ही होगा।’

वैदिक ऋषि ब्राह्मणों के उच्च नैतिक मूल्यों से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने वेदों की ऋचाओं द्वारा याज्ञिकों को यज्ञ तक आदेश दिया कि—

‘यज्ञ के समय ब्राह्मण आज्ञाय तो याज्ञिक को चाहिये कि ब्राह्मण की इच्छानुसार यज्ञ को करे अथवा उसे बन्द करदे। जैसा ब्राह्मण यज्ञ-विधान करे, वैसा करे।’

‘विद्वान् ब्राह्मण ब्राह्मण से इतना ही कहे कि जैसा आपको प्रिय है, वही किया जायगा। वह ब्राह्मण आत्मा है। आत्मा का स्वरूप है। आत्म साक्षात् दृष्टा महाव्रत के पालक ब्राह्मणों के लिये नमस्कार ही।’

इस प्रकार सहिता काल में ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त सम्मान के भाव प्रगट किये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि ब्राह्मण शब्द का प्रयोग श्रमण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ये श्रमण और ब्राह्मण ही परवर्ती काल में जैन कहलाने लगे।

इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि सहिताओं का निर्माण-काल भारतीय सस्कृति का स्वर्णिम काल था। उस समय भारत में जन्मी श्रमण सस्कृति और भारत की मिट्टी में पनपी वैदिक सस्कृति मुक्त और उदार भाव से परस्पर लेन-देन कर रही थी। भारत की स्वस्थ जलवायु में एक नई सस्कृति जन्म ले रही थी। भौतिक दृष्टि वाली वैदिक सस्कृति श्रमण सस्कृति के आध्यात्मिक मूल्यों पर मुग्ध हो रही थी। उस काल में वैदिक ऋषियों ने श्रमण अथवा ब्राह्मणों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट की और तभी उन्होंने ब्राह्मण सूक्त, ऋषभ सूक्त तथा स्वतंत्र मन्त्रों द्वारा महाब्राह्मण ऋषभदेव, महाव्रत पालक ब्राह्मण श्रमणसाधु और सामान्य ब्राह्मण-श्रमण परम्परा के अनुयायी जनो की स्तुति और प्रशंसा की।

किन्तु लगता है, ब्राह्मण साहित्य, स्मृति और पुराण-काल विशेषतः विष्णुपुराण के रचना काल में आकर वैदिक ऋषियों के ये भाव स्थिर नहीं रह सके और वे ब्राह्मणों की निन्दा करने लगे। संभवतः इसका कारण यह रहा हो कि ब्राह्मणों की आध्यात्मिक धारा से प्रभावित होकर वैदिक कर्मकाण्डमूलक विचारधारा अपने मूल रूप को छोड़कर आपनिषदिक ज्ञान काण्ड की ओर मुड़ने लगी थी। ऐसी स्थिति में अपने मूल रूप को स्थिर रखने के लिये वैदिक

१ ऋग्वेद १।३।१५, १।१०।११, १।१३।०८, ७।१०।४।२, ३।३।०।१७

२ अथर्ववेद काण्ड १५ में २२० मन्त्रों द्वारा ब्राह्मणों की स्तुति की गई है।

३ अथर्ववेद काण्ड १५

४ ऋग्वेद २।३।१५, ४।६।२६।४, अथर्ववेद १।१।४२।४

ऋषियों की चिन्ता स्वाभाविक थी। अतः इस काल में ब्राह्मणों को अयज्वन, अन्यत्रत, अकर्मन् आदि शब्दों द्वारा वैदिक अनुयायियों की दृष्टि में गिराने के प्रयत्न किये जाने लगे। इसी काल में ब्राह्मणों और वैदिक आर्यों के धार्मिक विश्वासों के आधार पर प्रादेशिक सीमायें स्थिर की गईं। इतना ही नहीं, अग-वग-कलिंग-सौराष्ट्र और मगध में जाना निषिद्ध घोषित कर दिया गया और जाने पर प्रायश्चित्त का विधान तक किया गया। पुराणों में इस प्रकार के कल्पित कथानकों तक की रचना की गई कि एक राजा-रानी को एक ब्राह्मण (जैन) में केवल बात करने के अपराध का प्रायश्चित्त अनेक जन्म धारण करके करना पड़ा। अथवा प्राणों पर सकट आने की दशा में यदि जैन मन्दिर में जाकर प्राण-रक्षा की सभावना हो सकती है तो भी जैन मन्दिर में प्रवेश करके प्राण-रक्षा करने की अपेक्षा मृत्यु का वरण करना श्रेयस्कर घोषित कर दिया। ब्राह्मणों की लोक-भाषा प्राकृत को हीन घोषित करना, अथवा उसे स्त्रियों और शूद्रों की भाषा करार देना भी ब्राह्मणों के विरुद्ध वैदिक ऋषियों द्वारा आयोजित घृणा-प्रसार-आन्दोलन का ही एक अंग रहा है।

किन्तु वैदिक ऋषियों की इस चिन्ता अथवा इस घृणा-आन्दोलन का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन श्रमणों और ब्राह्मणों—जिनकी प्रशंसा संहिता ग्रन्थों में की गई है—की कर्मकाण्ड विरोधी और अध्यात्म मूलक सस्कृति अत्यन्त सशक्त और प्रभावशाली थी। उसके प्रभाव से वैदिक सस्कृति अपना स्वरूप बदलने को बाध्य हो रही थी। उपनिषदों पर श्रमण-ब्राह्मण सस्कृति का प्रभाव स्पष्ट ही था। ऐसी दशा में ही वैदिक सस्कृति को बचाने की चिन्ता वैदिक ऋषियों को करनी पड़ी। कल्पना करे, यदि उन्होंने श्रमणों-ब्राह्मणों के विरुद्ध ये घृणा की दीवारें खड़ी न की होती और ये घृणा-आन्दोलन न चलाये जाते तो भारतीय सस्कृति का वह रूप न होता जो आज दिखाई पड़ता है, अथवा वैदिक सस्कृति शुष्क कर्मकाण्ड और भौतिकवाद की दलदल से निकलकर शुद्ध अध्यात्म प्रधान सस्कृति का रूप ग्रहण कर लेती।

जैन अर्थ में श्रमण और ब्राह्मण शब्दों के समान आर्हत शब्द का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। सभ्यत पौराणिक काल में इस शब्द का प्रयोग खुलकर होने लगा था। श्रीमद्भागवत में तो आर्हत शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है। एक स्थान पर भगवान् ऋषभदेव के सन्दर्भ में लिखा है—‘तपाग्नि से कर्मों को नष्टकर वे सर्वज्ञ ‘आर्हत’ हुए और उन्होंने ‘आर्हत मत का प्रचार किया। विष्णुपुराण^{२५} में देवासुर सग्राम के प्रसंग में मायामोह का उल्लेख करते हुए लिखा है—‘माया मोह ने असुरों में ‘आर्हत’ धर्म का प्रचार किया।’ वह माया मोह एक दिग्म्बर मुनि के रूप में चित्रित किया गया है। हिन्दू ‘पद्म पुराण’ में इस माया मोह की उत्पत्ति बृहस्पति की सहायता के लिये विष्णु द्वारा बताई गई है। इस मुँह सिर और मयूर पिच्छिकाधारी योगी दिग्म्बर मायामोह द्वारा दैत्यों (असुरों) को जैन धर्म का उपदेश और उनके द्वारा जैन धर्म में दीक्षित होने का स्पष्ट उल्लेख है। ‘मत्स्य^{२६} पुराण’ में बताया है कि अहिंसा ही परम धर्म है, जिसे अर्हन्तो ने निरूपित किया है।

इस प्रकार विभिन्न हिन्दू पुराणों में ‘आर्हतमत’ और अर्हन्तो का उल्लेख मिलता है।

संक्षेप में श्रमण, ब्राह्मण, आर्हत, जैन इन शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में वातर-शन, ऊर्ध्वरेता, ऊर्ध्वमन्थी शब्दों का प्रयोग भी श्रमण मुनियों के लिए ही हुआ है। जहाँ भी इन शब्दों का प्रयोग हुआ है, वह अत्यन्त सम्मान पूर्ण आशय से ही हुआ है।

इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता अब इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि भारत में वैदिक सभ्यता का जब प्रचार-प्रसार हुआ, उससे पहले यहाँ जो सभ्यता थी, वह अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत थी। प्राग्वैदिक काल का कोई साहित्य नहीं मिलता। किन्तु पुरातत्व की खोजों और उत्खनन के परिणामस्वरूप नये तथ्यों और मूल्यों पर प्रकाश पड़ा है। सन् १९२२ में और उसके बाद मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई भारत सरकार की ओर से की गई थी। पश्चिमी पाकिस्तान में सिन्ध प्रान्त

२५ श्रीमद्भागवत ५।६

२६ मत्स्य पुराण अध्याय २४

२७. विष्णुपुराण अध्याय १७-१८

के लरकाना जिले में सिन्धु नदी तथा नरनहर के मध्य में मोहन-जो-दडो स्थित है। मोहन-जो-दडो का अर्थ है मृतको का टीला। यहाँ पर जल को स्पर्श करती हुई सात तहों तक खुदाई हुई थी। हड़प्पा मोण्टगोमरी जिले में एक स्थान है। मोहन-जो-दडो सिन्धु नदी के काठे में तथा हड़प्पा रावी के काठे में अवस्थित है। इन दोनों स्थानों में जिस सस्कृति की खोज हुई, वह सिन्धु घाटी की सभ्यता अथवा हड़प्पा सस्कृति कही जा सकती है।

भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर सर जान मार्शल ने इस सभ्यता के सम्बन्ध में लिखा है—'पाँच हजार वर्ष पूर्व पंजाब और सिन्धु प्रदेश में आर्यों से भी पहले ऐसे लोग रहते थे, जिनकी सस्कृति बहुत उच्च कोटि की थी और अपने समकालीन मेसोपोटामिया तथा मिश्र की सस्कृति से किसी बात में भी कम नहीं थी। हा, कई बातें उत्कृष्ट अवश्य कही जा सकती हैं।'

इन स्थानों पर जो पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उससे तत्कालीन भारतवासियों के रहन-सहन, पहनाव-पोशाक, रीति-रिवाज, और धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। इन स्थानों पर यद्यपि कोई देवालय-मंदिर नहीं मिले है, किन्तु वहाँ पाई गई मुहरों (Seals), ताम्रपत्रों, धातुमिट्टी तथा पत्थर की मूर्तियों से उनके धर्म और विश्वास का पता चलता है।

मोहन-जो-दडो में कुछ मुहरें ऐसी मिली हैं, जिन पर योग मुद्रा में योगी-मूर्तियाँ अंकित हैं। एक मुहर ऐसी भी प्राप्त हुई है, जिसमें एक योगी कायोत्सर्ग मुद्रा (खड्गासन) में ध्यान लीन है। उसके सिर के ऊपर त्रिशूल है। वृक्ष का एक पत्ता मुख के पास है। योगी के चरणों में एक भक्त करवद्ध नमस्कार कर रहा है। उस भक्त के पीछे वृषभ खड़ा है। वृषभ के ऊपर वृक्ष है। योगी को वेष्टित किये हुए वल्लरी है। नीचे सामने की ओर सात योगी उसी कायोत्सर्ग मुद्रा में भुजा लटकाये ध्यान मग्न हैं। प्रत्येक के मुख के पास वल्लरी के पत्र लटक रहे हैं।

योगी के इस परिवेश और णरिंकर को आदि तीर्थंकर वृषभदेव के परिप्रेक्ष्य में जैन शास्त्रों के विवरण से तुलना करे तो अत्यन्त समानता के दर्शन होते हैं और कुछ रोचक तथ्य उभर कर सामने आते हैं। आचार्य जिन-सेन ने 'आदि पुराण' सर्ग १८ श्लोक ३, ६ और १० में भगवान की कायोत्सर्ग मुद्रा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। श्लोक १० में आचार्य लिखते हैं—'उनकी दोनों बड़ी बड़ी भुजाएँ नीचे की ओर लटक रही थीं। और उनका शरीर अत्यन्त देदीप्यमान तथा ऊँचा था। इसलिए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अग्रभाग में स्थित दो ऊँची शाखाओं से सुशोभित एक कल्पवृक्ष ही हो।'

इसी सर्ग के श्लोक १२ में वर्णन है—'मन्द मन्द वायु से समीपवर्ती वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग हिल रहे थे।

आदि पुराण सर्ग १७ श्लोक २५३ में वर्णन है—'जो भगवान के चरणों की पूजा कर चुके हैं, जिनके दोनों घुटने पृथ्वी पर लगे हुए हैं और जिनके नेत्रों से हर्ष के आसू निकल रहे हैं, ऐसे सम्राट् भरत ने अपने उत्कृष्ट मुकुट में लगे हुए मणियों की किरण रूप स्वच्छ जल के समूह से भगवान के चरण-कमलों का प्रक्षालन करते हुए भक्ति से नम्र हुए अपने मस्तक से उन भगवान के चरणों को नमस्कार किया।

आदि पुराण सर्ग १७ श्लोक २१८—'जिनका समय प्रगट नहीं हुआ है, ऐसे उन द्रव्यलिङ्गी मुनियों से घिरे हुए भगवान वृषभ देव ऐसे सुशोभित होते थे मानो छोटे-छोटे कल्प वृक्षों से घिरा हुआ कोई उन्नत विशाल कल्प-वृक्ष ही हो।'

इसी प्रकार का वर्णन महाकवि अर्हंदास विरचित 'पुरुदेव चम्पू' में भी मिलता है। मोहन-जो-दडो में प्राप्त मुहर को सामने रखकर आदिपुराण और पुरुदेव चम्पू के भगवान वृषभदेव सम्बन्धी ध्यान विवरण को पढ़े तो दोनों में ऐसी समानता मिलेगी, मानो इन पुराणकारों ने उक्त मुहर की ही व्याख्या की हो। इसलिये उक्त मुहर और उक्त पौराणिक विवरण से तुलना करके मुहर की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं—

भगवान वृषभदेव कायोत्सर्गासन से ध्यानारूढ़ खड़े हैं। कल्प वृक्ष हवा से हिल रहा है और उसका एक पल्लव भगवान के मुख के पास डोल रहा है। उनके सिर पर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र्य यह त्रिरत्न रूप त्रिशूल है। सम्राट् भरत भगवान के चरणों में भक्ति से झुक कर आनन्दाश्रुओं से उनके चरण प्रक्षालन कर रहे हैं।

उनके पीछे वृषभ लाछन है। नीचे सात मुनि भगवान का अनुसरण करके कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानमग्न है। जो चार हजार राजा दिगम्बर मुनि बन गये थे, उन्हीं के प्रतीक स्वरूप ये सात मुनि हैं। वे भी कल्प वृक्ष के नीचे खड़े हुए हैं और उनके मुख के पास भी पत्ता हिल रहा है।

सभवतः उक्त मुहर की तर्कसंगत व्याख्या इसके अतिरिक्त दूसरी नहीं हो सकती।

इस मुहर का अध्ययन करके प्रसिद्ध विद्वान् रा० व० प्रो० राम प्रसाद चन्दा ने जो व्याख्या प्रस्तुत की, उससे इतिहास वेत्ताओं को अपनी प्रचलित धारणा में सशोधन करने के लिए बाध्य होना पड़ा। प्रो० चन्दा का आशय इस प्रकार है—

“सिन्धु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देव-मूर्तियाँ न केवल योग-मुद्रा में अवस्थित हैं और उस प्राचीन युग में सिन्धु घाटी में प्रचलित योग पर प्रकाश डालती हैं, उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की खड़ी मुद्रा भी प्रगट करते हैं। और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनो से सम्बन्धित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदिपुराण सर्ग १८ में ऋषभ अथवा वृषभ की तपश्चर्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्व संग्रहालय में एक शिलाफलक पर जैन ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमाएँ मिलती हैं जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति सख्या १२ में प्रतिबिम्बित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिश्री स्थापत्य कला में कुछ प्रतिमाएँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनकी भुजाएँ दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिश्री मूर्तियाँ या ग्रीक कूरो प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं, जो सिन्धु घाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनो की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती है। ऋषभ का अर्थ है वृषभ (बैल) और वृषभ जिन ऋषभ का चिन्ह है।”

—माडर्न रिव्यू, अगस्त १९३२, पृ० १५५-१६०

प्रो० चन्दा के इन विचारों का समर्थन डॉ० प्राणनाथ विद्यालकार ने भी किया है। वे भी सिन्धु घाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभ देव की मानते हैं। इन विद्वानों ने सील न० ४४९ पर जिनेश्वर शब्द भी पढ़ा है। हमारी विनम्र मान्यता है कि सभी ध्यानस्थ प्रतिमाएँ जो सिन्धु घाटी में मिली हैं, जैन तीर्थंकरों की हैं। ध्यानमग्न वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु, वृक्ष और नाग ये सभी जैन कला की अपनी विशेषताएँ हैं। विशेषतः कायोत्सर्गसन जो जैन श्रमणों द्वारा ध्यान के लिए प्रयुक्त होता है।

T N Ram Chandran का अभिमत

“These two ricks place before us the truth that we are perhaps recognising in the Harappa statue a full fledged Jain Tirthankar in the characteristic pose of physical abandon (kayotsarga)”

“The statue under description is therefore a splendid representative specimen of this thought of Jainism at perhaps its very inception”

T N Ram Chandran

Director General Indian Archeological

Department

सिन्धु सभ्यता अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत सभ्यता थी। पुरातत्ववेत्ताओं ने सिन्धु सभ्यता का जो मूल्यांकन किया है, उसके बड़े रोचक निष्कर्ष निकले हैं। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं—“मुहर सख्या F G H फलक दो पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल ही बना है। संभव है, यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।”

प्रसिद्ध विद्वान् श्री रामधारी सिंह दिनकर^१ इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—[‘मोहन-जो-दडो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभ देव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ सम्बन्धित थी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं दीखता कि ऋषभ देव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व है।’]

इसी सन्दर्भ में डा० ऐम० ऐल० शर्मा^२ लिखते हैं—[‘मोहन-जो-दडो से प्राप्त मुहर पर जो चित्र अंकित है, वह भगवान् ऋषभ देव का है। यह चित्र इस बात का द्योतक है कि आज से पाच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत में प्रचलित थी। और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव थे। सिन्धु निवासी अन्य देव-ताओं के साथ ऋषभ देव को भी पूजा करते थे।’]

१ सस्कृति के चार अध्याय, पृ० ३६

२ भारत में सस्कृति एवं धर्म, पृ० २०

२—जैन धर्म में तीर्थकर-मान्यता

जैन परम्परा में सर्वोपरि उपासनीय देवाधिदेव अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नामक पंच परमेष्ठी माने गये हैं। अर्हन्त आत्म-साधना द्वारा ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों— जो घातिया कर्म कहलाते हैं—के क्षय से वनते हैं। इन कर्मों के क्षय से उनकी आत्मा के अनन्त पंच-परमेष्ठी ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य गुण प्रगट हो जाते हैं। अर्हन्त, अरहन्त, अरि-हन्त ये शब्द समानार्थक हैं। इन सबका एक ही अर्थ है—अरि अर्थात् शत्रु, हन्त अर्थात् नाश करने वाला। आत्मा के शत्रु कर्म हैं। उनका नाश करने वाला अर्हन्त कहलाता है। सिद्ध वह आत्मा कहलाती है, जिसने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति कर ली है अर्थात् जो ससार में सदा काल के लिए जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो चुका है। अर्हन्त और सिद्ध दोनों ही परमात्मा कहलाते हैं। अन्तर इतना ही है कि अर्हन्त अशरीरी परमात्मा हैं और सिद्ध अशरीरी परमात्मा हैं। आयु कर्म शेष रहने के कारण अर्हन्त के चार कर्म— जो अघातिया कर्म कहलाते हैं—अभी शेष हैं। जब उनके वे चारो अघातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब वे अशरीरी परमात्मा बन जाते हैं। वे ही सिद्ध कहलाते हैं।

शेष तीन परमेष्ठी—आचार्य, उपाध्याय और साधु साधक देशा में हैं और उनका लक्ष्य आत्म-साधना द्वारा आत्म-सिद्धि प्राप्त कर क्रमशः अर्हन्त और सिद्ध बनना है। साधु समस्त आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके ध्यानाध्ययन द्वारा आत्म-साधना करते हैं। उन साधुओं में विशिष्ट ज्ञानी साधु, जो अन्य साधुओं को अध्ययन कराते हैं, उपाध्याय कहलाते हैं। उन साधुओं में से विशिष्ट ज्ञानवान, आचार सम्पन्न, शासन-अनुशासन में सक्षम, व्यवहार कुशल साधु को साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविका यह चतुर्विध सघ अपना धर्मनायक स्वीकार करके उसे आचार्य पद प्रदान करता है, वह आचार्य कहलाता है।

इस प्रकार साधु, उपाध्याय और आचार्य ये तीन और परमेष्ठी होते हैं। ये ही पंच परमेष्ठी कहलाते हैं। जैन परम्परा में मान्य महामन्त्र णमोकार में इन्हीं पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। किसी व्यक्ति विशेष का नामोल्लेख न करके तत्तद् गुणों से विभूषित आत्माओं को ही परमेष्ठी माना गया है। इससे यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैन धर्म में व्यक्ति-पूजा को स्थान नहीं दिया गया, अपितु वही गुण-पूजा पर विशेष बल दिया गया है।

तीर्थकर अर्हन्तो में से ही होते हैं। वे धर्म तीर्थ की पुनः स्थापना करते हैं, अतः तीर्थकर कहलाते हैं। जो साधक किसी जन्म में ऐसी शुभ भावना करता है कि मैं जगत के समस्त जीवों का दुःख निवारण करूँ, उन्हें ससार के दुःखों से छुड़ाकर मुक्त करूँ तथा इस प्रकार की भावना के साथ सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करे, उसे तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध होता है अर्थात् वह आगामी जन्म में अथवा एक जन्म के पश्चात् तीर्थकर बनता है। कोई जीव उसी जन्म में (विदेह क्षेत्र में) तीर्थकर बनता है। वे सोलह कारण भावनाएँ इस प्रकार हैं—

तीर्थकर धर्म नेता
हैं, धर्म-संस्थापक
नहीं

- १ दर्शन विशुद्धि—पच्चीस दोषो से रहित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति । यह गुण तीर्थकर प्रकृति के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है ।
- २ विनय सम्पन्नता—देव, शास्त्र और गुरु तथा रत्नत्रय का हृदय में सम्मान करना ।
- ३ शील और व्रतों का निरतिचार पालन—व्रतों तथा व्रतों के रक्षक नियमों (शीलो) में दोष न लगने देना ।
- ४ अभीक्षण ज्ञानोपयोग—निरन्तर सत्य ज्ञान का अभ्यास, चिन्तन, मनन करना ।
- ५ अभीक्षण सवेग—धर्म और धर्म के फल में अनुगम होना ।
- ६ शक्ति के अनुसार त्याग—अपनी शक्ति के अनुसार कर्माय का त्याग, ममत्त्व का त्याग तथा आहार, अभय, औपधि और ज्ञान का दान करना ।
- ७ शक्ति के अनुसार तप—अपनी शक्ति को न छिपा कर अन्तरंग और बहिर्ग तप करना
- ८ साधु समाधि—साधुओं का उपसर्ग दूर करना तथा समाधि पूर्वक मरण करना
- ९ वैयावृत्य करण—व्रतों त्यागों और माघर्षों जनों की सेवा करना, दुर्गों का दृग् दूर करना
- १० अर्हन्त भक्ति—अर्हन्त भगवान की हृदय में भक्ति करना
- ११ आचार्य भक्ति—चतुर्विध सघ के नायक आचार्य की भक्ति करना
- १२ बहुश्रुत भक्ति—उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना
- १३ प्रवचन भक्ति—तीर्थकरो द्वारा उपदिष्ट जिनवाणी की भक्ति करना
- १४ आवश्यकपरिहाणी—छह आवश्यक कर्मों का सावधानी पूर्वक पालन करना
- १५ मार्ग प्रभावना—जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करना
- १६ प्रवचन वात्सल्य—साधर्मि जनों से निश्चल प्रेम करना

तीर्थकर किसी नये धर्म की स्थापना नहीं करता, न वह किसी नये सत्य का उद्घाटन ही करता है। वह तो सनातन सत्य का ही प्ररूपण करता है। इसे ही तीर्थ-प्रवर्तन कहा जाता है। यह धर्म तीर्थ का प्ररूपक धर्मनेता होता है, धर्म सस्थापक नहीं होता। धर्म तो अनादि निधन है। उसकी स्थापना नहीं हो सकती। धर्म के कारण जो व्यक्ति तीर्थकर बना है, वह किस नये धर्म की स्थापना करेगा क्योंकि धर्म तो उसमें पूर्व भी था। वस्तुतः धर्म से तीर्थकर बनता है, तीर्थकर से धर्म नहीं बनता। जो व्यक्ति से धर्म बनता है, वह धर्म नहीं, व्यक्ति की मान्यता है। वस्तु का स्वभाव धर्म है, वह तो वस्तु के साथ है। वह स्वभाव किसी के द्वारा बनाया नहीं जाता, केवल बताया जाता है। अतः तीर्थकर धर्मनेता है, धर्म सस्थापक नहीं।

जैन धर्म में किसी ऐसे ईश्वर की मान्यता नहीं है जो अवतार लेता है। तीर्थकर ईश्वर नहीं होते। वे तीर्थकर कर्म के कारण तीर्थकर कहलाते हैं। तीर्थकर नामकर्म अतिशय पुण्य प्रकृति है। तीर्थकर नाम कर्म के कारण कल्याणक प्रत्येक तीर्थकर के होते हैं। उनके ३४ अतिशय अर्थात् जन् साधारण जैन धर्म में की अपेक्षा अद्भुत वाते होती है। (जन्म के समय १० अतिशय होते हैं, केवल ज्ञान हो जाने के अवतारवाद नहीं है अनन्तर १० अतिशय स्वयं होते हैं तथा १४ अतिशय देवों द्वारा सम्पन्न होते हैं। इन अतिशयों के अतिरिक्त तीर्थकर के अपनी माता के गर्भ में आने से ६ मास पहले सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है। तब वह अवधिज्ञान में ६ मास पश्चात् होने वाले तीर्थकर के गर्भावतरण को जानकर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि ५६ कुमारिका देवियों को तीर्थकर की माता का गर्भ-शोधन के लिए भेजता है तथा कुवेर को तीर्थकर के माता-पिता के घर पर प्रतिदिन तीन समय साढ़े तीन करोड़ रत्न बरसाने की आज्ञा देता है। यह रत्नवर्षा जन्म होने तक अर्थात् १५ मास तक होती है। छह मास पीछे जब तीर्थकर माता के गर्भ में आते हैं, तब माता को रात्रि के अन्तिम प्रहर में १६ स्वप्न दिखाई देते हैं। यह सब पुण्य का फल है।

वस्तुतः पुण्य के कारण तीर्थकर को जो लाभ होता है, उससे यह सूचित होता है कि वे तीर्थकर बनेंगे। किन्तु जब केवल ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् वे भाव-तीर्थ की स्थापना अथवा तीर्थ-प्रवर्तन करते हैं, तीर्थकर तो वे तभी कहलाते हैं। गर्भ से तीर्थकर द्रव्य दृष्टि से कहलाते हैं और भाव से धर्मतीर्थ-प्रवर्तन के कारण तीर्थकर कहलाते

जैन धर्म में तीर्थकर-मान्यता

है। किन्तु वे तीर्थकर बनते हैं अपनी साधना, तपस्या और पुरुषार्थ द्वारा। तीर्थकर कर्म नष्ट करने पर परमात्मा बन जाते हैं, किन्तु कोई परमात्मा कर्म-बन्ध करके तीर्थकर नहीं बनता। इसलिये तीर्थकर अवतार नहीं कहलाते। सिद्ध परमात्मा बनने पर उनके कोई कर्म शेष नहीं रहता। जन्म, मरण, रोग, शोक चिन्ता आदि कर्म के फल हैं। जब कर्म ही नहीं तो ये आधि व्याधि भी नहीं हो सकती। इसीलिए जैन धर्म में अवतारवाद की कल्पना को कोई स्थान नहीं है।

तीर्थकर चौबीस होते हैं। वर्तमान तीर्थकरो के नाम इस प्रकार हैं—

तीर्थकरो के नाम १ ऋषभदेव, २ अजितनाथ, ३ सभवनाथ, ४ अभिनन्दननाथ, ५ सुमतिनाथ, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपाश्वनाथ, ८ चन्द्रप्रभ, ९ पुष्पदन्त, १० शीतलनाथ, ११ श्रेयासनाथ, १२ वासुपूज्य, १३ विमलनाथ, १४ अनन्तनाथ, १५ धर्मनाथ, १६ शान्तिनाथ, १७ कुन्थुनाथ, १८ अरहनाथ, १९ मल्लिनाथ, २० मुनिसुव्रतनाथ, २१ नेमिनाथ, २२ नेमिनाथ (अरिष्टनेमि), २३ पार्श्वनाथ, २४ महावीर वर्धमान।

तीर्थकरो के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य तीर्थकरो के वंश, वर्ण, विवाह, आसन आदि की जानकारी करना भी अत्यन्त रोचक होगा, अतः उनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

वंश—भगवान् महावीर नाथवंश में उत्पन्न हुए। श्वेताम्बर परम्परा में इनका वंश णाय वंश (ज्ञात वंश) बताया है। भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म उग्रवंश में हुआ। मुनि सुव्रत नाथ और नेमिनाथ हरिवंश में उत्पन्न हुए। धर्मनाथ, कुन्थुनाथ और अरहनाथ कुरुवंश में पैदा हुए। शेष १७ तीर्थकर इक्ष्वाकु वंश में हुए।

वर्ण—सुपाश्वनाथ तथा पार्श्वनाथ तीर्थकर हरित वर्ण के थे। मुनिसुव्रतनाथ और नेमिनाथ नील वर्ण थे। चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त का शरीर सफेद था। पद्मप्रभ और वासुपूज्य का रंग लाल था। शेष १६ तीर्थकरो के शरीर का वर्ण सतप्त स्वर्ण जैसा था।

विवाह—वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पाँच तीर्थकर वाल ब्रह्मचारी थे। इन्होंने विवाह नहीं किया था, कुमार अवस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी। शेष तीर्थकरो ने विवाह किया था।

इस विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में कुछ मान्यता-भेद हैं। दिगम्बर परम्परा मान्य 'तिलोय-पण्णत्ति' ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

'नेमी मल्ली वीरो कुमार कालम्मि वासुपुज्जो य।

पासो वि य गहिद तपा शेष जिणा रज्ज चरमम्मि ॥४।६७०

अर्थात् भगवान् नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पाँच तीर्थकरो ने कुमार-काल में और शेष तीर्थकरो ने राज्य के अन्त में तप को ग्रहण किया।

'तिलोयपण्णत्ति' की इस मान्यता का समर्थन दिगम्बर परम्परा के शेष सभी ग्रन्थों ने किया है। इसलिए दिगम्बर परम्परा में इन पाँच तीर्थकरो को पंचकुमार अथवा पंच बालयति माना है। इन पंच बालयतियों को भूतियाँ भी अत्यन्त प्राचीन काल से उपलब्ध होती हैं।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में इस सम्बन्ध में दो मान्यताएँ प्रचलित रही हैं। 'आवश्यक निर्युक्ति' में जो कि प्राचीन आगम ग्रन्थ माना जाता है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होता है—

'वीर अरिद्धनेमि पास मल्लि च वासुपुज्ज च।

एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२४३॥

रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवसेसु खत्तिअकुलेसु।

ण य इत्थिआभिसेआ कुमारवासमि पव्वइया ॥२४४॥

अर्थात् महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, मल्लिनाथ, और वासुपूज्य ये पाँच तीर्थकर विशुद्ध क्षत्रिय राज-

कुल में उत्पन्न हुए और कुमार अवस्था में ही मुनि-दीक्षा ली। इन्होंने न तो विवाह किया, न इनका राज्याभिषेक हुआ। शेष सभी तीर्थंकरों का विवाह तथा राज्याभिषेक हुआ। पीछे उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की।

‘ण य इत्थिआभिसेआ’ का अर्थ टिप्पणी में लिखा है—‘स्त्री पाणिग्रहण इत्यादि रहिता इत्यर्थ अर्थात् स्त्री-पाणिग्रहण और राज्याभिषेक में रहित उक्त पांच तीर्थंकर थे।

आवश्यक निर्युक्तिकार की इम मान्यता के अनुसार ही स्थानाग, समवायाग, भगवती आदि सूत्रों में भी इन पांच तीर्थंकरों के विवाह का उल्लेख नहीं किया है। समवायाग सूत्र (न० १६) में आगारवास का उल्लेख करते हुए १६ तीर्थंकरों का घर में रहकर और भोग भोग कर दीक्षित होना बतलाया है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी वृत्ति में ‘शेषास्तु पचकुमार भाव एवेत्याह च’ वाक्य के साथ ‘वीर अरिट्टणेमी’ नामक गाथा उद्धृत की है। ‘स्थानाग’ सूत्र के ४७६ वे सूत्र में भी पांच तीर्थंकरों को कुमार प्रव्रजित कहा है। ‘आवश्यक निर्युक्ति’ की २४८ वीं गाथा में भी इसी आशय को स्पष्ट किया है। वह गाथा इस प्रकार है—

‘वीरो अरिट्टणेमी पासो मल्लिवासुपुज्जो य।

पढमवए पव्वइया सेसा पुण पच्छिमवयसि ॥

इस गाथा की टीका करने हुए टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है—‘प्रथम वयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिता शेषा पुन’ ऋपभस्वामि प्रभृतयो मध्यमे वयसि यौवनत्वलक्षणे वर्तमाना प्रव्रजिता।

यद्यपि इन सूत्रग्रन्थों में इन पांच तीर्थंकरों को स्पष्ट रूप से कुमार स्वीकार किया है तथा शेष तीर्थंकरों को घर में रहकर और भोग भोगकर दीक्षित होना लिखा है, जिसका अर्थ है कि उन पांच तीर्थंकरों ने भोग नहीं भोगे। किन्तु पश्चाद्वर्ती श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों—कल्पसूत्र, आवश्यक भाष्य, आचाराग आदि में पार्श्वनाथ और महावीर को विवाहित माना है, तथा वासुपूज्य, मल्लिनाथ और नेमिनाथ को विना विवाह किये दीक्षित होना माना है।

आचार्य हेमचन्द्र ‘त्रिपण्डितशलाकापुरुष-चरित’ के वासुपूज्य-चरित्र में उल्लिखित पांच तीर्थंकरों में से महावीर के सिवाय चार को अविवाहित कहते हैं। यथा—

मल्लिनेमि. पार्श्व इति भाविनोऽपि त्रयो जिनाः।

अकृतोद्वाह साम्राज्याः प्रव्रजिष्यन्ति मुक्तये ॥१०३॥

श्री वीरश्चरमश्चार्हन्नीषद्भोग्येन कर्मणा।

कृतोद्वाहोऽकृतराज्य प्रव्रजिष्यति सेत्स्यति ॥१०४॥

परन्तु आगे चलकर पार्श्वनाथ चरित पर्व ६ सर्ग ३ में हेमचन्द्र पार्श्व को विवाहित सूचित करते हैं। इस पर्व के २१० वे श्लोक का एक चरण इस प्रकार है—‘उद्वाह प्रभावतीम्’

इससे ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र को इस सर्ग की रचना करते समय अपनी पूर्व स्थापना का स्मरण नहीं रहा तथा उनके समक्ष कोई दूसरी भी परम्परा विद्यमान थी। उस परम्परा के अनुसरण के आग्रह के कारण ही उन्होंने पार्श्वनाथ का विवाह प्रभावती के साथ होना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थंकरों के विवाह के सम्बन्ध में दो मान्यताएँ प्रचलित रही हैं।

३—तीर्थकर और प्रतीक-पूजा

जन-मानस में तीर्थकरों के लोकोत्तर व्यवित्तत्व की छाप बहुत गहरी रही है। उन्होंने जन-जन के कल्याण और उपकार के लिए जो कुछ किया, उस अनुग्रह को जनता ने बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकार किया। जब जो तीर्थकर विद्यमान थे, उनकी भक्ति, पूजा और उपदेश श्रवण करने के लिए जनता का प्रत्येक वर्ग उनके चरण-सान्निध्य में पहुँचता था और वहाँ जाकर अपने हृदय की भक्ति का अर्घ्य उनके चरणों में समर्पित करके अपने आपको धन्य मानता था। किन्तु जब उस तीर्थकर का निर्वाण हो गया, तब जनता का मानस उनके अभाव को तीव्रता के साथ अनुभव करता और अपनी भक्ति के पुष्प समर्पित करने को आकुल हो उठता था। जनता के मानस की इसी तीव्र अनुभूति ने प्रतीक-पूजा की पद्धति को जन्म दिया।

प्रतीक दो प्रकार के रहे—अतदाकार और तदाकार। ये दोनों ही प्रतीक अविद्यमान तीर्थकरों की स्मृति का पुनर्नवीकरण करते थे और जन-मानस में तीर्थकरों के आदर्श की प्रेरणा जागृत करते थे। इन दोनों प्रकार के प्रतीकों में शायद अतदाकार प्रतीकों की मान्यता सर्व प्रथम प्रचलित हुई। ऐसा विश्वास करने के कुछ प्रबल कारण हैं। सर्व प्रथम आधार मनोवैज्ञानिक है। मानव की बुद्धि का विकास क्रमिक रूप से ही हुआ है। प्रतीकों का जो रूप वर्तमान में है, वह सदा काल से नहीं रहा। हम आगे चलकर देखेंगे कि तदाकार मूर्ति-शिल्प में समय, वातावरण और बुद्धि-विकास का कितना योगदान रहा है। अतदाकार प्रतीक से ही तदाकार प्रतीक की कल्पना का जन्म संभव हो सकता है। दूसरा प्रबल कारण है पुरातात्विक साक्ष्य। पुरातात्विक साक्ष्य के आधार पर यह माना गया है कि तदाकार प्रतीक के रूप (मन्दिर और मूर्ति के रूप में) बहुत अधिक प्राचीन नहीं हैं और वे हमें ईसा पूर्व की सात-आठ शताब्दियों से पूर्वकाल तक नहीं ले जाते, जबकि अतदाकार प्रतीक इससे पूर्व के भी उपलब्ध होते हैं। यदि हड़प्पाकाल की शिरविहीन ध्यानमग्न मूर्ति को निर्विवाद रूप से तीर्थकर प्रतिमा होने की स्वीकृति हो जाती है तो तदाकार प्रतीक का काल ईसा पूर्व तीन सहस्राब्दी स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि उस काल में भी तदाकार प्रतीकों का बाहुल्य नहीं था। एक शिरहीन मूर्ति तथा कुछ मुद्राओं पर अकित ध्यानलीन योगी जिन के रूपाकन के अतिरिक्त उस काल में विशेष कुछ नहीं मिला। ऐसी स्थिति में यह भी विचारणीय है कि हड़प्पा सस्कृति अथवा सिन्धु सभ्यता के काल से मौर्य काल तक के लम्बे अन्तराल में तदाकार प्रतीक-विधान की कोई कला-वस्तु क्यों नहीं मिली? इसका एक ही बुद्धिसंगत कारण हो सकता है कि तदाकार प्रतीक-विधान का विकास तब तक नहीं हो पाया और उसने पर्याप्त समय लिया।

जैनधर्म के अतदाकार प्रतीकों में स्तूप, त्रिरत्न, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, पूर्णघट, शराव सम्पुट, पुष्पमाला, पुष्पपङ्कल आदि मुख्य हैं। अष्टमगल द्रव्य-यथा स्वस्तिक, घर्मचक्र, नन्द्यावन, वर्धमानकथ, श्रीवत्स, मीनयुगल, पद्म और दर्पण-तथा तीर्थकरों के लक्षण भी अतदाकार प्रतीकों में माने गये हैं। अष्ट प्रातिहार्य एव आयापट्ट भी महत्त्वपूर्ण प्रतीक माने गये हैं। कला के प्रारम्भिक काल में इन अतदाकार प्रतीकों का पर्याप्त प्रचलन रहा है।

किन्तु जैसे-जैसे कला-बोध विकसित हुआ, त्यो-त्यो प्रतीक की तदाकारता को अधिक महत्त्व मिलने लगा। इसी काल में तीर्थकरों की तदाकार मूर्तियों का निर्माण होने लगा। प्रारम्भ में प्रकृत भूमि से कुछ ऊँचे स्थान

पर देव-मूर्ति स्थापित की जाती थी। उसके चारों ओर वेदिका (वाड) का निर्माण होता था। धीरे धीरे वेदिका को ऊपर से आच्छादित किया जाने लगा। यही देवायतन, देवालय या मन्दिर कहे जाने लगे। प्रारम्भ में ये देवायतन मोंधे सादे रूप में बनाये जाते थे। पुरातत्त्वावशेषों में कई मूर्तियों, सिक्कों, मुद्राओं आदि पर देवायतनों का अकन मिलता है। उसमें ही ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में मन्दिरों का रूप अत्यन्त सादा था। कालान्तर में कलात्मक रुचि में अभिवृद्धि के साथ साथ देवायतनों के स्वरूप में विकास होता गया। मूर्ति-स्थापना के स्थान पर गर्भगृह की परि-वेष्टित करने के अतिरिक्त उसके बाहर चारों ओर प्रदक्षिणापथ का निर्माण हुआ। गर्भगृह के बाहर आच्छादित प्रवेशद्वार या मुख-मण्डप का निर्माण हुआ। धीरे धीरे गर्भगृह के ऊपर शिखर तथा बाहर मण्डप, अर्धमण्डप, महा-मण्डप आदि का विधान हुआ। गुप्तकाल में आकर मन्दिर शिल्प और मूर्ति शिल्प के शास्त्रों की रचना भी होने लगी, जिनके आधार पर मन्दिर और मूर्तियों की रचना मुनियोजित ढंग में होने लगी।

प्रागैतिहासिक काल के पूर्व पाषाण युग में, जिसे जैन शास्त्रों में भोगभूमि बनाया है, मानव अपनी जीवन-रक्षा के लिए वृक्षों पर निर्भर था, वृक्षों से ही अपने जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। कुलकरो के काल में मानव की बुद्धि का विकास हुआ और उस काल में मानव को जीवन-रक्षा के लिए मन्दिर-निर्माण की सघर्ष करना पड़ा। अतः जीवन-रक्षा के कुछ उपाय ढूँढने को बाध्य होना पड़ा। छुटपुट रहने के स्थान पर कवीलों के रूप में रहने की पद्धति अपनाई गई। किन्तु इस काल में भी वृक्षों की निर्भरता समाप्त नहीं हुई, बल्कि वृक्षों के कारण कवीलों में पारस्परिक सघर्ष भी होने लगे। प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। वृक्ष घट रहे थे, मानव की आवश्यकताएँ बढ़ रही थी। कुलकरो ने वृक्षों का विभाजन और सीमांकन कर दिया। किन्तु फल वाले वृक्षों की सफाया कम होते जाने में जीवन-स्थापन की समस्या उठ खड़ी हुई। वन्य पशुओं में रक्षा के लिए सुरक्षित आवास की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी थी।

तब ऋषभदेव का काल आया। इसे नागरिक सभ्यता का काल कहा जा सकता है। इस काल में तीर्थंकर ऋषभदेव ने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करने की प्रेरणा दी और मानव समाज को अग्नि, मृत्ति, कृषि, विद्या, वाणि-ज्य और शिल्प की शिक्षा दी। इन्द्र ने अयोध्या नगरी की रचना की। भवन-निर्माण करने की विद्या बताई, जिसमें भवनों का निर्माण होने लगा। इस काल में मघटित जीवन की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसने ग्रामों, पुरों, नगरों को जन्म दिया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और जीवन की प्रत्येक आवश्यकता-पूर्ति के लिए ऋषभदेव ने जो विविध प्रयोग करके मानव समाज को बताये और उसे व्यवस्थित नागरिक जीवन बिताने की जो शिक्षा दी, उसके कारण तत्कालीन सम्पूर्ण मानव समाज ऋषभदेव के प्रति हृदय से कृतज्ञ था। और जब ऋषभदेव ने ससार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली तथा दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि के रूप में घोर तप करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, उसके पश्चात् समवशरण में, गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होंने धर्म-देशना दी। मानव समाज के लिए वह धर्म-देशना अश्रुतपूर्व थी, समवशरण की वह रचना अदृष्टपूर्व थी। उनका उपदेश कल्याणकारक था, हितकारक था, सुखकारक था और शान्तिकारक था। इससे सम्पूर्ण मानव-समाज के मन में तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति की अजस्र धारा बहने लगी। वे सम्पूर्ण मानव समाज के आराध्य बन गये और उसके मन में समवशरण की प्रतिकृति बनाकर उसमें ऋषभदेव की तदाकार मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने की ललक जागृत हुई।

इन्द्र ने अयोध्या का निर्माण करते समय नगर की चारों दिशाओं में और नगर के मध्य में पांच देवालये या जिनायतनों की रचना करके जिनायतनों का निर्माण करने और उसमें मूर्ति-स्थापना करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

एक बार जब सम्राट भरत कैलाश गिरि पर भगवान ऋषभदेव के दर्शन करके अयोध्या लौटे तो उनका मन भगवान की भक्ति से ओतप्रोत था। उन्होंने भगवान के दर्शन की उस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए कैलाश शिखर के आकार के घण्टे बनवाये और उन पर भगवान ऋषभदेव की मूर्ति का अकन कराया। ये घण्टे नगर के चतुष्पथों, गोपुरों, राजप्रासाद के द्वारों और इयौद्धियों में लटकवाये। यह मानवकृत प्रथम अतदाकार प्रतीक-स्थापना थी।

किन्तु इतने से सम्राट भरत के मन को सन्तुष्टि नहीं हुई। इसमें भगवान की पूजा का उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता था। तब उन्होंने इन्द्र द्वारा बनाये गए जिनायतनों से प्रेरणा प्राप्त करके कैलाशगिरि पर ७२ जिनायतनों का निर्माण कराया और उनमें अर्धरत्नों की प्रतिमाये विराजमान कराई। मानव के इतिहास में तदाकार प्रतीक-स्थापना और उसकी पूजा का यह प्रथम सफल उद्योग कहलाया। अतः साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर यह स्वीकार करना असंभव नहीं होगा कि नागर्किक सभ्यता के विकास-काल की उपा-वेला में ही मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

पौराणिक जैन साहित्य में मन्दिरों और मूर्तियों के उल्लेख विभिन्न स्थलों पर प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये हुए इन मन्दिरों की रक्षा के लिए भारी उद्योग किया था और उनके चारों ओर परिखा खोदकर भागीरथी के जल से उसे पूर्ण कर दिया था। लकाधिपति रावण इन मन्दिरों के दर्शनो के लिए कई बार आया था। लका में एक शान्तिनाथ जिनालय था, जिसमें रावण पूजन किया करता था और लका-विजय के पश्चात् रामचन्द्र, लक्ष्मण आदि ने भी उसके दर्शन किये थे।

साहित्य में ई० पूर्वं ६०० से पहले के मन्दिरों के उल्लेख मिलते हैं। भगवान पार्श्वनाथ के काल में किसी कूबेरा देवी ने एक मन्दिर बनवाया था, जो बाद में देवनिर्मित बौद्ध स्तूप कहा जाने लगा। यह सातवें तीर्थकर सुपार्श्वनाथ के काल में सोने का बना था। जब लोग इसका सोना निकाल कर ले जाने लगे, तब कूबेरा देवी ने इसे प्रस्तर खण्डों और ईंटों से ढक दिया। (विविध तीर्थ कल्प-मथुरापुरी कल्प)। स्थापत्य की इस अनुपम कलाकृति का उल्लेख ककाली टीला (मथुरा) से प्राप्त भगवान मुनिसुव्रत की द्वितीय सदी की प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित मिलता है।

(भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् दन्तिपुर (उड़ीसा) नरेश करकण्डु ने तेरापुर गुफाओं में गुहा-मन्दिर (लयण) बनवाये और उनमें पार्श्वनाथ तीर्थकर की पाषाण प्रतिमा विराजमान कराई। ये लयण और प्रतिमा अब तक विद्यमान हैं। 'करकण्डु चरित' आदि ग्रन्थों के अनुसार तो ये लयण और पार्श्वनाथ-प्रतिमा करकण्डु नरेश से भी पूर्ववर्ती थे।)

आवश्यक चूर्ण, निशीथ चूर्ण, वसुदेव हिण्डी, त्रिषण्डिशलाका पुरुष चरित आदि ग्रन्थों में एक विशेष घटना का उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है—

(सिन्धु सौवीर के राजा उदायन के पास जीवन्त स्वामी की चन्दन की एक प्रतिमा थी। यह प्रतिमा भगवान महावीर के जीवन-काल में ही बनी थी। इसलिए उसे जीवन्त स्वामी की मूर्ति कहते थे। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने अपनी एक प्रेमिका दासी के द्वारा यह मूर्ति चोरी से प्राप्त करली और उसके स्थान पर तदनुरूप काष्ठ-मूर्ति स्थापित करा दी थी।)

किन्तु यह मूर्ति किसी देवालय में विराजमान थी, ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

आश्चर्य है कि पुरातत्त्व वेत्ताओं ने अभी तक इन मन्दिरों और मूर्तियों को स्वीकृति प्रदान नहीं की।

पुरातत्त्ववेत्ताओं की धारणा है कि आरम्भ में मूर्तियाँ मिट्टी की बनाई जाती थीं। बहुत समय तक इन मृण्मूर्तियों का प्रचलन रहा। उत्खनन द्वारा जो पुरातत्त्व सामग्री उपलब्ध हुई है उसमें इन मृण्मूर्तियों का बहुत बड़ा भाग है। हड़प्पा, कौशाम्बी, मथुरा आदि में बहुसंख्या में मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। किन्तु मृण्मूर्तियाँ अधिक चिरस्थायी नहीं रहती थीं। अतः मृण्मूर्तियों को पकाया जाने लगा। प्रायः पकी हुई मृण्मूर्तियाँ ही विभिन्न स्थानों पर मिली हैं। किन्तु पकी मृण्मूर्तियाँ भी

स्थायित्व की दृष्टि से असफल रही, तब पाषाण की मूर्तियाँ निर्मित होने लगीं।

प्रारम्भ में पाषाण-मूर्तियाँ किसी देवता या तीर्थकर की नहीं बनाई गईं, बल्कि यक्षों की पाषाण-मूर्तियाँ प्रारम्भ में बनाई गईं। इस काल में पाषाण में तक्षण-कला का विकास नहीं हुआ था। अतः यक्षों की जो प्रारम्भिक पाषाण-मूर्तियाँ मिलती हैं, उनमें सौन्दर्य-बोध का प्रायः अभाव है। एक प्रकार से ये मूर्तियाँ वेडौल हैं, मानो किन्हीं नौसिखिये हाथों ने इन्हे गढा हो। मथुरा में ककाली टीला, परखम आदि स्थानों से इसी प्रकार की विशालकाय

वेडोल यक्ष-मूर्तियाँ मिली हैं। यह कहा जा सकता है कि मृण्मूर्तियों में तो कला के दर्शन होते हैं, किन्तु इन प्रारम्भिक यक्ष-प्रतिमाओं में कला नाम की कोई चीज नहीं मिलती। मृण्मूर्तियों में कला का विकास शनैः शनैः हुआ। इसलिए पापाण-मूर्तियों के प्रारम्भिक निर्माण-काल में भी मृण्मूर्तियों में वैविध्य के दर्शन होते हैं। स्त्री-पुरुषों के अलकृत केश-विन्यास, पशु-पक्षियों के रूप, पचशर कामदेव, विभिन्न मुद्राओं में स्त्रियों के नानाविध रूप इन मृण्मूर्तियों की विशेषता है। दूसरी ओर पापाण-मूर्तियाँ प्रारम्भ में अविकसित रूप में देख पड़ती हैं।

पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत में लोहानीपुर (पटना का एक मुहल्ला) में नाला खोदते समय जो तीर्थकर-प्रतिमा उपलब्ध हुई है, वह भारत की मूर्तियों में प्राचीनतम है। यह आजकल पटना म्यूजियम में सुरक्षित है। इसका सिर नहीं है। कुहनियों और घुटनों से भी खण्डित है। किन्तु कन्धों और बाहों की मुद्रा से यह खड्गगसन सिद्ध होती है तथा इसकी चमकीली पालिश से इसे मौर्यकाल (३२०-१८५ ई० पू०) की माना गया है। हड़प्पा में जो खण्डित जिन-प्रतिमा मिली है, उससे लोहानीपुर की इस जिन-प्रतिमा में एक अद्भुत सादृश्य परिलक्षित होता है। और इसी सादृश्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय मूर्ति-कला का इतिहास वर्तमान मान्यता से कहीं अधिक प्राचीन है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि देव-मूर्तियों के निर्माण का प्रारम्भ जैनो ने किया। उन्होंने ही सर्व प्रथम तीर्थकर-मूर्तियों का निर्माण करके धार्मिक जगत को एक आदर्श प्रस्तुत किया। उन्हीं के अनुकरण पर शिव-मूर्तियों का निर्माण हुआ। विष्णु, बुद्ध आदि की मूर्तियों के निर्माण का इतिहास बहुत पश्चात्कालीन है।

(एक अन्य मूर्ति के सम्बन्ध में उदयगिरि की हाथीगुफा में एक शिलालेख मिलता है। इस शिलालेख के अनुसार कलिग नरेश खारवेल मगध नरेश वहसतिमित्र को परास्त करके छत्र-भृगारादि के साथ 'कलिग जिन ऋषभदेव' की मूर्ति वापिस कलिग लाये थे जिसे नन्द सम्राट कलिग से पाटलिपुत्र ले गये थे। सम्राट खारवेल ने इस प्राचीन मूर्ति को कुमारी पर्वत पर अहंत्प्रासाद बनवाकर विराजमान किया था। इस ऐतिहासिक शिलालेख की इस सूचना को अत्यन्त प्रामाणिक माना गया है। इसके अनुसार मौर्य-काल से पूर्व में भी एक मूर्ति थी, जिसे 'कलिग-जिन' कहा जाता था। 'कलिग-जिन' इस नाम से ही प्रगट होता है कि सम्पूर्ण कलिगवासी इस मूर्ति को अपना आराध्य देवता मानते थे। नन्द सम्राट इसे अपने साथ केवल एक ही उद्देश्य से ले गये थे और वह उद्देश्य था कलिग का अपमान। लगभग तीन शताब्दियों तक कलिगवासी इस अपमान को भूले नहीं और अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिकार कलिग सम्राट खारवेल ने किया। वह मगध को विजय करके अपने साथ अपने उस राष्ट्र-देवता की मूर्ति को वापिस ले गया। किन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि अबतक एक भी पुरातत्त्व वेत्ता और इतिहासकार ने इस ऐतिहासिक मूर्ति के सम्बन्ध में कोई खोज नहीं की। आखिर ऐसी ऐतिहासिक मूर्ति कुमारी पर्वत से कब किस काल में किसने कहाँ स्थानान्तरित कर दी? यदि यह मूर्ति उपलब्ध हो जाय तो इससे लोहानीपुर की मूर्ति को प्राचीनतम मानने वाले पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत को न केवल असत्य स्वीकार करना पड़ेगा, वरन् मूर्ति-निर्माण का इतिहास और एक-दो शताब्दी प्राचीन मानना होगा। कुछ अनुसन्धानकर्त्ता विद्वानों की धारणा है कि जगन्नाथपुरी की मूर्ति ही वह 'कलिग जिन' मूर्ति है। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी साधिकार कुछ कहा नहीं जा सकता।)

इसके पश्चात् शक-कुशाण काल में मूर्ति कला का द्रुत वेग से विकास हुआ। इस काल में भी सर्व प्रथम तीर्थकर-मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। मथुरा इस काल में मूर्ति-कला का केन्द्र था। तीर्थकर-मूर्तियों में भी अधिकांशतः पद्मासन ही बनाई जाती थी। इस काल में तीर्थकर-मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स, लालन और अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन प्रायः नहीं देखता। तीर्थकर-मूर्तियों में अलकरण का भी अभाव था। (मूर्तियों की चरण-चौकी पर अभिलेख अंकित करने की प्रथा का जन्म हो चुका था। जिस बौद्ध स्तूप को चर्चा ऊपर आ चुकी है, उसकी सूचना भी भगवान् मुनिसुव्रतनाथ की चरण-चौकी के अभिलेख में ही मिलती है। इस काल की तीर्थकर-प्रतिमाओं का अध्ययन करने पर एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। ईसा की इन प्रथम द्वितीय शताब्दियों में भी आदिनाथ, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थकरों के समान जनता में नेमिनाथ की भी मान्यता बहुप्रचलित थी। इस काल की भगवान् नेमिनाथ की तीन प्रतिमायें विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। एक में नेमिनाथ पद्मासन लगाये ध्यान-मुद्रा में अवस्थित हैं और उनके दोनों ओर

वलराम और कृष्ण खड़े हैं। दोनों ही द्विभुजी हैं। दूसरी प्रतिमा में ध्यानमग्न नेमिनाथ के एक ओर शेषनाग के अवतार के रूप में चतुर्भुजी वलराम खड़े हैं। उनके सिर पर शेषनाग का प्रतीक फण-मण्डप है। दूसरी ओर विष्णु के अवतार के रूप में चतुर्भुजी कृष्ण खड़े हैं। उनके हाथों में चक्र, पद्म आदि सुशोभित हैं। तीसरी मूर्ति अर्धभग्न है। इसमें नेमिनाथ ध्यानावस्थित हैं। एक ओर वलराम खड़े हैं। उनका हल-भूषण उनके कंधे पर विराजित है। इन मूर्तियों की प्राप्ति पुरातत्त्व की महान् उपलब्धि मानी जाती है। इससे नारायण कृष्ण की ऐतिहासिकता के समान उनके चचेरे भाई भगवान् नेमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।)

इस काल में तीर्थकर-प्रतिमाओं के अतिरिक्त आयागपट्ट, स्तूप, यक्ष-यक्षी, अजमुख हरिनैगमेगी, सरस्वती, सर्वतोभद्रिका प्रतिमा, भागलिक चिन्ह, धर्मचक्र, चैत्यवृक्ष आदि जैनकला की विविध कृतियों का भी निर्माण हुआ। इन कलाकृतियों के वैविध्य और प्राचुर्य से प्रभावित कुछ विद्वान् तो यह भी मानने लगे हैं कि जैन मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ ही मथुरा से हुआ है। यद्यपि यह सर्वांशतः सत्य नहीं है क्योंकि जैन मूर्तियों और जैन मूर्ति-पूजा के प्रमाण इससे पूर्वकाल में भी उपलब्ध होते हैं। इतना अवश्य माना जा सकता है कि जैन धर्म का प्रचार करने और उसे लोकप्रिय बनाने में मथुरा की जैन कला का विशेष योगदान रहा है।

मथुरा की तीर्थकर-मूर्तियों के अध्ययन से एक परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है। (दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भेद यद्यपि ईसा से तीन गताब्दी पूर्व हो चुका था, किन्तु उसका कोई प्रभाव मथुरा की तीर्थकर मूर्तियों पर नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ तक कि श्वेताम्बरो द्वारा प्रतिष्ठित तीर्थकर-प्रतिमायें भी दिगम्बर ही बनाई जाती थीं। और यह क्रम उत्तर मध्य काल तक चलता रहा।)

कुपाणकालीन तीर्थकर-प्रतिमाओं के साथ यक्ष-यक्षी भी प्राप्त नहीं होते। प्रतिमाओं के आजू-बाजू खड़े चमर धारी यक्षों का भी अभाव मिलता है। इन यक्षों के स्थान पर इस काल की प्रतिमाओं में दाता, उपामक, उनकी पत्नी, मुनि और आर्यिकाओं का अकन मिलता है। जिन-प्रतिमा के सिंहासन के दोनों कोनों पर एक-एक सिंह और बीच में धर्मचक्र अंकित होता है जिसके दोनों ओर मुनि, अजिका, श्रावक और श्राविका अंकित रहते हैं।

कुपाण काल के पश्चात् गुप्त काल में जैन मूर्ति-कला का बहुत निखार हुआ। इस काल की मूर्तियों में सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया गया। मूर्ति के अलकरण पर बल दिया गया। अब मूर्तियों पर श्रीवत्स, लाछन और अष्ट प्रातिहार्य की योजना भी की जाने लगी। द्विमूर्तिकायें, त्रिमूर्तिकायें, सर्वतोभद्रिका, चतुर्विगति तीर्थकर प्रतिमायें, तीन चौबीसी, सहस्रकूट स्तम्भ आदि की संरचना होने लगी। मूर्तियों के कोण-कुन्तल अत्यन्त कलापूर्ण बने। आदिनाथ के जटा-जूटो के नानाविध रूप उभरे। इस काल में तीर्थकरों के अतिरिक्त, तीर्थकर-माता, तीर्थकरों के सेवक-सेविका के रूप में यक्ष-यक्षियों, विद्या देवियों, पंचपरमेष्ठियों, भरत-बाहुवली की मूर्तियों का निर्माण भी प्रचुरता से हुआ। इनके अतिरिक्त अष्ट मंगलद्रव्य, अष्ट प्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, नवग्रह, नवनिधि, मकरमुख, कीर्तिमुख, कीचक, गंगा-यमुना, नाग-नागी आदि के अकन की परम्परा भी विकसित हुई। इस काल में देवी-मूर्तियों के अलकरण और उनकी साज-सज्जा पर विशेष ध्यान दिया गया। कुछ देवियाँ द्विभुजी, चतुर्भुजी, षड्भुजी दशभुजी, वारहभुजी, विशतिभुजी और चतुर्विगतिभुजी भी मिलती हैं। देवगढ़ की विकसित मूर्ति-कला गुप्तकाल की ही देन है।

गुप्तकाल के पश्चात् गुर्जर-प्रतिहार काल में तथा कलचुरि काल में श्वेताम्बर परम्परा की तीर्थकर-प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया। इससे पूर्व तक श्वेताम्बर प्रतिमाओं का विशेष प्रचलन नहीं मिलता। सभी जैन प्रतिमायें दिगम्बर रूप में ही बनाई जाती थीं।

इस प्रकार जैन मूर्तियों के रूप, शिल्प विधान और उनकी संरचना का एक क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इसमें उत्खनन में प्राप्त जैन मूर्तियों के काल-निर्णय में बहुत सहायता प्राप्त हो सकती है।

मन्दिरों का निर्माण कब प्रारम्भ हुआ, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। (पुरातात्विक साक्ष्यों के

जैन मन्दिरों की संरचना और उनका क्रमिक विकास अनुसार जैन मन्दिरों का निर्माण-काल जैन प्रतिमाओं के निर्माण-काल से प्राचीन प्रतीत नहीं होता। लोहानीपुर, थावस्ती, मथुरा आदि में जैन मन्दिरों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, किन्तु अबतक सम्पूर्ण मन्दिर कहीं पर भी नहीं मिला। इसलिये प्राचीन जैन मन्दिरों का रूप क्या था, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता।

(किन्तु गुहा-मन्दिर और लयण ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तक के मिलते हैं। तेरापुर के लयण, उदयगिरि-खण्डगिरि के गुहामन्दिर, अजन्ता-ऐलौरा और वादामी की गुफाओं में उत्कीर्ण जैन मूर्तियाँ इस बात के प्रमाण हैं कि गुफाओं को मन्दिरों का रूप प्रदान कर उनका धार्मिक उपयोग ईसा पूर्व से होने लगा था। इन गुहा-मन्दिरों का विकास भी हुआ। विकास का यह रूप मात्र इतना ही था कि कहीं-कहीं गुफाओं में भित्ति-चित्रों का अंकन किया गया। ऐसे कलापूर्ण भित्ति चित्र सित्तन्नवासन आदि गुफाओं में अब भी मिलते हैं।)

गुहा मन्दिरों में सामान्य मन्दिरों की अपेक्षा स्थायित्व अधिक रहा। इसीलिये हम देखते हैं कि ईसा पूर्व का कोई मन्दिर आज विद्यमान नहीं है, जबकि गुहा-मन्दिर अब भी मिलते हैं। लगता है, उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में मन्दिरों की सुरक्षा और स्थायित्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया। इसका दो ही कारण हो सकते हैं— प्रथम तो यह कि दक्षिण को उत्तर की अपेक्षा मूर्ति-विध्वंसक मुस्लिम आक्रान्ताओं का कोप कम सहना पड़ा। दूसरे यह कि दक्षिण में मन्दिरों की भव्यता और विशालता के साथ उसे चिरस्थायी बनाने की भावना भी काम करती रही। दक्षिण के अधिकांश मन्दिर राजाओं, रानियों, राज्याधिकारियों और राजश्रेष्ठियों द्वारा निर्मित हुए, जबकि उत्तर के अधिकांश मन्दिरों का निर्माण सामान्य जनो ने कराया। शक कृपाणकाल के मथुरा के मूर्ति-लेखों से प्रकट है कि वहाँ के आयागपट्ट, प्रतिमा और मन्दिर स्वर्णकार, वेश्या आदि ने ही बनवाये थे। ककुभग्राम का गुप्तकालीन मानस्तम्भ एक सुन्दर नमूना बनवाया था। अस्तु!

(पुरातत्त्वज्ञों के मतानुसार महावीर-काल में जिनायतन नहीं थे, बल्कि यक्षायतन और यक्ष-चैत्य थे) श्वेताम्बर सूत्र-साहित्य में किसी जिनायतन में महावीर के ठहरने का उल्लेख नहीं प्राप्त होता, बल्कि यक्षायतनों में उनके ठहरने के कई उल्लेख मिलते हैं। इन यक्षायतनों और चैत्यों के आदर्श पर जिनायतन या जिन-मन्दिरों की रचना की गई, यक्ष-मूर्तियों के अनुकरण पर जिन-मूर्तियाँ निर्मित हुईं और यक्ष एव नाग-पूजा पद्धति से जिन-मूर्तियों की पूजा प्रभावित हुई।

किन्तु दिगम्बर साहित्यिक साक्ष्य के अनुसार कर्मभूमि के प्रारम्भिक काल में इन्द्र ने अयोध्या में पाँच मन्दिरों का निर्माण किया, भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये, शत्रुघ्न ने मथुरा में अनेक जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया। जैन मान्यतानुसार तो तीन लोकों की रचना में कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयों का पूजा-विधान जैन परम्परा में अबतक सुरक्षित है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में जिन चैत्यालयों की कल्पना बहुत प्राचीन है।

किन्तु पुरातत्त्व को ज्ञात जैन मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप-विधान कैसा था, इसमें अवश्य मतभेद दृष्टि-गोचर होता है। लगता है, प्रारम्भ में मन्दिर सादे बनाये जाते थे। उन पर शिखर का विधान पश्चात्काल में विकसित हुआ। शिखर सुमेरु और कैलाश के अनुकरण पर बने। अनेक प्राचीन सिक्कों पर मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप देखने में आता है। मथुरा की वेदिकाओं पर मन्दिराकृतियाँ मिलती हैं। जिन्हें विद्वानों ने मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप माना है। ई० पू० द्वितीय और प्रथम शताब्दी के मथुरा-जिनालयों में दो विशेषताएँ दिखाई देती हैं—प्रथम वेदिका और द्वितीय शिखर। इस सम्बन्ध में प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी का अभिमत है कि मन्दिर के चारों ओर वृक्षों की वेष्टनी बनाई जाती थी। इसे ही वेदिका कहा जाता था। इनमें यह वेष्टनी प्रस्तरनिर्मित होने लगी।

(मौर्य और शुंग काल में जैन मन्दिरों का निर्माण अच्छी सख्या में होने लगा था। उस समय ऊँचे स्थान पर स्तम्भों के ऊपर छत बनाकर मन्दिर बनाये जाते थे। छत गोलाकार होती थी, पश्चात् अण्डाकार बनने लगी। शक-सातवाहन-काल (ई० पू० १०० से २०० ई०) में मन्दिरों का निर्माण और अधिक सख्या में होने लगा। इस काल में जैन मन्दिरों, उनके स्तम्भों और ध्वजाओं पर तीर्थंकर की मूर्ति बनाई जाने लगी। इस काल में

प्रदक्षिणा-पथ भी बनने लगे जो प्रायः काष्ठ की वेष्टनी से बनाये जाते थे। कुपाण काल में ये पापाण के बनने लगे। (प्रो० वी० ऐन० लूनिया-प्राचीन भारतीय सस्कृति, पृ० ५६५)।

(कुपाण काल में जैन मन्दिर और भी अधिक बनने लगे। इस काल में मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, कम्पिला और हस्तिनापुर प्रमुख जैन केन्द्र थे)।

(गुप्त काल (ई० चौथी से छठी शताब्दी) में मन्दिरों का निर्माण प्रचुरता से होने लगा। सौन्दर्य और मन्दिरों के अलकरण पर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल में स्तम्भों को पत्रावली और मागलिक चिन्हों से अलकृत किया जाने लगा। तोरण और सिरदल के ऊपर तीर्थकर-मूर्ति बनाई जाने लगी। गर्भगृह के ऊपर शिखर बनने लगा। बाहर स्तम्भों पर आधारित मण्डप की रचना होने लगी। बाह्य भित्तियों पर मूर्तियों का अंकन होने लगा)।

ई० ६०० के बाद उत्तर भारत में 'नागर शैली' और दक्षिण भारत में 'द्रविड शैली' का विशेष रूप से विकास हुआ। शिखर के अलकरण की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

प्रत्येक मन्दिर के आठ अंग होते हैं—अधिष्ठान, वेदी बन्ध, अन्तर पत्र, जघा, वरण्डिका, शुकनासिका, कण्ठ और शिखर। शिखर के तीन भाग होते हैं—आमलक, आमलिका और कलश।

गुप्त काल के पश्चात् जो परिवर्तन हुए, उनसे मन्दिरों की चार शैलियाँ प्रकाश में आईं—(१) गुर्जर प्रतिहार शैली (२) कलचुरि शैली (६) चन्देल शैली और (४) कच्छपघात शैली। गुर्जर प्रतिहार शैली में मन्दिर गोलाकार बनते थे। उन्हें पूर्णभद्र कहा जाता है। भीतर गर्भगृह और बाहर एक मण्डप बनता था। स्तम्भों पर घटपल्लव, कुमुद, खर्जूर पत्रावली, कमल, मलवारण, वसन्त पदिका आदि का अलकरण होता था। द्वार के अलकरण में घट पल्लव, हंस, कीर्तिमुख, गंगा-यमुना का अंकन होता था।

(कलचुरि शैली में पूर्व की अपेक्षा अधिक निखार आया। सप्त शाखा द्वारों का प्रारम्भ इसी काल में हुआ। द्वारों के तोरण पर सात पट्टिकाएँ होती थी जिन पर क्रमशः रूप, व्याल (शार्दूल), मिथुन, नवग्रह, दिक्पाल और कमल-कलश अंकित किये जाते थे। इस शैली में शिखरों की ऊँचाई बढ़ती गई। पचायतन शैली भी इस समय विकसित हुई)।

(चन्देल शैली में कलचुरि शैली की अपेक्षा हर तत्त्व में विकास हुआ। रति चित्रों का अंकन इसी काल में हुआ)।

(और कच्छपघात शैली में कला में अलकार पक्ष प्रबल होता गया। भित्तियों पर मानव-मूर्तियों, अप्सराओं और योगिनियों के चित्र बनने लगे)।

इस प्रकार विभिन्न कालों में मन्दिरों के रूप और कला में विभिन्न परिवर्तन होते रहे। कला एकरूप होकर कभी स्थिर नहीं रही। समय के प्रभाव से वह अपने आपको मुक्त भी नहीं कर सकी। एक समय था, जब तीर्थकर प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्य युक्त बनाई जाती थी, किन्तु आज तो तीर्थकरों के साथ अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन ही समाप्त सा हो गया है, जबकि शास्त्रीय दृष्टि से यह आवश्यक है।

यह प्रकरण इसलिये दिया गया है, जिससे विभिन्न शैलियों के प्राचीन मन्दिरों के काल-निर्णय करने में पाठकों को मार्गदर्शक तत्त्वों की जानकारी हो सके।

तीर्थकर चौबीस है। प्रत्येक तीर्थकर का एक चिन्ह है, जिसे लाछन कहा जाता है। तीर्थकर-मूर्तियाँ प्रायः समान होती हैं। केवल ऋषभदेव की कुछ मूर्तियों के सिर पर जटाएँ पाई जाती हैं तथा पार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर सर्प-फण होता है। सुपार्श्वनाथ की कुछ मूर्तियों के सिर के ऊपर भी सर्प-फण मिलते हैं। पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ के सर्प-फणों में साधारण सा

✓—मन्दिरों के विकास-प्रकरण में प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी के विभिन्न लेखों और डॉ० भागचन्द की 'देवगढ़' पुस्तक से सहायता ली गई है। इसके लिये दोनों विद्वानों के प्रति हम आभारी हैं। —लेखक

अन्तर मिलता है। सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर पाच फण होते हैं और पार्श्वनाथ की मूर्तियों के सिर के ऊपर सात, नौ, ग्यारह अथवा सहस्र सर्प-फण पाये जाते हैं। इन तीर्थंकरों के अतिरिक्त शेष सभी तीर्थंकरों की मूर्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। उनकी पहचान उनकी चरण-चौकी पर अंकित उनके चिन्हों से ही होती है। चिन्ह न हो तो दर्शक को पहचानने में बड़ा भ्रम हो जाता है (कभी कभी तो लाक्षणरहित मूर्ति को साधारण जन चतुर्थकाल की मान बैठते हैं, जबकि वस्तुतः श्रोवत्स लाछन और अष्ट प्रातिहार्य से रहित मूर्ति सिद्धों की कही जाती है)। इसलिये मूर्ति के द्वारा तीर्थंकर की पहचान करने का एकमात्र साधन तीर्थंकर-प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित उसका चिन्ह ही है। इसलिये तीर्थंकर-मूर्ति-विज्ञान में चिन्ह या लाछन का अपना विशेष महत्त्व है।

इन चौबीस तीर्थंकरों के चिन्ह निम्न प्रकार हैं—

ऋषभदेव का वृषभ, अजितनाथ का हाथी, सभवनाथ का अश्व, अभिनन्दननाथ का बन्दर, सुमतिनाथ का चक्रवाक पक्षी, पद्मप्रभु का कमल, सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक, चन्द्रप्रभ का अर्धचन्द्र, पुष्पदन्त का मगर, शीतलनाथ का श्री वृक्ष, श्रेयान्सनाथ का गेडा, वासुपूज्य का महिष, विमलनाथ का शूकर, अनन्तनाथ का सेही, धर्मनाथ का बज्रदण्ड, शान्तिनाथ का हिरण, कुन्थुनाथ का बकरा, अरनाथ का मछली, मल्लिनाथ का कलश, मुनिसुव्रतनाथ का कछुआ, नमिनाथ का नीलकमल, नेमिनाथ का शख, पार्श्वनाथ का सर्प और महावीर का सिंह लाछन था।

ये चिन्ह दाहिने पैर के अंगूठे में होते हैं। इन चिन्हों के सम्बन्ध में विचारणीय बात यह है कि इन चिन्हों का कारण क्या है? ये तीर्थंकर-प्रतिमाओं पर कबसे और क्यों उत्कीर्ण किये जाने लगे? इस सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टिकोण क्या है?

इस सम्बन्ध में शास्त्रों विभिन्न मत पाये जाते हैं। यहाँ उनमें से कुछ देना उपयुक्त होगा।

(इन्द्र भगवान के अभिषेक के समय उनके शरीर पर जिस वस्तु की रेखाकृति देखता है, उसी को उनका लाछन घोषित कर देता है)।

—हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि, काण्ड १२ श्लोक ४७-४८

—प० आशाधर, अनंगार धर्माभूत ८।४१

जन्मण काले जस्स दु दाहिण पायम्मि होय जो चिन्ह ।

तं लखण पाउत्तं आगमसुत्ते सुजिण वेहे ॥

(अर्थात् तीर्थंकर के दाये पैर के अंगूठे पर जन्म के समय इन्द्र जो चिन्ह देखता है, इन्द्र उसी को उनका लाछन निश्चित कर देता है)।

—त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ० ५६

इन्हीं से मिलते जुलते विचार अन्य आचार्यों के भी हैं।

मूर्ति निर्माण के प्रारम्भिक काल में मूर्तियों पर लाछन उत्कीर्ण करने की परम्परा नहीं रही। लोहानीपुर की मौर्यकालीन या शक-कुषाण कालीन मूर्तियों पर लाछन नहीं पाये जाते। बाद के काल में लाछनों के अंकन की परम्परा प्रारम्भ हुई और इनका अंकन मूर्ति के पाद-पीठ पर किया जाने लगा।

(जैन प्रतीकों में मन्दिरों में प्रायः निम्नलिखित प्रतीक उपलब्ध होते हैं—आयागपट्ट, स्तूप, धर्मचक्र, स्वस्तिक

नन्दावर्त, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, श्रोवत्स, सहस्रकूट, चैत्य, सर्वतोभद्रिका, द्विमूर्तिका, त्रिमूर्तिका, त्रिरत्न, अष्टमंगल, अष्ट प्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, नवनिधि, नवग्रह, मकरमुख, शार्दूल, कीर्ति-मुख, कीचक, गगा-यमुना, नाग-नागी, चरण, पूर्णघट, शराव सम्पुट, पुष्पमाल, आम्रगुच्छक सर्प, जटा, लाँछन, पद्मासन, खड्गासन, यक्ष-यक्षी)

आयागपट्ट—वर्गाकार या आयताकार एक शिलापट्ट होता है, जो पूजा के उद्देश्य से स्थापित किया जाता था। इस पर कुछ जैन प्रतीक उत्कीर्ण होते थे। कुछ पर मध्य में तीर्थंकर-मूर्ति भी होती थी। बृहलर के अनुसार अर्हतों की पूजा के लिए स्थापित पूजापट्ट को आयाग पट्ट कहते हैं। ये स्तूप के चारों द्वारों में से प्रत्येक के सामने स्थापित किये जाते थे।

स्तूप—यह लम्बोतरी आकृति का होता था और इसमें चार वेदिकायें होती थी।

धर्मचक्र—गोल फलक में बना हुआ चक्र होता है, जिसमें बारह या चौबीस आरे होते हैं। कोई धर्मचक्र हजार आरों का भी होता है। मूर्तियों की चरण-चौकी पर इसका अकन प्रायः मिलता है।

स्वस्तिक—एक दूसरी को काटती हुई सीधी रेखाएँ, जो सिरे से मुड़ी होती हैं। इसका प्रयोग स्वतन्त्र भी होता है और अष्ट मंगल द्रव्यों में भी होता है।

नन्द्यावर्त—(तन्ध का अर्थ सुखद या मांगलिक है और आवत का अर्थ घेरा है। इसका रूप स्वस्तिक जैसा होता है किन्तु इसके सिरे एकदम घुमावदार होते हैं, जबकि स्वस्तिक का मोड़ सीधा होता है)।

चैत्यस्तम्भ—एक चौकोर स्तम्भ होता है, जिसकी चारों दिशाओं में तीर्थकर-प्रतिमायें होती हैं और स्तम्भ के शीर्ष पर लघु शिखर होता है।

चैत्यवृक्ष—(प्रत्येक तीर्थकर को जिस वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान होता है, वह उसका चैत्यवृक्ष कहलाता है। किन्तु कला में प्रायः अशोक वृक्ष का ही चैत्यवृक्ष के रूप में अकन हुआ है। बहुधा वृक्ष के ऊपरी भाग में तीर्थकर-प्रतिमा भी अकन होती है)।

श्रीवत्स—(तीर्थकर की छाती पर एक कमलाकार चिन्ह होता है शक-कृषाण काल तक तीर्थकर प्रतिमाओं पर श्रीवत्स चिन्ह का अकन नहीं मिलता। सम्भवतः गुप्त काल से इसका प्रचलन प्रारम्भ हुआ)।

सहस्रकूट—एक चौकोर पाषाण स्तम्भ में १००८ मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाती हैं, वह सहस्रकूट कहलाता है।

सर्वतोभद्रिका—एक स्तम्भ में चारों दिशाओं में तीर्थकर-प्रतिमा होती हैं। कभी तो एक स्तम्भ में चारों प्रतिमाएँ एक ही तीर्थकर की होती हैं और किसी में विभिन्न तीर्थकरों की चार प्रतिमाएँ होती हैं।

द्विमूर्तिका, त्रिमूर्तिका—एक ही फलक में दोनो ओर एक-एक मूर्ति होती है। कभी कभी एक ही ओर दो तीर्थकरों की मूर्तियाँ होती हैं। इसी प्रकार एक ही फलक में एक ओर एक तीर्थकर की और दूसरी ओर दो तीर्थकरों की मूर्तियाँ होती हैं। किसी फलक में एक ही ओर तीन तीर्थकरों की मूर्तियाँ होती हैं।

त्रिरत्न—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ये तीन रत्न कहे जाते हैं, जिन्हें त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय कहते हैं। इनके प्रतीक रूप में एक फलक में एक ऊपर और दो नीचे छेद कर दिये जाते हैं। मथुरा में ऐसे त्रिरत्न मिले हैं।

अष्ट मंगल द्रव्य—स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, मीनयुगल, पद्म और दर्पण ये अष्ट मांगलिक कहलाते हैं। इनके स्थान पर कहीं छत्रत्रय, चमर, दर्पण, भृङ्गार, पखा, पुष्पमाल, कलश, स्वस्तिक और भारी ये आठ वस्तुएँ बताई हैं।

अष्ट प्रातिहार्य—कल्पवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि, सिंहासन, दिव्य ध्वनि, छत्र, चमर और भामण्डल ये तीर्थकरों के अष्ट प्रातिहार्य होते हैं। प्रतिमाओं पर इनका अकन गुप्तकाल से होने लगा है।

सोलह स्वप्न—(तीर्थकर माता गर्भ धारण करने से पूर्व रात्रि में सोलह शुभ स्वप्न देखती है। वे इस प्रकार हैं— १ हाथी, २ बैल, ३ सिंह, ४ लक्ष्मी, ५ दो पुष्पमाला, ६ चन्द्र, ७ सूर्य, ८ दो मछलियाँ, ९ जल से पूर्ण दो स्वर्णकलश, १० कमलों से परिपूर्ण सरोवर, ११ समुद्र, १२ सिंहासन, १३ देव विमान, १४ धरणेन्द्र का भवन १५ रत्नराशि, १६ निर्धूम अग्नि)।

नवनिधि—नैसर्ग, पिंगल, भाजुर, माणवक, सद, पाण्डक, कालश्री, वरतत्त्व और तेजोद्भासि महाकाल ये नौ निधियाँ होती हैं। समवसरण के भीतरी और बाहरी गोपुरों में नवनिधि से शोभित अष्ट मंगल द्रव्य आदि रहते हैं। नवनिधि चक्रवर्ती के भी होते हैं। अतः चक्रवर्ती भरत की मूर्तियों के साथ कहीं कहीं नौ घटों के रूप में नव निधियों का अकन मिलता है।

नवग्रह—१ रवि, २ चन्द्र, ३ कुज, ४ बुध, ५ गुरु, ६ शुक्र, ७ शनि, ८ राहु, ९ केतु ये नवग्रह कहलाते हैं। इनका अकन द्वारों, तीर्थकर-मूर्तियों, देव-देवी मूर्तियों के साथ भी हुआ है और स्वतन्त्र भी हुआ है)।

मकर मुख—मन्दिरों की द्वार देहरियों के मध्य में तथा स्तम्भों पर मिलते हैं।

शादूल—शादूल के पिछले पैरों के पास और अगले पैरों की लपेट में एक मनुष्य दिखाई पड़ता है और

शार्दूल की पीठ पर आयुध लिए कोई मनुष्य बैठा रहता है।

कीर्तिमुख—इसका अकन प्रायः स्तम्भो, तोरणो और कोष्ठको आदि में होता है। इनके मालाएँ, लडियाँ और शृङ्खलाएँ लटकती दिखाई पड़ती हैं।

कीर्त्तिक—स्तम्भ के शीर्षो पर बैठा हुआ मनुष्य छत का भार वहन करता है।

गंगा यमुना—मन्दिर के द्वारो पर एक और मकरवाहिनी गंगा होती है और दूसरी और कच्छपवाहिनी यमुना होती है।

शेष प्रतीक स्पष्ट ही हैं।

द्वितीय परिच्छेद

भगवान ऋषभदेव



१ भगवान ऋषभदेव से पूर्वकालीन परिस्थिति

कालचक्र (प्रकृति परिवर्तनशील है। परिणमन प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु अपने मूल स्वरूप की धुरी पर प्रतिक्षण परिणमन करती रहती है। वह मूल स्वरूप की धुरी से कभी विचलित या च्युत नहीं होती किन्तु उसके रूपों का नित परिणमन होता रहता है। पूर्वरूप नष्ट होता है, नया रूप उत्पन्न होता है। इस विनाश और उत्पत्ति के चक्र में भी वस्तु का मूल स्वरूप अक्षुण्ण रहता है। हर वस्तु का यही स्वभाव है।)

(प्रकृति में भी नित नये परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों को लेकर ही यह सृष्टि चल रही है। इसका न कभी सर्वथा विनाश होता है और न कभी उत्पत्ति होती है। सदा आशिक विनाश होता रहता है और उस विनाश में से ही आशिक उत्पाद होता रहता है। सृष्टि इसी विनाश और उत्पाद के चक्र में भी अपने मूल तत्त्वों को सजो कर ज्यों का त्यों रखे हुए है।)

(काल का चक्र भी इसी प्रकार सदा घूमता रहता है। परिवर्तनों के इस चक्र में कहाँ आदि है और कहाँ अन्त है, कोई नहीं कह सकता। निरन्तर घूमते रहने वाले चक्र में आदि और अन्त सभव भी नहीं है। इस चक्र में काल के एक वजा, दो वजा आदि भेद भी नहीं किये जा सकते। वह तो अविभाज्य है, अखण्ड है। किन्तु व्यवहार की सुविधा के लिए हम समय का विभाग कर लेते हैं।)

इसी व्यवहार की सुविधा के लिए जैन धर्म में काल को दो भागों में विभाजित किया गया है, जिनके नाम हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। इनमें प्रत्येक के छह-छह विभाग किये गये हैं—सुपमा-सुपमा, सुपमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा-दुषमा, दुषमा। काल के ये बारह भेद हैं। इन बारह कालों का एक पूरा चक्कर कल्प कहलाता है। प्रकृति स्वयं ही एक कल्प के आधे भाग में निरन्तर उत्कर्षशील बनी रहती है। मनुष्यों की आयु, अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, रूप आदि सभी में उत्कर्ष होता रहता है। यह काल उत्सर्पिणी कहलाता है। जिस काल में आयु, अवगाहना, बुद्धि आदि में हीनता बढ़ती जाती है, वह अवसर्पिणी काल कहलाता है। आजकल अवसर्पिणी काल है और उसका दुषमा नामक पाचवाँ भाग चल रहा है।

(इस काल-विभाग को हम घड़ी की सुई से आसानी से समझ सकते हैं। घड़ी के डायल में सुई बारह के बाद छह तक नीचे की ओर जाती है और छह के बाद बारह बजे तक ऊपर की ओर जाती है। बिलकुल इसी प्रकार अवसर्पिणी काल में जीवों में हर बात में हीनता आती जाती है और उसके बाद उत्सर्पिणी काल में जीवों में हर बात में उन्नति होती है।)

व्यावहारिक सुविधा के लिए कल्प का प्रारम्भिक काल सृष्टि का आदिकाल और उस काल के मनुष्य को सृष्टि का आदि मानव कह लेते हैं। वस्तुतः तो न सृष्टि का कोई आदि काल ही होता है और न कोई आदि मानव ही होता है।

कल्प के प्रारम्भ में मनुष्य अविकसित था। वह ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं से अपरिचित था। उस काल में सामाजिक बोध भी नहीं था। (इसलिए वहन-भाई ही पति-पत्नी के रूप में रहने लगते थे। इसे 'युगलिया काल' कहा जाता है। वे जीवन-निर्वाह के लिए वृक्षों पर निर्भर रहते थे। उनकी जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ वृक्षों से ही पूरी होती थीं। उनकी इच्छाओं की पूर्ति वृक्ष ही करते थे। इसलिए उन वृक्षों को कल्पवृक्ष कहा जाता था। उनकी इच्छाएँ दस प्रकार की होती थीं। उन दस प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति वृक्षों से होती थी, अतः कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते थे, ऐसा माना जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. मद्याङ्ग, २ तूर्याङ्ग, ३ विभूषाङ्ग, ४ माल्याङ्ग, ५ ज्योतिरङ्ग, ६ दीपाङ्ग, ७ गृहाङ्ग, ८ भोजनाङ्ग, ९ पात्राङ्ग, १० वस्त्राङ्ग। ये सब अपने-अपने नाम के अनुसार ही कार्य करते थे।

मानव को इस सस्कृति को हम वन-सस्कृति कह सकते हैं। इसे भोगयुग भी कहा गया है क्योंकि उस काल का मानव जीवन-निर्वाह के लिए कोई कर्म नहीं करता था, उसे कल्प वृक्षों से यथावश्यक सब वस्तुएँ मिल जाती थीं। उनका यथेच्छ भोग करता था। आधुनिक भाषा में इस युग को हम पूर्व पापाण युग कह सकते हैं। उस समय गाव, नगर, मकान, जाति, समाज, राज्य आदि कोई व्यवस्था नहीं थी। उनके सामने कोई समस्या भी नहीं थी अतः युद्ध भी नहीं होते थे। मानव और पशु सब साथ रहते थे। दोनों को किसी से या परस्पर भय नहीं था।

प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। वे तत्क्षण आखों की पकड़ में न आ पावे, किन्तु कुछ समय पश्चात् उनका फल अनुभव हुए बिना नहीं रहता। उस युग के मानव के समक्ष प्रकृति के नित नूतन परिवर्तनों के कारण कुछ प्रश्न-चिन्ह उभरने लगे। समय बीतता गया तो ऐसा भी समय आया जब उसके समक्ष प्रकृति-परिवर्तन समस्याएँ भी आने लगीं। प्रश्न-चिन्ह उभरे अद्भुत, अदृष्टपूर्व परिवर्तनों को लेकर, समस्याएँ उभरी आवश्यकताओं में नित नई बाधा उत्पन्न होने पर। वह अवोध मानव स्वयं समाधान खोज नहीं सकता था। अभी उसका बौद्धिक विकास ही कहाँ ही पाया था। किन्तु उसे समाधान तो चाहिए ही। (जिन्होंने उसको समाधान दिया, जीवन की राह में नेतृत्व दिया, वे मानव असाधारण थे- बुद्धि, विवेक और सस्कारों में। वे ही मानव 'कुलकर' कहलाये। उन्हें मनु भी कहा गया)।

उस समय का मानव सरल था। वह सहज जीवन व्यतीत करता था। उसका जीवन समगति से चल रहा था। किन्तु प्रकृति में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे थे। वह इनका अभ्यस्त नहीं था। उन परिवर्तनों को देखकर वह चौक उठता, भयभीत हो जाता। तब कुलकरो ने इस अवस्था में उसका मार्ग-दर्शन किया।

चौदह कुलकर इस प्रकार के कुलकर १४ हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१ प्रतिश्रुति, २ उनका पुत्र सन्मति, ३ उनका पुत्र क्षेमकर, ४ उनका पुत्र क्षेमघर, ५ सीमकर, ६ सीमघर, ७ विपुल वाहन, ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी, १० अभिचन्द्र, ११ चन्द्राभ, १२ मरुदेव, १३ प्रसेनजित, १४ और उनके पुत्र नाभिराज। इस प्रकार ये सभी आनुवंशिक परम्परा में उत्पन्न हुए थे। ये कुलकर गंगा और सिन्धु महानदियों के बीच दक्षिण भारत क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे।

इन कुलकरो के कार्य 'त्रिलोकसार' ग्रन्थ में इस प्रकार बताये हैं—

इण ससितारासावदवि भय दडादि सीमचिण्ह कदि ।

तुरगादि वाहण सिसुमुहदसण णिणभयं वेंत्ति ॥७६६॥

प्रथम कुलकर ने चन्द्र-सूर्य के दर्शन से उत्पन्न भय को दूर किया। द्वितीय कुलकर ने तारों के दर्शन से उत्पन्न भय को दूर किया। तीसरे ने क्रूर मृगों के भय को दूर किया। चौथे ने हिराक पशुओं का भय दूर किया। और उसके लिए दण्ड प्रयोग बताया। पाचवे ने अल्प फलदायी कल्पवृक्षों को लेकर ऋषट्ट होने लगे तो सीमा

बनाई। फिर भी भ्रष्ट दूर नहीं हुए तो छटवे कुलकर ने सीमा-चिन्ह लगाये। सातवें कुलकर ने हाथी, घोड़े आदि को वश में करके उन पर सवारी करना बताया। पहले माता-पिता बच्चों के उत्पन्न होते ही मर जाते थे, किन्तु अब कुछ समय जीवित रहने लगे और अपने शिशुओं का मुख देखकर भयभीत होने लगे तो आठवे कुलकर ने उन्हें समझाकर उनका भय दूर किया।

आसीवादादि ससि पदु दिहि केलि च कदिचिदिण ओत्ति ।

पुत्तेहि चिरंजीवण सेदुवहिस्तादि तरणधिहि ॥८००॥

नवम कुलकर ने शिशुओं के लिए आशीर्वाद देना बताया। दशम ने शिशुओं के साथ कुछ दिन तक क्रीडा करना बताया। एकादश ने पुत्रों के साथ बहुत समय तक रहने का भय निवारण किया। द्वादश ने नदी आदि पार करना सिखाया।

सिक्खति जराउ छिदि णाभि विणासिद चाव तडिदादि ।

चरिमो फलअकदोसहिभुत्ति कम्मावणी तत्तो ॥८०१॥

—तेरहवें कुलकर ने जरायु छेदन बताया। चौदहवें कुलकर ने नाभि-छेदन-विधि सिखाई। बिजली गिरने और बिजली का भय दूर किया, फलाकृतौषध भक्षण करना सिखाया। तदनन्तर कर्मभूमि प्रवर्तित हुई।

इन कुलकरो ने समाज-नियमन और अनुशासन के लिये दण्ड-व्यवस्था भी निर्धारित की थी। यदि किसी से कोई अपराध हो जाता था तो प्रथम कुलकर से पांचवें कुलकर तक के काल में अपराधी को 'हा' कहकर दण्ड देते थे। छटवें से दसवें तक कुलकर अपराधी को इससे कुछ कठोर दण्ड देते थे और उससे 'हा मा' कहते थे। ग्यारहवें से चौदहवें कुलकरो ने उस काल की दृष्टि से इससे भी कठोर दण्ड की व्यवस्था की। वे अपराधी को 'हा मा धिक्' कहकर वर्जना करते थे।

युगलिया समाज का वर्णन पढ़कर हमें ऐसा लगता है कि उस समय मनुष्य जगलो में कबीले बनाकर रहते थे। समाज, राज्य, नगर, जाति और वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। अतः ये प्रकृति-पुत्र प्रकृति की गोद में फूलते फूलते थे। समाज-व्यवस्था नहीं थी। आवश्यकतायें सीमित थी, साधन असीम थे। इसलिए शोषण, छीना भपटी, द्वन्द्व आदि भी नहीं थे। प्रकृति के अनुरूप उनका जीवन सहज था। इसलिए पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म का भी बोध नहीं था। जो चाहते थे, वह मिल जाता था। कर्म जीवन में आ नहीं पाया था। अतः इस युग को भोग-युग कहा जाता है।

कुलकरो को मनु भी कहा जाता है। उन मनुओं की सन्तान को ही मानव या मनुष्य कहा जाने लगा है।

प्रकृति का यह वैचित्र्य ही कहना होगा कि उस युग में पुत्र और पुत्री युगल उत्पन्न होते थे। पुत्रोत्पत्ति के तत्काल बाद माता-पिता का देहान्त हो जाता था। प्रकृति में धीरे धीरे परिवर्तन हुआ और पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् माता-पिता जीवित रहने लगे। मरुदेव कुलकर के काल तक युगल ही उत्पन्न होते रहे। किन्तु उसके पश्चात् अकेली सन्तान भी होने लगी। सर्वप्रथम मरुदेव के एक पुत्र ही उत्पन्न हुआ। मरुदेव ने उसका विवाह भी किया था।

नाभिराज तेरहवें कुलकर प्रसेनजित के पुत्र थे। वे भरत क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत से दक्षिण की ओर मध्यम आर्यखण्ड में उत्पन्न हुए थे। वे विश्व भर के क्षत्रियों में श्रेष्ठ थे। वे भोगभूमि और अन्तिम कुलकर कर्मभूमि के सन्धि-काल में उत्पन्न हुए थे। उस समय दक्षिण भरत क्षेत्र में कल्पवृक्ष रूप नाभिराज प्रासाद नष्ट हो गये थे। केवल एक ही कल्पवृक्ष रूप प्रासाद अवशिष्ट रह गया था और वह था नाभिराज का। वह पृथ्वीनिर्मित-प्रासाद बन गया था। उस प्रासाद का नाम सर्वतोभद्र था और वह इक्यासी खण्ड का था। उन्होंने ही उत्पन्न बालको के नाभि-नाल को शस्त्र-क्रिया से पृथक् करने का परिज्ञान दिया। इसीलिये उन्हें 'नाभि' कहा जाता था।

उनके काल में कल्पवृक्ष नि शेषप्राय हो गये। मानव के समक्ष नये प्रश्न उभरने लगे, उनका हल होना

युग की मांग थी। नाभिराज ने बड़े विवेक और धैर्य के साथ उन प्रश्नों का समाधान दिया। वे स्वयं त्राणमह वन गये। इसीलिये उन्हें क्षत्रिय कहा गया। क्षत्रिय ही नहीं, विश्व भर के क्षत्रियों में श्रेष्ठ कहा गया। आचार्य जिनसेन ने उन्हें 'विश्वक्षत्रगणाग्रणी' कहा है। इसीलिए आगे चलकर क्षत्रिय शब्द 'नाभि' अर्थ में रूढ़ हो गया। अमरकोपकार ने 'क्षत्रिये नाभि' और अभिधान चिन्तामणि के कर्ता आचार्य त्रेमचन्द्र ने 'नाभिश्च क्षत्रिये' लिखा। उन्होंने अपने पुरुषार्थ और विवेक से एक नये युग का प्रवर्तन किया। इसीलिए उनके नाम पर इस आर्यखण्ड का नाम 'नाभिखण्ड' हो गया। नाभि को अजनाभ भी कहते हैं। अतः इस खण्ड को 'अजनाभ वर्ष' भी कहा जाता था।

वैदिक पुराणों में भी इस बात का समर्थन मिलता है। 'कन्द पुराण में बताया है—

हिमाद्रिजलधेरन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतम् ॥१२।३७।५५

श्रीमद्भागवत में इस सम्बन्ध में यह उल्लेख मिलता है—

'अजनाभं नामैतद् वर्षं भारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति ॥५।७।३

डॉ० अवधविहारीलाल अवस्थी ने 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप' में लिखा है—'सप्त द्वीपों वाली पृथ्वी में जम्बूद्वीप अत्यन्त प्रसिद्ध भूखण्ड था। आद्य प्रजापति मनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत दस राजकुमारों के पिता थे। उनमें तीन तो सन्यासी हो गये। और सात पुत्रों ने मान महाद्वीपों में आधिपत्य प्राप्त किया। ज्येष्ठ आग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा हुए। उनके नी लड़के जम्बूद्वीप के स्वामी बने। जम्बूद्वीप के नी वर्षों में हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को आग्नीध्र के पुत्र नाभि के नाम पर ही 'नाभिखण्ड' कहा गया।'

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'मार्कण्डेय पुराण सांस्कृतिक अध्ययन' के पाठटिप्पण में लिखा है—'स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के अपभ और अरभदेव के मी पुत्र हुए। जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे, जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश 'अजनाभ वर्ष' कहलाता था।'

काल तीव्रगति से भाग रहा था। भोगभूमि का अन्न हो रहा था। प्रकृति के अन्दर कर्म भूमि की प्रसव वेदना हो रही थी। प्रकृति में चंचलता व्याप्त थी। नित नये और अनोखे परिवर्तन हो रहे थे। नाभिराज द्वारा आकाश काले बादलों से भर गया। बादलों में एक ओर इन्द्रधनुष का सतरंगी विमान था, दूसरी ओर रह रह कर बिजली कौंध रही थी। बादल विकट गर्जना कर रहे थे। थोड़ी देर में मूसलाधार वर्षा होने लगी। शीतल पवन के झकोरे चल रहे थे। आज प्रकृति में प्रथम बार एक अनोखी पुलक समाई हुई थी। पपीहा पुलकित होकर प्रथम बार 'पीउ पीउ' की तान अलाप रहे थे। मोर हर्षित होकर भूम उठे और अपने रंग-विरंगे पख फैलाकर नृत्य करने लगे। नदियों में प्रथम बार जल का पूर आया। भूमि का उत्ताप शान्त हुआ और पृथ्वी के गर्भ से नवीन अकुरों का जन्म हुआ। नाना प्रकार के विना बोये हुए धान्य उग आये। धीरे धीरे वे बढ़ने लगे। उन पर फल भी लग गये। कल्पवृक्ष विलकुल नष्ट हो गये थे।

प्रजा के समक्ष उदर-पूर्ति की समस्या थी। धान्य खड़े थे किन्तु वह उनका उपयोग करना जानती नहीं थी। कल्पवृक्षों से उसकी समस्या का समाधान होता आया था, किन्तु कल्पवृक्ष समाप्त हो चुके थे। तब प्रमुख लोग नाभि राज के पास गये और दीनतापूर्वक उनसे जीवनोपाय पूछने लगे। नाभिराज ने दयादर् होकर प्रजा को आश्वासन दिया—'तुम लोग किसी प्रकार का भय मत करो। कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं किन्तु अब ये फलों से भुके हुए साधारण वृक्ष तुम्हारा वैसे ही उपकार करेंगे, जिस प्रकार कल्पवृक्ष करते थे। किन्तु ये विषवृक्ष और

१. तस्य काले मुतोत्पत्ती नाभिनालमदृश्यत।

स तन्निकर्तनोपायमदिशन्नाभिरित्यभूत् ॥ आदिपुराण ३।१६४

✓ 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, कैलाश प्रकाशन लखनऊ, पृ० १२३, परिशिष्ट २

औषधिवृक्ष है। इनके मसाले बनाकर अन्न को स्वादिष्ट बनाया जा सकता है। ये लम्बे लम्बे इक्षु-वृक्ष हैं। इन्हें दातो से अथवा यत्र से घेरकर स्वादिष्ट रस मिल सकता है।'

इसके पश्चात् नाभिराज ने गीली मिट्टी को हाथी के गण्डस्थल पर रखकर उससे थाली आदि पात्र बनाने की शिक्षा दी। इस प्रकार नाभिराज ने कल्पवृक्षों के नष्ट होने पर प्रजा की सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति की। इसलिये प्रजा के लिये वे ही कल्पवृक्ष बन गये।

सृष्टि के कर्मयुग के प्रारम्भ और भोगयुग के अन्त की इस सन्धि-वेला में नाभिराज ने मानव-जीवन को नवीन व्यवस्था का प्रारम्भ करके एक नये युग का प्रारम्भ किया। अतः वे युग-प्रवर्तक माने जाते हैं।

प्रतिश्रुति से लेकर नाभिराज तक चौदहों कुलकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। इनमें से कुछ को जातिस्मरण ज्ञान था। कुछ को अवधिज्ञान था। इसलिये अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा उन्होंने प्रजा के समक्ष आये हुए नये नये प्रश्नों के उत्तर दिये, नई नई समस्याओं के समाधान दिये।

ये सभी प्रजा के जीवन का उपाय जानते थे। इसलिये ये मनु कहलाते थे। तत्कालीन प्रजा को कुल की भाँति इकट्ठा रहने का उपदेश दिया था। इसलिये वे कुलकर कहलाते थे। उन्होंने नवीन वंश-परम्परा स्थापित की थी। इसलिये वे कुलधर कहलाते थे। तथा युग की आदि में हुए थे, इसलिए इन्हें युगादि पुरुष भी कहा जाता था। ऋषभदेव और भरत को भी इसी अर्थ में कुलकर कहा गया है।

भोगभूमि में, कल्पवृक्षों के सुविधा-काल में मनुष्य वनों में इधर उधर कबीलो के रूप में रहते थे। कुलकरो ने उन्हें समूहबद्ध करके एक स्थान में रहना और उगे हुए धान्यों से जीवन-निर्वाह करना सिखाया। नाभिराज ने मिट्टी के वर्तन बनाना सिखाकर मानव-सभ्यता की आधार-शिला रखी।



२. भगवान ऋषभदेव का जन्म

सूर्य उदित होता है, उससे पूर्व ही उसकी प्रभा अन्धकार का नाश कर देती है। तीर्थकर असाधारण और लोकातिशयी महापुरुष होते हैं। वे उत्पन्न होते हैं, उससे पूर्व ही उनका पुण्य असाधारण और देवों द्वारा अयोध्या लोकातिशयी कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। तीर्थकर भगवान ऋषभदेव का जन्म नाभिराज की रचना के यहाँ होने वाला है, यह विचार कर सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी—'तीर्थकर भगवान के गौरव के अनुकूल नगरी की तुरन्त रचना करो।' आज्ञा मिलते ही कुबेर आज्ञा-पालन में जुट गया। स्वयं इन्द्र ने शुभ मुहूर्त, शुभ नक्षत्र में सर्व प्रथम मागलिक कार्य किया और अयोध्यापुरी के बीच में जिन मन्दिर की रचना की। फिर चारों दिशाओं में भी जिन मन्दिरों की रचना की। अनेक उत्साही देवों ने भक्ति और उत्साह के साथ इस कार्य में स्वेच्छा से योग दिया और स्वर्ग की सामग्री से एक अद्भुत नगरी की रचना की। यह नगरी ऐसी लगती थी, मानो इस पृथ्वी पर स्वर्गपुरी की ही रचना की गई हो।

उस नगरी के बीचों बीच सुन्दर राजमहल बनाया था। इस नगरी की इतनी सुन्दर रचना का कारण बताते हुए आचार्य जिनसेन कहते हैं—'उस नगरी की रचना करने वाले कारीगर स्वर्ग के देव थे, उनका अधिकारी सूत्रधार इन्द्र था और मकान वर्गरह बनाने के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी पडी थी, तब वह नगरी प्रशंसनीय क्यों न हो।' देवों ने उस नगरी को वप्र (मिट्टी के बने हुए छोटे कोट), प्राकार (चार मुख्य दरवाजों से युक्त पत्थर के बने हुए मजबूत कोट) और परिखा (खाई) आदि से सुशोभित किया था।

उस नगरी का सार्थक नाम 'अयोध्या' था। कोई भी शत्रु उससे युद्ध नहीं कर सकता था, इसलिये तो

वह 'अयोध्या' कहलाती थी। उस नगरी को 'साकेत' भी कहते थे क्योंकि उसमें सुन्दर-सुन्दर भकान बने हुए थे। वह नगरी सुकोशल देश में थी, अतः उसे 'सुकोशला' भी कहा जाता था। उस नगरी में अनेक विनीत शिक्षित सभ्य मनुष्यों का निवास था, अतः उसका नाम 'विनीता' भी पड़ गया।

अयोध्या नगरी के बनने पर देवों ने शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग और शुभ लग्न में पुण्याह वाचन किया। 'भगवान् ऋषभ देव उत्पन्न होंगे' यह सोचकर इन्द्र ने नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी का अभिषेक करके पूजा की। तब उन्होंने अयोध्या में अपने लिये बने हुए प्रासाद में प्रवेश किया और वहाँ रहने लगे। इसके पश्चात् देवों ने इधर-उधर रहने वाले मनुष्यों को लाकर उस नगरी में बसाया और उन्हें हर प्रकार की सुविधा दी।

नाभिराज की पत्नी मरुदेवी थी। जब नाभिराज के साथ मरुदेवी का विवाह हुआ, उस समय इन्द्र की प्रेरणा में देवों ने उनका विवाहोत्सव धूमधाम के साथ मनाया। मरुदेवी अपने अर्निद्य नाभिराज की पत्नी रूप, बुद्धि, द्युति और विभूति में उन्नाणी को भी मात करती थी। उस समय नाभिराज और मरुदेवी के समान पुण्यवान् दूसरा कोई नहीं था। जिनके स्वयम्भू भगवान् जन्म लेने वाले थे, उनके पुण्य की स्पर्धा समार में कौन कर सकता था।

भगवान् गर्भ में आये, उसमें छह माह पहले से कुवेर ने इन्द्र की आज्ञा से अयोध्या में रत्नवर्षा की। यह रत्नवर्षा भगवान् के जन्म तक अर्थात् पन्द्रह माह तक हुई। रत्नवर्षा दिन में तीन बार होती थी और एक बार में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी।

एक दिन मरुदेवी अपने प्रासाद में कोमल गय्या पर सो रही थी। उन्होंने सोते हुए रात्रि के अन्तिम प्रहर मरुदेवी का स्वप्न दर्शन में निम्नलिखित शुभ सोलह स्वप्न देखे—

- १—उन्होंने इन्द्र का ऐरावत हाथी देखा, जिसके कपोलों में मद बह रहा है।
- २—दूसरे स्वप्न में एक वृषभ (बैल) देखा। बैल का वर्ण श्वेत था और गम्भीर शब्द कर रहा था।
- ३—तीसरे स्वप्न में एक सिंह देखा। उसका वर्ण चन्द्रमा के समान श्वेत था और कर्ण लाल वर्ण के थे।
- ४—चौथे स्वप्न में कमलासन पर विराजमान लक्ष्मी को देखा और हाथी अपनी सूँडों में स्वर्ण-कलश लिये हुए उनका अभिषेक कर रहे हैं।
- ५—पाचवें स्वप्न में पुष्पमालायें देखीं, जिन पर भीरे गुंजार कर रहे हैं।
- ६—छठे स्वप्न में पूर्ण चन्द्र देखा। चादनी छिटक रही है। चारों ओर तारा गण हैं।
- ७—सातवें स्वप्न में उदयाचल में उदित होता हुआ सूर्य देखा।
- ८—आठवें स्वप्न में कमलो से ढके हुए दो स्वर्ण कलश देखे।
- ९—नौवें स्वप्न में कमलो से सुशोभित तालाब में किलोल करती दो मछलियाँ देखीं।
- १०—दसवें स्वप्न में जल से भरा तालाब देखा, जिसमें कमल तैर रहे हैं।
- ११—ग्यारहवें स्वप्न में उत्ताल तरंगों वाला, गभीर गर्जन करता समुद्र देखा।
- १२—बारहवें स्वप्न में रत्नजटित स्वर्ण का सिंहासन देखा।
- १३—तेरहवें स्वप्न में रत्नों से देदीप्यमान स्वर्ण का विमान देखा।
- १४—चौदहवें स्वप्न में पृथ्वी से निकलता हुआ नागेन्द्र का भवन देखा,
- १५—पन्द्रहवें स्वप्न में तेजस्वी किरणों वाली रत्न-शशि देखी।
- १६—सोलहवें स्वप्न में जलती हुई धूम रहित अग्नि देखी।

इसके पश्चात् उन्होंने स्वर्ण वर्ण वाले और ऊँचे स्कन्ध वाले एक वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते देखा।^१

१ श्वेताम्बर परम्परा १४ स्वप्न मानती है—गज, वृषभ, सिंह लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुम्भ, पद्मसरोवर, क्षीर समुद्र, विमान, रत्नराशि और निर्ध्वन अग्नि।
—कल्पसूत्र, सूत्र ३३

तभी प्रभात-जागरण के मगल वाद्य बजने लगे और बन्दी जन मगल गान करने लगे। तब मरुदेवी शुभ स्वप्नो के स्मरण से आनन्दित होती हुई उठी। उन्होंने मगल स्नान करके वस्त्राभूषण धारण किये और प्रमुदित मन से अपने पति नाभिराज के पास पहुँची। वहाँ समुचित विनय के साथ नाभिराज की वाई और सिंहासन पर बैठ गई। नाभिराज ने पत्नी की समुचित अभ्यर्थना की। तब मरुदेवी ने रात में देखे हुए स्वप्नो का वर्णन करते हुए पूछा—देव ! इन स्वप्नो का क्या फल है, यह जानने की मेरी अभिलाषा है।

तब अवधिज्ञान से स्वप्नो का फल विचार कर नाभिराज बोले—‘देवि ! मैं इन स्वप्नो का फल बताता हूँ। हाथी के देखने से तेरे उत्तम पुत्र होगा। बैल देखने से यह समस्त लोक में श्रेष्ठ होगा। सिंह के देखने से वह अनन्त बल से युक्त होगा। मालाएँ देखने से वह सत्य धर्म का प्रवर्तक होगा। लक्ष्मी देखने से सुमेरु पर्वत पर देव उसका अभिषेक करेंगे। पूर्ण चन्द्र को देखने से वह लोक को आनन्द देने वाला होगा। सूर्य दर्शन का फल वह अनन्त तेज का धारी होगा। दो कलश देखने का फल वह अनेक निधियों का स्वामी होगा। मीन-युगल का फल वह सुखी रहेगा। सरोवर देखने से वह १००८ शुभ लक्षणों का धारक होगा। समुद्र दर्शन का फल वह सर्वज्ञ केवली बनेगा। सिंहासन देखने से वह जगद्गुरु का पद प्राप्त करेगा। देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतरित होगा। नागेन्द्र का भवन देखने से वह जन्म से अवधिज्ञान का धारी होगा। रत्नों की राशि देखने से वह अनन्त गुणों का निधान होगा। और निर्धूम अग्नि देखने से वह कर्म रूप ईंधन को जलाने वाला होगा। तुम्हारे मुख में वृषभ ने प्रवेश किया है, उसका फल यह है कि तुम्हारे गर्भ में वृषभनाथ अवतार लेंगे।

अपने ज्ञानवान पति से अपने स्वप्नो का फल सुनकर मरुदेवी आनन्द विभोर हो गई। उनके नेत्रों में हर्ष के प्रश्रुकण चमकने लगे। वे अपने पति को नमस्कार करके अपने महल में चली गईं ! उन्हें यह जानकर अपार हर्ष हुआ कि मेरे गर्भ में तीन लोक के नाथ तीर्थकर प्रभु ने अवतार लिया है।

आषाढ कृष्णा द्वितीया^१ के उत्तराषाढ नक्षत्र में सर्वार्थ सिद्धि विमान से वज्रनाभि अहमिन्द्र आयु पूर्ण करके मरुदेवी के गर्भ में अवतरित हुआ। देवों और इन्द्रों ने अपने अपने विमानों में होने वाले चिन्हों में तीर्थकर भगवान का गर्भावतार जानकर प्रभु के दर्शनों के लिए प्रस्थान किया और वे त्रयोध्या नगर में आये। उन्होंने नगर की प्रदक्षिणा दी। फिर माता-पिता को नमस्कार किया और गर्भस्थ प्रभु का गर्भ कल्याणक महोत्सव मनाया। नाना सगीत, वाद्य और नृत्य से वातावरण भुखरित हो उठा। उत्सव मनाकर सभी देव और इन्द्र अपने अपने स्थान को चले गए। इन्द्र की आज्ञा से श्री, ह्री, घृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामक षट् बुमारी देवियाँ माता की सेवा में रह गईं। दिक्कुमारियों ने गर्भ-शोधन का कार्य किया।

गर्भस्थ प्रभु के कारण माता को कोई कष्ट नहीं हुआ। प्रभु के भक्त एक आचार्य ने कल्पना की है कि माता मरुदेवी स्वयं भी गौरव से युक्त थी, फिर तीनों जगत के गुरु (भारी तथा श्रेष्ठ) जिनेन्द्र देव को धारण कर रही थी, फिर भी वे शरीर में लघुता (हल्कापन) अनुभव करती थी। माता के गर्भ में भगवान का निवास ऐसा था, जैसा जल में प्रतिबिम्बित सूर्य का होता है।

देवियाँ जगन्माता की नाना भाँति सेवा करती थी और उनका मनोरंजन करती थी। कभी वे माता से प्रश्नोत्तर करती थी, कभी गूढार्थक काव्य-चर्चा करती थी। कभी गीत-नृत्य करती थी।

माता मरुदेवी त्रिलोकीनाथ भगवान को अपने गर्भ में धारण किए हुए थी, अतः भगवान के तेजपुंज से वे भी उद्भासित हो रही थी और समस्त जन उन्हें नमस्कार करते थे। नाभिराज और उनका परिवार भी मरुदेवी माता की सुख-सुविधा का बराबर ध्यान रखते थे।

इस प्रकार दिनो दिन गर्भ बढ़ता गया।

१ श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान का गर्भावतारण आषाढ कृष्णा चतुर्थी को हुआ था—आवश्यक नियुक्ति, गाथा १८२

नी माह पूर्ण होने पर चंद्र कृष्णा नौमी के दिन सूर्योदय के समय उत्तरापाठ नक्षत्र में श्रीर ब्रह्म नामक महायोग में पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। उस समय प्रकृति में अत्यन्त उल्लास भर गया। आकाश भगवान का जन्म स्वच्छ था, प्रकृति शान्त थी, शीतल मद सुगन्धित पवन बह रही थी। वृक्ष फूल बरसा रहे थे। देवों के दुन्दुभि बाजे स्वयं बज रहे थे। समुद्र, पृथ्वी, आकाश मानों हर्ष से थिरक रहे थे। भगवान के जन्म से तीनों लोकों में क्षण भर को उद्योत और सुख का अनुभव हुआ।

जिनेन्द्रदेव का जातकर्म विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता, रुचका, रुचकोज्वला, रुचकाभा और रुचकप्रभा नामक दिक्कुमारियों ने किया। ये दिक्कुमारियाँ जात कर्म में अत्यन्त निष्णात हैं। तीर्थंकरों का जात कर्म ये ही देवियाँ करती हैं।

भगवान के जन्म के प्रभाव से इन्द्रों के मुकुट चंचल हो गये, आसन कम्पायमान हो गये। भवनवासी देवों के भवनों में शखों का शब्द, व्यन्तरो के लोक में भेरी का शब्द, ज्योतिष्क देवों के विमानों में सिंहों के शब्द और कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टाओं के शब्द होने लगे। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने अवधिज्ञान से जान लिया कि भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर का जन्म हुआ है। वह अपने सिंहासन से उतर कर सात डग आगे बढ़ा। उसने उच्च स्वर से भगवान का जय घोष किया और दोनों हाथ मस्तक से लगा कर भगवान को प्रणाम किया। फिर सेनापति को आज्ञा दी 'भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर का जन्म हुआ है। सब देवों को सूचना करवा दो कि सबको भरत-क्षेत्र चलना है।' सूचना मिलते ही समस्त देव चल पड़े। अन्युत स्वर्ग तक के इन्द्रों ने भी इसी प्रकार अपने अपने लोक में आदेश प्रचारित किये और उन स्वर्गों के भी देव चल दिये। इसी प्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव भी चल दिये।

उस समय समस्त आकाश हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सैनिक, बैल, गन्धर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की देव सेनाओं से व्याप्त हो गया। सौधर्मेंद्र ऐरावत हाथी पर आरूढ था। चारों निकाय के देव भी विविध वाहनों पर आरूढ होकर चल रहे थे। आकाश में चारों ओर देवों के श्वेत छत्र, ध्वजा और चमर दिखाई पड़ रहे थे। भेरी, दुन्दुभि और शखों के शब्दों से आकाश व्याप्त था। गीत और नृत्य से वातावरण में अद्भुत उल्लास भर रहा था। सभी देव अयोध्या नगरी में पहुँचे। सभी देव वहाँ एक साथ प्रथम बार पहुँचे, इसलिए उस समय से उस नगर का नाम 'साकेत' प्रसिद्ध हो गया।

सर्व प्रथम देवों ने नगर की तीन प्रदक्षिणा दी। तत्पश्चात् सौधर्मेंद्र नाभिराज के प्रासाद में पहुँचा और इन्द्राणी को जिनेन्द्र प्रभु को लाने की आज्ञा दी। इन्द्राणी प्रसूति गृह में गई। उसने प्रभु को और माता को नमस्कार किया। फिर अपनी देव माया से माता को सुख निद्रा में सुलाकर और उनके बगल में मायामय बालक लिटाकर प्रभु को गोद में उठा लिया और लाकर इन्द्र को सौंप दिया।

इन्द्र ने भगवान को गोद में ले लिया। बाल प्रभु के सुख-स्पर्श से उसका समस्त शरीर हर्ष से रोमांचित होगया। वह प्रभु के त्रिभुवन मोहन रूप को निहारने लगा। किन्तु उसे तृप्ति नहीं हुई। तब उसने हजार नेत्र बनाकर प्रभु के उस अनिष्ट रूप को देखा। फिर भी वह तृप्ति नहीं हुआ। तो उसने भगवान की स्तुति करना प्रारम्भ किया।

तत्पश्चात् वह भगवान को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर आरूढ हुआ। ऐशान इन्द्र ने भगवान के ऊपर श्वेत छत्र तान लिया। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र दोनों पार्श्वों में खड़े होकर चमर ढोलने लगे।

इन्द्र देव समूह के साथ भगवान को सुमेरु पर्वत के शिखर पर ले गया। सर्व प्रथम सबने सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी। फिर पाण्डुक शिला पर स्थित सिंहासन पर जिन-बालक को विराजमान किया। समस्त देव हर्ष में भरकर गीत-नृत्य करने लगे। उस समय तत, वितत, घन और सुषिर चारों प्रकार के बाजे बज रहे थे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं, देवागनाओं ने अपने हाथों में अष्ट मंगल द्रव्य ले लिये। देव लोग क्षीरसागर से स्वर्ण कलश भरकर क्रम से एक से दूसरे तक पहुँचाने लगे। सर्व प्रथम सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के इन्द्रों ने भगवान का अभिषेक किया। सभी इन्द्र और देव भगवान का जय जयकार कर रहे थे। सौधर्म इन्द्र को एक कलश द्वारा अभिषेक करने

से तृप्ति नहीं हुई। तब उसने हजार भुजाय बना ली और एक साथ हजार कलशों से भगवान का अभिषेक किया। इसके पश्चात् अन्य इन्द्रो और देवों ने भगवान का अभिषेक किया।

भगवान स्वयं ही पवित्र थे। उनके पवित्र अंगों का स्पर्श पाकर वह जल भी पवित्र हो गया और वह जहाँ जहाँ वहाँ, वह समस्त धरातल भी पवित्र हो गया।

अभिषेक के पश्चात् सौधर्मन्त्र ने जगत की शान्ति के लिए शान्ति मन्त्र का पाठ किया। देवों ने बड़ी भक्ति से उस गन्धोदक को अपने मस्तकों पर लगाया, फिर सारे शरीर पर लगाया और अवशिष्ट गन्धोदक को स्वर्ग ले जाने के लिये रख लिया। फिर सब इन्द्रों ने मन्त्रों से पवित्र हुए जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य इन अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजा की। पश्चात् मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी।

उस समय सुगन्धित पवन वह रहा था। आकाश से सुगन्धित जल की वर्षा होरही थी। देव विभिन्न प्रकार के बाजे बजा रहे थे। इन्द्राणी ने तब भगवान को अपनी गोद में लेकर सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन करके दिव्य वस्त्राभूषण पहनाये। मस्तक पर तिलक लगाया और कल्पवृक्ष के पुष्पों का मुकुट पहनाया। उनके मस्तक पर चूडामणि रत्न रखा। नेत्रों में अजन लगाया, कानों में कुण्डल पहनाये, गले में रत्नहार पहनाया। वाजूबन्द, अनन्त, करधनी, घुघरू आदि अनेक रत्नाभरण पहनाये। फिर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वन के पुष्पों की माला पहनाई। श्री, शची, कीर्ति और लक्ष्मी देवियों ने भगवान को इस तरह अलंकृत किया कि इन्द्राणी भी भगवान की रूप-सज्जा को देखकर विस्मित रह गई। इन्द्र तो भगवान की रूप माधुरी को हजार नेत्र बनाकर देखता रह गया। फिर सबने मिलकर भगवान की स्तुति की।

इस प्रकार जन्माभिषेक का उत्सव मनाकर इन्द्र और देव भगवान को लेकर अयोध्या वापिस आये। इन्द्र भगवान को लेकर कुछ देवों के साथ महाराज नाभिराज के महलों में पहुँचा और श्रीगृह के आगमन में सिंहासन पर भगवान को विराजमान किया। नाभिराज वाल भगवान को देखकर अत्यन्त हर्षित हो रहे थे। इन्द्राणी ने माया-मयी निद्रा दूर कर माता मरुदेवी को सचेत कर दिया, तब माता भी अपने पुत्र को अत्यन्त वात्सल्य के साथ देखने लगी। इन्द्र ने महार्घ्य रत्नाभरणों और मालाओं से माता-पिता की पूजा-स्तुति की—हे नाभिराज! आप ऐश्वर्य शाली उदयाचल हैं और रानी मरुदेवी पूर्व दिशा है क्योंकि यह पुत्र रूपी ज्योति आपसे ही उत्पन्न हुई है। आज आपका यह घर हम लोगों के लिये जिनालय के समान पूज्य है और आप जगत्पिता के भी माता-पिता हैं। इसलिये हम लोगों के लिये सदा पूज्य हैं।’

इन्द्र ने माता-पिता को जन्माभिषेक की सारी कथा सुनाई, जिसे सुनकर दोनों ही बड़े प्रसन्न हुए। फिर इन्द्र की सहमति से माता-पिता ने भगवान का जन्म महोत्सव किया। प्रजा ने भी विविध प्रकार के उत्सव किये।

नगरवासियों को आनन्द विभोर होते हुए देखकर सौधर्म इन्द्र भी अपने आनन्द को न रोक सका। उसने आनन्द नाटक किया। सगीत विद्या में निपुण गन्धर्वों ने विविध वाद्यों के साथ सगीत करना इन्द्र द्वारा प्रारम्भ किया। इन्द्र द्वारा किया गया नाटक अलौकिक था। सर्व प्रथम उसने भगवान का आनन्द नाटक गर्भावतरण नाटक किया। उसके पश्चात् जन्माभिषेक सम्बन्धी नाटक दिखाया। इसके बाद उसने भगवान के पिछले दश जन्मों का नाटक किया, जिसे दशावतार नाटक भी कहा जाता है।

सर्व प्रथम इन्द्र ने मंगलाचरण किया। फिर पूर्वरङ्ग दिखाया। पूर्वरङ्ग दिखाते समय उसने पुष्पाजलि क्षेपण करके ताण्डव नृत्य किया। ताण्डव नृत्य के प्रारम्भ में उसने नान्दी मंगल किया। फिर रगभूमि में प्रवेश किया। रग-भूमि में प्रवेश करते समय वह पुष्पाजलि विकीर्ण कर रहा था। फिर उसने विभिन्न लयों और मुद्राओं में ताण्डव नृत्य किया। देव आकाश से पुष्पवर्षा करने लगे। इन्द्र ने नृत्य में क्रमशः शुद्ध पूर्वरग, करण और अङ्गहार का प्रयोग करते हुए अद्भुत रस-सृष्टि की। उसकी भुजायें नाना प्रकार की भंगिमाओं में चंचल गति से चल रही थी। उसके पदक्षेपों पर दर्शकों की दृष्टि ठहर नहीं पाती थी। तडित् गति के कारण कभी वह एक रह जाता था, कभी अनेक हो जाता था। क्षण में वह निकट दिखाई देता था और क्षण में वह दूर चला जाता था। देव नर्तकिया भी उसकी होड़ नहीं कर पा रही थी। उसके नृत्य का रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ उसकी आत्मा के साथ एकाकार

हो उठी थी। अपने इस ताण्डव नृत्य के द्वारा इन्द्र ताण्डव नृत्य का आद्य प्ररतोता, सूत्रधार और जनक माना गया है।

इस नृत्य के पश्चात् इन्द्र ने भगवान के दश जन्मों या अवतारों का नाटक किया। सर्व प्रथम इन्द्र ने भगवान के उस जन्म का नाटक दिखाया, जिसमें वे महाबल विद्याधर थे। उसके बाद त्रमश ललिताग देव, वज्र जघ, भोगभूमिज आर्य, श्रीधरदेव, सुविधि नरेश, अच्युतेन्द्र, वज्रनाभि चक्रवर्ती, सर्वार्थ सिद्धि के अहमिन्द्र और नाभिपुत्र वृषभदेव का नाटक किया।

इस प्रकार यह आनन्द नाटक समाप्त हुआ।

इन्द्र ने भगवान का एक नाम पुरुदेव रखा था। किन्तु उनका मुख्य नाम वृषभदेव रखा। इन्द्र ने भगवान का यह नाम क्यों रखा, इस बारे में आचार्यों ने कई प्रकार की कल्पित दी हैं। भगवान का गर्भावतरण के समय माता मरुदेवी ने वृषभ देखा था, इसलिये भगवान का नाम वृषभदेव रखा। एक हेतु यह दिया गया है कि भगवान जगत में श्रेष्ठ हैं, इसलिये उनका नाम वृषभदेव रखा। वृषभ का अर्थ है श्रेष्ठ। तीसरा हेतु यह दिया है कि वृष श्रेष्ठ धर्म को कहते हैं। भगवान उस श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान हो रहे थे, इसलिये इन्द्र ने उन्हें वृषभ स्वामी कहा। इन सभी मतों से भिन्न एक मत यह है कि वे जिनेन्द्र प्रभु इन्द्र द्वारा की गई पूजा के कारण प्रधानता को प्राप्त हुए थे, इसलिये माता-पिता ने ही उनका नाम ऋषभ रखा।

नामकरण के पश्चात् इन्द्र और देव अपने-अपने स्थान को चले गये।



३. बाल्य-काल

इन्द्र ने बाल भगवान के लालन पालन और सेवा-सुभूषा के लिये अलग-अलग देवियाँ नियुक्त कर दी। इन्द्र ने भगवान के हाथ के अंगूठे में अमृत स्थापित कर दिया था। वे अमृत चूसते हुए शुक्ल भगवान का दिव्य पक्ष के चन्द्रमा की भाँति बढने लगे। उनका कोमल विस्तर, आसन, वस्त्र, आभूषण, लालन पालन अनुलेपन, भोजन, वाहन तथा यान सभी वस्तुएँ दिव्य थीं। कुवेर ऋतु के अनुकूल सभी वस्तुएँ भेजता था। नाभिराज और मरुदेवी बाल भगवान को देख देखकर हर्षित होते थे। भगवान के होठों पर सदा मद स्मित विखरा रहता था, जिससे प्रतीत होता कि उन्हें ससार के भोगों की कोई कामना शेष नहीं है, वे इनसे परितृप्त हो चुके हैं। किन्तु प्रकृति-धर्म को तो निभाना ही है, इसलिए वे इस पर सदा हसते रहते हैं। जो जिन बालक जन्म से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान का धारक है, उसे अवोध बालको के समान चेष्टा करनी पड़े, इससे अधिक परिहास की बात क्या हो सकती है।

बालक ऋषभदेव न केवल अपने माता-पिता के ही, अपितु जन-जन के प्रिय थे। अनेक स्त्री पुरुष तो केवल उनकी रूप-सुधा का पान करने और देखने के लिये ही आते थे। उनकी प्रत्येक क्रीडा मन को आकर्षित करने वाली थी। यदि शिशु ऋषभदेव जरा सा मुस्करा भी देते थे तो माता मरुदेवी निहाल हो जाती थी। भट्टारक ज्ञानभूषण ने शिशु ऋषभदेव की बाल-चेष्टाओं का बड़ा स्वाभाविक और मार्मिक वर्णन किया है। बालक ऋषभ पालने में पडा हुआ है। किन्तु बीच-बीच में कभी आख खोलकर देखता है, कभी रो उठता है और कभी अपने नन्हें हाथों से हार को मोड़-तोड़ देता है—

‘आहे क्षिणि जोवइ क्षिणि सोवइ रोवइ लहीअ लगार ।

आलि करइ कर मोइइ त्रोइइ नवसर हार ॥ आ० फा० १०३॥

बालक आदीश्वर लडखडाते डगो से चलने लगे है। उनके पैरो मे स्वर्ण के घु घरू पडे है। जब वे चलते हैं तो उनमे से घ्रण-घ्रण की मधुर ध्वनि निकलती है। जिसे सुनकर नाभिराज और मरुदेवी दोनो को ही अपार हर्ष होता है—

‘आहे घ्रण घ्रण घूँ घरी बाजइ हेम तणी विहु पाइ ।

तिम तिम नरपति हरखइ मरुदेवी माइ ॥ आ० फा०, १०१॥

अब बालक कुछ चलने लगा है। उसके मस्तक पर टोपी है। कानो मे कुण्डल झलक रहे है। जो देखता है, देखता ही रह जाता है। उसे तृप्ति नही होती—

‘आहे अगोइ अगि अनोपम उपम रहित शरीर ।

टोपीय उपीय मस्तकि बालक छइ पण वीर ॥६५॥

आहे कनिय कुण्डल झलकइ खलकइ नेउर पाउ ।

जिम-जिम निरखइ हियउइ तिम-तिम भाइ ॥६६॥

बालक ऋषभदेव अब क्रीडा करने लगे। इन्द्र ने उनके साथ खेलने के लिए देव भेज दिए। वे देव भगवान का सा रूप बनाकर उनके साथ खेलते थे। वे ऐसे लगते थे, मानो वे भी ऋषभदेव हो। वही रूप, वही शरीर, वही वय। सभी बातो मे समानता। भगवान का बाल-सौन्दर्य कितना मोहक था। और जब वे रत्न जडित आगन में खेलते है तो आगन मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर स्वय ही मुग्ध हो जाते है। जब वे तोतली बोली बोलते है तो माता मरुदेवी उन पर बलि बलि जाती है। उनका धूल घूसरित वेष तो ऐसा लगता है, मानो सौन्दर्य साकार हो उठा हो। भगवान के इस अनोखे रूप और अनोखो लीला का सरस वर्णन अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त ने ‘महापुराण’ मे किया है, जिसे पढकर भगवान की वह बाल छवि आखो के आगे तैरती सी प्रतीत होती है।

सेसवलीलिया कीलमसीलिया । पहुणा दाविया केण ण भाविया ॥

धूँली धूसरु ववगय कडिल्लु । सहजायक विलकोतलु जडिल्लु ॥

हो हल्लरु जो जो सुहु सुअहि । पइ पणवतउ भूयगणु ॥

णदइ रिउभइ दुक्किय मलेण । का सुवि मलिगुण ण होइ मणु ॥

धूली धूसरी काड किक्किणी सरी । णरुव मलीलउ कीलइ बालउ ॥

भगवान की इस छवि पर कौन नही रीझ उठेगा। उनके वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह था। उनके शरीर पर नौ सौ व्यजन और एक सौ आठ शुभ लक्षण थे।

जन्म से ही उनके शरीर मे अनेक विशेषताये थी। सर्व साधारण से उनका शरीर असाधारण था। उन्हे पसीना नही आता था। शरीर निर्मल था। दूध के समान धवल रक्त था। वज्र वृषभनाराच जन्म के दस अतिशय सहनन था। समचतुरस्रस्थान था। उनका रूप अनुपम था। चम्पक पुष्प के समान शरीर मे सुगन्धि थी। १००८ लक्षण थे। अनन्त बलवीर्य था। तथा वे हित-मित्त-मधुर भाषण करते थे। इस प्रकार जन्म से ही उनमे ये दस विशेषताये थी, जिन्हे जन्म के दस अतिशय कहा जाता है।



४. भगवान गृहस्थाश्रम में

ऋषभदेव का शैशव काल बीता और उन्होंने जीवन की देहली पर पग रखा। वे जन्म से तीन ज्ञान के धारी थे। उस समय तक लिपि और अक्षर विद्या का प्रचलन नहीं था। अतः विद्याओं का भगवान का विवाह प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया था। इसलिए किशोर ऋषभदेव की शिक्षा का प्रश्न ही नहीं था। फिर तीर्थंकर तो जगत के गुरु होते हैं, तीर्थंकर का गुरु कोई नहीं होता। वे जन्म से ही प्रनिबुद्ध होते हैं। पिछले जन्मों में सतत साधना द्वारा ज्ञान का जो भण्डार संचित कर लेते हैं, वह सुरक्षित रूप में उन्हें जन्म से ही प्राप्त रहता है। वे ससार की घटनाओं से नये-नये अनुभव सजोते हैं और उस पर मनन-चिन्तन करते हैं। इसलिए वे लोक की सम्पूर्ण विद्याओं के स्वामी होते हैं। ऋषभदेव सरस्वती के स्वामी थे। उन्हें जन्म से ही सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान था। वे ममन्त कलाओं के ज्ञाता थे। ज्यों-ज्यों उनका शरीर बढ रहा था, वैसे ही उनके गुण भी बढ रहे थे।

अब भगवान की आयु विवाह योग्य हो गई। महाराज नाभिराज ने एक दिन अनुकूल अवसर देखकर अपने पुत्र से कहा— 'वत्स! आप जगद् गुरु हैं, ससार का कल्याण करने के लिए ही आपका अवतार हुआ है। किन्तु पिता के नाते मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप विवाह करके गृहस्थाश्रम अंगीकार करें। पिता के प्रिय वचन सुनकर भगवान ने स्वीकृति सूचक "ॐ" कहा। पुत्र की स्वीकृति पाकर पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्द्र के परोमर्ग से सुशील, शुभलक्षणों वाली, सती और सुन्दर दो कन्याओं की याचना की। ये दोनों कन्याएँ कच्छ, महाकच्छ की बहने थीं। उनका नाम यशस्वती और सुनन्दा था। नाभिराज ने उन्हीं कन्याओं के साथ धूमधाम से ऋषभदेव का विवाह कर दिया। भगवान के विवाह से न केवल मनुष्य लोक में ही आनन्द छा गया, बल्कि देवलोक में भी भगवान के विवाह के उपलक्ष्य में नाना प्रकार के उत्सव हुए। माता मरुदेवी और पिता नाभिराज दोनों पुत्र-वधुओं को देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए।

दोनों देवियों के साथ भगवान ऐसे लगते थे मानो वे कीर्ति और लक्ष्मी से ही सुशोभित हों। उन देवियों का रूप, जीवन, कान्ति और सौन्दर्य अनुपम था।

एक दिन महादेवी यशस्वती महलों में सो रही थीं। उन्होंने रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न देखा। स्वप्न में असी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्र, सूर्य, जल से परिपूर्ण सरोवर जिसमें हंस तैर रहे थे और चंचल लहरों वाला समुद्र देखा। स्वप्न देखने के बाद बन्दी जनो के मंगल पाठ को सुनकर वे जाग गईं। और शय्या त्याग कर प्रातः काल का मंगल स्नान कर देखे हुए स्वप्नों का फल जानने के लिए अपने पति ऋषभदेव के पास पहुँची। और भगवान के पास सिंहासन पर बैठ गईं। फिर उन्होंने रात्रि में देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनसे फल की जिज्ञासा प्रगट की। भगवान ने अवधिज्ञान में विचार कर कहा— 'हे देवि! स्वप्न में तूने सुमेरु पर्वत देखा है, उससे प्रगट होता है कि तेरे चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा। सूर्य उसके प्रताप और चन्द्र उसकी कान्ति को सूचित करता है। सरोवर और हंस देखने से तेरा पुत्र अनेक शुभ लक्षणों से युक्त होगा और अपने विशाल वक्षस्थल पर कमलवासिनों लक्ष्मियों को धारण करेगा। असी हुई पृथ्वी देखने से वह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का पालन करेगा। समुद्र देखने का फल यह है कि वह चरम शरीरी होगा। और तेरे सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र होगा।' स्वप्नों का फल सुनकर महादेवी यशस्वती को अपार हर्ष हुआ।

महादेवी यशस्वती के गर्भ में जो जोव आया था, वह अपने पूर्व जन्मों में व्याघ्र, अतिगृद्ध, देव, सुबाहु और सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था। वह अहमिन्द्र ही महादेवी के गर्भ में अवतरित हुआ था। गर्भस्थ वह जीव महा प्रतापी चक्रेश्वर बनने वाला था। यही कारण था कि महादेवी यशस्वती अपने ऊपर आकाश में चलते हुए सूर्य

को भी सहन नहीं करती थी। ये अपने मुख की कान्ति तलवार मे देखा करती थी, किन्तु वह तलवार में पड़ने वाली अपनी प्रतिकूल छाया को भी सहन नहीं कर पाती थी।

महादेवी के ऊपर गर्भ के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देने लगे थे—दोहला उत्पन्न होना, आहार मे रुचि का मन्द होना, आलस्य सहित गमन करना, शरीर को शिथिल कर जमीन पर सोना, गालो तक मुख का सफेद पड जाना, आलस भरे नेत्रो से देखना, अघरोष्ठ का कुछ सफेद और लाल होना और मुख से मिट्टी जैसी सुगन्ध आना आदि।

नौ माह व्यतीत होने पर महादेवी यशस्वती ने देदीप्यमान तेज से परिपूर्ण और महापुण्यशाली पुत्र उत्पन्न किया। भगवान ऋषभदेव के जन्म के समय जो दिन, लग्न, योग, चन्द्र और नक्षत्र आदि पडे थे, वे ही शुभ दिन आदि पुत्र के जन्म के समय भी पडे। यह कैसा सुखद आश्चर्य था। वही चंद्र कृष्णा नौमी का दिन, मीन लग्न, ब्रह्म योग, धन राशि का चन्द्रमा और उत्तरापाद नक्षत्र। इस शुभ वेला मे सम्राट के लक्षणों से सुशोभित पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओं से पृथ्वी का आलिंगन कर उत्पन्न हुआ था। यह देखकर नमित्त ज्ञानियो ने भविष्य बताते हुए कहा था कि बालक समस्त पृथ्वी का अधिपति बनेगा। बालक के उत्पन्न होने पर सबसे अधिक हर्ष दादा-दादी को हुआ। सौभाग्यवती स्त्रिया माता यशस्वती को आशावाद दे रही थी—'तू इसी प्रकार के शत पुत्रो को जन्म दे।'

पुत्रोत्पत्ति की खुशी मे राजमहल मे विविध उत्सव होने लगे। तुरही, दुन्दुभि, झालर, शहनाई, सितार, शख, काहल और ताल आदि नाना प्रकार के बाजे बज रहे थे। प्रकृति भी अपना हर्ष प्रकट करने मे पीछे नहीं रही। आकाश से पुष्प-वर्षा हो रही थी। सुगन्धित जल कणो से युक्त पवन वह रहा था। देव आकाश मे जय ध्वनि कर रहे थे और देविया विविध आशीर्वचन उच्चारण कर रही थीं। नर्तकिया नृत्य कर रही थीं। नगर की बाँधियो और राजमार्गो पर सुगन्धित जल का छिडकाव किया गया। सारा नगर तोरणो आदि से सजाया गया। चतुष्पथो पर रत्नचूर्ण से चौक पूर कर मंगल कलश रखे गए। निर्धनो को मुक्तहस्त दान दिया जा रहा था। सारी अयोध्या हर्षोत्सवो से व्याप्त थी। बन्धुजनो ने भरतक्षेत्र के अधिपति होने वाले बालक का नाम 'भरत' रखला। वादक के चरणो मे चक्र, छत्र, तलवार, दण्ड आदि चौदह रत्नो के चिन्ह बने हुए थे।

बालक धीरे-धीरे युवावस्था को प्राप्त हुआ। भरत की जन्म तिथि, नक्षत्र आदि ही अपने पिता ऋषभदेव की जन्म तिथि आदि मे समानता नहीं रखते थे, भरत का गमन, शरीर, मन्द हास्य, वाणी, कला, विद्या, द्युति, शील, विज्ञान आदि भी अपने पिता के समान था।

महादेवी शस्वती ने जब पुत्र भरत को जन्म दिया, तब उसके साथ ब्राह्मी नामक पुत्री को भी जन्म दिया। इस प्रकार भरत और ब्राह्मी युगल उत्पन्न हुए थे। इसके बाद यशस्वती ने क्रमश ६८ पुत्रो को जन्म दिया। ऋषभदेव की दूसरी रानी सुनन्दा से बाहुवली पुत्र और सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। बाहुवली सर्वश्रेष्ठ रूप सम्पदा के धारक थे। वे इस काल के चौबीस कामदेवो मे प्रथम कामदेव थे। बाहुवली का जैसा रूप था, वैसा रूप अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता था। युवा होने पर स्त्रिया उनके रूप को देखकर ठगी सी रह जाती थी और वे उन्हे मनोभव, मनोज, मनोभू, मन्मथ, अगज, मदन और अनन्यज आदि नामो से पुकारती थीं।

श्वेताम्बर परम्परा मे ऋषभदेव की स्त्रियो के नाम सुनन्दा और सुमगला बताये है। सुमगला ने भरत और ब्राह्मी तथा सुनन्दा ने बाहुवली और सुन्दरी को युगल रूप मे जन्म दिया। पश्चात् सुमगला ने युगल रूप से ४६ बार मे ६८ पुत्रो को जन्म दिया।

दिगम्बर ग्रन्थो मे भगवान ऋषभदेव के सौ पुत्र होने का तो वर्णन मिलता है, किन्तु उन पुत्रो के नाम भगवान के सौ पुत्र नहीं मिलते। केवल थोडे से नामो का ही उल्लेख मिलता है। जैसे भरत, बाहुवली, वृषभसेन, अनन्त विजय, अनन्त वीर्य, अच्युत, वीर, वरवीर।

किन्तु अभिधान राजेन्द्र कोष (उसभ-प्रकरण, पृष्ठ ११२६) मे इन सौ पुत्रो के नाम मिलते हैं। जो इस

प्रकार हैं—

१ भरत २ बाहुवली ३ शख ४ विश्वकर्मा ५ विमल ६ सुभक्षण ७ अमल ८ त्रिनाग ९ स्याति कीर्ति १० वरदत्त ११ सागर १२ यशोधर १३ अमर १४ रथवर १५ कामदेव १६ ध्रुव १७ वच्छ १८ नन्द १९ सुर २० सुनन्द २१ कुरु २२ अग २३ वग २४ कौशल २५ वीर २६ कर्लिंग २७ मागध २८ विदेह २९ सगम ३० दशार्ण ३१ गम्भीर ३२ वसुचर्मा ३३ सुवर्मा ३४ राष्ट्र ३५ सुराष्ट्र ३६ बुद्धिकर ३७ विविधकर ३८ सुयगा ३९ यशस्कीर्ति ४० यगस्कर ४१ कीर्तिकर ४२ सूरण ४३ ब्रह्मसेन ४४ विक्रान्त ४५ नरोत्तम ४६ पुरुषोत्तम ४७ चन्द्रसेन ४८ महामेन ४९ नभसेन ५० भानु ५१ सुकान्त ५२ पुष्पयुत ५३ श्रीधर ५४ दुर्धर्ष ५५ सुसुमार ५६ दुर्जय ५७ अजेयमान ५८ सुधर्मा ५९ धर्मसेन ६० आनन्दन ६१ आनन्द ६२ नन्द ६३ अपराजित ६४ विश्वसेन ६५ हरिपेण ६६ जय ६७ विजय ६८ विजयन्त ६९ प्रभाकर ७० अरिदमन ७१ मान ७२ महाबाहु ७३ दीर्घबाहु ७४ मेघ ७५ सुघोष ७६ विश्व ७७ वराह ७८ सुसेन ७९ सेनापति ८० कपिल ८१ जैलविचारी ८२ अरिजय ८३ कुजरवल ८४ जयदेव ८५ नागदत्त ८६ काश्यप ८७ वल ८८ धीर ८९ शुभमति ९० सुमति ९१ पद्मनाभ ९२ सिंह ९३ सुजाति ९४ सजय ९५ सुनाम ९६ नरदेव ९७ चित्तहर ९८ मुरवर् ९९ दृढरथ १०० प्रभजन ।

श्रीमद्भागवत^१ में भी यह स्वीकार किया है कि ऋषभदेव के सौ पुत्र थे । उनमें भरत सबसे बड़े थे । उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट ये नौ राजकुमारों शेष नव्वे भाइयों में बड़े एव श्रेष्ठ थे । उनमें छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमसे और करभाजन ये नौ राजकुमार बड़े भगवद्भक्त थे । इस प्रकार श्रीमद्भागवत में केवल १९ पुत्रों के ही नाम दिये गये हैं ।

एक दिन भगवान् ऋषभदेव सिंहासन पर सुखासन से बैठे हुए थे । वे अपने पुत्र-पुत्रियों को कला और विनय का शिक्षण देने के वारे में विचार कर रहे थे । तभी ब्राह्मी और सुन्दरी नामक लिपि और अक विद्या उनकी पुत्रियाँ मागलिक वेष-भूषा धारण कर उनके निकट आईं । वे दोनों ऐसी लगती थीं का आविष्कार मानो लक्ष्मी और सरस्वती ही अवतरित हुईं हो । उन दोनों ने भगवान् के निकट जाकर नियम के साथ उन्हें प्रणाम किया । भगवान् ने प्रेमपूर्वक दोनों पुत्रियों को अपनी गोद में बैठाया, उन पर हाथ फेरा, उनका मस्तक सूषा । फिर कुछ देर तक उनके साथ विनोद करते रहे । पश्चात् वे बोले कि—तुम दोनों का यह सुन्दर शरीर, अवस्था और अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित किया जाय तो तुम्हारा यह जन्म सफल हो सकता है । यह कहकर उन्होंने दोनों को आशीर्वाद दिया और स्वर्ण के पट्टे पर श्रुत देवता का पूजन कर स्थापन किया । फिर 'सिद्ध नम' कहकर दायें हाथ से ब्राह्मी को लिपि विद्या अर्थात् वर्णमाला लिखना सिखाया और बायें हाथ से सुन्दरी को अक विद्या अर्थात् सख्या लिखना सिखाया । इस प्रकार इस युग में भगवान् ने अपनी पुत्रियों के माध्यम से सर्व प्रथम वाङ्मय का उपदेश दिया । केवल उपदेश ही नहीं दिया, भगवान् ने वाङ्मय के तीनों अंगों—व्याकरण शास्त्र, छन्द शास्त्र और अलकार शास्त्र के सम्बन्ध में शास्त्र-रचना भी की । दोनों पुत्रियाँ भगवान् से वाङ्मय का अध्ययन करके महान् विदुषी और ज्ञानवती बन गईं ।

इस प्रकार इस काल में लिपि विद्या और अक विद्या के अद्य आविष्कर्ता भगवान् ऋषभदेव थे । इन विद्याओं का सर्वप्रथम शिक्षण ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में नारी जाति को प्राप्त हुआ । ब्राह्मी पुत्री ने जिस लिपि का अध्ययन किया था, पश्चाद्वर्ती काल में वह लिपि ब्राह्मी लिपि कहलाने लगी । आज भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है । एशिया महाद्वीप की लिपियों में प्रायः जो समानता दिखाई पड़ती है, उसका कारण यही है कि वे सब ब्राह्मी लिपि से निकली हैं ।

१ श्रीमद्भागवत ५।४।९-१३ ।

पुत्रियों के समान पुत्रों को भी अनेक कलाओं का ज्ञान दिया। जिस पुत्र को जिस कला का ज्ञान दिया उसके लिये उस कला से सम्बन्धित शास्त्र की विस्तृत रचना की। अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुत्रों को विविध विस्तृत अध्यायों से युक्त अर्थशास्त्र और प्रकरण सहित नृत्य शास्त्र पढाया। वृषभमेन पुत्र के कलाओं का प्रशिक्षण लिये सौ से अधिक अध्यायों वाले गन्धर्व शास्त्र का व्याख्यान किया। अनन्तविजय पुत्र के लिये सैकड़ों अध्यायों वाली चित्रकला सम्बन्धी विद्या का उपदेश दिया। इसके अतिरिक्त इस पुत्र को सूत्रधार तथा स्थापत्य कला का भी उपदेश दिया। पुत्र बाहुवली को कामशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्व-विद्या, गज-विद्या, रत्न-परीक्षा आदि के शास्त्र पढाये। इसी प्रकार शेष पुत्रों को द्यूतविद्या, वातालाप करने की कला, नगर-सरक्षण, पासा फेंकना, मिट्टी के वर्तन, अन्नोत्पादन, जल-शुद्धि, वस्त्र-निर्माण, शय्या निर्माण, सरकृत कविता-रचना, प्रहेलिका-निर्माण, छन्द-निर्माण, प्राकृत गाथा-रचना, श्लोक रचना, सुगन्धित पदार्थ-निर्माण, षट्स-व्यजन-निर्माण, अलंकार-निर्माण और उनके धारण करने की विधि, स्त्री-शिक्षा की विधि, स्त्रियों के लक्षण, पुरुष लक्षण जानने की विद्या, गाय वृषभ-लक्षण जानने की विद्या, कुक्कुट-लक्षण जानने की विद्या, मेढे के लक्षण जानने की विद्या, चक्र-लक्षण जानने की विद्या, छत्र लक्षण जानने की विद्या, दण्ड-लक्षण, तलवार लक्षण, मणि-लक्षण, काकिणी-लक्षण, चर्म-लक्षण, चन्द्र-लक्षण, सूर्य-लक्षण जानने की विद्या, राहु-गति, ग्रह-गति की कला, सौभाग्य और दुर्भाग्य-लक्षण, रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान, मन्त्र-साधन विधि, गुप्त वस्तु को जानने की विद्या, प्रत्येक वस्तु का ज्ञान, सैन्य-ज्ञान, व्यूह-रचना, सेना को रण क्षेत्र में उतारने की कला, सेना का पडाव, नगर का प्रमाण जानने की कला, वस्तु का प्रमाण जानने की कला, प्रत्येक वस्तु के रखने की कला, नगर-निर्माण, थोड़े को बहुत करने की कला, तलवार आदि की मूठ बनाने की कला, हिरण्य-पाक, सुवर्ण-पाक, मणि-पाक, धातु-पाक, बाहु युद्ध, दण्ड युद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टि युद्ध, युद्ध-नियुद्ध-युद्धाति-युद्ध करने की कला, सूत बनाने, नली बनाने, गेद खेलने वस्तु-स्वभाव जानने, चमड़ा बनाने की कला, पत्र छेदन, कडग छेदन की कला, सजीवन-निर्जीवन कला, पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला की शिक्षा दी।

इस प्रकार पुत्र-पुत्रियों को विविध कलाओं और विद्याओं की शिक्षा देकर एक प्रकार से उन्हें जन-जन में प्रचार करने के लिये तैयार किया। भोग-युग से कर्म युग की ओर जन-मानस को तैयार करने और जन-जन का जीवन कर्म-स्फूर्त करने के लिये सर्वप्रथम शिक्षकों और कार्यकर्ताओं को तैयार करने की आवश्यकता थी। भगवान ने इस कार्य के लिये अपने परिवार को ही प्रशिक्षित किया। यह असाधारण ज्ञान, विवेक, धैर्य और अध्यवसाय का कार्य था। सम्पूर्ण जन-जीवन को एकवारगी ही बदल देना सरल नहीं था, किन्तु ऋषभदेव ने भोग-युग की सम्पूर्ण व्यवस्था और बिना कार्य किये ही जीवन-यापन का स्वभाव बदल कर कर्म-युग की व्यवस्था चालू करने में कितना श्रम, पुरुषार्थ और समय लगाया होगा, यह आज हम नहीं आंक सकते।



५ ऋषभदेव द्वारा लोक-व्यवस्था

प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। भोग-युग के समय दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते थे। उनसे मनुष्य अपनी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते थे। किन्तु अब काल के प्रभाव से कल्प वृक्ष, महौषधि, दीप्तौषधि तथा सब प्रकार की औषधियाँ शक्तिहीन हो गई थी। बिना बोये हुए धान्य पहले वन्य संस्कृति से खूब फलते थे, किन्तु वे भी अब बहुत कम उगते थे और उतने नहीं फलते थे। कल्पवृक्ष रस, कृषि-संस्कृति तक वीर्य और विपाक से रहित हो गये। मनुष्य इस समय कच्चा अन्न खाते थे अथवा कोई कोई कल्पवृक्ष कहीं रह भी गया था, उसके फल खाते थे। उससे उन्हें नाना प्रकार के रोग होने

लगे थे। अब शीत, आतप, वर्षा और महावायु आदि की भी बाधाये सताने लगी थी।

ऐसे सकट के समय सब लोग मिलकर अपने कुलकर नाभिराज के पास गये और उन्हें अपनी कष्ट-गाथा सुनाकर जीवनोपाय पूछा। नाभिराज ने प्रजा को अपने जानी पुत्र ऋषभदेव के पास भेज दिया। सारी प्रजा ऋषभदेव के पास पहुँची और उन्हें अपनी सारी कठिनाइयाँ बताई और प्रार्थना की—हे देव ! हम भूख प्यास से व्याकुल हैं। हम लोगों की आजीविका निरुपद्रव हो सके, आप कृपा करके हमें ऐसा उपाय बताइये।

प्रजा के ऐसे दीन वचन सुनकर भगवान् दयाद्वं हो गये। उन्होंने मन में विचार किया—अब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं, भोगभूमि समाप्त हो गई है, कर्म भूमि प्रगट हुई है। वर्तमान में पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो व्यवस्था प्रचलित है, यहाँ पर भी उसी व्यवस्था का प्रचलन श्रेयस्कर होगा और उसी व्यवस्था से यहाँ के मनुष्यों की आजीविका चल सकती है। ऐसा विचार कर भगवान् ने प्रजा को आश्वासन दिया। उन्हें समझाया कि 'अब भोग-भूमि समाप्त हो गई है, कर्म-भूमि प्रारम्भ हो गई है। अतः अब तुम लोगों को आजीविका के लिए कर्म करना पड़ेगा, तभी तुम लोगों का निर्वाह हो सकेगा।'

दिगम्बर परम्परा के 'आदिपुराण' आदि ग्रन्थों में संक्षेप में बताया है कि भगवान् ने प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों का उपदेश दिया। तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म कहलाता है। लिख पढ़ कर आजीविका करना मसि कर्म कहलाता है। जमीन को जोतना बोना कृषि कर्म कहलाता है। विभिन्न विद्याओं द्वारा आजीविका करना विद्या कर्म कहलाता है। व्यापार करना वाणिज्य है। और हस्त की कुशलता से जीविका करना शिल्प-कर्म कहलाता है।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के 'आवश्यक चूर्ण आदि' ग्रन्थों में आजीविका के तात्कालिक उपाय का विस्तृत विवरण मिलता है जो भगवान् ने उस समय प्रजा को बताया था। उन्होंने बिना बोये हुए धान्य को हाथ से मसल कर खाने का परामर्श दिया। लोगों ने वैसे ही किया। किन्तु उससे अपच होने लगा। तब भगवान् ने उन्हें जल में भिगोकर मुट्ठी तथा वगल में रख कर गर्म करके खाने की सलाह दी। किन्तु इससे भी अपच हो गया। तब भगवान् ने लकड़ियों को रगड़कर अग्नि उत्पन्न की और अन्न को पकाने की विधि बताई।

एक दिन मयोगवज्र वासो आदि की स्वतः रगड़ से जगल में आग लग गई। हवा के सयोग से वह आग धड़ने लगी। तब लोग ऋषभदेव के पास आये और उनसे इस नये सकट की बात बताई। सुनकर भगवान् ने बताया कि आमपास की घाम माफ कर दो तो आग नहीं बढ़ेगी। लोगों ने घास, पत्ते साफ कर दिये। इससे आग का घटना रुक गया।

भगवान् ने कहा कि इस आग में अन्न को पकाकर खाया जाता है। लोगों ने आग में अन्न डाल दिया। वह जल कर राख हो गया। वे पुनः भगवान् के पास आये और बोले—आग हमारे अन्न को खा गई, हम क्या खावे। तब भगवान् ने आग के ऊपर मिट्टी के पात्र में अन्न रखकर पकाने की विधि बताई।

इसके पश्चात् भगवान् ने धान्य बोना, पानी देना, नराना और पकने पर काटकर अन्न निकालना, पीसना, गूथना और पकाना यह मारी विधि दिखाई। इस प्रकार वन्य जीवन से नागरिक सभ्यता तक आने के लिए भगवान् ने कृषि कर्म को प्रारम्भिक उपाय बताया। इसका अर्थ यह है कि आदि मानव ने नागरिक जीवन में दीक्षा लेने के लिए सर्व प्रथम कृषि को अपने जीवनोपाय के रूप में स्वीकार किया और आज सभ्यता का कितना ही विकास क्यों न हो गया हो, आज भी कृषि ही उदर-पूर्ति का एक मात्र साधन है।

ऋषभदेव ने प्रजा के जीवन-धारण की सर्व प्रमुख समस्या का समाधान किया था, इसलिए कृतज्ञ प्रजा उन्हें प्रजापति कहने लगी। उन्नी सन्वन्ध में आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है—

प्रजापतिर्यं प्रथम जिजीविषु शशास कृप्यादिषु कर्मसु प्रजा ।

भगवान् ने उक्त छह कर्मों के आधार पर तीन वर्णों की स्थापना की। इन तीन वर्णों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। उन्होंने इन वर्णों का विभाजन कर्म और व्यवसाय के आधार पर किया था, जिसमें सब मनुष्यों को अपनी-

अपनी योग्यतानुसार काम और व्यवसाय मिल सके और सभी उन कर्मों के आधार पर अपनी-
जीविका उपार्जन कर सकें। अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोड़कर कोई दूसरी

आजीविका नहीं करता था, इसलिए वर्ण और कार्य दोनों में सकरता नहीं आने पाती थी। उस समय ससार में जितने पापरहित आजीविका के उपाय थे, वे सब भगवान ऋषभदेव की सम्मति से ही प्रवृत्त हुए थे।

जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे, जो क्षतत्राण अर्थात् विपत्ति में रक्षा करते थे, वे क्षत्रिय कहलाये। जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन के द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे, वे वैश्य कहलाते थे। जो शिल्प द्वारा आजीविका करते थे तथा दूसरों की सेवा करते थे, वे शूद्र कहे जाते थे।

इन तीनों वर्ण-धर्मों में क्षात्र धर्म सर्व प्रथम बताया था। इसीलिए महाभारत के शान्ति पर्व (१२।६४।२०) में ऋषभदेव को जिन्हे आदिदेव भी कहा जाता है, क्षात्रधर्म का आदि प्रवर्तक स्वीकार किया है—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्त ।

पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्मा ॥

अर्थात् आदिदेव से क्षात्र धर्म प्रवृत्त हुआ और अन्य शेष धर्म बाद में प्रवृत्त हुए।

वायुपुराण, पूर्वार्ध, ३३।५०-५१ में ऋषभदेव को नरेशों में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण क्षत्रियों का पूर्वज कहा है—

“ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥”

इसी बात को ब्रह्माण्ड पुराण २।१४ में स्वीकार किया गया है।

युगलिया काल में लोग छुट पुट रूप में इधर उधर ननों में रहा करते थे। अशन वसन भूषण व्यजन सब कुछ उन्हें वृक्षों से ही प्राप्त होता था। फिर ऐसा काल आया कि वृक्षों की सख्या घटने लगी। जहाँ वृक्ष शेष रह गये, वहाँ लोग कवीले बनाकर रहने लगे। वृक्षों की अल्पता के कारण जब वृक्षों के लिए सीमाकन किया गया, तब पुरुष और स्त्रियों ने अपने अपने परिकर बना लिए। भविष्य के कवीलो का यह आदिम रूप था।

भगवान ने विचार करके इन्द्र की सहायता से ग्राम, नगर, खेट, खर्वट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, सवाह आदि की रचना की। उन्होंने ५२ जनपदों की रचना की। उनके नाम इस प्रकार हैं—

सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अरमक, रम्यक, कुरु, काशी, कर्लिंग, अग, वग, सुह्य, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजागल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोकण, वनवास, आध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय।

इन जनपदों का नगरो, ग्रामो आदि में विभाग किया। उनको परिभाषायें निश्चित की। जिसमें घरों के चारों ओर बाड़ हो, जिसमें बगीचे और तालाव हो तथा जिसमें अधिकतर शूद्र और किसान रहते हों, वह गाव कहलाता था। जिसमें सौ घर हो वह छोटा गाव कहलाता था। छोटे गावों की सीमा एक कोस की होती थी। जिसमें पाँच सौ घर हों और किसान धन सपन्न हों, वह बड़ा गाव कहलाता था। ऐसे गावों की सीमा दो कोस की रखी गई थी। नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान अथवा पेड़, वन, पुल आदि से गावों की सीमा निर्धारित की जाती थी।

जिसमें परिखा, गोपुर, अटारी, कोट, और प्राकार हो, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जिसमें प्रधान पुरुष रहते हों, वह पुर या नगर कहलाता था।

जो नगर नदी और पर्वत से घिरा हुआ हो, उसे खेट कहते थे।

जो केवल पर्वत से घिरा हुआ हो, उसे खर्वट कहा जाता था।

जो पाँच सौ गावों से घिरा हुआ हो, उसे मडम्ब पुकारा जाता था।

जो समुद्र के किनारे बसा हुआ हो अथवा जहाँ नावों से आवागमन होता हो, उसे पत्तन कहा जाता था।

जो किसी नदी के किनारे बसा हुआ हो, उसे द्रोणमुख कहते थे।

जहाँ मस्तक के बराबर ऊँचे घान्य के ढेर लगे हों, उसे सवाह कहते थे।

एक राजधानी में आठ सौ गाव होते थे। एक द्रोणमुख में चार सौ गाव होते थे। एक खर्वट में दो सौ गाव

होते थे। दस गावों के बीच एक बड़ा गाव होता था। वहाँ मण्डी होती थी। जहाँ अधिकतर अहीर रहते थे, उसे घोष कहते थे। जहाँ सोने, चादी आदि की खाने होती थी, वहाँ आकर कहलाता था।

इन्द्र ने भगवान की आज्ञा से इधर उधर बिखरे हुए लोगों को इन गावों आदि में लाकर बसाया। इन गावों आदि की संरचना में इन्द्र का बड़ा भारी योगदान था, अतः तभी से उसका नाम पुरन्दर पड़ गया।

वृक्षों का आवास छोड़ कर मानव ने प्रथम बार भवनों में अपने चरण रखे थे। यह काल वन्य जीवन की समाप्ति और नागरिक सभ्यता का प्रारम्भिक काल था। आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने यह नवीन सृष्टि की रचना की थी। इसे ही कृतयुग कहा गया है। इस कृतयुग का प्रारम्भ आपाठ कृष्णा प्रतिपदा को हुआ था। तब से भगवान वृषभदेव को लोग ब्रह्मा, प्रजापति आदि नामों से पुकारने लगे।

युगलिया काल में प्रकृति में एक अद्भुत बात देखी जाती थी कि स्त्री के युगल सन्तान उत्पन्न होती थी।

इस युगल में एक कन्या होती थी और दूसरा पुत्र होता था। ये सहजात भाई-बहन ही बड़े विवाह व्यवस्था होने पर पति-पत्नी के रूप में आचरण करने लगते थे। उस समय समाज में विवाह नाम की कोई प्रथा नहीं थी। विवाह का प्रारम्भ तो ऋषभदेव का नन्दा-सुनन्दा के साथ हुए विवाह से हुआ था। किन्तु साधारण लोगों ने इसे अपने श्रद्धास्पद कुमार ऋषभदेव का एक असाधारण कार्य समझा। उनके कार्यों की नकल या अनुकरण करने की भावना तक तत्कालीन समाज में जागृत नहीं हुई थी। उसका कारण यह था कि तत्कालीन मनुष्य समाज अपने हर सुख-दुःख, हर समस्या में ऋषभदेव की मुखापेक्षी था। जब तक ऋषभदेव न कहे, तब तक परम्परा विरुद्ध कोई कार्य करने का साहस और बुद्धि किसी में नहीं थी। उन्हें यह विश्वास अवश्य था कि हमारे हित में जो भी बात होगी, ऋषभदेव उसे अवश्य बतायेंगे।

जब कुमार ऋषभदेव ने पट्ट कर्मों का प्रचलन कर दिया, उन कर्मों के आधार पर समाज-रचना और वर्ण-व्यवस्था की स्थापना कर दी और नगरी-गावों का निर्माण कर नागरिक जीवन का प्रारम्भ कर दिया, तब उन्होंने समाज-व्यवस्था और विवाह-व्यवस्था की ओर अपना ध्यान दिया। उन्होंने विवाह सम्बन्धी नियम इस दृष्टिकोण से बनाये, जिसमें वर्ण-व्यवस्था में संकरता न आजाय और एक अनुशासित समाज की व्यवस्था की जा सके। वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये कार्य सुलभ करना और उन्नति के समुचित अवसर प्रदान करना था तथा समाज की सभी आवश्यकताएँ जुटाना था। यदि लोग अपना कार्य छोड़कर दूसरे वर्ण का कार्य करने लगे तो उसे दण्डनीय अपराध घोषित किया गया क्योंकि इससे समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में बाधा आती और इस प्रकार वस्तुओं की कमी हो सकती थी। तत्कालीन समाज की मरचना को सुस्थिर रखने के लिये अपने अपने वर्ण के दायित्वों को पूर्ण करना आवश्यक था। इससे अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य को महत्व दिया गया था।

वर्ण व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिये भगवान ने विवाह की व्यवस्था की और उसके लिये आवश्यक नियम निर्धारित किये। इन नियमों के अनुसार शूद्र शूद्र-कन्या के साथ ही विवाह कर सकता था। वह क्षत्रिय और वैश्य कन्या के साथ विवाह नहीं कर सकता था। इसी प्रकार वैश्य वैश्य-कन्या तथा शूद्र-कन्या के साथ विवाह करने का अधिकारी घोषित किया गया। क्षत्रिय क्षत्रिय-कन्या, वैश्य कन्या और शूद्र-कन्या के साथ विवाह कर सकता था। बाद में जब चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की, तब उसके लिये विवाह सम्बन्धी यह नियम बनाया कि ब्राह्मण ब्राह्मण कन्या के साथ ही विवाह करे, परन्तु कभी किसी देश में वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ भी विवाह कर सकता है। उच्च वर्ण वालों को अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने का तो अधिकार दिया गया, किन्तु निम्न वर्ण वालों को उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करने की अनुमति नहीं दी गई।

इन विवाह सम्बन्धी नियमों की भाषा और उनकी भावना को यदि हम गहराई से समझने का प्रयत्न करें तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि विवाह के विषय में पुरुष और स्त्री को समान अधिकार नहीं दिये गये थे। इन नियमों की रचना के कुछ काल पश्चात् ही पुरुषों के बहु विवाह प्रचलित हो गये थे, किन्तु स्त्रियों को बहु विवाह करने की न कभी अनुमति मिल सकी और न कभी आर्य लोगों में इसका प्रचलन ही हुआ। वस्तुतः इस प्रश्न को आर्य लोगों ने कभी स्त्री-पुरुषों के समानाधिकार का प्रश्न नहीं बनाया, किन्तु इसके मूल में पिण्डशुद्धि अर्थात् रक्त-शुद्धि की दृष्टि प्रधान रही। यदि एक पुरुष के अनेक स्त्रियाँ हों तो उनकी सन्तानों की रक्त-शुद्धि में

कोई बाधा नहीं आ सकती। इसके विपरीत यदि एक स्त्री के अनेक पति हो तो पिण्डशुद्धि नहीं हो सकती, बल्कि जो सन्तान होगी, वह सकर रक्त की होगी। इसी प्रकार पर स्त्री-त्याग की अपनी धार्मिक महत्ता तो है ही, किन्तु उसकी अपनी सामाजिक उपयोगिता भी है। और वह उपयोगिता है रक्त-शुद्धि की। विवाह सामाजिक संरचना को अनुशासित, नियमित और सयमित रखने का महत्वपूर्ण उपाय है। विवाह एक नैतिक बन्धन है। इस बन्धन को स्वीकार कर लेने पर पुरुष-स्त्री, पति-पत्नी समाज के स्वरूप और शुद्धि को अक्षुण्ण रखने के दायित्व को स्वेच्छा से ओढ़ लेते हैं। सभवतः इसी उद्देश्य से भगवान ने विवाह प्रथा का आविष्कार किया था।

भोगभूमि के मनुष्यों की आवश्यकताये सोमित थी, सब समान थे। आवश्यकता पूर्ति के साधन प्रचुर थे। अतः आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से हो जाती थी। किसी के मन में कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी। इसलिये मनुष्यों में अपराध-वृत्ति ने जन्म नहीं लिया था। कर्म-भूमि प्रारम्भ होने पर आवश्यकता-पूर्ति इण्ड-व्यवस्था के साधन सुलभ नहीं रहे, बल्कि अपनी बुद्धि और पुरुषार्थ के द्वारा उन साधनों को जुटाना पड़ता था। बुद्धि और पुरुषार्थ सबके समान नहीं थे। अतः स्वभावतः असमानता बढ़ने लगी। एक के पास आवश्यकता के साधन प्रचुर परिमाण में सग्रह होने लगे और दूसरे को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई अनुभव होती थी। इस सामाजिक असमानता ने जहाँ परस्पर ईर्ष्या को जन्म दिया, वहाँ महत्वाकांक्षा भी जागृत हुई। इससे मनुष्यों में अपराध वृत्ति भी जागृत हुई। कुलकरो ने 'हा मा, धिक्' रूप जिस दण्ड व्यवस्था को स्थापित करके समाज को प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रित रखा था, वह व्यवस्था कर्म भूमि में आकर प्रभावहीन सिद्ध होने लगी।

भगवान ने विचार किया कि यदि अपराध-वृत्ति को नियन्त्रित रखने के लिये दण्ड-व्यवस्था स्थापित नहीं की गई तो समाज में मत्स्य न्याय चल पड़ेगा अर्थात् जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार दुष्ट बलवान पुरुष निर्बल पुरुष को निगल जायगा। ऐसी दशा में समाज में जिसकी लाठी में जोर होगा, वही भँस हाक ले जायगा। इससे समाज में अव्यवस्था, कलह, शोषण और अत्याचार पनपेंगे। अतः दण्ड-व्यवस्था आवश्यक है। दण्ड के भय से लोग कुमार्ग की ओर नहीं दौड़ेंगे। किन्तु दण्ड देने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को तो नहीं दिया जा सकता, दण्ड केवल राजा ही दे सकता है। अतः राजा की नियुक्ति करनी चाहिये।

इधर भगवान का यह चिन्तन चल रहा था, उधर प्रजा अपराध बढ़ते जाने से परेशान थी। तब एक दिन प्रजाजन इकट्ठे होकर भगवान के पास आये और उन्हें अपनी कष्ट-गाथा सुनाई। भगवान ने कहा—अपराध दण्ड व्यवस्था से ही नियन्त्रित हो सकते हैं और दण्ड देने का अधिकार केवल राजा को ही है।

प्रजाजन बोले—देव ! हम तो आपको ही अपना राजा मानते हैं। आप यह पद स्वीकार कर लीजिये।

भगवान सुनकर मौन हो गये। पिता नाभिराज के होते हुए वे स्वयं कैसे राजपद स्वीकार कर सकते थे। उन्होंने अपनी कठिनाई प्रजाजनों को बताई तो वे लोग नाभिराज के पास गये और उनकी स्वीकृति लेकर फिर भगवान के पास आये। तब भगवान ने भी अपनी स्वीकृति दे दी।

उस शुभ अवसर के अनुकूल अयोध्यावासियों ने महान उत्सव किया। अयोध्या पुरी खूब सजाई गई। मकानों पर पताकाये बांधी गईं। राजमन्दिर में आनन्द भेरिया बज रही थी। वारागनाये मंगल-गान गा रही थी।

मिट्टी की एक बहुत बड़ी वेदी बनाई गई। उसके ऊपर आनन्द-मण्डप बनाया गया। उसमें भगवान का राज्याभिषेक रत्न-चूर्ण से विचित्र चौक पूरे गये। पुष्प विकीर्ण किये गये। मण्डप में रेशमी वस्त्रों के चन्दोवे ताने गये। उनमें मोतियों की झालरे टागी गईं। सघवा स्त्रियाँ मंगल द्रव्य लिये हुए मार्ग में खड़ी थीं। सेवक स्नान और प्रसाधन की सामग्री लिये हुए खड़े थे। वेदी में एक सिंहासन के ऊपर पूर्वदिशा की ओर मुख करके भगवान को बैठाया। उस समय इन्द्र भी देवताओं के साथ इस आनन्दोत्सव में सम्मिलित होने आया। गन्धर्व, किन्नर और देविया भगवान की स्तुति में मधुर गान कर रहे थे। मनुष्य अनेक नदियों का जल लाये। देवलोग भी पद्म सरोवर, नन्दीतरा वापिका, लवण समुद्र, क्षीर समुद्र, नन्दीश्वर समुद्र, और स्वयम्भूरमण समुद्र का पवित्र जल लाये। मनुष्यों ने भगवान का अभिषेक किया। इन्द्रों और देवों ने भी उनका

अभिषेक करके पुण्यार्जन किया। महाराज नाभिराज ने भी अपने त्रिलोक पूज्य पुत्र का अभिषेक किया। इस आनन्द अवसर पर नगरवासी भी पीछे नहीं रहे। किसी ने कमल पत्र का दौना बनाकर और किसी ने मिट्टी का घड़ा लाकर सरयू नदी के जल से भगवान के चरणों का अभिषेक किया।

भगवान के इस जलाभिषेक का क्रम इस प्रकार था—सबसे प्रथम तीर्थजल से अभिषेक किया गया। फिर कषाय जल, सुगन्ध मिश्रित जल से अभिषेक किया। फिर भगवान ने गरम जल के कुण्ड में घुस कर स्नान किया। स्नान के अनन्तर भगवान ने माला, वस्त्र और आभूषण उतार दिये और देवोपनीत माला, वस्त्र और आभूषण धारण किये। तब महाराज नाभिराज ने 'मुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति भगवान ऋषभदेव ही हैं' यह कहकर अपने मस्तक का मुकुट उतार कर अपने हाथ से भगवान के मस्तक पर धारण किया। उनके मस्तक पर पट्टबन्ध बाधा।

उस समय भगवान दिव्य अलंकार धारण किये हुए थे। वे कानों में कुण्डल, कण्ठ में हार यष्टि, कटि में करधनी, भुजाओं में कडे, वाजूबन्द और अनन्त, चरणों में नीलमणि के नूपुर और कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे। उनकी रूप छवि अद्भुत थी। इन्द्र ने भक्ति विह्वल होकर अवसर के अनुकूल आनन्द नाटक किया। फिर देव और मनुष्य अपने-अपने स्थान को चले गये।

भगवान ने दण्ड-व्यवस्था स्थापित कर दी थी। दण्ड देने का अधिकार केवल राजा को है। अतः उन्होंने राजाओं की नियुक्ति करने से पहले राजाओं के लिए नियम बनाये। उन्होंने कहा—जिस प्रकार दूध देने वाली गाय से बिना उसे पीड़ा पहुँचाये दूध दुहा जाता है और गाय की सुरक्षा के लिए उसे उचित राज्य-संस्थापना आहार, पान दिया जाता है। ऐसा करने से गाय भी सुखी रहती है और दूध दुहने वाले की आजीविका भी चलती है। इसी प्रकार राजा को प्रजा से धन वसूल करना चाहिए। राजा को प्रजा से अधिक पीड़ा न देने वाले कर वसूल करने चाहिए। इससे प्रजा भी दुखी नहीं होती और राजा उस धन से प्रजा की सुख-सुविधा और सुरक्षा के उपाय कर सकता है। इसलिए भगवान ने कुछ योग्य पुरुषों को दण्डघर राजा नियुक्त किया।

उन्होंने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ नामक योग्य क्षत्रियों को बुलाकर उनका यथोचित आदर सत्कार किया और उनका राज्याभिषेक करके उन्हें महामाण्डलिक राजा बनाया। इनके आधीन चार हजार राजा नियुक्त किये। कच्छ महाकच्छ आदि को अधिराज का पद दिया।

भगवान ने जिनको महामाण्डलिक राजा बनाया था, उनमें हरि और काश्यप भगवान के पुत्र थे। सोमप्रभ बाहुवली के पुत्र थे। अकम्पन का परिचय कहीं नहीं मिलता है। इन तैजस्वी राजाओं को राज्य भी दिये और इनसे वंशों का प्रचलन भी किया। हरि का नाम हरिकान्त रक्खा और उससे हरिवंश चला। अकम्पन का नाम श्रीघर रक्खा और उसको नाथवंश का संस्थापक बनाया। काश्यप को मधवा नाम दिया और उसे उग्रवंश का संस्थापक घोषित किया। सोमप्रभ को कुरुराज की सज्ञा दी और उससे दो वंश चले—कुरुवंश और सोमवंश।

इस प्रकार भगवान ने पूर्णतः कर्मभूमि की रचना करके कुलकर-व्यवस्था समाप्त की और कर्म-व्यवस्था का प्रचलन किया और वे दीर्घ काल तक सासारिक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त करते रहे। भगवान के विविध नाम और गृहस्थ जीवन का काल सारे ससार में ऋषभदेव का प्रभाव व्याप्त हो गया। प्रजाजन उनके अलौकिक व्यक्तित्व से अभिभूत थे और प्रभावित होकर उनके व्यक्तित्व के बहुरंगी रूपों और उनके विविध लोकोपकारी कार्यों के कारण उनकी विविध नामों से सत्तुति करने लगे। उस काल में उनके विविध नाम प्रचलित हो गये, जैसे इक्ष्वाकु, गौतम, काश्यप, पुरु, मनु, कुलधर, विधाता, विश्वकर्मा,

प्रजापति, स्रष्टा आदि।

भगवान का कुमार काल बीस लाख पूर्व का था और राज्य काल तिरसठ लाख पूर्व का था। इस प्रकार उनकी आयु के तिरासी लाख पूर्व व्यतीत हो गये।

६. ऋषभदेव का वैराग्य और दीक्षा

एक दिन भगवान ऋषभदेव राजदरवार में सिंहासन पर विराजमान थे। अनेक माण्डलिक राजा अपने योग्य आसनो पर बैठे हुए थे। तभी इन्द्र अनेक देवों और अप्सराओं के साथ पूजा की सामग्री लेकर भगवान की सेवा के लिए राजदरवार में आया। इन्द्र की आज्ञा से नृत्य गान में कुशल गन्धर्वों और नीलाजना का अप्सराओं ने नृत्य करना आरम्भ किया। उस नृत्य को देखकर उपस्थित जन ही नहीं, नृत्य और मृत्यु भगवान भी अनुरक्त हो गये। तभी इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से जाना कि भगवान के वैराग्य का समय निकट आ पहुँचा है। अतः उसने नृत्य करने के लिए ऐसे पात्र को चुना, जिसकी आयु समाप्त होने वाली थी। उसकी आज्ञा से अत्यन्त सुन्दरी नीलाजना (नीलाजसा) नाम की देवर्तकी नृत्य करने लगी। नीलाजना इन्द्र-सभा में मदा ही नृत्य करती आई थी, किन्तु आज तो जैसे बुझते हुए दीपक की लौ अधिक प्रदीप्त हो उठती है, ऐसे ही उसकी बुझती हुई आयु के समय उमकी नृत्य-कला और भी अधिक मुखर हो गई। उसके कुसुम कोमल गात्र में एक ज्वालामुखी फूट पड़ा। वह पारिजात-कुसुम-गुच्छ को भाँति शोभाधारिणी अर्निद्य सुन्दरी देवागना आत्म विभोर होकर असाधारण नृत्य करने लगी। उसका चरण मानो पवन की लहरो पर थिरक रहे थे। स्वर्ण मृणाल सी उसकी कोमल भुजलतायें सर्पिणी की भाँति हवा में लहरा रही थी। वह इस पृथ्वी पर आज अपनी दिव्य कला को मूर्तिमती कर रही थी। एक अलौकिक रस की सृष्टि हो रही थी। उस राजदरवार में उपस्थित सभी जीवित प्राणी उस रस धारा में अपनी सुधबुध खोकर वहे जा रहे थे। शायद उस देव नर्तकी ने अपनी कला की चरम परिणति ही कर दी थी आज।

दीपक में स्नेह समाप्त हो गया। वत्ती बुझ गई। उस देव नर्तकी की आयु समाप्त हो गई। और वह क्षणभर में अदृश्य हो गई। उसके समाप्त होते ही इन्द्र ने, रस भग्न न हो, इसलिए उसके स्थान पर उसी के समान आचरण वाली दूसरी देवी खड़ी कर दी, जिससे नृत्य ज्यों का त्यों चलता रहा। इस घटना को किसी ने नहीं जाना। सब तन्मय होकर रस-पान करते रहे। किन्तु निमिष मात्र में जो इतनी बड़ी घटना हो गई, वह ऋषभदेव से छिपी नहीं रह सकी। स्थान वही था, नृत्य वही था, किन्तु नृत्यकारिणी वह नहीं थी, इस अन्तर को प्रभु ने देख लिया और नीलाजना की उस मृत्यु को भी। देखते ही प्रभु की भाव-धारा में अचानक ही महान परिवर्तन आ गया। चर्म चक्षुओं से देखने वाले वह नहीं देख पाते, जो अन्तर की चक्षुओं से देखने वालों को दिखाई देता है।

प्रभु के मन में भावधारा उमड़ पड़ी। नृत्य होता रहा और प्रभु के मन में नृत्य के रस-संचार के स्थान में ससार के वास्तविक स्वरूप का सवेदन प्रबल वेग से जागृत हुआ—कितना नश्वर और चंचल है ससार का यह रूप।

मनुष्य के मन में एक अद्भुत सामान्य अहंकार दबा रहता है—मैं सदा जीवित रहूँगा। वह भगवान का वैराग्य दिन रात देखता है कि दिन-रात प्राणी मर रहे हैं। सबको ही मरना है। किन्तु यह तत्त्व-दर्शन दूसरों के लिए ही होता है, अपने लिए नहीं। वह स्वयं तो सदा काल जीवन की आकांक्षा सजोये रहता है और हर कार्य ऐसे ही करता है मानो उसे सदा जीवित रहना है, मरना नहीं है। यह कितने आश्चर्य की बात है। यहाँ तक कि एक दिन मृत्यु आकर उसका द्वार खटखटाती है, उस समय भी वह जीवित रहने का ही प्रयत्न करता है। किन्तु उसकी यह जीवित रहने की इच्छा और प्रयत्न क्या सफल हो पाता है। जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। लेकिन वह ऐसा प्रयत्न नहीं करता कि मृत्यु के पश्चात् उसे पुनः जीवन धारण न करना पड़े। शरीर के त्याग को ही वह मृत्यु समझता है। शरीर को अपना मानता है, इसलिए वह मृत्यु से भयभीत होता है। किन्तु शरीर से ममत्व करके तो वह प्रतिपन्न मृत्यु का वरण कर रहा है, वह इस तथ्य को नहीं समझता, समझना भी नहीं चाहता।

मैंने इस मानव-पर्याय के इतने लम्बे बहुमूल्य क्षण सासारिक भोगों के क्षणिक सुख में व्यतीत कर दिये। मेरे सम्पूर्ण प्रयत्न इस शरीर के सुख के लिये ही थे। किन्तु अपनी अविनश्वर आत्मा के चिरत्न, अविनाशी सुख के लिए प्रयत्न नहीं किये। शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा वह नहीं है जो बाहर से दिखाई पड़ता है। आत्मा अखण्ड

सुख का पिण्ड है, ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अनन्त विभूतियों का स्वामी है। मेरा अपना साम्राज्य नगरों पर नहीं, मनुष्यों पर भी नहीं, इस वाह्य वैभव पर भी नहीं है। मेरा साम्राज्य अगोचर है। मेरा आत्मा अक्षय लक्ष्मी का भण्डार है, अनन्त गुणों का आगार है। ये सारे भौतिक वैभव क्षणिक है, जिस शरीर के लिए ये वैभव सचय किये वह क्षणिक है, उन वैभवों से जिस सुख की कल्पना की वह क्षणिक है। चिरस्थायी है मेरी आत्मा, मेरी आत्मा की विभूति, मेरी आत्मा के गुण।

देव पर्याय मे सुख समझता है यह अज्ञ प्राणी, किन्तु नीलाजना हमारे देखते ही देखते मृत्यु को प्राप्त हो गईं। इन्द्र ने यह कपट नाटक किया था और जान-बूझकर नीलाजना का नृत्य कराया। निश्चय ही इन्द्र ने यह कार्य हमारे हित के लिए किया था। इस रूप को धिक्कार है, ' इस राज्य-भोग को धिक्कार है ! इस चंचल लक्ष्मी को धिक्कार है !'

भगवान के मन में इस प्रकार निर्वेद की भावनाये पनप रही थी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब सुभे ससार से मुक्ति के लिए प्रयत्न करना है। इन्द्र ने भगवान के अन्त करण की सारी भावनार्थें जान ली। उसी समय भगवान की वैराग्य-भावना की सराहना करने और उनके तप-कल्याणक की पूजा करने के लिए ब्रह्मा नामक पाचवें स्वर्ग के अन्त में आठों दिशाओं में रहने वाले साररवत, आदित्य, वन्धि, अरुण, गर्दतोय, तुपित, अव्यावाध और अरिष्ट नामक आठ प्रकार के लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक से उतरे। आकर उन्होंने पारिजात पुष्पों से भगवान के चरणों की पूजा की और उनकी निर्वेद भावना की सराहना करते हुए इस प्रकार स्तुति की—लोग आपको जगत का पालन करने वाला ब्रह्मा मानते हैं, कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने वाला विजेता मानते हैं, धर्म रूपी तीर्थ का नेता मानते हैं और सबकी रक्षा करने वाला जगद्गुरु मानते हैं। आप स्वयं बुद्ध हैं। आपको प्रतिबोध दे सके, ऐसी सामर्थ्य किसमें है ? आप प्रथम गर्भ कल्याणक में सद्योजात (शीघ्र अवतार लेने वाले) कहलाये। द्वितीय जन्म कल्याणक में रामता (सुन्दरता) को प्राप्त हुए। और तृतीय तपकल्याणक में अघोरता (सौम्यता) को धारण कर रहे हैं। भव्यजीव रूप चातक मेघ के समान आपको ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं। हे देव ! अनादि प्रवाह से चला आया यह काल अब आपके धर्माभूत की वर्षा के उपयुक्त हुआ है। आप धर्म की सृष्टि कीजिये। प्रभो ! आप उठिये और कर्म शत्रुओं का सहार करके मोक्ष मार्ग को प्रशस्त कीजिये।

वे लौकान्तिक देव अपने इतने ही नियोग से कृतकृत्य होकर अपने स्थान को चले गये। ये देव तीर्थंकरों के तप कल्याणक से पूर्व उनकी वैराग्य-भावना की सराहना करने के लिये ही ब्रह्मलोक से आते हैं और तीर्थंकर की स्तुति करके चले जाते हैं।

भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने से पहले अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया और उन्हें अयोध्या का राज्य प्रदान किया। और युवराज पद पर राजकुमार वाहुवली को अभिषिक्त किया।

पुत्रों को राज्य-विभाजन इन दोनों पुत्रों के अतिरिक्त शेष पुत्रों को विभिन्न देशों के राज्य दिये। प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के उल्लेख देखने में नहीं आये कि किस राजकुमार को किस देश का राज्य दिया गया। संभवतः प्राचीन साहित्य लेखकों ने इस बात को विशेष महत्व नहीं दिया हो। किन्तु

जिन देशों के राज्य उन राजकुमारों को दिये गये, उनके नाम अवश्य उपलब्ध होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

कुरुजागल, पंचाल, सूरसेन, पटञ्चर, तुर्लिंग, काशी, कोशल, मद्रकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान, कौशल्य और मोक ये मध्य देश थे।

वाल्हीक, आत्रेय, काम्बोज, यवन, आभीर, मद्रक, क्वायतोय, शूर, बालवान, कंकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशेरुक, प्रास्थाल और तीर्णकर्ण ये देश उत्तर की ओर स्थित थे।

खड्ग, अगारक, पीण्ड, मत्तल, प्रवक, मस्तक, प्राद्येतिष, वग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भागवं ये देश पूर्व दिशा में स्थित थे।

वाणमुक्त, वैदर्भ, माणव, सककापिर, मूलक, अरुमक, दाण्डीक, कर्लिंग, आसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिषक, पुरुष और भोगवर्धन ये दक्षिण दिशा के देश थे।

माल्य, कल्लीवनोपान्त, दुर्ग, सुर्पर, कर्बुक, काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरुकच्छ,

सुराष्ट्र और नर्मद ये सब पश्चिम दिशा में स्थित थे ।

दशार्णक, किष्कन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहान् ये देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे ।

भद्र, वत्स, विदेह, कुश, भग, सैतव, और वज्रखण्डिक ये देश मध्य देश के आश्रित थे ।

भगवान ने पुत्रों को राज्य देकर अभिनिष्क्रमण की तैयारी की । देवों ने क्षीरसागर का जल लाकर

भगवान का अभिषेक किया, उत्तम गन्ध से लेपन किया, दिव्य वस्त्राभूषण और मालाओं से

भगवान का शृंगार किया । उस समय अयोध्या नगरी में दो महान हर्षोत्सव हो रहे थे—

अभिनिष्क्रमण भगवान का दीक्षा कल्याणक और भरत-वाहुवली का राज्याभिषेक । एक ओर देवशिल्पी

भगवान को वन में ले जाने के लिए सुदर्शना पालकी का निर्माण कर रहे थे, इन्द्राणी स्वयं

रत्नचूर्ण से चौक पूर रही थी । दिक्कुमारियाँ मंगल द्रव्य सजाए खड़ी थी, देव लोग भगवान के चरणों में पुष्पाजलि क्षेपण कर रहे थे, अप्सराए नृत्य कर रही थी, देव नाना प्रकार के वाजे बजा रहे थे । दूसरी ओर शिल्पी मण्डप बनाने में जुटे हुए थे, माता नन्दा, सुनन्दा स्वयं सुन्दर चौक पूर रही थी, सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंगल कलश और मंगल द्रव्य लिए हुए खड़ी थी, पुरवासी आशीर्वाद और मंगल कामना के शेषाक्षत फेंक रहे थे, वारागनायें नृत्य कर रही थी, अन्त पुर की स्त्रियाँ मंगलगान कर रही थी । पौरजन दोनों ही उत्सवों में हर्ष और मोद से भाग ले रहे थे ।

भगवान पुत्रों को राज्य सौंपकर निराकुल हो गए थे । अतः अपने माता-पिता मरुदेवी और नाभिराज तथा अन्य परिवारीजनों से पूछ कर सुदर्शना पालकी की ओर बढ़े । पालकी में चढते समय भगवान को इन्द्र ने हाथ का सहारा दिया । भगवान जब शिविका में आरूढ हो गए, तब उसे उठाने के लिए इन्द्र आगे बढ़े । उधर मनुष्यों ने भी पालकी को उठाना चाहा । इस विषय पर देव और मनुष्यों में एक रोचक विवाद उत्पन्न हो गया । विवाद था अधिकार के प्रश्न पर । पालकी को कौन पहले उठावे—देव या मनुष्य ? देवों का पक्ष था—भगवान जब गर्भ में आए, उससे भी छह माह पूर्व से हम लोग भगवान की सेवा में तत्पर हैं । जन्म के समय हम भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले गए । वहाँ हमने भगवान का अभिषेक किया । भगवान के अशन, वसन, अलंकार हम ही जुटाते रहे । तब इस अवसर पर भगवान की सेवा का प्रथम अवसर पाने का अधिकार हमारा है । मनुष्यों का तर्क था कि तुम लोगों को हमने भगवान की सेवा का सदा अवसर दिया, किन्तु आखिर भगवान हमारी ही जाति मनुष्य-जाति के हैं ! उनकी सेवा के इस अवसर को हम तुम्हें नहीं दे सकते ।

वात भगवान तक पहुँची । देव और मनुष्यों ने भगवान के पास जाकर फरियाद की और भगवान से निर्णय मागा । सुनकर तीन ज्ञान के धारी भगवान मुस्कराए और बोले—‘तुम दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सही कह रहे हो, किन्तु मेरी पालकी को उठाने का प्रथम अधिकार उनको है जो मेरे समान समय धारण कर सके ।’

भगवान के न्याय में किसी को सन्देह नहीं था । दोनों ने सिर झुकाकर भगवान का निर्णय मान्य किया । देव लोग एक ओर हट गए । राजा लोगो ने समय धारण करने की इच्छा प्रकट की । उन्होंने ही सर्व प्रथम पालकी को उठाया और सात पग ले गए । फिर विद्याधर लोगो ने सात पग तक पालकी उठाई । इसके पश्चात् इन्द्रो और देवों ने पालकी को उठाया और आनन्दपूर्वक ले चले ।

इस मंगल अवसर पर सुगन्धित शीतल पवन बह रहा था । देव लोग आकाश से सुगन्धित पुष्पों की वर्षा कर रहे थे और दुन्दुभी नाद कर रहे थे । इन्द्र दोनों ओर खड़े होकर चमर ढोल रहे थे । इन्द्र की आज्ञा से देव लोग घोषणा करते चल रहे थे—‘जगद्गुरु भगवान ऋषभनाथ कर्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने अभिनिष्क्रमण कर रहे हैं ।’ अप्सरायें नृत्य कर रही थी । किन्नरिया गीत गारही थी । जयजयकार और वाद्योंसे तुमुल कोलाहल हो रहा था ।

भगवान की पालकी के पीछे यशस्वती और सुनन्दा आदि रानियाँ राजसी परिवेश को छोड़कर सादा वेष में चल रही थी । महाराज नाभिराज मरुदेवी के साथ भगवान का तप कल्याणक उत्सव देखने भगवान की दीक्षा के लिए चल रहे थे । भरत आदि राजा और भाई, परिजन और पुरजन भी पूजा की सामग्री लेकर भगवान के पीछे-पीछे चल रहे थे । कुछ दूर जाकर वृद्ध जनो ने रानियों और स्त्रियों के आगे जाने से रोक दिया और वे शोकाकुल हृदय से वहाँ से नगर को लौट गईं । किन्तु यशस्वती, सुनन्दा और

मरुदेवी भगवान के पीछे-पीछे चलती रही ।

भगवान इस प्रकार सिद्धार्थक वन में पहुँचे । देवों ने उस वन में एक वृक्ष के नीचे चन्द्रकान्त मणि की एक शिला पहने से स्थापित कर रखी थी । उस शिला के ऊपर वस्त्रों का मण्डप बनाया गया था । इन्द्राणी ने रत्नों के चूर्ण से चीक पूरा था । घिमे हुए चन्दन के छोटे टुकड़े थे । मण्डप के ऊपर वहुरगी पताकायें फहरा रही थी । वृक्षों की झुकी हुई डालियों से गुगन्धित पुष्प विकीर्ण हो रहे थे । शिला के चारों ओर सुगन्धित धूप का धूम उड़ रहा था ।

भगवान वहाँ आकर पालकी में उतरे और शिला पर विराजमान हो गए । तब भगवान ने प्रजाजनों से कहा—‘भव्यजनो ! तुम लोग शोक का परित्याग करो । प्रत्येक संयोग का वियोग होता है । जब इस शरीर का भी एक दिन वियोग होना है तो अन्य वस्तुओं की तो बात ही क्या है । मैंने आप लोगों की रक्षा के लिए अत्यन्त चतुर भरत को नियुक्त किया है । आप लोग निरन्तर अपने धर्म का पालन करते हुए उसकी सेवा करना ।’

यह कहकर भगवान ने माता-पिता, बन्धुजन तथा समागत जनों से पूछकर अन्तरंग, बहिरंग, दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग किया । उन्होंने वस्त्राभूषण आदि उतारकर एक ओर फेंक दिए । फिर पूर्व दिशा की ओर मुख करके पश्चामन में विराजमान होकर ‘नम मिद्धेभ्य’ कहा और पंच मुष्टियों से केश लुचन किया । इस प्रकार भगवान ने चैत्र कृष्णा नवमी के मायकाल के नमय उत्तरापहाड़ नक्षत्र में जिन दीक्षा धारण करली । दीक्षा लेते ही भगवान को मन पर्ययज्ञान की प्राप्ति हो गई ।

‘ये केश भगवान के सिर पर चिरकाल तक रहे हैं अतः पवित्र हैं’ यह विचार कर इन्द्र ने एक रत्न मजूपा में उन केशों को रम लिया और उस मजूपा को एक ध्वज वस्त्र में बांध लिया । ‘ये केश भगवान के मस्तक के स्पर्श से श्रेष्ठ हैं अतः इन्हें ऐसे स्थान पर रखना चाहिए, जहाँ इनके सम्मान में कोई बाधा न आवे’ यह विचार कर इन्द्र बड़े आदर से इन्हें ले गया और पवित्र क्षीरसागर में इन्हें प्रवाहित कर दिया । भगवान ने जिन वस्त्रों, आभरणों और माला आदि का त्याग किया था, वे सब वस्तुएँ भी भगवान के स्पर्श में पवित्र थी, अतः देवों ने उनकी भी पूजा की ।

इस कल्प काल में यह सर्व प्रथम जिन दीक्षा थी ।

भगवान ने जिन-दीक्षा ली, वे निर्ग्रन्थ दिग्म्बर हो गये । उस समय मुनि-धर्म के सम्बन्ध में लोगों को कोई ज्ञान नहीं था । किन्तु स्वामी ने दीक्षा ली है, अतः हमें भी उनका अनुकरण करना चाहिए, यह विचार कर इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र और भोजवशी चार हजार स्वामिभक्त राजाओं ने भी नग्न दीक्षा ले ली । वे लोग भगवान के उच्च आदर्श और उद्देश्य से अनभिज्ञ थे, अतः उनमें से कुछ भगवान के स्नेह से, कुछ मोह से और कुछ लोग भय से भगवान को दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हो गये ।

इन्द्रों और देवों ने भगवान की स्तुति की । इन्द्र भगवान के उस वीतराग रूप को देखता रह गया । तब उसने सहस्र नेत्र धारण कर देखना प्रारम्भ किया । किन्तु क्या उस त्रिलोक सुन्दर कमनीय रूप को देखकर किसी की तृप्ति हुई है ! इसीलिए तो आचार्य मानतुंग ने कहा है—‘दृष्ट्वा भवन्तमनिभेषविलोकनीयं । नान्यत्र तोषभुपयाति जनस्य चक्षुः ॥’ आचार्य ने यह बात केवल भक्तिवश ही नहीं कही है कि ‘प्रभो ! जिन शान्तस्वभावी परमाणुओं से आपका शरीर निर्मित हुआ है, ससार में ऐसे परमाणु वस इतने ही थे क्योंकि आपके समान रूप अन्यत्र नहीं मिलता ।’ आचार्य ने जो कहा, वह यथार्थ का ही कथन है ।

इसके पश्चात् इन्द्र और देव अपने-अपने स्थान को चले गये । तब महाराज भरत ने अष्ट-द्रव्यों से भगवान का पूजन किया, भगवान की स्तुति की । और सूर्यास्त होने पर भी अन्य जनों के साथ अपने स्थान को लौट गये ।

भगवान ने जहाँ दीक्षा ली थी, वह स्थान ‘प्रयाग’ नाम से प्रसिद्ध हो गया । इस नामकरण का हेतु देते प्रयाग तीर्थ हुए आचार्य जिनसेन ने बताया है कि—

एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिमपूजयन् ।

प्रदेशं सप्रजागाह्यो यत पूजार्थं योगत ॥ हरिवंश पुराण ६।६६

अर्थात् भगवान ने जब भरत को प्रजा का रक्षक नियुक्त करने की बात कही तो प्रजा ने भगवान की पूजा की । प्रजा ने जिस स्थान पर भगवान की पूजा की, वह स्थान पूजा के कारण ‘प्रयाग’ इस नाम को प्राप्त हुआ ।

ऋषभदेव का वैराग्य और दीक्षा

इसी प्रकार आचार्य रविषेण ने भी 'प्रयाग' नाम की प्रसिद्धि का कारण बताते हुए निम्न भाति कह,
प्रजाग इति देशोऽसौ प्रजाभ्योऽस्मिन् गतो यत ।

प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः ॥ पद्मपुराण ३।२८१

—भगवान् ऋषभ देव प्रजा अर्थात् जन समूह से दूर हो उस उद्यान में पहुँचे थे, इसलिए उस स्थान का नाम 'प्रजाग' प्रसिद्ध हो गया अथवा भगवान् ने उस स्थान पर बहुत बड़ा याग अर्थात् त्याग किया था, इसलिए उस स्थान का नाम प्रयाग भी प्रसिद्ध हो गया ।

इस प्रकार भगवान् के महान् त्याग का स्थान होने से जनता उस स्थान को प्रयाग कह कर पूजने लगी और वह एक परम पावन तीर्थ क्षेत्र बन गया ।

भगवान् शरीर से भी ममत्व का परित्याग करके और मन-वचन-काय को एकाग्र करके छह माह के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर कायोत्सर्ग आसन से विराजमान हो गए । उस आसन से खड़े हुए तपोभ्रष्ट मुनिवेशी भगवान् का तेज-पुंज चारों ओर विकीर्ण हो रहा था । खड़े हुए, हाथ नीचे को लटके हुए, मरीचि का विद्रोह अर्धोन्मीलित नासाग्र दृष्टि, दोनों पैरों के अग्रभाग में बारह अंगुल का तथा एडियो में चार अंगुल का अंतर था । भगवान् की देखा देखी वे मुनिवेशी चार हजार राजा कायोत्सर्ग आसन में खड़े हो गए ।

भगवान् तो निश्चल, निष्पन्द और अनासक्त भाव से ध्यानलीन थे । किंतु वे कच्छ, महाकच्छ आदि राजा लोग एक-दो दिन बाद ही भूख प्यास से व्याकुल होने लगे । उन्हें खड़े रहने में भी कष्ट होने लगा । व्याकुल होकर वे बार-बार इधर उधर इस आशा में देखने लगे कि हमारे स्त्री-पुत्र या सेवक भोजन लेकर आने वाले होंगे । किन्तु कोई भी भोजन लेकर नहीं आया । उन्हें यह भी आशा थी कि भगवान् २-४ दिन बाद स्वयं भी भोजन करेंगे और हमें भी भोजन करावेंगे । किन्तु यह आशा भी पूर्ण नहीं हुई । न जाने किस कार्य के उद्देश्य से भगवान् इस प्रकार खड़े हुए हैं । राजाओं के जो सन्धि विग्रह आदि छह गुण होते हैं, उनमें खड़े रहना भी कोई गुण है, ऐसा तो हमने कभी नहीं पढ़ा । ऐसा लगता है, भगवान् तो निराहार रहकर प्राण छोड़ने के लिए उत्सुक हैं, किन्तु हम तो इस प्राणघाती तप से आजिज आ गये । इसलिए भगवान् जब तक अपना यह ध्यान समाप्त नहीं करते, तब तक हम लोग इस वन में ही उत्पन्न होने वाले कन्द मूल फल खाकर अपने प्राण धारण करेंगे ।

इस प्रकार तथाकथित मुनियों में अनेक लोग भगवान् के चारों ओर एकत्रित हो गये और यह आशा करने लगे कि भगवान् हमारी दशा को देखकर हम पर दया करेंगे । अगर हम अभी भगवान् को छोड़कर अपने घर जाते हैं तो महाराज भरत हम पर कुपित होंगे । अगर हम भगवान् के समान निराहार रहते हैं तो हमारे प्राण चले जायेंगे । बेचारे बड़े सकट में थे, क्या करे, कुछ समझ नहीं पड़ता था ।

ऐसी स्थिति में कुछ लोग भगवान् से कहकर और कुछ लोग बिना कहे ही वहाँ से अन्यत्र चले गये और तालाबों का जल पीने लगे, कन्द मूल फल खाने लगे । ऐसा करते हुए देखकर वन देवता ने उन्हें समझाया—यह दिगम्बर मुनि-वेष अत्यन्त पवित्र है । इस वेष को लाञ्छित मत करो । अपने हाथों से फल मत तोड़ो, नदी-सरोवर में से जल मत पीओ ।

वनदेवता के द्वारा इस प्रकार भर्त्सना करने पर उन्हें दिगम्बर वेष में रहते हुए मुनि धर्म के विरुद्ध कोई कार्य करने का साहस नहीं हुआ । अतः कुछ लोग बल्कल पहनने लगे, किन्हीं ने लंगोटी धारण करके भस्म लगा ली, कोई जटाधारी बन गये, कुछ एकदण्डी और त्रिदण्डी बन गये । और भोपड़ी बनाकर वही वन में रहने लगे । वे ऋषभदेव को ही अपना भगवान् मानते थे और जल, फल-फूलों से उनकी पूजा करते थे ।

इन भ्रष्ट मुनियों में कच्छ, महाकच्छ और मरीचि (भरत के पुत्र) ने सबसे अधिक विद्रोह का भण्डा उठाया । मरीचि ने तो एक स्वतन्त्र धर्म की ही घोषणा कर दी । उसने भगवान् के विरोध में नाना मिथ्या मान्यताओं की कल्पना की और उनका प्रचार किया ।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि भगवान् ने सत्य धर्म की देशना भी नहीं दी, उससे पूर्व ही उनके ही पौत्र ने ससार में मिथ्या धर्म का प्रचार करना आरम्भ कर दिया । उन भ्रष्ट तपस्वियों में से अनेक लोग मरीचि के परिकर में आजुडे । सबके मन में भगवान् ऋषभदेव के प्रति हार्दिक श्रद्धा थी, किन्तु सब अनजाने ही, परिस्थितियों से बाध्य होकर भगवान् के विरुद्ध विद्रोह में सम्मिलित हो गये ।

७. भगवान मुनि-दशा में

मुनि अवस्था में भगवान ने कठोर साधना का अवलम्बन लिया। उनका अधिकांश समय ध्यान में व्यतीत होता था। वे अष्टाईस मूल गुणों का दृढतापूर्वक पालन करते थे। अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, अपरिग्रह महाव्रत ये पंच महाव्रत, ईर्या समिति, भाषा समिति, ऐषणा भगवान की कठोर समिति, आदान निक्षेपण समिति, उत्सर्ग समिति ये पांच समितियाँ, स्पर्शनेन्द्रिय निरोध, साधना रसनेन्द्रिय निरोध घ्राणेन्द्रिय निरोध, चक्षु इन्द्रिय निरोध, कर्णेन्द्रिय निरोध ये पञ्चेन्द्रिय निरोध, सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्यास्थान, कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक, केशलोच, भूमिशयन, अदन्तधावन, नग्नत्व, अस्नान, सटं होकर भोजन करना और एक वार ही दिन में भोजन करना ये साधु के अष्टाईस मूल गुण बताये हैं।

भगवान ने छह माह तक निराहार रहकर अनशन तप का आचरण किया। किन्तु इसका भगवान के शरीर पर किञ्चित् भी प्रभाव नहीं पड़ा। वन्कि इससे उनका तेज और ओज अधिक उज्वल हो गया। उनके अतिशय तेज के कारण सारा वन-प्रान्त प्रकाशित रहता था। भगवान के तप और तेज का ही यह अतिशय था कि जाति विरोधी जीव भी भय और कूरता का त्याग करके बड़े प्रेम से वहाँ आकर बैठते और शान्ति का अनुभव करते थे। उस वन-प्रदेश में कैसा अद्भुत दृश्य दीख पड़ता था— सिंह, हरिण परस्पर किलोल करते थे। चमरी गाय की-पूँछ के बाल कटीली भाड़ियों में उलझ गये और बाघ ने आकर अपने पंजों से उन्हें छुड़ाया। अबोध हरिण-शिशु शेरनी का दूध पी रहे थे और सिंह-शावक हिरणी को अपनी माता समझकर उनके स्तनों से दुग्ध पान कर रहे थे।

मत्त गज सरोवरों पर जाते और सूँड में जल भर लेते तथा पुष्पित कमल लाते। कमल-पुष्प भगवान के चरणों में चढ़ा देते और सूँड में भरे हुए जल से भगवान के चरणों का अभिषेक करते। प्रकृति के सभी तत्त्व जैसे भगवान की सेवा के लिये होड़ कर रहे थे। सिद्धार्थक वन के सभी वृक्ष पुष्पों से झुके जा रहे थे। झुककर वृक्ष भगवान के ऊपर पुष्प-वर्षा कर रहे थे। पुष्पों का पराग लेकर भ्रमर उड़ते और आकर भगवान के ऊपर बिखेर जाते। वायु पुष्प-पराग को लेकर मचलता डोलता। वसन्त के भ्रम में कोयल और पपीहा मधुर गान गाते। पक्षी चहचहाते। बादल आकर भगवान के ऊपर शीतल छाया करते।

भगवान के दिव्य तेज के प्रभाव से वह वन एक आश्रम बन गया था।

भगवान छह माह तक एक ही स्थान पर ध्यानारूढ रहे। इतने समय में उनके बाल बढ़ गये और जटायें बन गईं। यद्यपि तीर्थंकरों के नख और केश नहीं बढ़ते। किन्तु ऋषभदेव के सम्बन्ध में सर्वात्र इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं कि उनकी जटायें बढ़ गईं। आचार्य जिनसेनकृत 'आदि पुराण' में इस प्रकार का भगवान की जटायें उल्लेख इस सम्बन्ध में मिलता है—

‘सस्कार विरहात् केशा जटीभूतारतदा विभोः ।

नूनं तेऽपि तपःक्लेशमनुसोढु तथा स्थिताः ॥

मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूर प्रसखुः पवनोद्धताः ।

ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिकाः ॥१८॥ ७५-७६॥

अर्थात् उस समय भगवान के केश सस्कार रहित होने के कारण जटाओं के समान हो गये थे। और वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानो तपस्या का क्लेश सहने के लिये ही वैसे कठोर हो गये हो। वे जटायें वायु से उड़कर महामुनि भगवान ऋषभदेव के मस्तक पर दूर तक फैल गई थी। वे ऐसी जान पड़ती थी मानो ध्यान रूपी अग्नि से तपाये हुए जीव रूपी स्वर्ण की कालिमा ही हो।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण ने 'पद्म पुराण' में भगवान की जटाओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

‘वातोद्धृता जटास्तत्र रेजुराकुलमूर्जयः ।

धूमाल्य इव सद्ध्यान वह्निसक्तस्य कर्मणः ॥३॥ २८८ ॥

अर्थात् हवा से उड़ी हुई उनकी अस्त व्यस्त जटायें ऐसी जान पड़ती थी मानो समीचीन ध्यान रूपी अग्नि से जलते हुए कर्म के धूम की पकितया ही हो।

आचार्य जिनसेन ने इस बात की पुष्टि करते हुए 'हरिगणेश पुराण' में इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

‘सप्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुजिष्णुरावभौ ।

रूढाप्रारोह शाखाभ्रौ यथा न्यग्रोधपादपः ॥ ६ । २०४ ॥

अर्थात् लम्बी-लम्बी जटाओं के भार से सुशोभित आदि जिनेन्द्र उस समय ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चटवृक्ष से शाखाओं के पाये लटक रहे हो।

जटाओं सम्बन्धी इस प्रकार के वर्णन अन्य किसी तीर्थकर के सम्बन्ध में किसी ग्रन्थ में नहीं मिलते। यही कारण है कि अन्य तीर्थकरों की प्रतिमाओं के सिर पर घु घराले कुन्तल मिलते हैं, किन्तु भगवान ऋषभदेव की अनेक प्राचीन प्रतिमाओं पर विभिन्न शैलियों की जटायें और जटा-जूट मिलते हैं। इस विषय में देवगढ स्थित आदिनाथ-प्रतिमाओं का केश-विन्यास उल्लेखनीय है। वहाँ ऋषभदेव की प्रतिमाओं पर सभवत मनुष्य की कल्पना में आसकने वाली जटाओं की विविध शैलिया उपलब्ध होती है। स्कन्धों पर लहराती जटायें, कटिभाग तक बल खाती जटायें, चरण चुम्बी जटायें, जटागुल्म, जटा-जूट, शिखराकार जटायें, जुल्फों वाली जटायें, पृष्ठ भाग विहारिणी जटायें। लगता है, कलाकारों की कल्पनाओं की उड़ान केश-विन्यास और केश-प्रसाधनों के सम्बन्ध में जितनी दूरी तक जा सकती थी, उनके अनुसार उन्होंने पाषाण पर अपनी छैनी-हथौड़ी की सहायता से उकेरी है। सभवत इस क्षेत्र में स्त्रियों की आधुनिक केश-सज्जा भी उनसे स्पर्धा करने में सक्षम नहीं है। ऐसी प्रतिमाओं के लाछन (चिह्न) को देखे बिना ही केवल जटाओं के कारण ऋषभदेव की प्रतिमाओं की पहचान की जा सकती है। किन्तु यहाँ आकर देवगढ के कलाकारों ने अपनी सीमाओं का भी उल्लेखन कर दिया है। उन्होंने केवल ऋषभदेव-प्रतिमाओं को ही जटाओं से अलङ्कृत नहीं किया, अपितु अन्य तीर्थकर-प्रतिमाओं पर भी जटाओं का भार लाद दिया है। यदि उन प्रतिमाओं की चरण-चौकी पर उन तीर्थकरों के लाछन अंकित न होते तो उन्हें ऋषभदेव की प्रतिमा ही मान लिया जाता। किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि भारतीय मूर्ति-विज्ञान के क्षेत्र में जटाओं की इस परिकल्पना ने एक नये शिल्प-विधान और एक नये सौन्दर्य-बोध की सृष्टि की है। केश-कला के इस वैविध्य ने मूर्तियों के अलङ्करण को एक नई दिशा प्रदान की है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

भगवान ऋषभदेव तपस्या में लीन थे। उन्होंने अन्तरंग और वहिरंग सभी प्रकार का परिग्रह और ममत्व का त्याग कर दिया था। ऐसी ही स्थिति में एक दिन कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि भगवान के निकट आये। वे बड़ी भक्ति से भगवान के चरणों में लिपट गये और बड़ी दीनतापूर्वक कहने बिद्याधर जाति पर लगे—‘हे स्वामिन् ! आपने अपना साम्राज्य अपने पुत्रों-पौत्रों को बाँट दिया, आपने हम दोनों आधिपत्य को भुला ही दिया। हम भी तो आपके ही हैं। अब हमें भी कुछ दीजिये।’

उस समय भगवान ने अपने मन को ध्यान में निश्चल कर लिया था। किन्तु भगवान के तप के प्रभाव से धरणेन्द्र (भवनवासी देवों की एक जाति नागकुमार के इन्द्र) का प्रासन कम्पित हुआ। उसने अवधिज्ञान से सब बातें जान ली। वह उठा और पूजा की सामग्री लेकर भगवान के समीप पहुँचा। उसने आकर भगवान की प्रदक्षिणा दी, उन्हें प्रणाम किया और उनकी स्तुति की। फिर अपना वेश छिपाकर दोनों कुमारों से कहने लगा—‘भद्र पुरुषो ! तुम लोग भगवान से वह वस्तु माग रहे हो जो उनके पास नहीं है। भगवान तो भोगों से निस्पृह हैं और तुम उनसे भोग माग रहे हो। तुम पत्थर पर कमल उगाना चाहते हो। यदि तुम्हें भोगों की इच्छा है तो भरत के पास जाओ। वही तुम्हारी इच्छा पूर्ण कर सकता है। भगवान तो निस्पृह हैं उनके पास तुम व्यर्थ ही घरना देकर बैठे हो।’

धरणेन्द्र के वचन सुनकर दोनों कुमार उत्तेजित हो गये। वे क्षोभ में भरकर कहने लगे—‘आप तो भद्र पुरुष प्रतीत होते हैं, फिर भी आप दूसरों के कार्य में बाधा डालने को तत्पर दिखाई देते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। क्या भगवान को प्रसन्न करने में भी आपको अनौचित्य दिखाई पड़ता है। भगवान के चरणों में आज भी

सारा जगत विनत है। भगवान वन में आ गये हैं तो इससे क्या उनका प्रभुत्व नहीं रहा। आप भारत के पास जाने का परामर्श दे रहे हैं। किन्तु जब कल्पवृक्ष सामने विद्यमान हो तो क्या कोई विवेकी पुरुष उसे छोड़कर अन्य सामान्य वृक्ष के पास जायगा।

कुमारो के भक्ति भरे वचन सुनकर धरणेन्द्र अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और अपना असली रूप प्रगट करके अपना परिचय देकर बोला—‘मैं भगवान का साधारण सेवक हूँ। आप लोगों की इच्छा पूर्ण करने के लिये ही यहाँ आया हूँ।’

धरणेन्द्र के वचन सुनकर दोनो कुमारो को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अनुभव किया कि भगवान हमारे ऊपर प्रसन्न हैं। फिर धरणेन्द्र उन्हें अपने साथ विजयार्घ्य पर्वत पर ले गया। कुमार पर्वत की शोभा देखकर प्रसन्न हो रहे थे। वृक्ष फल-फूलो से आच्छादित थे। कहीं भरने भर रहे थे, कहीं जल-प्रपात घोर गर्जना करते हुए पहाड़ से गिर रहे थे। प्रपात के गिरने से फेनिल जल बहुत ऊँचाई तक उछलता और उसके जल-सीकर वायु में मिलकर वर्षा की फुहारो का आनन्द देते थे। पर्वत के वन में नाना जाति के पशु विचरण कर रहे थे। अनेक विद्याधर और विद्याधरियाँ वन-विहार या जल क्रीडा करती हुई दिखाई दे रही थी। उन्हें देखकर यह भ्रम उत्पन्न हो जाता था कि ये कहीं स्वर्ग के देव-देविया तो नहीं हैं—वैसा ही अप्रतिम रूप, वैसा ही स्वच्छन्द विचरण, वैसी ही आनन्द-कैलि और वैसा ही मुक्त हास्य। कुमार यह सब देखकर मुग्ध हो गये।

धरणेन्द्र उन्हें लेकर पर्वत पर उतरा और रथनूपुर चक्रवाल नामक नगर में प्रवेश किया। फिर धरणेन्द्र ने विद्याधरो को बुलाकर उनसे कहा—‘जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव ने इन कुमारो को यहाँ भेजा है। ये आज से तुम्हारे स्वामी हैं। यह कुमार नमि दक्षिण श्रेणी का अधिपति होगा और कुमार विनमि उत्तर श्रेणी पर राज्य करेगा।’

विद्याधरो ने धरणेन्द्र की यह आज्ञा स्वीकार कर ली। तब धरणेन्द्र ने उन दोनो कुमारो का राज्याभिषेक किया और राज-सिंहासन पर बैठाया। उसने उन दोनो को गान्धारपदा और पन्नगपदा विद्यार्थे दी। फिर अपना कार्य पूरा करके वह वहाँ से चला गया। विद्याधरो ने दोनो कुमारो को सिर झुकाकर नाना प्रकार की भेटे दी। यद्यपि वे कुमार जन्म से विद्याधर नहीं थे, किन्तु उन्होंने वहाँ रह कर अनेक विद्याये सिद्ध कर ली। इस प्रकार नमि दक्षिण श्रेणी के पचास नगरो का स्वामी हुआ और विनमि उत्तर श्रेणी के साठ नगरो का स्वामी हुआ। नमि अपने बन्धुजनो के साथ रथनूपुर में रहने लगा और विनमि नभस्तिलक नामक नगर में रह कर राज्य करने लगा।

भगवान् ने निराहार रह कर प्रतिमायोग धारण कर छह मास तक तपस्या करने का जो नियम लिया था वह पूर्ण हुआ। निराहार रहने से न तो भगवान का शरीर कृश हुआ और न उनके तेज में ही अन्तर पडा।

वे चाहते तो बिना आहार के ही आगे भी तपस्या करते और इसका उनके शरीर पर भी कोई प्रभाव न पडता, किन्तु उन्होंने विचार किया कि वर्तमान में अथवा भविष्य में मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से जो लोग तप करेगे, यदि वे आहार नहीं करेंगे तो आहार के अभाव में उनकी शक्ति क्षीण हो जायेगी। मोक्ष, अर्थ और काम का साधन धर्म पुरुषार्थ है। धर्म का साधन शरीर है और शरीर अन्न पर निर्भर है। अतः परम्परा से अन्न भी धर्म का साधन है। अतः इस भारत क्षेत्र में शासन की स्थिरता और मनुष्यो की धर्म में आस्था बनाये रखने के लिये मनुष्यो को निर्दोष आहार ग्रहण करने की विधि दिखानी होगी। अतः परोपकार के लिए उन्होंने गोचर विधि से अन्न ग्रहण करने का विचार किया।

भगवान अपना ध्यान समाप्त करके आहार के लिए निकले। उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त होने तक मौन व्रत ले लिया था। वे चान्द्री चर्या से विचरण करते हुए मध्याह्न के समय किसी नगर या ग्राम में चर्या के लिए जाते थे। प्रजाजन मुनिजनोचित आहार की विधि नहीं जानते थे, न उन्होंने कभी किसी को मुनि को आहार देते हुए देखा-सुना था। किन्तु भगवान में उनकी अपार श्रद्धा थी। भगवान का दर्शन पाकर वे हर्षित हो जाते थे और

भगवान की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए वे विविध प्रकार के उपायन—भेंट लाकर भगवान के चरणों में चढ़ा देते थे। कोई वस्त्राभूषण लाता, दूसरा कोई गन्ध, माल्य, विलेपन, रत्न, मुक्ता, गज, अश्व या रथ लाकर भगवान की भेंट चढ़ाता। किन्तु भगवान उन वस्तुओं की ओर देखे बिना ही आगे बढ़ जाते थे। इससे लोग अपनी कोई कल्पित भूल या कमी का अनुभव करके बड़े खिन्न हो जाते। किन्तु उन्हें एक सन्तोष भी था कि आज हमें भगवान के दर्शन हो गये।

भगवान विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर पहुँचे। भगवान को निराहार विहार करते हुए छह माह व्यतीत हो चुके थे। हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ थे और उनके लघु भ्राता राजकुमार श्रेयान्स थे। ये दोनों वाहुवली के यशस्वी पुत्र थे। कुमार श्रेयान्स ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में शुभ स्वप्न देखे। स्वप्न में उसने चन्द्रमा, इन्द्र की ध्वजा, सुमेरु पर्वत, विजली, कल्पवृक्ष, रत्नद्वीप, विमान और भगवान ऋषभदेव देखे।

हरिवंश पुराण के इस स्वप्न-वर्णन से आदि पुराण के स्वप्न-विवरण में कुछ अन्तर है। आदि पुराण के अनुसार श्रेयान्स ने स्वप्न में सुवर्णमय सुमेरु पर्वत, आभूषणों से सुशोभित कल्पवृक्ष, अयाली वाला सिंह, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, और अष्टमंगल द्रव्य धारण किये हुए व्यन्तरो की मूर्तियाँ देखी। एक अन्तर यह भी है कि आदिपुराण के अनुसार ये स्वप्न केवल श्रेयान्स ने देखे थे, जबकि हरिवंश पुराण के अनुसार ये स्वप्न दोनों भाइयों ने देखे थे।

श्रेयान्सकुमार प्रातः काल उठे और वे अपने भाई के पास गये। उन्होंने उनसे अपने स्वप्नों की चर्चा की। राजपुरोहित ने स्वप्न सुन कर उनका यह फल बताया—सुमेरु देखने से यह प्रगट होता है कि सुमेरु के समान उन्नत और सुमेरु पर्वत पर जिसका अभिषेक हुआ है, ऐसा कोई देव आज अवश्य ही हमारे घर आवेगा। अन्य स्वप्न भी उसके गुणों को प्रगट करते हैं। आज हमें जगत में प्रशंसा और सम्पदा प्राप्त होगी।

ये लोग स्वप्न-चर्चा कर रहे थे, उसी समय भगवान ने हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया। नगरवासी भगवान के दर्शनों के लिए एकत्रित होने लगे। लोग आपस में कह रहे थे—हम लोग जगत के पालनकर्त्ता पितामह भगवान ऋषभदेव का नाम बहुत दिनों से सुनते आ रहे थे, आज वे हमारा पालन करने के लिए वन छोड़कर हमारे इस नगर में साक्षात् पधारे हैं। आज हमारा पुण्योदय हुआ है कि हम अपने नेत्रों से उन भगवान के दर्शन करेंगे।

कुछ लोग भक्तिवश, कुछ लोग उत्सुकतावश भगवान के दर्शनों के लिए एकत्रित हो गये। जनता की भीड़ के कारण राजमार्ग और राजमहल तक भर गये। किन्तु भगवान मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं का विचार करते हुये चार हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए मन्थर गति से जा रहे थे। इस प्रकार भगवान चर्या के लिये गृहस्थों के घरों में प्रवेश करते हुए राजभवन में पहुँचे।

सिद्धार्थ नामक द्वारपाल ने राजा सोमप्रभ और राजकुमार श्रेयान्स को राजभवन में भगवान के आने का समाचार दिया। सुनते ही वे दोनों अन्तःपुर की रानियों, मन्त्रियों और राजपुरुषों के साथ आगन में आये। उन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान को नमस्कार किया। भगवान के चरणों को जल से धोकर अर्घ्य चढ़ाया और उनकी प्रदक्षिणा दी। उनके मन में भक्ति और हर्ष का अद्भुत उद्रेक हो रहा था।

तभी एक अद्भुत घटना हुई। भगवान का रूप देखते ही श्रेयान्सकुमार को जाति स्मरण ज्ञान हो गया तथा पूर्वजन्म में मुनियों को दिये हुये आहार की विधि का स्मरण हो आया। उसे श्रीमती और वज्रजघ के भव सम्बन्धी उस घटना का भी स्मरण हो गया, जब चारण ऋद्धिधारी दो मुनियों को आहार दान दिया था। जाति स्मरण होते ही उसने श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अक्षोभ, क्षमा और त्याग इन सात गुणों से युक्त होकर—जो एक दान देने वाले के लिये आवश्यक हैं—निदान आदि दोषों से रहित होकर 'भो स्वामिन्' अत्र तिष्ठ तिष्ठ, आहार जल शुद्ध है' इस प्रकार मुनिराज को पङ्गाह कर उन्हें उच्च आसन पर विराजमान किया। उनके चरणों का प्रक्षालन किया, उनकी पूजा की, उन्हें नमस्कार किया, अपने मन-वचन-काय की विशुद्धिपूर्वक आहार-शुद्धि का निवेदन किया। इस प्रकार नवधा भक्तिपूर्वक श्रेयान्स कुमार ने दान के विशिष्ट पात्र भगवान को प्राप्त कर आहार का दान दिया। अर्किचन भगवान ने खड़े रह कर हाथों में ही (पाणि पात्र होकर) आहार ग्रहण किया।

उस समय वहा पर इक्षु-रस से भरे हुये कलश रक्खे थे। श्रेयान्सकुमार ने राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमती के साथ भगवान को उसी इक्षु-रस का आहार दिया। इधर भगवान की अञ्जलि में इक्षु-रस की धारा पड रही थी, उधर भगवान के आहार के उपलक्ष्य में देव लोग रत्नों की वर्षा कर रहे थे। कुछ देव पुष्प-वर्षा कर रहे थे। देव हर्ष से भेरी-ताडन कर रहे थे। शीतल सुगन्धित मन्द पवन वहने लगा, और देव लोग आकाश में 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र और धन्य यह दाता' इस प्रकार कह कर दान की अनुमोदना कर रहे थे। तीर्थङ्करो के आहार के समय ये पांच वाते अवश्य होती है, जिन्हे पचाश्चर्य कहते है।

दोनो भाइयो के मन में हर्ष का मानो सागर ही उमड पड रहा था। आज त्रिलोक पूज्य तीर्थङ्कर प्रभु ने उनके घर पर पधार कर और आहार लेकर घर द्वार को पवित्र किया था। अनेक लोगो ने इस दान का अनुमोदन करके पुण्य-लाभ किया। आहार करके भगवान वन में लीट गये। दोनो भाई भी कुछ दूर तक भगवान के साथ गये। किन्तु जब लीटे तो वे रह रह कर भगवान को ही देखते जाते थे। उनकी दृष्टि और चित्तवृत्ति भगवान की ओर ही लगी रही। भगवान के चरण जहा पडे थे, उस स्थान की धूल को उठाकर वे बार बार माथे से लगाते थे। मन में भगवान की मूर्ति और गुणो का अनुस्मरण करते जाते थे। वे जब लीटे तो सारा आगन प्रजा-जनो से सकुलित था। सब लोग उन दोनो भाइयो के ही पुण्य की सराहना कर रहे थे।

राजकुमार श्रेन्यास के कारण ही सप्ता में दान देने की प्रथा प्रचलित हुई। दान देने की विधि भी श्रेन्यास ने ही सबसे पहले जानी। सम्राट् भरत को भी बडा आश्चर्य हो रहा था कि श्रेन्यास कुमार ने भगवान के मन का अभिप्राय कैसे जान लिया। विद्येप कर उम दशा में, जब कि भगवान मौन धारण करके विहार कर रहे थे। देवो ने आकर कुमार श्रेन्यास की पूजा की। महाराज भरत भी हस्तिनापुर पहुँचे। वे अपने कुतूहल को रोक नहीं पाये। उन्होने श्रेन्यास से पूछा—'हे कुस्वश शिरोमणि ! मुझे यह जानने का कुतूहल हो रहा है कि तुमने मौनधारी भगवान का अभिप्राय कैसे जान लिया ? दान की विधि को अब तक कोई नहीं जानता था, उसे तुमने कैसे जान लिया ? तुमने दान-तीर्थ की प्रवृत्ति को है, तुम धन्य हो। हमारे लिए तुम भगवान के समान ही पूज्य हो। तुम महापुण्यवान हो।'

सम्राट् के सराहना भरे शब्दो को सुन कर श्रेन्यास कुमार प्रसन्न होता हुआ बोला—'जब मैंने भगवान का रूप देखा तो मेरे मन में अपार हर्ष हुआ। तभी मुझे जाति स्मरण हो गया जिससे मैंने भगवान का अभिप्राय जान लिया। जब भगवान विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रजघ की पर्याय में थे, तब मैं इनकी श्रीमती नामक स्त्री था। उस पर्याय में वज्रजघ सहित मैंने दो चारण ऋद्धिधारी मुनियो को आहार-दान दिया था। यह सब मुझे स्मरण हो आया था। इसलिए भगवान को मैंने आहार-दान दिया।

इसके पश्चात् श्रेन्यास कुमार ने भगवान के पिछले भवो का वर्णन किया। और दान देने की विधि विस्तारपूर्वक बताई। तब महाराज भरत ने दोनो भाइयो के प्रति बडा अनुराग प्रगट किया और उनका खूब सम्मान किया।



८. भगवान को कैवल्य की प्राप्ति

तीर्थङ्कर भगवान जिनकल्पी होते हैं। तीर्थङ्करो और साधारण मुनियो में एक भौलिक अन्तर यह भी है कि साधारण मुनियो को प्रारम्भिक अवस्था में स्थविरकल्पी होना पडता है और वे जिनकल्पी होने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। मुनि-पद के ये दो भेद हैं—स्थविरकल्प और जिनकल्प। (त्रिशल्य रहित होकर पच महाव्रतो और उनकी

भावनाओं का पालन करना, व्रतों के चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करना, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना, मुनियों के साथ रहना, उपदेश देना, शिष्यों को दीक्षा देना स्थाविर कल्प कैवल्य प्राप्ति कहलाता है)। और व्रतों का पालन करते हुये एकल विहार करना, सदा आत्म चिन्तन में लीन रहना यह जिनकल्प कहलाता है। तीर्थङ्कर भगवान के किसी प्रकार का दोष नहीं लगता। अतः उन्हें प्रतिक्रमण, छेदोपस्थापना चारित्र्य धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे केवल सामायिक चारित्र्य में ही रत रहते हैं।

भगवान ऋषभदेव छह प्रकार के बाह्य तप तथा छह प्रकार के आभ्यन्तर तपो का सदा अभ्यास करते रहते थे। यद्यपि भगवान चार ज्ञान के धारी थे, फिर भी वे घोर तप और साधना में निरत रहते थे। इससे उनका मन स्थिर हो गया था और वे सकल्प-विकल्प रहित होकर आत्म-ध्यान करते थे। भगवान को ससार में धर्म की प्रवृत्ति भी चलानी थी, अतः वे अन्य मुनियों में धर्म की प्रवृत्ति चलाने के लिए स्वयं भी कुछ ऐसे धर्माचरण करते थे जो उनके लिए आवश्यक न था। जैसे स्वाध्याय। भगवान द्वादशांग के वेत्ता थे, चार ज्ञान के धारी थे। उन्हें स्वाध्याय की आवश्यकता न थी। फिर भी वे स्वाध्याय करते रहते थे, जिससे अन्य मुनियों में स्वाध्याय की वृत्ति जागृत हो सके। वे नवीन कर्मों का सवर और पूर्वोपाजित कर्मों की निर्जरा करने के लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र्य को दृढता से पालन करते थे। वे ध्यान की सिद्धि के लिए अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का ही आश्रय लेते थे। वे पर्वत, वन, गुफा, सरितातट या शिलातल पर ध्यान लगाकर खड़े हो जाते थे। कभी महा भयकारी श्मशान भूमि में जाकर ध्यान लगाते थे।

इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था में एक हजार वर्ष तक अनेक देशों में विहार करते हुए भगवान पुरिमताल नगर के शकट या शकटास्य नामक उद्यान में पहुँचे। वे पूर्व दिशा की ओर मुख करके एक वट वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाकर ध्यान में लीन हो गये। उन्होंने शुक्ल ध्यान द्वारा क्षपक श्रेणी में आरोहण किया। इससे उनकी आत्मा में परम विशुद्धि प्रगट होने लगी। उन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का विनाश कर दिया। मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय कर्म भी नष्ट हो गये। इन चारों घातिया कर्मों के नष्ट होते ही उनकी आत्मा केवलज्ञान से मण्डित हो गई। वे लोकालोक के देखने वाले सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। उन्हें अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, चारित्र्य, शुद्ध सम्यक्त्व, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य ये नौ लब्धियाँ प्राप्त हो गईं। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को उत्तराषाढ नक्षत्र में भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

केवलज्ञान प्राप्त होते ही इन्द्र और देवों ने आकर भगवान को नमस्कार किया और उन्होंने केवलज्ञान महोत्सव मनाया। सम्पूर्ण आकाश देवताओं की जय ध्वनियों और वाद्यों के तुमुल घोष से व्याप्त हो गया। देव लोग पुष्प-वर्षा करने लगे। प्रकृति ने भी अपनी प्रसन्नता प्रगट करने में बड़ी उदारता दिखाई। शीतल सुगन्धित पवन बहने लगी। पवन में जल सीकरो ने मिलकर सम्पूर्ण जीवों को आल्हाद से भर दिया। आकाश से बिना बादलों के ही मन्द-मन्द वृष्टि होने लगी। तीनों लोकों में सभी जीवों को आनन्द का अनुभव हुआ।

भगवान को जिस वट वृक्ष के नीचे अक्षय ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, न केवल वह ज्ञान ही पूज्य हो गया, बल्कि वह वट वृक्ष भी अक्षय वट कहलाने लगा। वह वट वृक्ष भगवान के केवलज्ञान अक्षय वट का स्मरण कराता है, इसलिये भक्तजन वहाँ की यात्रा करने लगे।

अक्षय वट सदा से तीर्थ स्थान रहा है, इस बात का समर्थन अनेक प्रमाणों से होता है। नन्दिसध की गुर्वावली में अन्य तीर्थों के साथ अक्षयवट का भी उल्लेख मिलता है—'श्री सम्मेद गिरि-चम्पाम्पुरी, ऊर्जयन्त गिरि—अक्षयवट—आदीश्वर दीक्षा सर्व सिद्धक्षेत्र कृत यात्राणा' इसमें अक्षयवट को तीर्थ-स्थान माना है।

भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त होते ही कुबेर के निर्देशन में देवों ने समवसरण की रचना की। बाहर रत्नचूर्ण से निर्मित बहुरंगी धूलिसाल प्राकार था। उसमें चारों दिशाओं में स्वर्ण के खम्भों पर चार तोरण द्वार बनाये थे। उन द्वारों पर मत्स्य बने थे तथा रत्नमालाये लटकी हुई थी। धूलिसाल के अन्दर समवसरण की रचना प्रवेश करने पर चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ बने थे। ये मानस्तम्भ एक जगती पर थे। उस जगती के चारों ओर तीन-तीन कोट थे और उनमें भी गोपुर द्वार बने हुए थे। उन कोटों के बीच में तीन कटनीदार एक-एक पीठिका बनी थी। इसी पीठिका पर ये मानस्तम्भ स्थित थे। इन पर घण्टा, चमर, ध्वजाये फहरा रही थी। मानस्तम्भों के मूल भाग में अर्हन्तो की स्वर्णमय प्रतिमाये विराजमान थी। मानस्तम्भ के शीर्ष पर तीन छत्र सुशोभित थे। इन्हें इन्द्रध्वज भी कहा जाता है। इन मानस्तम्भों को देखने मात्र से अभिमानी जनों का अभिमान गलित हो जाता है। इन मानस्तम्भों के निकट नन्दोत्तरा नाम की वावडिया बनी थी। आगे जाने पर जल से भरी हुई परिखा बनी हुई थी। लतावन थे। उनमें लता मण्डप बने थे। उनमें चन्द्रकान्त मणि की शिलाये थी। इन्द्र यहाँ आकर इन पर विश्राम किया करते थे।

कुछ आगे बढ़ने पर एक स्वर्णकोट मिलता था जो समवसरण भूमि को घेरे हुए था। उस कोट में चार विशाल गोपुर द्वार बने हुए थे। इन द्वारों में एक सौ आठ मंगल द्रव्य रखे थे। गोपुर द्वारों के भीतर जाने वाले मार्ग पर दो-दो नाट्यशालाये बनी थी। मार्ग के दोनों ओर धूप घटों में सुगन्धित धूप का धूआ निकलता रहता था। कुछ दूर आगे अगोक, मत्पण, चम्पक और आम्र उद्यान बने थे। उनमें जाने के लिये वीथिकाये बनी थी।

अशोक उद्यान के मध्य में एक विशाल अशोक वृक्ष था। यह तीन कटनीदार एक पीठिका पर स्थित था। उसके निकट मंगल द्रव्य रखे थे। यह एक चैत्य वृक्ष था। इस पर ध्वजाये फहरा रही थी। उसके शीर्ष पर तीन छत्र थे, जिनमें मोतियों की झालरें लटक रही थीं। वृक्ष के मूल भाग में अष्ट प्रातिहार्ययुक्त जिनेन्द्र देव की चार प्रतिमाये विराजमान थी। इस प्रकार चैत्य वृक्ष अन्य वनों में भी थे। इन वनों के अन्त में वनवेदिका बनी हुई थी। यहाँ जो वापिकाये हैं, उनमें स्नान करने मात्र से एक भव दिखाई पड़ता है तथा वापिका के जल में देखने से भावी सात भव दीखते हैं।

वहाँ सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्यवृक्ष, कोट, वन वेदिका, स्तूप, तोरण सहित मानस्तम्भ और ध्वज-स्तम्भ थे। इनकी ऊँचाई तीर्थंकरों के शरीर से बारह गुनी होती है। वहाँ जो ध्वजाएँ होती हैं, उनमें माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस गरुण, सिंह, बैल, हाथी और चक्र के चिन्ह होते हैं। हर दिशा में प्रत्येक चिन्ह वाली ध्वजाओं की संख्या एक सौ आठ होती है।

वहाँ कल्प वृक्षों का भी वन था। उन कल्प वृक्षों के मध्य भाग में सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं। इन पर सिद्ध भगवान की प्रतिमाये विराजमान होती है। जो महावीथिया बनी हुई थी, उनके मध्य में नौ-नौ स्तूप खड़े हुए थे। इन स्तूपों में अर्हन्तो और सिद्धों की प्रतिमाये विराजमान थी। इन स्तूपों पर बन्दनमालाये लटकी हुई थी, छत्र लगे हुए थे, पताकाये फहरा रही थी, मंगल द्रव्य रखे थे। एक-एक स्तूप के बीच में मकर के आकार के सौ तोरण होते हैं। इन स्तूपों की ऊँचाई चैत्य वृक्षों के समान होती है।

सर्व प्रथम लोक स्तूप होते हैं। ये नीचे वेत्रासन के समान, मध्य में झालर के समान, उसके ऊपर मृदग के समान और अन्त में तालवृक्ष के समान लम्बी नालिका से युक्त होते हैं। इन स्तूपों में लोक की रचना बनी होती है। इन लोक स्तूपों से आगे मध्यलोक स्तूप होते हैं। इनके भीतर मध्य लोक की रचना होती है। इनसे आगे मन्दर स्तूप होते हैं, जिन पर चारों दिशाओं में भगवान की प्रतिमाये विराजमान होती हैं। इनके आगे कल्पवास स्तूप होते हैं, जिनमें कल्पवासियों की रचना बनी होती है। उनके आगे ग्रैवेयको के आकार वाले ग्रैवेयक स्तूप होते हैं। उनके आगे अनुदिश नामक नौ स्तूप होते हैं। आगे चलकर सर्वार्थ सिद्धि नामक स्तूप होते हैं। इनसे आगे भव्यकट स्तूप होते हैं। इन्हें अभव्य जीव नहीं देख सकते, देखने पर वे अन्धे हो जाते हैं। इनसे आगे प्रमोह स्तूप होते हैं। इन्हें देखकर लोग विभ्रम में पड़ जाते हैं और चिरकाल से अभ्यस्त गृहीत वस्तु को भी भूल जाते हैं। आगे चलकर प्रबोध स्तूप होते हैं। इन्हें देखकर लोग प्रबोध को प्राप्त होते हैं और साधु बनकर ससार से छूट जाते हैं।

स्तूपों से आगे चलने पर चतुर्थकोट आता है। इसके गोपुरों पर रत्नदण्ड हाथ में लिये कल्पवासी देव द्वारपाल के समान पहरा देते हैं।

इनसे आगे रत्नस्तम्भों पर आघारित आठवीं श्रीमण्डप भूमि थी। इसी भूमि में सोलह दीवालों के बीच में बारह कक्ष होते हैं। ये सभा कक्ष होते हैं। इनमें पहले कक्ष में ऋद्धिधारी गणधर देव और मुनि बैठते हैं। इस कक्ष से आगे दीवाल होती है। फिर दूसरा कक्ष है, जिसमें कल्पवासिनी देवियाँ बैठती हैं। तीसरे कक्ष में आर्यिका और श्राविकाये बैठती हैं। चौथे कक्ष में ज्योतिष्क देवों की देवियाँ, पाचवे कोठे में व्यन्तर देवियाँ, छठवे कक्ष में भवनवासी देवियाँ, सातवे कक्ष में भवनवासी देव, आठवे कक्ष में व्यन्तर देव, नौवें कक्ष में ज्योतिष्क देव, दसवें कक्ष में अच्युत स्वर्ग तक के देव और इन्द्र, ग्यारहवें कक्ष में चक्रवर्ती राजा और मनुष्य बैठते हैं और बारहवें कक्ष में पशु-पक्षी वन और भय त्यागकर बैठते हैं।

इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते तथा अनध्यवसाय, सन्देह और विविध विपरीतता से युक्त जीव भी नहीं होते। समवसरण में जिनेन्द्र देव का महात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वन, कामवाधा तथा क्षुधा-तृषा की पीड़ाये नहीं होती।

चारों दिशाओं में चार वीथियाँ बनी हुई थीं। इन वीथियों के सामने तथा बारह कक्षों के द्वार के सामने सीढियाँ बनी होती हैं। ये सीढियाँ तीन पीठिकाओं के लिये होती हैं, जो एक दूसरे के ऊपर बनी होती हैं। पहली पीठिका पर अष्ट मंगल द्रव्य होते हैं और यक्ष धर्मचक्रों को अपने सिर पर उठाये हुए खड़े रहते हैं। इन धर्मचक्रों में एक-एक हजार आरे होते हैं। इन धर्मचक्रों की कुल संख्या चार हजार होती है। दूसरी पीठिका पर मयूर और हंसों के चिन्ह वाली ध्वजाओं के अतिरिक्त आठ ध्वजाये रहती हैं। तीसरी पीठिका पर गन्धकुटी होती है। उसमें रत्नमय सिंहासन होता है। उस पर जिनेन्द्र प्रभु विराजमान होते हैं। यह तीसरी पीठिका तीन कटनी वाली होती है। गन्धकुटी के ऊपर शिखर होते हैं। उन शिखरों पर ध्वजाये फहराती रहती हैं। उनमें मोतियों की झालर लटकती रहती हैं।

भगवान ऋषभदेव उस सिंहासन पर विराजमान थे। वे सिंहासन में चार अंगुल ऊँचे अधर विराजमान थे। भगवान के पीछे रत्न निर्मित अशोक वृक्ष था। देव लोग पुष्प-वर्षा कर रहे थे। देव दुन्दुभि-घोष कर रहे थे। भगवान का आसन अनर्घ्य, बहुमूल्य रत्न निर्मित था। भगवान के मुख-कमल से वादलों की गर्जना के समान दिव्य-ध्वनि निकल रही थी। भगवान के सिर पर तीन छत्र थे। यक्ष भगवान के चारों ओर चौसठ चमर ढोल रहे थे। और भगवान के शरीर से निकलती हुई प्रभा का एक मण्डल सा बन गया था जो भामण्डल या प्रभा मण्डल कहा जाता है। इस प्रकार ये अष्ट प्रातिहार्य थे, जो भगवान के लोकोत्तर व्यक्तित्व को प्रगट कर रहे थे।

देवालय अथवा जिनालय समवसरण की प्रतिकृति होते हैं। समवसरण की रचना कुवेर करता है। समवसरण भूमि भूमि-तल से एक हाथ ऊँची होती है। उससे एक हाथ ऊँची कल्प भूमि होती है। यह भूमि कमलाकार होती है। इसमें गन्धकुटी कर्णिका के समान होती है और शेष रचना कमल-दल के समान होती है। गन्धकुटी के चारों ओर मानागण नाम की भूमि होती है। यही खड़े होकर इन्द्रादि भगवान की पूजा करते हैं। इसमें चार वीथियाँ होती हैं। इन वीथियों के मध्य में चार मानस्तम्भ होते हैं। इनमें मूर्तियाँ विराजमान होती हैं। जहाँ खड़े होकर मनुष्य और देव मानस्तम्भों की पूजा करते हैं, वह आस्थानागण भूमि कहलाती है। ये मानस्तम्भ बारह योजन दूर से दिखाई देते हैं। ये मानस्तम्भ दो हजार पहलू के होते हैं। इनके शीर्ष पर चारों दिशाओं में सिद्ध प्रतिमा विराजमान रहती हैं। इनकी पालिकाओं पर स्वर्णघट रक्षे रहते हैं।

समवसरण में कोट, वापिका, नृत्यशालाये, तोरण, गोपुर, एक सौ आठ मंगल द्रव्य, वन, चैत्यवृक्ष, पताकार्ये, घण्टे, मंगल कलश, सिद्धार्थ वृक्ष, स्तूप, अन्तर्वेदिका, भवन, इन्द्रध्वज, महोदयमण्डप, श्रीमण्डप, गन्धकुटी, सिंहासन, अष्ट प्रातिहार्य आदि की रचना रहती है।

जिनालय में भी कुछेक रचनाओं को छोड़कर प्रायः सभी रचना किसी न किसी रूप में रहती हैं (वृहत्स-

हिता (अध्याय ५६ श्लोक १७-१८) में मन्दिरों के २० भेद गिनाये हैं। इन भेदों में चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशात्री, सर्वतोभद्र भी परिगणित हैं। अग्निपुराण (अध्याय १०४ श्लोक १३-२०) में ४५ प्रकार के मन्दिर गिनाये हैं। इनमें चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशभद्र और पूर्णभद्र मन्दिर भी हैं। अधिकांश जिनालय चतुष्कोण मिलते हैं। किन्तु कुछ अष्टकोण, षोडशभद्र और पूर्णभद्र या सर्वतोभद्र भी मिलते हैं।

साधारणतः प्रत्येक मन्दिर के आठ अंग होते हैं—अधिष्ठान, वेदिवन्ध, अन्तरपत्र, जघा, वरण्डिका, शुकनासिका, कण्ठ और शिखर। शिखर के तीन भाग होते हैं—आमलक, आमलिका और कलश। पचायतन शैली का मन्दिर ही पूर्ण मन्दिर कहलाता है। इस शैली में गभंगूह, प्रदक्षिणा पथ, अन्तराल, महामण्डप और अर्धमण्डप ये पांच प्रकार की रचनाये होती हैं। अधिकांश मन्दिरों पर शिखर की संयोजना होती है। वस्तुतः शिखर कलाश और सुमेरु पर्वत की ही अनुकृति है। वेदी गन्धकुटी की प्रतिरूप है। वेदी में सिंहासन होता है, जिस पर प्रतिमा विराजमान होती है। प्राचीन प्रतिमाओं में अष्ट प्रातिहार्य अवश्य अंकित किये जाते थे। क्योंकि अरहन्त और तीर्थंकर-प्रतिमाओं की पहचान अष्ट प्रातिहार्य से ही की जाती है। अष्ट प्रातिहार्य रहित प्रतिमा सिद्धों की बतलाई है। प्राचीन काल में अष्ट प्रातिहार्यों का अकन प्रतिमा के साथ ही होता था। किन्तु आधुनिक काल में प्रतिमाये अलग निर्मित होती हैं और अष्ट प्रातिहार्यों में भामण्डल, छत्र, चमर और आसन पृथक्-पृथक् रहते हैं। शेष चार प्रातिहार्यों की रचना मूर्ति के पीछे दीवाल पर किसी न किसी रूप में कर दी जाती है। वर्तमान मूर्ति-विज्ञान में सौंदर्य का विशेष ध्यान रखा जाता है, किन्तु मूर्ति-शिल्प के शास्त्रीय पक्ष और भावना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसको समझने के लिये हमें मूर्ति-विज्ञान के क्रमिक विकास पर एक दृष्टि डालनी होगी। (इसका सविस्तर वर्णन प्रथम परिच्छेद में किया गया है।

(वेदी पर लघु शिखर, मन्दिर के ऊपर शिखर, ध्वजा, वेदी अथवा सिंहासन पीठ पर घर्मचक्र की संरचना समवसरण की रचना का स्मरण कराती है। सिंहासनासीन प्रतिमा तीर्थंकर की प्रतीक है। पद्मासन या खड्गासन में ध्यानस्थ, अर्धोन्मीलित नयन, नासाग्र दृष्टि, घु घराले कुन्तल, छाती पर श्रीवृक्ष के आकार का श्रीवत्स लाछन, हथेलियों और पैरों के तलवों में मागलिक चिह्न ये सब चिह्न तीर्थंकरों के स्मारक चिह्न हैं। जिनालय मनुष्यों की दृष्टि से निर्मित किये जाते हैं। इसलिए जिनालयों में द्वादश सभा-मण्डप नहीं बनाये जाते, केवल एक सभा-मण्डप बनाया जाता है। प्राचीन काल में जिनालयों के आगे मानस्तम्भ-निर्माण की परम्परा रही है। किन्तु जबसे नगर अधिक जन-सकुल होने लगे और नगरों के बीच में स्थान की कठिनाई आने लगी, जिनालयों के आगे मानस्तम्भ निर्माण की परम्परा कम होती गई। यही कारण है कि नगरों के मध्य बने हुए प्रायः अधिकांश जिनालयों में मानस्तम्भ नहीं मिलते। कुछ भी हो, मन्दिरों और मूर्तियों के रूप में प्राचीन काल की अपेक्षा अब कितना ही परिवर्तन क्यों न आगया हो, किन्तु उनमें समवसरण का मूलरूप अब भी सुरक्षित है।

केवल ज्ञान प्राप्त होते ही कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। त्रिलोकीनाथ भगवान सिंहासन पर विराजमान थे। वे अष्ट प्रातिहार्य विभूति से सम्पन्न थे। उस समय भगवान पूर्व दिशा की ओर मुख करके विराजमान थे। किन्तु दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान का मुख उनकी ओर है। चारों दिशाओं में दर्शक आते बैठे हुए थे और भगवान के मुख चारों दिशाओं में देख रहे थे। उनके नेत्र टिमकार रहित थे। उनके शरीर से प्रभा की अजस्र किरणें फूट रही थीं। उन्हें अब किसी इन्द्रिय पर निर्भर नहीं रहना था। स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र पांचो इन्द्रियों ने अपना व्यापार बन्द कर दिया था। जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो, अनन्त वीर्य और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो, उसे सीमित इन्द्रिय व्यापार से क्या प्रयोजन रह गया था। सूर्य का प्रकाश होने पर टिमटिमाते दीपक का कोई काम नहीं रह जाता। उनको अनन्त सुख प्राप्त था, इसलिये क्षुधा तृषा आदि की बाधा और अन्न-निर्भरता दूर हो गई थी। (वे आत्मिक स्वतंत्रता के उस विहान में पहुँच चुके थे, जहाँ सम्पूर्ण पौद्गलिक आधीनताये और अपेक्षाये छूट चुकी थी)।

(चारों जाति के देव और इन्द्र भगवान का केवल ज्ञान कल्याणक उत्सव मनाने आये। सर्व प्रथम सौधमन्द

ने जमीन पर घुटने टेककर भगवान को प्रणाम किया। उस समय का दृश्य अद्भुत था। ससार की भौतिक विभूति से सम्पन्न इन्द्र आत्मा की सम्पूर्ण आध्यात्मिक विभूति से सम्पन्न भगवान के चरणों में झुक रहा था, मानो भौतिक सम्पदा आत्मिक सम्पदा की महानता के प्रति सिर झुका रही थी और यह स्वीकार कर रही थी कि आत्मिक वैभव के समक्ष ससार का सारा वैभव तुच्छ है, नगण्य है। इन्द्र के मुकुट के अग्रभाग में जो देदीप्यमान मणि लगी हुई थी, क्या उसकी समानता चक्रवर्ती की अशेष सम्पदा कर सकती है। किन्तु जब इन्द्र ने भगवान के चरणों में नमस्कार किया, उस समय समस्त चराचर को अपनी प्रभा से प्रकाशित करने वाली इन्द्र की वह मुकुट-मणि भगवान के चरण के अग्रूठे के नाखून की प्रभा के समक्ष मन्द पड़ गई। इतना ही नहीं, उस नाखून की प्रभा से वह मणि चमकने लगी। इसी आशय को व्यक्त करते हुए भक्तामर स्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुङ्ग कहते हैं—

‘भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्योतर्क दलित पापतमो वितानम् ।

सम्यक् प्रणम्य जिनपाद युग युगादाबालम्बन भवजले पतता जनानाम् ॥

आचार्य के ये भक्तिनिर्भर उद्गार तथ्य को ही प्रगट करते हैं। जिस शरीर के भीतर अनन्त ज्ञान से प्रकाशमान आत्मा विराजमान है, उस शरीर की आभा भी असाधारण होती है।

तदनन्तर इन्द्रो ने और देवो ने खड़े होकर अपने हाथों से गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत और अमृत पिण्डों द्वारा भगवान के चरणों की पूजा की। इन्द्राणी ने भगवान के आगे रत्न चूर्ण से विविध रंगी मण्डल पूरा। फिर उसने रत्नों की भू गार की ताल से भगवान के समीप जल धारा छोड़ी और देवी सुगन्ध से भगवान के पादपीठ की पूजा की। इसी प्रकार उसने मोतियों से, कल्पवृक्ष के पुष्पों की मालाओं से, रत्नदीपों से, थाल में धूप और दीपक रखकर अमृतपिण्ड से, फलों से, जिनेन्द्र प्रभु की पूजा की। फिर इन्द्र ने भगवान की स्तुति की।

केवल ज्ञान प्राप्त होते ही भगवान की आत्मा निकलक, निर्लेप, निरावरण और शुद्ध हो गई थी। उनकी पवित्रता सर्वाङ्गसम्पूर्ण थी। उनकी आत्मा की शक्ति और प्रभाव अनन्त था। इसलिये कुछ अद्भुत चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हुईं, जिन्हें अतिशय कहा जाता है। ऐसे अतिशय-जो केवल ज्ञान जन्य थे दस हुए। धवलाकार उनकी सख्या ग्यारह बताते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(सौ योजन तक चारों ओर सुभिक्ष होना, आकाशगमन, हिंसा का अभाव, भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव, चारों ओर सुख, छाया रहितता, निर्निमेष दृष्टि, विद्याओं की ईशाना, नख और रोमों का न बढ़ना, अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा तथा अन्य अक्षरानक्षरात्मक भाषाओं में दिव्य ध्वनि)।

इसी प्रकार देव कृत चौदह और धवलाकार के मत से तेरह अतिशय होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(सख्यात योजनों तक वन का फल फूलों से युक्त होना, सुगन्धित वायु, जाति विरोधी जीवों का सह अस्तित्व, भूमि की निर्मलता, सुगन्धित जल की वर्षा, फल भार से नम्रीभूत शस्य, सब जीवों को आनन्द, शीतल पवन, निर्मल जल से परिपूर्ण तडाग, निर्मल आकाश, रोगादि न होना, यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर चार धर्मचक्र, चारों दिशाओं में छप्पन स्वर्ण-कमल की रचना)।

श्वेताम्बर परम्पराओं में मान्य चौतीस अतिशय—समवायाग सूत्र में तीर्थंकरों के ३४ अतिशय इस प्रकार बताये हैं—

(१ केशरोम और श्मश्रु का न बढ़ना, २ शरीर का रोग रहित और निर्लेप होना, ३ रक्त-मांस का गोरुग्ध के समान सफेद होना, ४ श्वासोच्छ्वास का उत्पल कमल के समान सुगन्धित होना, ५ आहार-नीहार का अदृश्य होना, ६ आकाशगत चक्र का होना, ७ आकाशगत छत्र का होना, ८ आकाशगत श्वेत चामर होना, ९ आकाशस्थ स्फटिक सिंहासन का होना, १० हजार पताका वाले इन्द्रध्वज का आकाश में आगे चलना, ११ तीर्थंकर भगवान जहा ठहरे, वहाँ फल फूल युक्त अशोक वृक्ष का होना, १२ मुकुट के स्थान से थोड़ा पीछे की ओर तेजो मण्डल का सब दिशाओं को प्रकाशित करना, १३ भूमि का रमणीक होना, १४ काटो का अधोमुख होना, १५ ऋतुओं का सुखदायी होना, १६ शीतल सुखद मन्द पवन से चार-चार कोस तक स्वच्छता का होना, १७ जल विन्दुओं से भूमि की धूल का शमन होना, १८ पाँच प्रकार के अचित्त फूलों का जानु प्रमाण ढेर लगना, १९

अशुभ रूप-रस गन्ध-स्पर्श-शब्द का अग्रकर्षण होना, २० शुभ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द का प्रकट होना, २१ बोलते समय भगवान के गम्भीर स्वर का एक योजन तक पहुँचना, २२ अर्धमागधी भाषा में भगवान का धर्मोपदेश, २३ अर्ध मागधी भाषा का आर्य-अनार्य मनुष्य और पशुओं की अपनी-अपनी भाषा के रूप में परिणत होना, २४ भगवान के चरणों में पूर्व भव के वैरी देव, असुर आदि का वैर भूल कर प्रसन्न मन से धर्म श्रवण करना, २५ अन्य तीर्थ के वादियों का भी भगवान के चरणों में आकर वन्दना करना, २६ वाद के लिये आये हुए प्रतिवादी का निरुत्तर होना, २७ जहाँ भगवान का विहार हो, उसके पच्चीस योजन तक ईति का न होना, २८ पच्चीस योजन तक मारी का न होना, २९ स्वचक्र का भय न होना, ३० परचक्र का भय न होना, ३१ अतिवृष्टि का न होना, ३२ अनावृष्टि का न होना, ३३ दुर्भिक्ष का न होना तथा ३४ जहाँ-जहाँ भगवान विचरण करें, वहाँ-वहाँ पूर्व उत्पन्न उत्पातों का शीघ्र शान्त होना)।

दोनों सम्प्रदायों—दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में तीर्थंकर भगवान के चौतीस अतिशय स्वीकार की गई है। अतिशयों के नामों में कही कही साधारण सा अन्तर है।

भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है, यह सुनकर सम्राट् भरत अन्त पुर की स्त्रियों, परिजन और पुरजनों के साथ भगवान के दर्शनों के लिये आये। भरत ने प्रथम पीठिका पर पहुँच कर प्रदक्षिणा दी और चारों ओर स्थित धर्मचक्रों की पूजा की। फिर दूसरे पीठ पर स्थित भगवान की ध्वजाओं की पवित्र सुगन्ध आदि द्रव्यों से पूजा की।

फिर अष्ट प्रातिहार्य युक्त और जगत के गुरु स्वामी ऋषभदेव को देखकर उनकी प्रदक्षिणा भगवान का परिवार की और उत्कृष्ट सामग्री से उनकी पूजा की, उन्हें नमस्कार किया और भक्ति प्लावित हृदय से उनकी स्तुति की। तदनन्तर भरत भी मण्डप में प्रवेश कर अपनी योग्य सभा में जा बैठे। फिर हाथ जोड़ कर भगवान से विनय पूर्वक प्रार्थना की—हे भगवन् ! धर्म क्या है ? उसका मार्ग और फल क्या है ?

भगवान की गम्भीर दिव्य गिरा खिरी। उस समय भगवान के मुख पर कोई विकार नहीं था। उस समय भगवान के न तो तालू ओठ आदि ही हिलते थे, न उनके मुख की कान्ति ही बदलती थी। भगवान की दिव्य-ध्वनि इस प्रकार निकल रही थी, मानो पर्वत की गुफा में से प्रतिध्वनि निकलती है। वह वाणी भगवान की इच्छा के बिना ही प्रकट हो रही थी। भगवान की दिव्य गिरा में धर्म का स्वरूप, धर्म के भेद, धर्म का फल आदि विस्तार से प्रगट हुए।

जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव का परम कल्याणकारी उपदेश सुन कर महाराज भरत ने भगवान से सम्यग्दर्शन की शुद्धि और अणुव्रतों की परम विशुद्धि को प्राप्त किया। अर्थात् उन्होंने सम्यग्दर्शन के साथ पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रत धारण किये। अन्य अनेक जीवों ने भी यथायोग्य नियम व्रत धारण किये।

उस पुरिमताल नगर का स्वामी और भरत का छोटा भाई वृषभसेन भगवान का कल्याणकारी उपदेश सुनकर भगवान के समीप दीक्षित हो गया और भगवान का प्रथम गणधर बना। उसी समय कुरु वंशियों में श्रेष्ठ महाराज सोमप्रभ अपने पुत्र जयकुमार को राज्य देकर अपने अनुज श्रेयान्सकुमार सहित भगवान के समीप दीक्षा लेकर उनके गणधर बने। भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं के बीच मुख्य गणिनी के पद को प्राप्त हुई। बाहुबली की छोटी बहन सुन्दरी ने भी आर्यिका दीक्षा ले ली। श्रुतकीर्ति नामक एक धर्मात्मा व्यक्ति ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये और वह देशव्रत धारण करने वाले गृहस्थों में सबसे श्रेष्ठ हुआ। एक पतिव्रता प्रियव्रता नाम की स्त्री श्राविका के व्रत धारण कर श्राविकाओं में श्रेष्ठ कहलाई। भरत के एक भाई अनन्तवीर्य ने भी सबोध पाकर भगवान से दीक्षा प्राप्त की और उन्होंने अवसर्पिणी युग में सबसे पहले मोक्ष प्राप्त किया। भगवान की देखादेखी जो चार हजार राजा पहले दीक्षित हुए थे और अष्ट हो गए थे, वे 'भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है' यह सुनकर पुनः भगवान के समीप आये और एक मरीचि को छोड़ कर शेष सबने पुनः दीक्षा ले ली। और तपस्या करने लगे। अन्य अनेक लोगों ने भी भगवान से मुनि-दीक्षा और श्रावक के व्रत ग्रहण किये।

(तीर्थंकरों के पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, विक्रिया ऋद्धि के धारक, विपुलमति और वादी इस प्रकार ये सात सध होते हैं)।

भगवान ऋषभदेव के सघ मे कुल ऋषियों की सख्या चौरासो हजार थी, जिनमे पूर्वधर ४७५०, शिक्षक ४१५०, अविज्ञानी ६०००, केवली २००००, विक्रियाधारी २०६००, विपुलमति १२७५० और वादियों की कुल सख्या १२७५० थी। तथा मुनियों की सख्या ८४०८४ थी।

ऋषभदेव के तीर्थ मे आर्थिकाओं की कुल सख्या साढे तीन लाख थी। श्रावको की सख्या तीन लाख और श्राविकाओं की कुल सख्या पाच लाख थी।

भगवान के सघ मे साधुओं की कुल सख्या ८४०८४ थी। प्रत्येक तीर्थकर के सघम्य साधुओं के गण होने है। उन गणो मे कुछ निश्चित सख्या मे साधु रहते है। उन गणो मे से प्रत्येक गण के ऊपर एक गणधर होना है, जो साधुओं का सम्यक् नियमन करता है, उनमे अनुशासन बनाये रखता है। भगवान ऋषभ-भगवान के गणधर देव के साधुओं के चौरामी गण थे और उन गणो के नियामक चौरामी^१ गणधर थे, जिनके नाम इस प्रकार थे—

१ वृषभसेन, २ कुम्भ, ३ दृढरथ, ४ शत्रुदमन, ५ देवशर्मा, ६ धनदेव, ७ नन्दन, ८ सोमदत्त, ९ सुरदत्त, १० वायुशर्मा, ११ सुवाहु, १२ देवाग्नि, १३ अग्निदेव, १४ अग्निभूति, १५ तेजस्वी, १६ अग्नि-मित्र, १७ हलधर, १८ महीधर, १९ माहेन्द्र, २० वसुदेव, २१ वसुधर, २२ अचल, २३ मेरु, २४ भूति, २५ सर्वसह, २६ यज्ञ, २७ सर्वगुप्त, २८ सवप्रिय, २९ सर्वदेव, ३० विजय, ३१ विजयगुप्त, ३२ विजयमित्र, ३३ विजयश्री, ३४ परारव्य, ३५ अपराजित, ३६ वसुमित्र, ३७ वसुमेन, ३८ साधुसेन, ३९ सत्यदेव, ४० सत्य-वेद, ४१ सर्वगुप्त, ४२ मित्र, ४३ सत्यवान, ४४ विनीत, ४५ सवर, ४६ ऋषिगुप्त, ४७ ऋषिदत्त, ४८ यज्ञदेव, ४९ यज्ञगुप्त, ५० यज्ञमित्र, ५१ यज्ञदत्त, ५२ स्वायभुव, ५३ भागदत्त, ५४ भागफल्गु, ५५ गुप्त, ५६ गुप्त फल्गु, ५७ मित्रफल्गु, ५८ प्रजापति, ५९ सत्ययज्ञ, ६० वरुण, ६१ धनवाहिक, ६२ महेन्द्रदत्त, ६३ तेजोराशि, ६४ महारथ, ६५ विजयश्रुति, ६६ महावल, ६७ सुविशाल, ६८ वज्र, ६९ वैर, ७० चन्द्रचूड, ७१ मेघेश्वर, ७२ कच्छ, ७३ महाकच्छ, ७४ सुकच्छ, ७५ अतिवल, ७६ भद्रावलि, ७७ नमि, ७८ विनमि, ७९ भद्रवल, ८०. नन्दी, ८१ महानुभाव, ८२ नन्दिमित्र, ८३ कामदेव, ८४ अनुपम।



९. भगवान द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन

भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि पुरिमताल मे खिरी थी। यही भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन कहलाया। भगवान यदि चाहते तो शेष सारा जीवन मौनपूर्वक व्यतीत कर सकते थे, जिस प्रकार उन्होंने अपने छद्मस्थ काल के एक हजार वर्ष मौनपूर्वक विताये थे। किन्तु उन्हें धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करके भव्य प्रयाग में भगवान जीवो का कल्याण करना था। जब तीर्थकर प्रकृति का बन्ध किया था, उस समय उन्होंने द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए मार्ग प्रभावना की भी भावना की थी, अन्यथा तीर्थकर प्रकृति का भोग पूरा नहीं होता।

भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन केवल मनुष्यों के हित और सुख के लिये ही नहीं था, बल्कि यह तो देव, पशु, पक्षी सबके हित और सुख के लिये था। भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन फागुन सुदी एकादशी को हुआ था। भगवान ने धर्म-तीर्थ का उस दिन प्रवर्तन किया था। (इसलिये यह कहना चाहिये कि इस युग मे धर्म की व्यवस्थित

व्याख्या सर्व प्रथम फागुन सुदी एकादशी को हुई थी, धर्म की स्थापना का यह प्रथम दिवस था। उमलिये यह तिथि पवित्र तिथि मानी गई, यह स्थान पवित्र तीर्थक्षेत्र माना गया, वह वट वृक्ष अक्षय वट कहलाने लगा।

दिव्य ध्वनि—तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का क्या रूप होता है, एग नम्यन्ध मे निम्न गाथाये ध्यान देने योग्य है—

अट्ठरस महाभासा खुल्लयभासाय सपाइ सत्त तहा ।
 अयखर अणयखरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ ॥
 एदादुं भासासुं तालु वदतोठठकंठ वाचारे ।
 परिहरिय एक्ककाल भव्वजणे दिव्वभासित्तं ॥
 पगदीए अक्खलिओ सभक्ति दयम्मि णवमुहत्ताणि ।
 णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वभुणो जाव जोयणमं ॥
 अक्खमेस काल समये गणहर देवद चक्खवट्टीण ।
 पण्हाण ख्वमत्थ दिव्वभुणो अ सत्तभगी हि ॥

अर्थात् अठारह महाभाषा, गान में छोटी भाषा तथा सर्जजिवाओं की और भी जो अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक—भाषाये हैं, उन सभी भाषाओं में तानु, दात, ओठ, कंठ को बिना हिलाये चलाये भगवान की वाणी भव्य जीवों के लिये प्रगट होती है। भगवान की वह दिव्य ध्वनि स्वभाव में (तीर्थंकर प्रकृति के उदय में वचन योग में, बिना इच्छा के) स्पष्ट अनुपम तीनों मन्ध्या कानों में ६ मुहूर्त निकलती है और एक योजन तक जाती है। शेष समय में गणधर, इन्द्र तथा चरुवर्ती के प्रश्न करने पर भी गान्त भगवन् दिव्यध्वनि फिरती है।

आचार्य जिनमेन ने हृन्विश पुराण में दिव्य ध्वनि को विशेषतायें बताते हुए कहा है—

तत्प्रश्नानन्तरं धातुश्चतुर्मुं स विनिगंता ।
 चतुर्मुखकला सार्था चतुर्वर्णाश्रमाश्रया ॥५८॥३
 चतुरस्रानुयोगाना चतुर्णामेकमातृका ।
 चतुर्विध कथावृत्तिश्चतुर्गति निवारिणी ॥ ५८॥४
 समन्तत शिवस्थानाद्योजनाधिक मण्डले ।
 अत्रं वात्रं व वृत्ते तत्र तत्रास्ति तादृशी ॥५८॥८
 मधुर स्निग्धगभीर दिव्योदात्त स्फुटाक्षरम् ।
 वर्ततेऽनन्य वृत्तं का तत्र साध्वी सरस्वती ॥५८॥९
 अनानात्मापि तद्वृत्तं नाना पात्र गुणाश्रयम् ।
 सभाया दृश्यते नाना दिव्यमम्बु यथावनौ ॥५८॥१५
 सावधान सभास्थ ध्वान्त सावरणं ध्वनि ।
 जैनोत्पत्कोभिनद्विव्यो विश्वात्मेत्यादि भासन ॥५८॥१६

अर्थात् गणधर के प्रश्न करने पर भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी। भगवान की वह दिव्य ध्वनि चारों दिशाओं में दिखने वाले चार मुखों से निकलती थी, चार पुरुषार्थ रूप चार फलों को देने वाली थी, सार्थक थी, चार वर्ण और चार आश्रमों को आश्रय देने वाली थी, चारों ओर सुनाई पड़ती थी, चार अनुयोगों की माता थी, आक्षेपिणी-विक्षेपिणी-सवेगिनी और निर्वेदिनी इन चार कथाओं को वर्णन करने वाली थी, चार गतियों का निवारण करने वाली थी। जहाँ भगवान विराजते थे, वहाँ से चारों ओर एक योजन तक इतनी स्पष्ट सुनाई देती थी जैसे यही उत्पन्न हो रही हो। वह दिव्य ध्वनि जैसी उत्पत्ति स्थान में सुनाई पड़ती थी वैसी ही एक योजन के घेरे में सुनाई पड़ती थी। वह मधुर, स्निग्ध, गम्भीर, दिव्य, उदात्त और स्पष्ट अक्षरों से युक्त थी, अनन्य रूप थी, एक थी और अत्यन्त निष्कलक थी। जिस प्रकार आकाश से बरसा पानी एक रूप होता है परन्तु पृथ्वी पर पड़ते ही नाना रूप दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार भगवान की वह वाणी यद्यपि एक रूप थी तथापि सभा में पात्र के

गुणों के अनुसार वह नानारूप दिखाई दे रही थी। ससार के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली भगवान की वह दिव्यध्वनि सूर्य को पराजित करने वाली थी तथा सावधान होकर बैठी हुई सभा के अन्तःकरण में स्थित आवरण सहित अज्ञानान्धकार को खण्ड-खण्ड कर रही थी।

इसी प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य ने दिव्यध्वनि का स्वरूप विस्तार पूर्वक बताया है—

‘दिव्यमहाध्वनिः एतस्य मुखाब्जान्घेरवानुकृतिर्निरगच्छत् ।

भव्यमनोगतमोहतमोन्धन् अद्भुतवदेष यथैव तमोरि० आदि पु० २३।६६

‘एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा सोन्तर नेष्ट वहुश्च कुभाषा ।

अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्व बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥ आदि पु० २३।७०

एकतयोऽपि तथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात् ।

पात्र विशेष वशाच्च तथाऽ सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वम् ॥२३।७१

एकतयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा यद्यदुपाहितमस्य विभासम् ।

स्वच्छतया स्वयमप्यनुघत्ते विश्वबुधोऽपि तथा ध्वनिरुच्चं ॥२३।७२

देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतत् देवगुणस्य तथा विहति स्यात् ।

साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥२३।७३

अर्थात् भगवान के मुखकमल से बादलों की गर्जना का अनुकरण करने वाली अतिशय युक्त महा दिव्य ध्वनि निकल रही थी और वह भव्यजीवों के मन में स्थित मोह रूपी अन्धकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी। यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकार की थी तथापि भगवान के माहात्म्य से समस्त मनुष्यों की भाषाओं और अनेक कुभाषाओं को लेकर सर्वभाषारूप परिणमन कर रही थी और लोगों का अज्ञान दूर कर उन्हें तत्वों का बोध करा रही थी। (जिस प्रकार एक ही प्रकार का जल का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रस वाला हो जाता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ देव की वह दिव्य ध्वनि भी पात्रों के भेद से अनेक प्रकार की हो जाती थी)। अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि एक ही प्रकार की होती है तथापि उसके पास जो जो रंगदार पदार्थ रख दिये जाते हैं, वह अपनी स्वच्छता से अपने आप उन उन पदार्थों के रंग को धारण कर लेती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान की उत्कृष्ट दिव्य ध्वनि भी यद्यपि एक प्रकार की होती है तथापि श्रोताओं के भेद से वह अनेक रूप धारण कर लेती है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वह दिव्य ध्वनि देवों के द्वारा की जाती है परन्तु उनका यह कहना मिथ्या है क्योंकि ऐसा मानने पर वह भगवान का गुण नहीं कहलायगा, देवकृत होने से देवों का कहलायगा। इसके सिवाय वह दिव्यध्वनि अक्षर रूप ही है क्योंकि अक्षरों के समूह के विना लोक में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार भगवान की वाणी और उपदेश को दिव्य ध्वनि कहा जाता है। भगवान की सभी बातें अलौकिक और दिव्य होती हैं, उनकी वाणी भी दिव्य होती है और वह ससार का कल्याण करने वाली होती है।

धर्मचक्र जैन धर्म का एक आवश्यक चिन्ह है। जैन मन्दिरों की रचना समवसरण की अनुकृति होती है। समवसरण में तीर्थंकर भगवान स्वयं विराजमान होते हैं। मन्दिर में उन तीर्थंकरों की प्रतिमायें विराजमान की जाती हैं। समवसरण की रचना देवों द्वारा की जाती है, जबकि मंदिरों की रचना मनुष्यों द्वारा होती है। किन्तु समवसरण के आवश्यक अंगों की रचना मंदिरों में लघु रूप में यथा-संभव की जाती है। समवसरण में धर्मचक्रों की रचना होती है, देव और मनुष्य उनकी पूजा करते हैं। समवसरण के द्वार पर, श्रीमण्डप की पीठिकाओं पर, यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर धर्म-चक्र सुशोभित रहते हैं। तीर्थंकर भगवान का जत्र धर्म-विहार होता है तो धर्म-चक्र आगे आगे चलता है, सर्वान्ह यक्ष धर्म-चक्र को मस्तक पर धारण कर भगवान की ओर पीठ किये विना आगे चलता है। इतना ही नहीं, तीर्थंकर देव तीर्थ की स्थापना और उद्भावना करते हैं तथा उनका सर्वप्रथम जो, केवलज्ञान के अनन्तर, प्रथम धर्मोपदेश होता है और लोक कल्याणी दिव्य ध्वनि प्रगट होती है, उसे ‘धर्म-चक्र प्रवर्तन’ कहा जाता है।

मन्दिरों में भी धर्म-चक्रों का अंकन रहता है। वेदी पर, भगवान के सिंहासन पर धर्म-चक्र उत्कीर्ण किये

जाते हैं। कही कही स्वतन्त्र रूप से धर्मचक्र की रचना मिलती है। पाषाण-स्तम्भों, द्वार के तोरण और चैत्यों पर धर्मचक्र अंकित मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि जैन धर्म में धर्म-चक्र को कितना महत्व दिया गया है। यद्यपि चक्र चक्र का प्रचलन प्राचीन भारत में युद्ध के एक अमोघ शस्त्र के रूप में रहा है। चक्रवर्ती और नारायण के आयुधों में प्रमुख स्थान प्राप्त था, किन्तु आध्यात्मिक जगत में शत्रु का सहार करने वाले और हिंसा, विजय और अधिकार के प्रतीक उस चक्र को मान्यता नहीं दी गई है। किन्तु विश्व मैत्री, अहिंसा और जगत्कल्याण के प्रतीक धर्मचक्र को तीर्थंकरों की आध्यात्मिक विजय का भौतिक रूप माना गया है। धर्म-चक्र भी ससार से पाप—विजय और कपायों के विनाश के लिये तीर्थंकर के आगे-आगे चलना है। इसका आशय और प्रयोजन यह है कि तीर्थंकर का जहाँ भी धर्म-विहार होता है, वही तीर्थंकर के पदचरणों से पूर्व ही ऐसा आध्यात्मिक वातावरण निर्मित हो जाता है, जिससे वहाँ के मनुष्यों, यहाँ तक कि तिर्यचो तक के मन से विद्वेष, हिंसा और अनाचार के भाव दूर होने लगते हैं, उन्हें अन्तर में शान्ति का अनुभव होने लगता है और बाह्य प्रकृति में सब प्रकार की अनुकूलतायें परिलक्षित होने लगती हैं। प्राणियों की भावनाओं और प्रकृति के बाह्य रूप में यह परिवर्तन तीर्थंकर के आध्यात्मिक प्रभाव का अनिवार्य परिणाम है।

समवसरण के द्वार पर अथवा गन्धकुटी के चारों ओर, तीर्थंकर के आसपास धर्म-चक्रों की उपस्थिति का आशय यह है कि तीर्थंकर के चारों ओर का वातावरण इतना धर्ममय होता है कि जो प्राणी समवसरण में प्रवेश करता है, उसके विचारों और भावनाओं पर ऐसा प्रभाव स्वतः ही पड़ने लगता है कि उसके मन में धर्म के अकुर प्रस्फुटित होने लगते हैं। उसके विचारों में से हिंसा, विद्वेष और अन्य कुत्सित भावनायें तिरोहित हो जाती हैं और जब वह तीर्थंकर के समीप पहुँचता है तो चहुँ ओर धर्म की वहती हुई पावन गंगा में स्नान करने लगता है। उसके जन्म-जन्मान्तरों के विकृत सस्कारों में एक अद्भुत क्रान्ति होने लगती है। तीर्थंकर धर्म के साकार सजीव रूप हैं। वे मूर्तिमान धर्म हैं। वे उपदेश देते हैं, तभी धर्म जागृत होता है, ऐसी बात नहीं है। बल्कि जब वे मौन विराजमान हों, तब भी वे ही धार्मिक किरणें विकीर्ण होती रहती हैं, जिनमें ऐसी अद्भुत शक्ति होती है कि प्राणियों के अन्तर्करण शुद्ध, पावन हो जाते हैं। समवसरण के द्वार पर चारों दिशाओं में मानस्तम्भ होते हैं, जिन्हें देखते ही प्राणी के मन में स्तम्भ की तरह ऊँचा और कठोर अभिमान भी गलित हो जाता है। इसका भी आशय यही है कि कोई प्राणी मन में अभिमान सजो कर समवसरण में प्रवेश नहीं कर सकता, उसके मन पर वहाँ के धर्ममय वातावरण का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उसके मन में अभिमान के दाग-धब्बे स्वतः ही धुल पछ जाते हैं, मन में कोमलता जाग उठती है और अत्यन्त विनय और भक्ति तरंगित होने लगती है।

धर्म-चक्रों के सम्बन्ध में भगवज्जिनसेनाचार्य ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आदि पुराण में अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन मिलता है—

ता पीठिकामलञ्चक्रु अष्टमगलसपद ।

धर्म चक्राणि चोढाग्नि प्राशुभिर्यक्षमूर्धभि ॥ २१।२६२

—उस पीठिका को अष्टमगल द्रव्य रूपी सपदाएँ और यक्षों के ऊँचे-ऊँचे मस्तकों पर रखे हुए धर्म चक्र अलंकृत कर रहे थे।

सहस्राराणि तान्युद्वत्तरदमीनि रेजिरे ।

भानुबिम्बानिवोद्यन्ति पीठिकोदय पर्वतात् । २२।२६३

—जिनमें लगे हुए रत्नों की किरणें ऊपर की ओर उठ रही हैं, ऐसे हजार-हजार आरों वाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों पीठिकाँ रूपी उदयाचल से उदय होते हुए सूर्य के बिम्ब ही हों।

सहस्रारस्फुद्धर्मचक्ररत्नपुर. सर. ॥ २५।२५६

—भगवान जब विहार करते हैं, उस समय हजार आरों वाला धर्मचक्र भगवान के आगे-आगे चलता है। इसी प्रकार आचार्य जिनमेन ने हरिवंशपुराण में इन धर्मचक्रों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है—

महा प्रभाव सम्पन्नास्तत्र शासन देवता ।

नेमुश्चाप्रचिक्राद्या वृषभ धर्मचक्रिण ॥ ६।२२२

—उस समवसरण में महाप्रभाव से सम्पन्न अप्रतिचक्र आदि शासन देवता धर्मचक्र के धारक भगवान वृषभदेव को निरन्तर नमस्कार करते रहते थे ।

पीठानि त्रीणि भास्वन्ति चतुर्दिक्षु भवन्ति तु ।

चत्वारि च सहस्राणि धर्मचक्राणि पूर्वं के ॥ ५७।१४०

—समवसरण में चारो दिशाओं में तीन पीठ होते हैं, उनमें पहले पीठ पर चार हजार धर्मचक्र मुशोभित हैं ।

सहस्रार हसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युति ।

धर्मचक्र जिनस्थाने प्रस्थानस्थानयोरभात् ॥ ३।२६

—भगवान चाहे विहार करते हो, चाहे खड़े हो, प्रत्येक दशा में उनके आगे सूर्य के समान कान्तिवाला तथा अपनी दीप्ति से हजार आरे वाले चक्रवर्ती के चक्ररत्न की हँसी उडाता हुआ धर्मचक्र शोभायमान रहता था ।

धर्मचक्र १२,२४ या १००० आरे वाले होते हैं ।

भगवान की धर्म-सभा और धर्मोपदेश की विज्ञप्ति और कनवैसिग देवलोग करते हैं । वे लोगों को समवसरण में चलने की आग्रहपूर्वक प्रेरणा करते हैं । देवों की प्रेरणा पाकर अमन्य मनुष्य भगवान के प्रचारक और स्त्रियाँ समवसरण में जाकर भगवान का उपदेश सुनते हैं और आत्म-कन्याण करते हैं । इस रहस्य पर आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण में प्रकाश डाला है ।

धर्मदान जिनेन्द्रस्य घोषयन्त समन्ततः ।

आह्वान चक्रिरेऽन्येषा देवा देवेन्द्र शासनात् ॥ ३।२८

—इन्द्र की आज्ञा से देव लोग चारों ओर जिनेन्द्र देव के धर्मदान की घोषणा करने हुये अन्य लोगों को बुलाते थे ।

भगवान कुछ दिन पुरिमताल नगर के शकटास्य वन में धर्म की मन्दाकिनी बहाते रहे । एक दिन सी-धर्म इन्द्र ने सहस्र नामों द्वारा भगवान की स्तुति की जो बाद में सहस्र नाम स्तोत्र के रूप में जगत में प्रसिद्ध हुआ । स्तुति करने के बाद इन्द्र ने प्रार्थना की—'हे भगवन् ! विभिन्न क्षेत्रों के भव्य जीव रूपी चानक आपकी धर्मामृत-वर्षा के लिये उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

प्रभो ! अब मोक्षमार्ग का उपदेश देने का समय आ गया है । भव्य जीव आपको शरण हैं । आप उन्हें कल्याण का मार्ग बताने की दया कीजिये । आप ही चराचर के स्वामी हैं । धर्म का अवरोध मार्ग खोलने का यह उपयुक्त समय आया है । ससार के दुखी प्राणियों का आप उद्धार कीजिये ।'

उस समय भगवान स्वयं ही विहार करना चाहते थे । तभी इन्द्र ने विहार करने की प्रार्थना करके मानो भव्य जीवों की इच्छा का ही प्रतिनिधित्व किया । तब तीनों लोगों के स्वामी और धर्म के अधिपति भगवान वृषभ-देव ने धर्म-विहार करना आरम्भ किया । इन्द्रदेव और असह्य जनसमूह भगवान के साथ चल रहे थे । भगवान जहाँ भी जाते, तीनों सन्ध्याओं को उनका दिव्य उपदेश होता था । वे जब विहार करते थे, शीतल सुगन्धित वायु चलने लगती थी, वृक्ष फल फूलों से भर जाते थे, एक योजन तक की भूमि को पवनकुमार देव झाड़ बुहार देते, पृथ्वी दर्पण के समान निर्मल हो जाती । मेघकुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करके पृथ्वी को धूल रहित बना देते थे । जहाँ भगवान के चरण पड़ते, वही २२५ स्वर्ण कमलों की रचना हो जाती । किन्तु भगवान तो भूमि से चार अंगुल ऊपर ही चलते थे, कमलों पर उनके चरण नहीं पड़ते थे । भगवान के आगे हजार आरों वाला धर्म चक्र, अष्ट मंगल द्रव्य और धर्म-ध्वज चलते थे । देव दुन्दुभि-नाद और पुष्प वर्षा कर रहे थे । भेरी-ताडन हो रहा था । देवागनाएँ आकाश में भक्ति नृत्य करती चल रही थी । किन्नर गा रहे थे, गन्धर्व और विद्याधर वीणा बजाते चल रहे थे । भगवान के अचिंत्य प्रभाव के कारण चारों ओर सुमिक्ष-हो गया था, समस्त प्रकार का आनन्द,

कल्याण और आरोग्य व्याप्त था। इस प्रकार भगवान ने समस्त देशों में आनन्द और कल्याण की वर्षा करते हुए धर्म-विहार किया। इस विहार की बदौलत असम्य प्राणियां ने अपना कल्याण किया।

भगवान ने जिन देशों में विहार किया, उनके नाम इस प्रकार हैं—फाशी, श्रवन्ति, कुच, कोशल, सुह्य, पुण्ड्र, चेदि, अग, वग, मगध, प्रान्ध्र, कनिग, मद्र, पचान, मालव, दशार्ण, विदर्भ आदि।



१० भगवान का अष्टापद पर निर्वाण

भगवान ने सम्पूर्ण देश में एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व वर्षों तक धर्म-विहार किया। जब उनकी आयु के चौदह दिन शेष रह गये, तब वे श्रीशिवर और सिद्धशिवर कैलाश में निर्वाण के बीच में कैलाश पर्वत पर पहुँचे और पौष शुक्ल पूर्णमासी के दिन योगों का निरोध करने के लिए ध्यानादृष्ट हो गये।

उसी दिन सम्राट् भरत ने स्वप्न में देखा कि महामेरु पर्वत लम्बा होते होते सिद्ध क्षेत्र तक जा पहुँचा है। युवराज अर्ककीर्ति ने स्वप्न देखा कि एक महोपधि वृक्ष लोगों के रोगों का नाश करके स्वर्ग को जा रहा है। गृहपति ने स्वप्न देखा कि एक कल्पवृक्ष लोगों को कामनायें पूरी करने के बाद स्वर्ग को जा रहा है। प्रधानमन्त्री को स्वप्न हुआ कि एक रत्नहीन लोगों को नाना प्रकार के रत्न देकर आकाश की ओर जाने के लिए तैयार है। जयकुमार के पुत्र अनन्तवीर्य ने देखा कि चन्द्रमा तीनों लोकों को प्रकाशित करके तारों सहित जा रहा है। सम्राज्ञी मुभद्रा ने स्वप्न में देखा कि यमस्वनी और मुनन्दा के पाग बैठकर इन्द्राणी शोकाकुल हो रही है। वाराणसी नरेश चित्रागद ने स्वप्न देखा कि सूर्य पृथिवी को प्रकाशित करके आकाश की ओर उड़ा जा रहा है। इस प्रकार और भी अनेक लोगों ने इसी प्रकार के नाना स्वप्न दिये।

प्रातःकाल होने पर सबने राजपुरोहित तथा निमित्त शास्त्र के ज्ञाता पुरुषों से अपने-अपने स्वप्न बता कर उनका फल पूछा। उन निमित्त ज्ञानियों ने विचार कर उत्तर दिया—भगवान ऋषभदेव सम्पूर्ण शेष कर्मों को नष्ट करके अनेक मुनियों के साथ मुक्त होनेवाले हैं। पुरोहित स्वप्नों का फल बता ही रहे थे, तभी आनन्द नामक एक व्यक्ति राज्य-सभा में आया। उसने महाराज भरत को यथोचित नमस्कार करके भगवान का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया और कहा कि भगवान ने अपनी दिव्य ध्वनि का सकोच कर लिया है और सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर मौन पूर्वक बैठी है।

यह सुनते ही सम्राट् भरत सब लोगों के साथ अविलम्ब कैलाश पर्वत पर जा पहुँचे। उन्होंने जाकर भगवान के दर्शन किये, तीन प्रदक्षिणा दी, उनकी स्तुति की और महामह नामक पूजा की। इस प्रकार चक्रवर्ती चौदह दिन तक भगवान की सेवा करते रहे।

उस दिन माघ कृष्णा चतुर्दशी के सूर्योदय का शुभ मुहूर्त था। अभिजित नक्षत्र था। भगवान इस पुण्य-वेला में पूर्व दिशा की ओर मुख करके पर्येकासन से विराजमान हो गये। उनके साथ के एक हजार मुनियों ने भी आत्म-विजय की अन्तिम तैयारी की। भगवान ने सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शुक्ल ध्यान के द्वारा मन्त्र, वचन, काय इन तीनों योगों का निरोध किया और फिर अन्तिम गुणस्थान में ठहरकर अ-इ-उ-ऋ-लृ इन ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है, उतने काल में व्युत्पत्तिक्रियानिवृत्ति नामक चौथे शुक्ल ध्यान के द्वारा शेष अधातिया कर्मों का नाश कर दिया। वे सिद्धत्व पर्याय को प्राप्त हो गये। आत्मा की अनन्त विभूति की प्रगट करने वाले आत्मा के आठ गुण उनमें प्रगट हो गये—सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अगुरुलघु

अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अव्यावाध। ये गुण आठ कर्मों के विनाश द्वारा उत्पन्न हुये थे। वे इस शरीर को छोड़ कर तनु वात वलय में जा विराजे। वे लोक के अग्रभाग पर स्थित हो गये। वे निर्मल, निरावरण, निष्कलक शुद्ध आत्म रूप में स्थित हो गये। वे जन्म-मरण से रहित हो गये, कृतकृत्य हो गये। मिद्ध परमात्मा हो गये। उनके साथ १००० मुनि भी मुक्त हुये।

भगवान का निर्वाण हो गया, यह जान कर सब देव और इन्द्र वहाँ आये। भगवान का शरीर पारे के समान बिखर गया था। तीर्थङ्कर के शरीर के परमाणु अन्तिम समय विजली के समान क्षणभर में स्कन्ध पर्याय को छोड़ देते हैं। इन्द्र ने सब देवों के साथ भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

भगवान का निर्वाण कल्याणक फिर भगवान के कृत्रिम शरीर को पालकी में विराजमान किया। फिर इन्द्र ने तीन अग्नि कुण्ड स्थापित किये। एक अग्निकुण्ड भगवान के लिये, दूसरा अग्निकुण्ड गणधरो के लिये बायीं ओर तथा तीसरा अग्नि कुण्ड गणधरो के अतिरिक्त अन्य सामान्य केवलियों के लिये स्थापित किया। फिर उन कुण्डों में अग्नि स्थापित की, गन्ध-पुष्प आदि से पूजा करके चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगन्धित पदार्थों और घी, दूध आदि द्वारा उम अग्नि को प्रज्वलित किया और उस शरीर को उसमें रख दिया। अग्नि ने थोड़े ही समय में शरीर का वर्तमान आकार नष्ट कर दिया। उन्होंने शेष मुनियों के शरीर का भी इसी प्रकार सस्कार किया।

फिर इन्द्रों ने पंच कल्याणको को प्राप्त होने वाले भगवान वृषभदेव के शरीर की भस्म उठाकर 'हम लोग भी ऐसे ही हों' यह सोचकर बड़ी भक्ति से अपने ललाट पर, दोनों भुजाओं में, गले में और ललाट पर लगाई। फिर सबने मिलकर आनन्द नाटक किया और अपने-अपने स्थानों को चले गये।

भगवान का निर्वाण होने पर भेद विज्ञानी भरत चक्रवर्ती को मोह उत्पन्न हुआ और वे शोक सन्तप्त हो गये। उस समय वृषभसेन गणधर ने उन्हें ससार का स्वरूप बताते हुये समझाया, जिससे चक्रवर्ती का मोह भग हो गया और गणधर देव के चरणों में नमस्कार करके वे अयोध्या नगरी को वापिस लौट गये।

सिद्धक्षेत्र कैलाश (अष्टापद)—भगवान ऋषभदेव का निर्वाण अष्टापद पर्वत से हुआ। अष्टापद को ही अनेक स्थानों पर कैलाश पर्वत भी कहा गया है। इसलिए कैलाश और अष्टापद दोनों स्थान भिन्न-भिन्न न होकर एक ही हैं।

कैलाश पर्वत सिद्ध क्षेत्र है। यहाँ से अनेक मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया है। भगवान ऋषभदेव के अतिरिक्त भरत आदि भाइयों ने, भगवान अजितनाथ के पितामह त्रिदशजय, व्याल, महाव्याल, अच्छेद्य, अभेद्य, नागकुमार, हरिवाहन, भगीरथ आदि असंख्य मुनियों ने कैलाश पर्वत पर आकर तपस्या की और कर्मों को नष्ट करके यहीं से मुक्त हुए।

भगवान ऋषभदेव की स्मृति में भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये और उनमें रत्नों की प्रतिमाये विराजमान करायी। ये प्रतिमायें और जिनालय सहस्रो वर्षों तक वहाँ विद्यमान रहे। सगर चक्रवर्ती के आदेश से उनके साठ हजार पुत्रों ने उन मन्दिरों की रक्षा के लिये उस पर्वत के चारों ओर परिखा खोद कर गंगा को वहाँ बहाया। वाली मुनि यहीं तपस्या कर रहे थे। रावण उन्हें देखकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और जिस पर्वत पर खड़े वे तपस्या कर रहे थे, उस पर्वत को ही उलट देना चाहा। तब वाली मुनि ने सोचा—चक्रवर्ती भरत ने यहाँ जो जिन मन्दिर बनवाये थे, वे इस पर्वत के विचलित होने से कहीं नष्ट न हो जायें, यह विचार कर उस पर्वत को उन्होंने अपने पैर के अंगूठे से दबा दिया, जिससे रावण उस पर्वत के नीचे दबकर रोने लगा। इन घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि भरत द्वारा निर्मित ये मन्दिर और मूर्तियाँ रावण के समय तक तो अवश्य ही थीं।

कैलाश की आकृति—कैलाश की आकृति ऐसे लिंगाकार की है जो षोडश दल कमल के मध्य खड़ा हो। इन्हीं सोलह दल वाले शिखरों में सामने के दो शिखर झुक कर लम्बे हो गये हैं। इसी भाग से कैलाश का जल गौरी-कुण्ड में गिरता है। कैलाश इन पर्वतों में सबसे ऊँचा है। उसका रंग कसौटी के ठोस पत्थर जैसा है। किन्तु वर्ष

में हके रहने के कारण वह रजनवर्ण दिखायी पड़ता है। दूसरे शृंग कच्चे लाल मटमले पत्थर के हैं। मानसरोवर की ओर से उसकी चढ़ाई डेढ़ मील की है जो बहुत कठिन है। कैलाश के शिखर के चारों कोनों में ऐसी मन्दिरा-कृतियाँ स्वन बनी हुई हैं जैसे बहुत से मन्दिरों के शिखरों पर चांगे और बनी होती है।

तिब्बत की ओर से यह पर्वत ढलान वाला है। उधर तिब्बतियों के बहुत मन्दिर बने हुये हैं। तिब्बत के लोगों में कैलाश के प्रति बड़ी श्रद्धा है। अनेक तिब्बती तो उसकी वर्तमान मील की परिश्रमा दण्डवत् प्रतिपात द्वारा लगाने हैं। लिंग-पूजा उग शब्द का प्रचलन तिब्बत में ही प्रारम्भ हुआ। तिब्बती भाषा में लिंग का अर्थ क्षेत्र या तीर्थ है। अतः लिंग-पूजा का अर्थ तिब्बती भाषा में तीर्थ-पूजा है।

कैलाश और अष्टापद—प्राकृत निर्वाण भवन में 'अट्टावर्याम्म नूनहो' अर्थात् ऋषभदेव की निर्वाण भूमि अष्टापद बनायी है। किन्तु मगध निर्वाण भवन में अष्टापद के स्थान में कैलाश की ऋषभदेव की निर्वाण भूमि माना है—कैलाश जैन शिखरों पर निर्वाणो उगो, शैलेशभावमुपपद्य वृषो महात्मा।' संस्कृत निर्वाण काण्ड में एक श्लोक में निर्वाण क्षेत्र का उल्लेख करने हुए कहा है—'गच्छाचने न हिमवद्वपि सुप्रतिष्ठे।' इसमें सम्पूर्ण हिमालय को ही निर्वाण क्षेत्र माना है।

एक ही स्थान में निम्ने आलाय ने तीन नाम दिये हैं। उगमें लगना है, ये तीनों नाम समानार्थक और पर्यायवाची हैं। उही-उही हिमवान के स्थान पर धवलगिरि शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यदि यह मान्यता सही है कि ये सब नाम पर्यायवाची हैं तो कैलाश या अष्टापद कहे पर हिमालय में भागीरथी, अलकनन्दा और गंगा नदियों ब्रह्मनाथ, देवनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री में लहर नर-नागायण, द्रोणगिरि, गौरीशंकर, नन्दा, त्रिशूली, और मुख्य कैलाश यह सम्पूर्ण प्रदेश ही निर्वाण क्षेत्र हो जाता है।

हिमालय में स्थित तीर्थों को स्थानपूर्वक देगने में उग मान्यता का समर्थन होता है। (भगवान् ऋषभदेव के पिता नाभिराय ने ब्रह्मनाथ मन्दिर के पीछे जाने पर्वत पर तपस्या की थी। वहाँ उनके चरण विद्यमान हैं) भगीरथ ने कैलाश पर्वत पर जाकर शिवगुप्त नामक मुनि ने दीक्षा ली थी और उन्होंने गंगा-तट पर तपस्या की थी। इन्द्र ने क्षीरसागर के जल में भगीरथ मुनि के चरणों का अभिषेक किया था। उस चरणोदक का प्रवाह गंगा में जाकर मिल गया। तभी ने गंगा नदी लोक में तीर्थ मानी जाने लगी। उन महामुनि भगीरथ ने गंगा तट पर जिन शिला पर गङ्गे होकर तपस्या की थी, वह शिला भगीरथ-शिला कहलाने लगी। वह अब भी विद्यमान है। भगीरथ की तपस्या का यह वर्णन जैन शास्त्रों में मिलता है।

ब्रह्मनाथ मन्दिर की मूर्ति भगवान् ऋषभदेव की है। इसमें उग तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि चक्रवर्ती भरत ने जिन ७२ जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया था, वह केवल कैलाश में नहीं, अपितु सारे हिमालय में विभिन्न स्थानों पर कराया था।



✓ It may be mentioned that Linga is a Tibetan word for Land. The northern most district of Bengal is called Darji-Ling, which means Thunder's land.

S K Roy, Pre-historic India and Ancient Egypt, p 28

११. नाभिराय और मरुदेवी

जैन पुराणों में नाभिराय का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार वे अन्तिम मनु थे। वे तेरहवें मनु प्रसेन-जित के पुत्र थे। वे भरतक्षेत्र में विजयार्ध पर्वत से दक्षिण की ओर मध्यम आर्य खण्ड में उत्पन्न हुये थे।

उनका विवाह अत्यन्त सुन्दरी मरुदेवी से हुआ था। उस समय कल्पवृक्ष रूप प्रासाद उस जैन पुराणों में नाभि- क्षेत्र में नष्ट हो गये थे किन्तु केवल नाभिराय का ही कल्पवृक्ष प्रासाद बाकी बचा था जो ८१ राय और मरुदेवी खण्ड का था। इसका नाम सर्वतोभद्र प्रासाद था। इन्द्र ने उनके लिये अयोध्यानगरी की रचना की। उसमें उनके लिये और त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान के उपयुक्त प्रासाद की रचना की और आदर सहित उनको उस प्रासाद में पहुँचा दिया। उनके यहाँ आदि तीर्थकर ऋषभदेव का जन्म हुआ।

जब ऋषभदेव राज्यभार का दायित्व सभालने योग्य हुए तो महाराज नाभिराय ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। यथा—

‘नृपा मूर्धाभिषिक्ता ये नाभिरायपुरस्सरा।

राजवद् राजसिंहोऽयमभ्यसिच्यत तं समम् ॥ —आदिपुराण १६।२२४

अर्थात् सब राजाओं में श्रेष्ठ यह ऋषभदेव वास्तव में राजपद के योग्य है, ऐसा मानकर नाभिराय आदि राजाओं ने उनका एक साथ अभिषेक किया।

इसके पश्चात् जब तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने दीक्षा ली, उस समय भी महाराज नाभिराय और महारानी मरुदेवी अन्य लोगों के साथ तपकल्याणक का उत्सव देखने के लिये पालकी के पीछे चल रहे थे।

मरुदेव्या सम नाभिराजो राजशतंवृत ।

अनूत्तस्थौ तदा दृष्टु विभोर्निष्क्रमणोत्सवम् ॥

—आदिपुराण १७।१७८

अर्थात् उस समय महाराजा नाभिराय भी मरुदेवी तथा सैकड़ों राजाओं से परिवृत्त होकर प्रभु ऋषभदेव के तप कल्याणक का उत्सव देखने के लिये उनके पीछे जा रहे थे।

उस समय का दृश्य बड़ा विचित्र था। एक ही समय में विविध रसों का परिपाक हो रहा था।

ऊर्ध्वं नवरसा जाता नृत्यदप्सरसा स्फुटाः ।

नाभयेन विमुक्तानामध शोक रसोऽभवत् ॥

—हरिवंश पुराण ६।६१

—ऊपर तो अप्सराओं के नृत्य से नौ रस प्रगट हो रहे थे और नीचे पृथिवी पर तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा छोड़े हुए जन शोक रस से अभिभूत हो रहे थे।

आचार्य रविषेण के अनुसार ऋषभदेव ने वन में पहुँचकर ‘माता-पिता’ और बन्धुजनो से आज्ञा लेकर ‘णमो सिद्धाण’ कहकर पंच मुष्टि लोच करते हुए श्रमण दिगम्बर दीक्षा लेली। यथा—

‘आपृच्छण तत कृत्वा पित्रोर्वन्धु जनस्य च ।

‘नम. सिद्धेभ्य’ इत्युक्त्वा श्रामण्य प्रत्यपद्यत ॥ —पद्मपुराण ३।२८२

(उपर्युक्त अवतरणों से यह तो स्पष्ट ही है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के दीक्षा कल्याणक के समय उनके माता-पिता विद्यमान थे। किन्तु इसके बाद वे दोनों कितने दिन जीवित रहे अथवा उन्होंने अपना शेष जीवन किस प्रकार और कहा व्यतीत किया, इसके सम्बन्ध में जैन साहित्य में अभी तक कोई स्पष्ट उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। किन्तु इस विषय में हिन्दू पुराण ‘श्रीमद्भागवत’ में महर्षि शुकदेव ने जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके लिये हम महर्षि शुकदेव के चिर ऋणी हैं। महर्षि लिखते हैं—

विदितानुरागमापीर प्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मज समयतेतुरक्षायामभिपिच्य सह मरुदेव्या विशालाया प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन . . . महिमानवाप ।

- श्रीमद्भागवत ५।४।५

(टीका) आपीर प्रकृति पौरान्प्रकृतीश्चाभिव्याप्य विदितोऽनुरागो यस्मिन् । कथन्नूतो नाभि । जनपदः जनाः पौरादयः पदं प्रमाणं यस्य स । आत्मज धर्ममर्यादा-रक्षणार्थमभिपिच्य । विशालाया वदरिकाश्रमे । प्रसन्न. परानुद्वेजक निपुणं च तीव्रं तेन उपासीन' सेवमान' कालेन तन्महिमानं जीवन्मुक्षितमवाप ।

—श्रीधर स्वामीकृत सस्कृत टीका काशी

अर्थात् पुरवासियो और प्रकृति को अभिव्याप्त करने वाला जिनका प्रेम प्रसिद्ध है, और नगरवासियो को जो प्रमाणभूत थे ऐसे नाभिराज धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये अपने पुत्र ऋषभदेव का राज्याभिषेक करके वदरिकाश्रम में प्रसन्न मन से घोर तप करते हुए यथासमय जीवन्मुक्त हो गये ।

उक्त कथन से नाभिराज और मरुदेवी के अन्तिम जीवन पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है । इसके अनुसार नाभिराज ऋषभदेव के राज्याभिषेक के बाद मरुदेवी के साथ वदरिकाश्रम में गये और वहाँ घोर तप करके जीवन्मुक्त हो गये ।

टीका में विशाला का अर्थ वदरिकाश्रम किया है । उस स्थान पर वदरी नामक झाड़ियों की बहुलता है । इस स्थान पर उस समय मुनिजनों का आश्रम रहा होगा । जिसके कारण इस स्थान को वदरिकाश्रम कहा गया है । निश्चय ही श्री नाभिराज की घोर तपस्या के कारण मनुष्यों का ध्यान इस स्थान की ओर आकृष्ट हुआ और जिस स्थान से उन्होंने जीवन्मुक्ति पाई, वह स्थान परम पावन तीर्थधाम बन गया और अपने पितामह की स्मृति में सम्राट् भरत ने वहाँ एक भव्य मन्दिर बनवाया और उसमें तीर्थकर ऋषभदेव की प्रतिमा विराजमान कराई । परम्परागत रूप में वह मन्दिर और मूर्ति अब तक विद्यमान है । निश्चय ही यह मन्दिर और मूर्ति वह नही है जो भरत ने बनवाई थी । मन्दिर का जीर्णोद्धार और नवनिर्माण होता रहा । मूर्ति भी बदल गई, किन्तु फिर भी मूर्ति ध्यानलीन पद्यासन से बैठे तीर्थकर ऋषभदेव की ही रही ।

इस सम्भावना से भी इनकार नही किया जा सकता कि यहाँ भगवान् ऋषभदेव का एकाधिक बार विहार हुआ, समवसरण लगा, उसके आसपास तपस्या की और मुक्ति प्राप्त की । इसलिए स्पष्टतः यह जैन तीर्थ रहा है ।)



१२. ऋषभदेव का लोकव्यापी प्रभाव

ऋषभदेव की मान्यता सारे लोकमानस में छा गई थी । देश की समस्त जनता उन्हें अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी । उनके हर कार्यकलाप में उसे नवीनता और अपूर्वता प्रतीत होती थी । वह उनकी प्रत्येक गति-

ऋषभदेव से
सम्बन्धित तीर्थ
और पर्व

विधि को बड़े विस्मय और भक्ति से देखती थी । जो कार्य उसे अद्भुत प्रतीत होता था, उसकी स्मृति सुरक्षित रखने के लिये उस स्थान और तिथि को मान्यता देकर उस कार्य का स्मरण करती थी । यही कारण था कि उनकी गतिविधि से सम्बन्धित प्रत्येक स्थान तीर्थ बन गया और प्रत्येक तिथि पर्व बन गई । वह परम्परा किसी न किसी रूप में आज तक सुरक्षित है ।

भगवान् का जन्म अयोध्या में हुआ था । भगवान् के रहने के लिये इन्द्र ने उसकी रचना सर्वप्रथम की थी । कर्मयुग के पूर्वकाल में निर्मित यह सर्वप्रथम नगरी थी । इसी में भगवान् ने जन्म लिया, इसी में बचपन,

किशोरावस्था और जीवन विताया। इसी में रहकर उन्होंने सृष्टि में कर्म का प्रचलन किया, इसी में रहकर ससार की सम्पूर्ण व्यवस्थायें प्रचलित की। भगवान का सम्पर्क पाकर अयोध्या पावन तीर्थ बन गई। लोग यहाँ आते और श्रद्धा से उसकी रज उठाकर माथे से लगाते। संभव है, उस रज में भगवान को चरण रज मिलो हो। लोक के लिये अयोध्या का कण-कण पवित्र और वन्दनीय था। जगत्पति भगवान का सम्पर्क पाकर अयोध्या तीर्थभूमि बन गई। लोहा पारस का स्पर्श पाकर सोना बन जाता है। महत्व पारस का है, लोहे का नहीं। ऋषभदेव के कारण अयोध्या तीर्थ बन गई। और जन्म-तिथि महान् पर्व हो गई। महत्व ऋषभदेव का है। लोग अयोध्या जाते हैं तो भक्ति की शान पर चढ़कर उनकी कल्पना तेज हो उठती है और अयोध्या के गली कूचो और खण्डहरो में भगवान के जन्म-काल की नाना लीलाओं के दर्शन होने लगते हैं। उनकी कल्पित छवि मानस चक्षुओं के आगे आकार ग्रहण करके नाचने लगती है और श्रद्धा से मस्तक उनके चरणों में स्वतः झुक जाता है। ससार के प्रपञ्च और व्यामोह में फसा व्यक्ति अपने आपको भूल जाता है, उन प्रपञ्चों को भूल जाता है और भगवान के चरणों में स्वयं को समर्पित पाता है।

प्रभु ऋषभदेव ने एक दिन अयोध्या का त्याग कर दिया, अयोध्या के मोह का त्याग कर दिया। वे ससार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गये और दीक्षा लेली। छह माह के उपवास का नियम ले लिया। उसके बाद वे आहार के लिये निकले। उनके प्रति लोगों में अपार श्रद्धा-भक्ति तो थी किन्तु आहार दान की विधि का थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं था। छह माह तक वे घूमते रहे। रत्न, कन्यायें, हाथी, घोड़े, वस्त्र, अलंकार तो ले-लेकर लोग आये, किन्तु आहार कोई नहीं दे सका। यह सौभाग्य मिला राजकुमार श्रेयान्स को। हस्तिनापुर के पुण्य जागे, श्रेयान्स के पुण्य जागे। भगवान विहार करते हुए हस्तिनापुर पधारे। भगवान को देखते ही कुमार श्रेयान्स को पहले जन्म की वह घटना स्मरण हो आई, जब उसने मुनि को आहार-दान दिया था। आदर से वह उठा, भक्ति से उसने भगवान को यथाविधि पडगाहा और श्रद्धा से उसने आहार दिया। उस समय इक्षु-रस के कलश भरे हुए रखे थे वहाँ। आत्मविभोर होकर उसने भगवान को आहार में वही इक्षु-रस दिया। भगवान ने अनासक्त भाव से वही लिया। तीर्थकर भगवान का यह प्रथम आहार था। कर्मभूमि में एक मुनि को दिया गया यह प्रथम आहार था। कुमार श्रेयान्स प्रथम दाता था, भगवान इस दान के प्रथम पात्र थे। हस्तिनापुर भगवान को दिये आहार-दान का प्रथम स्थान था। देवताओं ने इस प्रथम दान की सराहना की, राजकुमार श्रेयान्स का जय-जयकार किया, भगवान की स्तुति की। किन्तु जनता ने इस घटना की स्मृति को अमिट बना दिया—हस्तिनापुर को महान् तीर्थ मानकर और आहार-दान की उस तिथि को—आपाढ कृष्णा तृतीया को पर्व मानकर। तृतीया तो वर्ष में चौबीस आती है, किन्तु यह तृतीया तो असाधारण थी, अपूर्व थी, अदृष्टपूर्व थी, अश्रुतपूर्व थी। इस तृतीया को तो भगवान का निमित्त पाकर श्रेयान्स कुमार ने, सोमप्रभ ने, लक्ष्मीमती ने और समस्त दर्शकों ने अक्षय पुण्य-सचय किया था। इसलिये इस तिथि को पर्व मानकर ही जनता को सन्तोष नहीं हुआ। इस तृतीया को अक्षय तृतीया मानकर उसको विशेष गौरव प्रदान किया। किस बुद्धिसागर महामानव ने यह नाम दिया इस तिथि को आज से लाखों करोड़ों वर्ष पहले। उस अज्ञात मनीषी को हमारे प्रणाम हैं। 'अक्षय' इस एक शब्द में ही उसने पर्व का सारा इतिहास लिख दिया।

भगवान तो निरीह थे, वीतराग थे। आहार लिया और चल दिये। मौन धारण किये एक हजार वर्ष तक ध्यान और विहार करते रहे। तब वे एक दिन पुरिमताल नगर के बाहर उद्यान में पहुँचे। एक वटवृक्ष के नीचे एक शिला पर पद्मासन लगाकर ध्यानस्थ हो गये। उनकी सारी इन्द्रियाँ सिमट कर मन में समा गईं। मन आत्मा में तिरोहित हो गया। उन्हें विमल केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। वे समस्त लोकालोक के ज्ञाता-दृष्टा बन गये। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। भगवान ऋषभदेव के जीवन का यह ज्वलन्त अवसर था। सही मायनों में वे अभी भगवान बने थे। इससे भी बड़ी और महत्वपूर्ण एक घटना और घटी यहाँ पर। देवों ने इसी स्थान पर समवसरण की रचना की। भगवान का उसमें प्रथम धर्मोपदेश हुआ। एक हजार वर्ष से स्वेच्छा से लिया मौन प्रथम बार भगवान ने यहाँ पर ही धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान को जिस स्थान पर केवलज्ञान हुआ और प्रथम दिव्य-ध्वनि खिरी, उस पुरिमताल को लोग

‘प्रयाग’ कहने लगे और उसे तीर्थभूमि मान लिया। जिस वट वृक्ष के नीचे बैठकर भगवान ने तपस्या की, केवल ज्ञान हुआ और धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया, जनता ने उस वट वृक्ष को प्रयाग किया और उसके सम्मान को सुरक्षित रखने के लिये उसे अक्षय वट कहने लगे। महान् प्रभु के अल्पकालिक सम्पर्क ने उस वट वृक्ष को भी महान् बना दिया। और फागुन सुदी एकादशी का दिन पर्व बन गया, जिस दिन भगवान को केवलज्ञान हुआ था।

केवल ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भगवान ने सम्पूर्ण देश में विहार किया। गृहस्थ दशा में उन्होंने लोक को बदला था, लोक-व्यवस्था को बदला था। अब वे लोकमानस को बदलने के लिये उपदेश देने लगे। (गृहस्थ थे तो जनता का आहार-विहार बदला था, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये, तब जनता का आचार-विचार बदल दिया, सोचने की दृष्टि बदल दी। पहले शरीर के लिये सब कुछ किया, अब आत्मा के लिये सब कुछ करने लगे। पहले कर्म-व्यवस्था बनाई, अब धर्म-व्यवस्था बनाने लगे) कौन-सा देश था, जहाँ वे नहीं गये। कौन सा क्षेत्र था, जहाँ उनको दिव्य गिरा में लोगों ने अवगाहन नहीं किया। धर्म को उस पावन मन्दाकिनी में आलोडन करके जन-जन के मन में शुद्धि प्रस्फुटित हो उठी। हिमालय के उत्तु ग शिखर उनके गम्भीर नाद से गूँज उठे। मंदानो में उनके उपदेशों की शीतल वयार बहने लगी। वे आर्य देशों में गये, अनार्य देशों में गये। उनके समवसरण में गरीब आते थे, अमीर आते थे। रक आते थे, सम्राट् आते थे। गाय भी आती थी और घेर भी आते थे, चूहे भी आते थे, विल्ली भी आती थी। उनका समवसरण समाजवाद का सच्चा केन्द्र था, विभिन्न मतों और विरोधी जीवों के सह अस्तित्व का अद्भुत स्थान था। विभिन्नता में एकता और विरोधों में समन्वय का एक अलौकिक मन्त्र था। अज्ञान्त मन वहाँ जाकर शान्ति पाता था, क्रूरता की आग पर सौहार्द का शीतल जल बरस कर उसे शान्त कर देता था। भगवान की आत्मा आनन्द और शान्ति की निधान थी। उनके चारों ओर का वातावरण उसी आनन्द और शान्ति से व्याप्त हो जाता था। उनके सान्निध्य में पहुँचकर अनुभव होने लगता था कि मानो जीवन में अशान्ति और दुःख के सारे दाग धुल पुछ गये हैं। वे मुख से नहीं बोलते थे, उनके रोम-रोम से शान्ति और प्रेम बोलता था। उनका व्यक्तित्व अलौकिक था, उनका उपदेश अलौकिक था और उनका प्रभाव अलौकिक था।

भगवान विहार और उपदेश करते हुए एक दिन कैलाश पर्वत पर जा पहुँचे। वे कैलाश के उत्तु ग शिखर पर खड़े होकर ध्यानलीन हो गये। उनके निकट एक हजार मुनि भी ध्यान लगाकर खड़े हो गये। चक्रवर्ती भरत और असह्य जनमेदिनी हाथ जोड़े हुए भगवान के दिव्य रूप का दर्शन कर रही थी। कैलाश के निर्भरणों का कल-कल करता हुआ शीतल जल बहकर गीरीकुण्ड में गिर रहा था। सारा पर्वत हिम के कारण रजत के समान श्वेत धवल हो रहा था। भगवान के मुख की दीप्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यह दीप्ति बढ़ते-बढ़ते सूर्य-प्रभा जैसी हो गई, किन्तु शीतल और स्निग्ध। कुछ काल के बाद करोड़ों सूर्य मानो एक स्थान पर आ गये। फिर वह तेज-पुंज जल-थल को, आकाश-पाताल को, लोक-अलोक को प्रकाशित करता हुआ अदृश्य हो गया। भगवान का निर्वाण हो गया।

कैलाश धन्य हो गया, जो भी वहाँ थे वे धन्य हो गये, सारा लोक धन्य हो गया। देव और देवेन्द्रों ने मिलकर आनन्दोत्सव किया। चक्रवर्ती भरत ने वहाँ स्वर्ण मन्दिर और स्तूप निमित्त कराये। लोक ने कैलाश को महान् तीर्थ घोषित किया और उस तिथि को-माघ कृष्णा चतुर्दशी को महान् पर्व स्वीकार किया।

भगवान का पार्थिव रूप नहीं रहा, किन्तु उनकी स्मृति सजोये ये तीर्थ और पर्व लाखों करोड़ों वर्ष के अन्तराल को पारकर आज तक जन-जन के मन में भगवान को जीवित रखे हुए हैं। भगवान का भौतिक शरीर नहीं रहा, किन्तु उनका यश शरीर तब तक रहेगा, जब तक ये चाद सितारे आकाश में चमकते रहेंगे।

श्रीमद्भागवत पुराण भक्ति का अमर ग्रन्थ माना जाता है। वैष्णव सम्प्रदाय में जितने परम वैष्णव और महाभागवत हुए हैं, उनको विष्णु-भक्ति की प्रेरणा इसी ग्रन्थ से मिली थी। रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य,

श्रीमद्भागवत में
श्रीरामदेव

निम्वाकाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि की भक्ति-साधना का मूलाधार श्रीमद्भागवत ही था। इस ग्रन्थ में भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनु-सार चौबीस अवतारों के नाम इस प्रकार हैं—नाभि सरोवर में से एक कमल उत्पन्न हुआ।

उस कमल से प्रजापतियों के अधिपति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। इन्हीं से सारे अवतार प्रगट हुए। कुल अवतारों की संख्या चौबीस थी—१ सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चार ब्राह्मण २ शूकरावतार ३ नारद ४ नर-नारायण ५ कपिल ६ दत्तात्रेय ७ यज्ञावतार ८ ऋषभदेव ९ पृथु १० मत्स्यावतार ११ कच्छपावतार १२ धन्वन्तरि १३ मोहिनी १४ नरसिंह १५ वामन १६ परशुराम १७ व्यास १८ राम १९ बलराम २० श्रीकृष्ण २१ बुद्ध २२ कल्कि

श्रीमद्भागवत में चौबीस अवतार स्वीकार किये हैं, किन्तु नाम उपर्युक्त वार्डस अवतारों के ही दिये हैं। कुछ विद्वान् हंस और ह्यग्रीव नामक दो अवतार और मानते हैं और इस प्रकार अवतारों की चौबीस संख्या की पूर्ति करते हैं। कुछ अन्य विद्वान् चौबीस की संख्या पूर्ति इस प्रकार करते हैं—रामकृष्ण के अतिरिक्त बाँस अवतार तो उपर्युक्त हैं ही। शेष चार अवतार श्रीकृष्ण के ही अंश हैं। स्वयं श्रीकृष्ण तो पूर्ण पुरुष हैं। वे अवतार नहीं, अवतारी हैं। अतः श्रीकृष्ण को अवतारों में नहीं गिनते। उनके चार अंश इस प्रकार हैं—१ केश का अवतार २ सुतपा तथा पृथिवी पर कृपा करने वाला अवतार ३ सकर्षण बलराम ४ परब्रह्म।

इस महापुराण में भगवान् ऋषभदेव का वर्णन कई स्थलों पर किया है। यहाँ उन स्थलों से लेकर ऋषभदेव-चरित्र ज्यो का त्यो (हिन्दी भाषा में) दिया जा रहा है। इससे ऋषभदेव के चरित्र पर तो प्रकाश पड़ता ही है, उनकी महानता के भी दर्शन होते हैं। इससे कुछ नये तथ्यों का उद्घाटन भी होता है—

“राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने आठवाँ अवतार ग्रहण किया। इस रूप में उन्होंने परमहंसों का वह मार्ग दिखाया जो सब आश्रमों के लिये बन्दीय है।”

—श्रीमद्भागवत १।३।१३

“राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान् ने ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया। इस अवतार में समस्त आसक्तियों से रहित रहकर, अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यन्त शान्त करके एव अपने स्वरूप में स्थित होकर समदर्शों के रूप में उन्होंने जड़ों की भाँति योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहंस पद अर्थात् अवधूतचर्या कहते हैं।

—श्रीमद्भागवत २।७।१०

स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत थे। उन्हें परमार्थ तत्व का बोध हो गया था। वे निरन्तर ब्रह्माभ्यास में लीन रहते थे। पिता ने उन्हें राज्य-भार सौंपना चाहा, किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। तब ब्रह्माजी द्वारा समझाने पर उन्होंने राज्य स्वीकार किया। राज्य शासन करते हुए भी देहादि उपाधि की निवृत्ति हो जाने से उनकी आत्मा की सम्पूर्ण जीवों के आत्मभूत प्रत्यगात्मा में एकीभाव से स्थिति हो गई।

उन्होंने अपने रथ पर चढ़कर पृथ्वी की सात परिक्रमाये दी। उस समय उनके रथ के पहियों से जो लीकें बनीं वे ही सात समुद्र हुए। उनसे पृथ्वी में सात द्वीप बन गये। उनके नाम क्रमशः जम्बू प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। इनमें से पहले-पहले की अपेक्षा आगे-आगे के द्वीप का परिमाण दूना है और ये समुद्र के बाहरी भाग में पृथ्वी के चारों ओर फैले हुए हैं। सात समुद्र क्रमशः खारे जल, ईख के रस, मदिरा, घी, दूध, मट्ठे और मीठे जल से भरे हुए हैं।

प्रियव्रत के सात पुत्र थे—अग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, धृतपृष्ठ, मेघातिथि और वीतिहोत्र। इन पुत्रों को एक-एक द्वीप का राज्य दे दिया। अग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा बने। उनके नौ पुत्र हुए—नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलामृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। अग्नीध्र ने जम्बूद्वीप के विभाग करके उन्हीं के समान नाम वाले नौ वर्ष (भूखण्ड) बनाये और उन्हें एक-एक पुत्र को सौंप दिया।

पिता के परलोक गमन करने पर नौ भाइयों ने मेरु की नौ कन्याओं से विवाह कर लिया। नाभि ने मेरुदेवी से विवाह किया। बहुत समय तक नाभि के कोई सन्तान नहीं हुई। तब दम्पति ने श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भाव से भगवान् की आराधना की। तब भगवान् ने प्रसन्न होकर वरदान दिया—“मैं स्वयं ही अपनी अशकला से अग्नीध्र-नन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूँगा क्योंकि अपने समान मुझे कोई और दिखाई नहीं देता।”

महारानी मेरुदेवी के सुनते हुए उसके पति से इस प्रकार कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये। उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर श्रीभगवान महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके रनिवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर सन्यासी और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रगट करने के लिये शुद्ध सत्वमय विग्रह से प्रगट हुए।

—पचम स्कन्ध तृतीय अध्याय

'राजन् ! नाभिनन्दन के अग जन्म से ही भगवान विष्णु के वज्र-अकुश आदि चिह्नों से युक्त थे। समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों के कारण उनका प्रभाव दिनों दिन बढ़ता जाता था। यह देखकर मन्त्री आदि प्रकृति वर्ग प्रजा, ब्राह्मण और देवताओं की यह उत्कट अभिलाषा होने लगी कि ये ही पृथ्वी का शासन करें। उनके सुन्दर और सुडील शरीर, विपुल कोर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम 'ऋषभ' (धेठ) रक्खा।

एक वार भगवान इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य में वर्षा नहीं की। तब योगेश्वर भगवान ऋषभ ने इन्द्र की मूर्खता पर हसते हुए अपनी योग माया के प्रभाव से अपने वर्ष अजनाभखण्ड में खूब जल बरसाया। महाराज नाभि अपनी इच्छानुकूल श्रेष्ठ पुत्र पाकर अत्यन्त आनन्दमग्न हो गये। और अपनी ही इच्छा से मनुष्य शरीर धारण करने वाले पुराण पुरुष श्रीहरि का सप्रेम लालन करते हुए, उन्हीं के लीला विलास से मुग्ध होकर 'वत्स ! तात !' ऐसा गद्गद् वाणी से कहते हुए बड़ा सुख मानने लगे।

जब उन्होंने देखा कि मन्त्रिमण्डल, नागरिक और राष्ट्र की जनता ऋषभदेव से बहुत प्रेम करती है तो उन्होंने उन्हें धर्म मर्यादा की रक्षा के लिये राज्याभिषेक करके ब्राह्मणों की देखरेख में छोड़ दिया। आप अपनी पत्नी मेरुदेवी के सहित बदरिकाश्रम को चले गये। वहा अहिंसा वृत्ति से, जिससे किसी को उद्वेग न हो, ऐसी कौशलपूर्ण तपस्या और समाधियों के द्वारा भगवान वासुदेव के नर-नारायण रूप की आराधना करते हुए समय आने पर उन्हीं के स्वरूप में लीन हो गये।

भगवान ऋषभदेव ने अपने देश अजनाभखण्ड को कर्म भूमि मानकर लोकसग्रह के लिये कुछ काल गुरुकुल में वास किया। गुरुदेव को यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थ में प्रवेश करने के लिये उनकी आज्ञा ली। फिर लोगों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिये देवराज इन्द्र की स्त्री हुई उनकी कन्या जयन्ती से विवाह किया तथा श्रौत-स्मार्त दोनों प्रकार के शास्त्रोपदिष्ट कर्मों का आचरण करते हुए उसके गर्भ से अपने ही समान गुण वाले सौ पुत्र उत्पन्न किये। उनमें महायोगी भरतजी सबसे बड़े और सबसे अधिक गुणवान् थे। उन्हीं के नाम से लोग इस अजनाभखण्ड को भारतवर्ष कहने लगे। उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ, और कीकट ये नौ राजकुमार शेष नव्वे भाइयों से बड़े एव श्रेष्ठ थे। उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ये नौ राजकुमार भागवत धर्म का प्रचार करने वाले बड़े भगवद्भक्त थे। भगवान की महिमा से महिमान्वित और परम शान्ति से पूर्ण इनका पवित्र चरित्र हम नारद-वासुदेव सवाद के प्रसंग से आगे (एकादश स्कन्ध में) कहेंगे। इनसे छोटे जयन्ती के इक्यासी पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करने वाले, अति विनीत, महान् वेदज्ञ, निरन्तर यज्ञ करने वाले थे। वे पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करने से शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये थे।

भगवान ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित, केवल आनन्दानुभव स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे तो भी अज्ञानियों के समान कार्य करते हुए उन्होंने काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्व न जानने वाले लोगों को उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृद् और कारुणिक रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तान, भोग सुख और मोक्ष का सग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया। महापुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग उसी का अनुकरण करने लगते हैं। यद्यपि वे सभी धर्मों के सार रूप वेद के गूढ रहस्य को जानते थे। तो भी ब्राह्मणों की बतलाई हुई विधि से साम-दानादि नीति के अनुसार ही जनता का पालन करते थे। उन्होंने शास्त्र और ब्राह्मणों के उपदेशानुसार भिन्न-

भिन्न देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा और ऋत्विज आदि से सुसम्पन्न सभी प्रकार के सी-सी यज्ञ किये । भगवान ऋषभदेव के शासन काल में इस देश का कोई भी पुरुष अपने लिये किसी से भी अपने प्रभु के प्रति दिन-दिन बढ़ने वाले अनुराग के सिवा और कभी किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता था । यही नहीं, आकाश कुसुमादि अविद्यमान वस्तु की भांति कोई किसी की वस्तु की ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था ।

—श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय

ऋषभदेवजी के सौ पुत्रों में भरत सबसे बड़े थे । वे भगवान के परम भक्त और भगवद्भक्तों के परायण थे । ऋषभदेव जी ने पृथ्वी का पालन करने के लिए उन्हें राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्ति परायण महामुनियों के भक्ति, ज्ञान और वैराग्य रूप परमहसोचित धर्मों की शिक्षा देने के लिए बिलकुल विरक्त हो गए । केवल शरीर मात्र का परिग्रह रक्खा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया । अब वे वस्त्रों का भी त्याग करके सर्वथा दिग्भ्रम हो गये, उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे । उन्मत्त का सा वेष था । इस स्थिति में वे आहवनीय (अग्निहोत्र की) अग्नियों को अपने में ही लीन करके सन्यासी हो गये । और ब्रह्मावर्त देश से बाहर निकल गये । वे सर्वथा मौन हो गये थे । कोई बात करना चाहता तो बोलते नहीं थे । जड़, अर्धे, बहरे, गूगे, पिशाच और पागलों की सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ-तहाँ विचरने लगे । कभी नगरो और ग्रामों में चले जाते, कभी खानों, किसानों की वस्तियों, वगीचों, पहाड़ों, गावों, सेना की छावनियों, गोशालाओं, अहीरों की वस्तियों और यात्रियों के टिकने के स्थानों में रहते । कभी पहाड़ों, जंगलों और आश्रमों में विचरते । वे किसी भी रास्ते से निकलते तो जिस प्रकार वन में विचरने वाले हाथी को भबिखरियाँ सताती हैं, उसी प्रकार मूख और दुष्ट लोग उनके पीछे हो जाते और उन्हें तग करते । कोई धमकी देते, कोई मारते, कोई पेशाब करते, कोई थूक देते, कोई डेला मारते, कोई विष्ठा और धूल फेंकते, कोई अधोवायु छोड़ते और कोई खोटी-खरी सुना कर उनका तिरस्कार करते । किन्तु वे इन सब बातों पर ध्यान नहीं देते । इसका कारण यह था कि भ्रम से सत्य कहे जाने वाले इस मिथ्या शरीर में उनकी अहता-ममता तनिक भी नहीं थी । वे कार्य-कारण रूप सम्पूर्ण प्रपञ्च के साक्षी होकर अपने परमात्म स्वरूप में ही स्थित थे । इसलिए अखण्ड चित्त वृत्ति से अकेले ही पृथ्वी पर विचरते रहते थे । यद्यपि उनके हाथ, पैर, छाती, लम्बी-लम्बी बाहे, कन्धे, गले, और मुख आदि अंगों की वनावट बड़ी सुकुमार थी । उनका स्वभाव से ही सुन्दर मुख स्वाभाविक मधुर मुस्कान से और भी मनोहर जान पड़ता था । नेत्र नवीन कमल-दल के समान बड़े ही सुहावने, विशाल एवं कुछ लाली लिये हुए थे । उनकी पुतलियाँ शीतल एवं सन्तापहारिणी थी । उन नेत्रों के कारण वे बड़े मनोहर जान पड़ते थे । कपोल, कान और नासिका छोटे-बड़े न होकर समान एवं सुन्दर थे तथा उनके अस्फुट हास्ययुक्त मनोहर मुखारविन्द की शोभा को देखकर पुर-नारियों के चित्त में कामदेव का संचार हो जाता था तथापि उनके मुख के आगे जो भूरे रंग की लम्बी-लम्बी घुघराली लटे लटकी रहती थी, उनके महान् भार और अवधूतो के समान धूलि धूसरित देह के कारण वे ग्रहस्त मनुष्य के समान जान पड़ते थे ।

जब भगवान ऋषभदेव ने देखा कि यह जनता योग साधन में विघ्न रूप है और इससे बचने का उपाय वीभत्स वृत्ति से रहना ही है, तब उन्होंने अजगर वृत्ति धारण कर ली । वे लेटे ही लेटे खाने-पीने, चबाने और मल मूत्र त्याग करने लगे । वे अपने त्याग हुए मल में लोट-लोट कर शरीर को इससे सान लेते । किन्तु उनके मल में दुर्गन्ध नहीं थी, बड़ी सुगन्ध थी और वायु उस सुगन्ध को लेकर उनके चारों ओर दस योजन तक सारे देश को सुगन्धित कर देती थी । इसी प्रकार गौ, भृग और काकादि की वृत्तियों को स्वीकार करके उन्हीं के समान कभी चलते हुए, कभी खड़े-खड़े, कभी बैठे हुए और कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने और मल-मूत्र का त्याग करने लगते थे ।

परीक्षित ! परमहंसों को त्याग के आदर्श की शिक्षा देने के लिये इस प्रकार मोक्षपति भगवान ऋषभदेव ने कई तरह की योगचर्याओं का आचरण किया । वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्द का अनुभव करते रहते थे । उनकी दृष्टि में निरुपाधिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा में अपने आत्मस्वरूप भगवान वासुदेव से किसी प्रकार का भेद नहीं था । इसलिये उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे । उनके पास आकाश गमन, मनोजवित्त्व (मन की गति के समान शरीर का भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुँच जाना) अन्तर्धान, परकाय प्रवेश, दूर की बातें सुन लेना

और दूर के दृश्य देख लेना आदि सब प्रकार की सिद्धियां अपने आपही सेवा करने को आईं, परन्तु उन्होंने उनका मन से आदर या ग्रहण नहीं किया।

— श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध पंचम अध्याय

‘भगवान् ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालों के भी भूषणस्वरूप थे, तो भी वे जड़ पुरुषों की भाँति अवधूतो के से विविध वेप, भापा और आचरण से अपने ईश्वरीय प्रभाव को छिपाये रहते थे। अन्त में उन्होंने योगियों को देहत्याग की विधि सिखाने के लिये अपना शरीर छोड़ना चाहा। वे अपने अन्तःकरण में अभेदरूप से स्थित परमात्मा को अभिन्न रूप से देखते हुए वासनाओं की अनुवृत्ति से छूटकर लिङ्गदेह के अभिमान में भी मुक्त होकर उपराम हो गये। इस प्रकार लिङ्गदेह के अभिमान से मुक्त भगवान् ऋषभदेव जी का शरीर योगमाया की वासना से केवल अभिमानाभास के आश्रय ही इस पृथ्वी तल पर विचरता रहा। वह दैवज कौक, बेंक और दक्षिण आदि कुटक कर्णाटक के देशों में गया और मुह में पत्थर का टुकड़ा डाले तथा बाल बिखेरे उन्मत्त के समान दिगम्बर रूप से कुटकाचल के वन में घूमने लगा। इसी समय भ्रूभावात से भ्रूकभोरे हुए वामों के घर्षण से प्रबल दावाग्नि धधक उठी और उसने सारे वन को अपनी लाल लाल लपटों में लेकर ऋषभदेव जी के सहित भस्म कर दिया।

. भगवान् का यह अवतार रजोगुण में भरे हुए लोगों को मोक्ष मार्ग की शिक्षा देने के लिये ही हुआ था। इसके गुणों का वर्णन करते हुए लोग इन वाक्यों को कहा करते हैं—अहो ! सात समुद्रों वाली पृथ्वी के समस्त द्वीप और वर्षों में यह भारतवर्ष बड़ी ही पुण्यभूमि है क्योंकि यहाँ के लोग श्रोत्रिणों के मंगलमय अवतार-चरित्रों का गान करते हैं। अहो ! महाराज प्रियव्रत का वंश बड़ा ही उज्ज्वल एवं सुयुगपूर्ण है जिसमें पुराण पुरुष श्री आदि-नारायण ने ऋषभदेव लेकर मोक्ष को प्राप्त कराने वाले पारमहंस्य धर्म का आचरण किया। इन जन्मरहित भगवान् ऋषभदेव के मार्ग पर कोई दूसरा योगी मन से भी कैसे चल सकता है। क्योंकि योगी लोग जिन योग-सिद्धियों के लिये लालायित होकर निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें उन्होंने अपने आप प्राप्त होने पर भी असत् समझकर त्याग दिया था।

— श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध पष्ठ अध्याय

‘हमारे पिता ऋषभ के रूप में अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्मसाक्षात्कार के साधनों का उपदेश दिया है।

— श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध चतुर्थ अध्याय

भगवान् ऋषभदेव और कुछ वैदिक देवताओं के रूप में आश्चर्यजनक रूप से समानता दिखाई पड़ती है। उससे यह सन्देह होता है कि भगवान् ऋषभदेव और उन देवताओं का व्यक्तित्व विभिन्न नहीं, अपितु एक ही है अर्थात् ऋषभदेव और वे देवता एक हैं, भिन्न नहीं हैं, केवल नाम-रूप का ही भिन्न है और वह नाम रूप का अन्तर भी आलंकारिक वर्णन के कारण है। यदि उन आलंकारिक वर्णनों के मूल तथ्य को हम हृदयगम कर सकें तो उससे कुछ नये रहस्य उद्घाटित किये जा सकते हैं। तब भारत के प्राचीन धर्मों और मान्यताओं की विभिन्नता में भी एकता के कुज बीजों और सूत्रों का अनुसन्धान किया जा सकता है। हमारा ऐसी विश्वास है कि यदि विश्व के धर्मों की मौलिक एकता का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया जाय तो भगवान् ऋषभदेव का रूप उसमें अत्यन्त सहायक हो सकता है।

अनेकता में एकता और विभिन्नताओं में समन्वय ये दो सूत्र ही मतभेदों को दूर कर सकते हैं और नाना-त्मक अन्तर्द्वन्द्वों की कटुता को कम कर सकते हैं। ऋषभदेव जैन और वैदिक इन दोनों भारतीय धर्मों के आराध्य रहे हैं। जैनो ने उन्हें प्रथम तीर्थंकर माना है और वैदिक पुराणों में उन्हें भगवान् के अवतारों में आठवाँ अवतार स्वीकार किया है। इस प्रकार ऋषभदेव प्राचीन भारत में, प्रागैतिहासिक काल में सम्पूर्ण जनता के समान रूप से पूज्य रहे हैं। आज भी जैन और वैदिकों के बीच सौहार्द और समन्वय का कोई सामान्य आधार बन सकता है तो वह ऋषभदेव ही हो सकते हैं।

यहाँ हम ऋषभदेव और कुछ वैदिक देवताओं के पुराणवर्णित रूप का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत

करना चाहेंगे। उससे प्रगट होगा कि दोनों चरित्रों में कितनी अद्भुत समानता है।

अधिकांश इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं, कि शिवजी वैदिक आर्यों के देवता¹ नहीं थे। जब वैदिक आर्य भारत में आये थे, उस समय शिव जी के उपासकों की संख्या नगण्य नहीं थी। सिन्धु उपत्यका और मोह-नजोदडो-हड़प्पा शाखा की खुदाई में शिवजी की मूर्तियों की उपलब्धि से भी इस बात और शिवजी की पुष्टि होती है कि प्राचीन काल में शिवजी की मान्यता बहुत प्रचलित थी। उन्हें शिव, महादेव, रुद्र आदि विविध नामों से पूजा जाता था।

ऋषभदेव किस प्रकार शिव बन गये, इसका उल्लेख कई ग्रन्थों में मिलता है। ईशान संहिता में उल्लेख है कि माघ कृष्ण चतुर्दशी की महानिशा में आदिदेव करोड़ों सूर्य की प्रभावों से शिवलिंग के रूप में प्रगट हुये।

माघ कृष्ण चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि ।

शिवलिंगतयोद्भूत कोटि सूर्यं सम प्रभ ॥

शिवपुराण में तो स्पष्ट उल्लेख है कि मुझ शंकर का ऋषभदेवतार होगा। वह सज्जन लोगों की शरण और दीनबन्धु होगा। और उनका अवतार नौवा होगा।

इत्थं प्रभावः ऋषभोऽवतार शंकरस्य मे ।

सता गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तु न ॥ शिवपुराण ४।४७

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋषभदेव और शिवजी एक ही व्यक्ति थे। अब यह विचार करना शेष रह जाता है कि शिवजी का जो रूप विकसित हुआ, उसका मूल क्या था। इसके लिये दोनों के समान रूप पर तुलनात्मक विचार करना सचिकर होगा—

दिगम्बर रूप—भगवान ऋषभदेव ने राजपाट छोड़ कर मुनिदीक्षा लेली। अर्थात् वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन गये। श्रीमद्भागवत के अनुसार उनके शरीर मात्र परिग्रह वच रहा था। वे मलिन शरीर सहित ऐसे दिखाई देते थे, मानो उन्हें भूत लगा हो।

शिवजी को भी नग्न माना है और उनके मलिन शरीर को प्रदर्शित करने के लिये देह पर भभूत दिखाई जाती है। वेदों में जिस शिश्नदेव का उल्लेख मिलता है, उसका रहस्य भी दिगम्बरत्व में ही निहित है।

जटायें—ऋषभदेव ने जब छह माह तक कायोत्सर्गसिन्धु से निश्चल खड़े होकर तपस्या की, उस काल में उनके केश बढ़ कर जटायें² के रूप में हो गये थे। ऋषभदेव की अनेक प्राचीन प्रतिमायें जटाजूटयुक्त मिलती हैं। शिवजी भी जटाजूटधारी हैं।

नन्दी—जैन तीर्थंकरों के चौबीस प्रतीक चिह्न माने गये हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं पर वे चिह्न अंकित रहते हैं। उन चिह्नों से ही तीर्थंकर-प्रतिमा की पहचान होती है, ऋषभदेव का प्रतीक चिह्न वृषभ (बैल) है। शिवजी का वाहन भी वृषभ है।

कैलाश—ऋषभदेव ने कैलाश पर जाकर तपस्या की और अन्त में वही से उन्होंने निर्वाण (शिव पद) प्राप्त किया। शिवजी का धाम भी कैलाशपर्वत माना गया है।

शिवरात्रि—ऋषभदेव ने माघ कृष्ण चतुर्दशी को कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया था। यही तिथि शिवजी के लिंग-उदय की तिथि मानी जाती है। कहीं कहीं शिवरात्रि माघ कृष्ण चतुर्दशी को न मान कर फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को मानी जाती है। यह अन्तर उत्तर और दक्षिण भारत के पञ्चाङ्गों के अन्तर के कारण है। 'काल माघवीय नागर खण्ड' में इस अन्तर पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है, जो इस प्रकार है—

✓ In fact, Shiv and the worship of Linga and other features of popular Hinduism were well established in India long-long before the Aryans came

—K. M. Pannikar, a survey of Indian history p 4

२ पद्मपुराण २।२८७-२८८ । आदिपुराण १८।७५ । हरिवंशपुराण ६।२०४

माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च ।
कृष्ण चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता ॥

अर्थात् दक्षिण वालो के माघ मास के उत्तर पक्ष की तथा उत्तर वालो के फाल्गुण मास के प्रथम पक्ष की कृष्णा चतुर्दशी शिवरात्रि कही गई है ।

उत्तर भारत वाले मास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष से मानते हैं और दक्षिण वाले शुक्ल पक्ष से मानते हैं । वस्तुतः दक्षिण भारत वालो का जो माघ कृष्णा चतुर्दशी है, वही उत्तर भारत वालो की फाल्गुण कृष्णा चतुर्दशी है । ईशान संहिता में शिवलिंग के उदय की तिथि स्पष्ट शब्दों में माघ कृष्णा चतुर्दशी बताई है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है ।

गंगावतरण—जैन मान्यता है कि गगानदी हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर से निकल कर पहले पूर्व की ओर और फिर दक्षिण की ओर बहती है । वहा गगाकूट नामक एक चतूतरे पर जटाजूट मुकुट से सुशोभित ऋषभदेव की प्रतिमा है । उस पर गगा की धारा पडती है । मानो गगा उनका अभिषेक ही कर रही हो । इसी प्रकार शिवजी के बारे में मान्यता है कि गगा जब आकाश से अवतीर्ण हुई तो शिवजी की जटाओं में आकर गिरी और वही बहुत समय तक विलीन रही ।

त्रिशूल और अन्धकासुर—जैन शास्त्रों में ऋषभदेव के केवल ज्ञान-प्राप्ति के सिलसिले में अनेक स्थानों पर आलंकारिक वर्णन मिलता है कि उन्होंने त्रिरत्न (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) रूप त्रिशूल से मोहनीय या मोहासुर का नाश किया अथवा शुद्ध लेश्या के त्रिशूल से मोह रूप अन्धकासुर^३ का वध किया ।

इसी प्रकार शिवजी त्रिशूलधारी और अन्धकासुर के सहारक माने गये हैं । इसीलिए शिव-मूर्तियों के साथ त्रिशूल और नरकपाल बनाये जाते हैं ।

लिंग पूजा - तीर्थंकरों के गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवल ज्ञान और निर्वाण कल्याणक जहा होते हैं, वे स्थान क्षेत्र मंगल और कल्याणक भूमियाँ मानी जाती हैं । ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया । कैलाश का आकार लिंग जैसा है । चक्रवर्ती भरत ने कैलाश के आकार के घटे बनवाये थे और उन पर ऋषभदेव की प्रतिमा उत्कीर्ण कराई थी । (तिब्बती भाषा में लिंग-पूजा का अर्थ क्षेत्र-पूजा होता है । कैलाश तिब्बती क्षेत्र में है । तिब्बती कैलाश क्षेत्र को पवित्र मानते थे । जिसे वे लिंग-पूजा कहते थे । शिव-भक्त भी लिंग-पूजा करते हैं । प्राचीन काल में लिंग-पूजा से कैलाश पर्वत की पूजा का ही आशय था । किन्तु जब शैव धर्म तान्त्रिकों के हाथों में पड गया, तब लिंग क्षेत्र के अर्थ में न रहकर पुरुष की जननेन्द्रिय के अर्थ में लिया जाने लगा । इतना ही नहीं, उन्होंने पर्वत पर तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त हुई आत्म-सिद्धि को पार्वती नाम से एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व दे दिया और पुरुष लिंग के साथ स्त्री की भग-पूजा की कल्पना कर डाली ।)

१. आदिजिण्णप्पडिमाओ ताओ जड मउड सेहरिल्लाओ ।

पडिमोवरिम्म गगा अभिसिच्चुमणा व सा पडदि ॥

तिलोय पष्णत्ति ४।२३०

सिरिगिह सीसट्टिय बुजकाणिय सिहासण जडामडल ।

जिणमभिसिच्चुमणा वा ओदिष्णा मत्थए गगा ॥

त्रिलोकसार ५६०

२. तिरयण-तिसूल धारिय मोहघासुर कवध विदहरा ।

सिद्ध सयलप्पस्वा अरिहता ह्णणय कयता ।

—धवतल सिद्धान्त ग्रन्थ, वीर सेनाचार्य

शुद्ध लेश्या त्रिशूलेन मोहनीय रिपुर्हृतः ।

—हरिवंशपुराण

इस प्रकार ऋषभदेव और शिवजी के रूप में जो अद्भुत समानता दिखायी पड़ती है, वह सयोग मात्र अथवा आकास्मिक नहीं है। बल्कि लगता है, दोनों व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् नहीं हैं, एक ही हैं। इन्दौर आदि कई म्यूजियमों में योगलीन शिव मूर्तियों और ऋषभदेव की ध्यानलीन मूर्तियों को देखने पर कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि शिव जी के चरित्र का जो कवित्व की भाषा में आलंकारिक वर्णन किया गया है, यदि उस परत को हटा कर चरित्र की तह में झाँके तो वे ऋषभदेव दिखाई देने लगेंगे। ऋषभदेव ने तपस्या करते हुए कामदेव पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी, शिवजी ने कामदेव का सहार किया था। क्या अन्तर है दोनों में? शिवजी के जिस तृतीय नेत्र और उनके सहारक रूप की कल्पना की गई है, वही ऋषभदेव का आत्मज्ञान रूप तृतीय नेत्र है, जिसके द्वारा उन्होंने राग-द्वेष-मोह का सहार किया।

(अतः यह असदिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि ऋषभदेव और शिवजी नाम में ही भिन्न है, वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। इसीलिए शिवपुराण ७।२।६ में ऋषभदेव को शिव के अट्टार्डम योगावतारों में नौवाँ अवतार स्वीकार किया गया है।)

विष्णुपुराण हिन्दू पुराणों में विशिष्ट स्थान रखता है। इसके रचयिता श्री पराशरजी हैं। इसके प्रथम अष्ट अध्याय चार से छह में ब्रह्माजी की उत्पत्ति और लोक-रचना का विशद वर्णन किया गया ऋषभदेव और ब्रह्मा है। इसमें बताया है कि ब्रह्माजी नाभिज हैं। उनकी पुत्री सरस्वती हैं। वे चतुर्मुख हैं अर्थात् उनके चार मुख हैं। उन्होंने इस सृष्टि की रचना की, सृष्टि की रचना में भगवान् तो केवल निमित्त मात्र ही हैं। क्योंकि उसकी प्रधान कारण तो सृज्य पदार्थों की शक्तियाँ ही हैं। वस्तुओं की रचना में निमित्त मात्र को छोड़कर और किसी बात की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि वस्तु तो अपनी ही शक्ति से वस्तुता को प्राप्त हो जाती है।

ब्रह्माजी ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की। उन्होंने कृत्रिम दुर्ग, पुर तथा खर्वट आदि स्थापित किये। कृषि आदि जीविका के साधनों के निश्चित हो जाने पर प्रजापति ब्रह्मा जी ने प्रजा के स्थान और गुणों के अनुसार मर्यादा, वर्ण और आश्रमों के धर्म तथा अपने धर्म का भली प्रकार पालन करने वाले समस्त वर्णों के लोक आदि की स्थापना की।

(जैन पुराणों के अनुसार ऋषभदेव भी नाभिज अर्थात् नाभिराज में उत्पन्न हुये थे। उनकी पुत्री का नाम ब्राह्मी था। ब्राह्मी और सरस्वती पर्यायवाची शब्द हैं। ऋषभदेव जब समवसरण में विराजमान होते थे तो उनके चारों दिशाओं में मुख दिखाई देते थे। उन्होंने कृषि आदि पट्कर्मों का उपदेश दिया, ग्राम-नगर, खेत आदि की स्थापना की, वर्ण-व्यवस्था स्थापित की।)

(एक उल्लेख योग्य बात यह है कि आदि ब्रह्मा के अनेको नाम पुराणों और कोशों में मिलते हैं—जैसे हिरण्यगर्भ, प्रजापति, चतुरानन, स्वयम्भू, आत्मभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, लोकेश, अज आदि। जैन पुराणों में ऋषभदेव के लिये भी इन नामों का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। ब्रह्मा के नामों में परमेष्ठी शब्द हमारा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित करता है। जैन परम्परा का तो यह पारिभाषिक शब्द है, जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनियों के लिये प्रयुक्त होता है और जो इस युग की आदि में सर्व प्रथम ऋषभदेव के लिये ही प्रयुक्त हुआ था।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार ब्रह्मा और ऋषभदेव के नामों और कामों की समानता देख कर यह विश्वास करना पड़ता है कि ब्रह्मा और ऋषभदेव एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं।

वैदिक साहित्य के वातरश्ना तथा केशी और भगवान् ऋषभदेव—श्रीमद्भागवत में ऋषभभावतार के उद्देश्य के सम्बन्ध में जो स्पष्ट विवरण दिया है—जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है, वह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। उसमें बताया है—

वर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नामे प्रियचिकीर्षया तद्वरोधायने मेरुदेव्यां क्षमन्निर्वाणितुकामो वातरश्नानां भ्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार ॥ ५।३।२०

(अर्थात् हे विष्णुदत्त परीक्षित ! यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर श्री भगवान महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके निवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ में वातरशना (दिगम्बर) श्रमण ऋषियों और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रगट करने के लिए शुद्ध सत्त्वमय विग्रह से प्रगट हुए।)

इस उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषभदेव की मान्यता और पूज्यता के सम्बन्ध में जैनो और हिन्दुओं में कोई मतभेद नहीं है। जैसे वे जैनियों के प्रथम तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार वे हिन्दुओं के लिए साक्षात् विष्णु भगवान के अवतार हैं। दूसरी बात यह है कि प्राचीनता की दृष्टि से ऋषभदेव का अवतार राम और कृष्ण से भी प्राचीन माना गया है। और इस अवतार का उद्देश्य वातरशना श्रमण मुनियों के धर्म को प्रगट करना बताया गया है। भागवत पुराण में यह भी बताया गया है कि

‘अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थं ॥ ५।६।१२ ॥

अर्थात् भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुये लोगों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था।

जिन वातरशना और ऊर्ध्वरेता श्रमण मुनियों के धर्म को प्रगट करने और कैवल्य की शिक्षा देने के लिये ऋषभदेव का अवतार हुआ वे वातरशना मुनि यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थे। उनका उल्लेख भारत के प्राचीनतम माने जाने वाले ग्रन्थ वेदों में भी मिलता है। एक सूक्त में वातरशना मुनियों की कठोर साधना का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

‘मुनयो वातरशनाः पिशगा वसते मला ।

वातस्यानु ध्राजि यन्ति यद्वासो अद्विषत ॥

उन्मदिता मीनेयेन वाता आतास्थिमा वयम् ।

शरीरेदस्माक यूय मर्तासो अभि पश्यथ ॥

—ऋग्वेद १०।१३६।२-३

अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मूल धारण करते हैं जिससे वे पिगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपनी नप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़ करके हम मौन वृत्ति से उन्मत्त वत् वायु भाव को प्राप्त होते हैं और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरसात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं (ऐसा वे वातरशना मुनि प्रगट करते हैं।

ऋग्वेद ने इन ऋचाओं के साथ केशी की स्तुति की गई है—

‘केश्याग्नि केशी विष केशी विर्भात रोदसी ।

केशी विश्व स्वर्हो केशीद ज्योतिरुच्यते ॥

—ऋग्वेद १०।१३६।१

अर्थात् केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन करता है। केशी ही प्रकाशमान ज्योति कहलाता है।

जहाँ वातरशना मुनियों की स्तुति की गई है, वही केशी की यह स्तुति की गई है। ऐसा लगता है कि केशी इन वातरशना मुनियों के प्रधान थे। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के वातरशना श्रमण ऋषि एक ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। और यह भी असदिग्ध तथ्य है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनियों में श्रेष्ठ केशी और भागवत के सब ओर लटकते हुये कुटिल, जटिल, कपिश केशी वाले ऋषभदेव भी एक ही व्यक्ति हैं। (ऋग्वेद में उन्हें केशी कहा है और उससे उनकी जटाओं की ओर संकेत किया है। भागवत में ऋषभदेव के कुटिल, जटिल, कपिश केशी का भार बताया है। और जैन पुराणों में उन्हें लम्बी जटाओं के भार से सुशोभित बताया है)।

ऋग्वेद के केशी ऋषभदेव ही थे, इसका समर्थन भी ऋग्वेद की निम्न ऋचा से होता है—

‘ककदंवे वृषभो युषत आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी ।

दुधयुवतस्य द्रवत्. सहानस ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥ ऋग्वेद १०।१०२।६

अर्थात् मुद्गल ऋषि के सारथी (नेता) केशी वृषभ, जो शत्रु का विनाश करने के लिये नियुक्त थे, उन की वाणी निकली अर्थात् उन्होंने उपदेश किया। जिसके फलस्वरूप मुद्गल ऋषि की जो गाये (इन्द्रियो) जुते हुए दुर्घर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थी, वे निश्चल होकर मीद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लोट पड़ी।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक साहित्य में जिन वानरगना मुनियों का वर्णन मिलता है, वे दिगम्बर जैन श्रमण मुनि हैं और जहाँ केशी का वर्णन आया है, वहाँ केशी अन्य कोई नहीं, ऋषभदेव ही हैं।

भगवान ऋषभदेव का व्यक्तित्व अत्यन्त सशक्त और तेजस्वी था। उनकी मान्यता देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके देश-देशान्तरो में फैल गई (वे किसी एक सम्प्रदाय, जाति और धर्म के नेता नहीं थे।

वे तो कर्म और धर्म दोनों के ही आद्य प्रस्तोता थे। सांस्कृतिक चेतना और वीद्विक जागरण के आद्य प्रेरक वे ही थे। मानव की आद्य सभ्यता को एक दिशा देने का महान् कार्य उन्होंने किया था। सारा मानव समाज उनके अनुग्रहो और उपकारो के लिये चिर ऋणी था। वर्ग, जाति और वर्ण के भेदभाव के विना सारी मानव जाति उन्हें अपना उपास्य मानती थी।

उनके विविध कार्यकलापो और रूपो को लेकर विभिन्न देशो और कालो में उनके विविध नाम प्रचलित हो गये। (शिव महापुराण में उन्हें अट्ठाईस योगावतारो में एक अवतार माना। श्रीमद्भागवत में उन्हें विष्णु का आठवा अवतार स्वीकार किया। वेदो में ऋषभदेव की स्तुति विविध रूपो में विभिन्न नामो में की गई है। अनेक ऋचाओ में उनकी स्तुति अग्नि, मित्र, यम आदि नामो से की गई है। ताण्ड्य^१, तैत्तिरीय^२ और शतपथ^३ ब्राह्मण में अग्नि के नाम से उन्हें आद्य (आदि पुरुष) मिथुनकर्त्ता (विवाह प्रथा के प्रचलन कर्त्ता, ब्रह्मा, पृथ्वीपति, धाता, ब्रह्मा, सर्वविद् (सर्वज्ञ) कहा गया है। वेदो में उन्हें जातवेदस (जन्म से ज्ञान सम्पन्न) रत्नधाता, विश्ववेदस (विश्व को जानने वाला) मोक्षनेता और ऋत्विज (धर्म सस्थापक) बताया गया है। वेदो में अनेक स्थानो पर वृषभदेव की स्तुति की गई है। यहाँ उनमें से कुछ मन्त्र दिये जा रहे हैं, जिनका देवता ऋषभ है—

त्व रथं प्रभसे योधमृष्वमावो युध्यन्त वृषभ दशद्युम् ।

त्व तुर्यं वेतसवे स चाहन्त्व तुजि गृणन्तमिन्द्र तू तो ॥

—ऋग्वेद ४।६।२६।४

इसका आशय यह है कि युद्ध करते हुए ऋषभ को इन्द्र ने युद्ध सामग्री और रथ प्रदान किया।

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः

—अथर्ववेद १६ वा काण्ड, प्रजापति सूक्त ।

इन्द्र द्वारा राज्य में वर्षा नहीं होने दी। तब वृषभदेव ने खूब जल बरसाया।

इसी ऋचा का आशय लेकर महाकवि सूरदास ने सूरसागर में लिखा है—

इन्द्र देखि ईरषा मन लायो। करिके क्रोध न जल बरसायो।

ऋषभदेव तब ही यह जानी। कह्यो इन्द्र यह कहा मन आनी ॥

निज बल जोग नीर बरसायो। प्रजा लोग अति ही सुख पायो ॥

ऋषभदेव की स्तुति परक अनेक मन्त्र भी वेदो में मिलते हैं—

१ ताण्ड्य ब्राह्मण २५।६।३

२ तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।२।३, ३।१।४।१, ३।३।१०।२

३ शतपथ ब्राह्मण १०।४।१।५, ६।२।१।८

अहो मुंच वृषभ याज्ञिमाना विराजन्त प्रथममध्वराणाम् ।
अपा न पातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियदत्तभोज ॥

अथर्ववेद १६।४२।४

(सम्पूर्ण पापो से मुक्त तथा अहिंसक ब्रतियों के प्रथम राजा, आदित्य स्वरूप श्री ऋषभदेव का मैं आवाहन करता हूँ। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रियों के साथ वल प्रदान करें)

अनर्वाण वृषभ मन्द्र जिह्व वृहस्पति वर्धया नव्यमर्के ।

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६० मन्त्र १०

(मिष्ट भाषी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य ऋषभ की पूजा साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।)

एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा हेव न हृणीषे न हति ॥

ऋग्वेद २।३३।१५

हे शुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ ! हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों।

इसी प्रकार प्रायः सभी हिन्दू पुराणों में ऋषभदेव का चरित्र वर्णन किया गया है और उन्हें भगवान का अवतार माना है।

ब्रह्माण्ड पुराण २।१४ में उन्हें राजाओं में श्रेष्ठ और सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा है—

‘ऋषभ पाथिव श्रेष्ठ सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम् ।’

महाभारत (शान्ति पर्व १२।६४।२०) में उन्हें क्षात्रधर्म का आद्य प्रवर्तक बताया है—

‘क्षात्रो धर्मो ह्यादि देवात् प्रवृत्त पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्मा ।’

श्रीमद्भागवत में एक स्थान पर परीक्षित ने कहा है—

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।

यदधर्मकृत स्थान सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥

श्रीमद्भागवत १।१७।२२

अर्थात् हे धर्मज्ञ ऋषभदेव ! आप धर्म का उपदेश करते हैं। आप निश्चय से वृषभ रूप से स्वयं धर्म हैं। अधर्म करने वाले जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, वे ही स्थान आपकी निन्दा करने वाले को मिलते हैं।

इसी शास्त्र में ऋषभदेव एक स्थान पर अपने नाम की सार्थकता बताते हुए कहते हैं—

इव शरीर मम दुर्विभाव्य सत्त्व हि मे हृदय यत्र धर्मः ।

पृष्ठे वृत्तो मे यदधर्मश्चाराद् अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥ ५।५।१६

(अर्थात् मेरे इस अवतार शरीर का रहस्य साधारण जनो के लिये बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मेने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे की ओर धकेल दिया है। इसी से सत्यपुरुष मुझे ‘ऋषभ’ कहते हैं।)

वौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव की चर्चा बड़े आदरसूचक शब्दों में की गई है—

‘प्रजापते सुतो नाभि तस्यापि सुतमुच्यते । नाभिनो ऋषभ पुत्रो वै,

सिद्धकर्म-दृढव्रत ॥ तस्यापि मणिचरो यक्ष सिद्धो हेमवते गिरौ ।

ऋषभस्य भरत पुत्रः ।

आर्यमञ्जु श्री मूल श्लोक ३६०-६२

(अर्थात् प्रजापति के पुत्र नाभि हुए। उनके पुत्र ऋषभ थे जो कृतकृत्य और दृढव्रती थे। मणिचर उनका यक्ष था। हिमवान् पर्वत पर वे सिद्ध हुए उनके पुत्र का नाम भरत था।)

इसी प्रकार ‘धम्मपद’ ४२२ में ऋषभदेव को ‘उसभ पवर वीर’ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है।

वास्तविकता यह है कि ऋषभदेव का व्यक्तित्व सार्वभौम रहा है। उनकी इस सार्वभौम ख्याति और मान्यता के कारण (भारत के सभी प्राचीन धर्मों ने उन्हें समान रूप से अपना उपास्य माना है। ऋषभदेव को जो स्थान और महत्त्व जैन धर्म में प्राप्त है, वही स्थान और महत्त्व उन्हें वैदिक धर्म में भी प्राप्त भावनात्मक एकता है। एक में उन्हें आद्य तीर्थंकर मानकर मोक्ष-मार्ग के प्रणेता स्वीकार किया है तो दूसरे के प्रतीक ऋषभदेव में उन्हें भगवान का अवतार मानकर मोक्ष-मार्ग के आद्य प्रणेता माना गया है। वेदों में उनका वर्णन आलंकारिक शैली में किया गया है तो हिन्दू पुराणों में उनके चरित्र में कुछ अतिरजना करदी। इन दोनों ही बातों की परत उघाड़ कर हम भाँके तो इनमें भी वही चरित्र मिलेगा जो जैन पुराणों में है। इसलिये हमारा विश्वास है कि जैन और वैदिक धर्मों की दूरी को कम करने के लिये भगवान ऋषभदेव की मान्यता एक सुदृढ़ सेतु बन सकती है।



भरत-बाहुबली-खण्ड



१३. भरत की धर्म-रुचि

पुत्रोत्पत्ति, चक्रोत्पत्ति और भगवान को केवलज्ञान-प्राप्ति के तीन समाचार एक समय में—एक दिन भरत महाराज राजदरवार में बैठे हुए थे। तभी धर्माधिकारी पुरुष ने आकर समाचार दिया—‘परम भट्टारक महाराज की जय हो। तीन लोक के स्वामी भगवान ऋषभ देव को केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई है। पुरिमताल नगर के उद्यान में इन्द्र और देव भगवान का केवलज्ञान कल्याणक मनाने के लिये एकत्रित हुए हैं।’ इसी समय आयुध-शाला की रक्षा करने वाले अधिकारी पुरुष ने सम्राट् का अभिवादन करते हुए उच्च स्वर से निवेदन किया—‘सम्राट् का यश-वैभव दिगन्त व्यापी हो। आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है।’ अभी सैनिक अधिकारी निवेदन समाप्त भी नहीं कर पाया था कि अन्त पुर के कञ्चुकी ने सम्राट् के चरणों में झुककर एक और हर्ष समाचार सुनाया—‘देव के कुल और वैभव की वृद्धि हो। देव के पुत्र-रत्न की उत्पत्ति हुई है।’

तीनों कार्य एक साथ हुए। तीनों के समाचार एक साथ आये। सुनकर सम्राट् एक क्षण के लिये विचार मग्न होगये—तीनों ही हर्ष समाचार हैं। फिर इनमें से किसका उत्सव पहले करना चाहिये। ये तीनों समाचार क्रमशः धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ के फल हैं। भगवान के केवलज्ञान की प्राप्ति का समाचार धर्म का परिणाम है। चक्ररत्न की प्राप्ति अर्थ-पुरुषार्थ का फल है क्योंकि चक्र से ही अर्थ-प्राप्ति होगी। इसी प्रकार पुत्रोत्पत्ति का समाचार काम पुरुषार्थ का फल है। किन्तु वस्तुतः तो ये तीनों ही धर्म के साक्षात् फल हैं। इन सबका मूल धर्म है। अतः सबसे प्रथम धर्म-कार्य करना चाहिये।

प्रथम केवल्य-पूजा, सांसारिक कार्य बाद में—सम्राट् ने तीनों कार्यों में धर्म को प्रमुखता दी। अतः उन्होंने भगवान के केवलज्ञान की पूजा करने का निश्चय किया। वे अपने आसन से उठे और सात पग चलकर वही से भगवान की भाव वन्दना की। फिर उन्होंने नगर में घोषणा कराई कि भगवान ऋषभदेव को लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। महाराज भरत बन्धु बान्धवों सहित भगवान के दर्शनो के लिये प्रस्थान कर रहे हैं। सब नगरवासी भी महाराज के साथ जाकर भगवान के दर्शनो का पुण्य-लाभ लें।’

राजकीय घोषणा को सुनकर परिजन और पुरजन सभी एकत्रित हो गये। तब महाराज भरत अपने बन्धुओं, अन्त पुर की स्त्रियों और नागरिकों के साथ सेना लेकर और पूजा की बड़ी भारी सामग्री लेकर रवाना हुए। लोग विविध वाहनो पर चल रहे थे। सेना में विविध प्रकार के वाद्य बज रहे थे। विविध प्रकार की ध्वजायें फहरा रही थीं। जब भरत पुरिमताल नगर के बाहर पहुँचे तो सबने एक अदृष्टपूर्व दृश्य देखा, समवसरण लगा हुआ था; त्रैलोक्येश्वर भगवान अशोक वृक्ष के नीचे गन्ध कुटी में विराजमान हैं। भरत ने सर्व प्रथम समवसरण की प्रदक्षिणा दी। फिर वे द्वार से भीतर प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने मानस्तम्भों की पूजा की। फिर वे समवसरण की

शोभा देखते हुए आगे बढ़े। वे जैसे जैसे आगे बढ़ते जा रहे थे, उनका आश्चर्य भी उसी क्रम से बढ़ रहा था। एक अद्भुत ससार की सृष्टि निमिष मात्र में हो गई, जहाँ ससार का सम्पूर्ण वैभव विद्यमान है किन्तु उस वैभव को देखकर वैभव प्राप्ति की मन में कोई ललक नहीं, अपितु सम्पूर्ण वातावरण में धर्म की सुरभि व्याप्त है। सासारिक कामनायें मानो समवसरण के द्वार से ही लौट गईं हो क्योंकि समवसरण के भीतर उनका प्रवेश वर्जित है।

जब भरत आश्चर्य विभु होकर परिखा, वन, स्तूप आदि को देख रहे थे, तब द्वारपाल देव आये और वे भरत को मार्ग दिखाते हुए समवसरण में ले गये। वहाँ भरत ने श्रीमण्डप की विभूति को देखा। वे प्रथम पीठिका पर चढ़े और प्रदक्षिणा दी। वहाँ उन्होंने धर्म चक्रों की पूजा की। फिर उन्होंने द्वितीय पीठ पर स्थित धर्म-ध्वजाओं की पूजा की। फिर उन्होंने गन्धकुटी में विराजमान और अष्ट प्राप्तिहार्यों से विभूषित देवाधिदेव भगवान् ऋषभ-देव की भक्ति भावपूर्वक पूजा की। भगवान् अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान थे। उनके ऊपर तीन छत्र सुशोभित थे। उनके ऊपर निरन्तर पुष्पवृष्टि हो रही थी। आकाश में देव-दुन्दुभियों का मधुर नाद हो रहा था। भगवान् की अतिशय गम्भीर दिव्य ध्वनि खिर रही थी। भगवान् के शरीर से दिव्य स्निग्ध प्रभा विकीर्ण हो रही थी। भगवान् के दोनों ओर चमर दुर रहे थे। और वे महार्घ्य आसन पर विराजमान थे। भगवान् के इस दिव्य रूप को देखकर भरत भक्ति विह्वल हो गए। उनके हृदय में भक्ति की उत्ताल तरंगे प्रवाहित होने लगी। भक्ति का आवेग शब्दों में फूट पड़ा और वे भगवान् की स्तुति करने लगे। समस्त देव आश्चर्यपूर्वक भरत को देखने लगे।

जब भरत स्तुति कर चुके, तब वे पीठिका से उतर कर मनुष्यों के कक्ष में जाकर बैठ गए। सारी सभा स्तब्ध होकर भगवान् के मुख की ओर देख रही थी। उस समय भरत ने हाथ जोड़कर भगवान् से धर्म का स्वरूप पूछा। तब भगवान् की दिव्य ध्वनि प्रगट हुई। उन्होंने धर्म का स्वरूप, धर्म के साधन, मार्ग और उसका फल विस्तारपूर्वक बताया। भगवान् का उपदेश सुनकर भरत महाराज ने सम्यग्दर्शन की शुद्धि और अणुन्नतो की परम विशुद्धि को प्राप्त किया। अर्थात् उन्होंने श्रावक के पाच अणुन्नत और सप्तशील धारण किए। अन्य अनेक लोगों ने मुनि-दीक्षा धारण की। कुछ ने श्रावक के व्रत लिए। भरत के लघु भ्राता पुरिमताल नगर के स्वामी वृषभसैन ने मुनि-दीक्षा ले ली और वह भगवान् का मुख्य गणधर बना।

समवसरण से लौटने पर भरत ने पुत्र जन्मोत्सव मनाया और चक्ररत्न की पूजा की।



१४. भरत की दिग्विजय

भगवान् ऋषभदेव को फाल्गुन कृष्णा एकादशी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। उसके कुछ दिनों के पश्चात् भरत भगवान् के दर्शनों के लिए गया था। और वहाँ से आकर पुत्र जन्म का उत्सव मनाया था तथा चक्ररत्न की पूजा की थी। इसी प्रकार राज कार्य करते हुए शरद ऋतु आ गई। भरत का दिग्विजय द्वारा प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता था। उन्होंने अनेक उद्धत और प्रतापी राजाओं को अपने वश में चक्रवर्ती पद कर लिया था। तभी उन्होंने निश्चय किया कि इस विस्तृत अजनाभ वर्ष को विजय करके सम्पूर्ण देश की राजनैतिक एकता स्थापित की जाय।

यह निश्चय करके उन्होंने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। उन्होंने उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किया। सिर पर मुकुट धारण किया। वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि और कानों में कुण्डल पहने। उनके ऊपर रत्न निर्मित छत्र सुशोभित था। उनके दोनों ओर वाराङ्गनायें चमर ढोर रही थीं। वे स्वर्ण निर्मित और रत्नखचित रथ में जाकर विराजमान हो गए। उनके आगे पीछे चारों ओर मुकुटवद्ध राजा लोग थे। उनके साथ एक विशाल

सेना थी। सबसे आगे पदाति सेना चल रही थी। उसके पीछे क्रमशः अश्व, रथ और हाथियों पर आरूढ़ सेना थी। सेना की प्रत्येक टुकड़ी की अपनी अलग ध्वजा थी। जब महाराज भरत नगर में होकर निकले, उस समय मकानों के गवाक्षों से सुन्दरियों ने उन पर पुष्प और लाजा की वर्षा की। चारों ओर महाराज का जय जयकार हो रहा था। सेना के आगे आगे सूर्य मण्डल के समान देदीप्यमान और देवी द्वारा रक्षित चक्ररत्न चल रहा था। सारी सेना चक्ररत्न के पीछे पीछे चल रही थी। चक्ररत्न और दण्डरत्न दोनों ही एक-एक हजार देवी से रक्षित दिव्य अस्त्र होते हैं।

सबसे पहले वे पूर्व दिशा की ओर गये। सेना के आगे-आगे सेनापति दण्ड रत्न की सहायता से मार्ग को सुगम और समतल बनाता जा रहा था। उन्होंने गंगा नदी के तट पर पड़ाव जला। मार्ग में जितने राजा मिले, वे रत्नों का उपहार और यौवनवती कन्याओं को लेकर सम्राट की सेवा में उपस्थित हुए।

दूसरे दिन महाराज भरत विजय पर्वत नामक हाथी पर मवार होकर चले। सेनापतियों ने राजमुद्राङ्कित आदेश सारी सेना में प्रचारित किया कि आज समुद्र-तट पर चलकर ही विश्राम करना है, इसलिए सेना को शीघ्रता-पूर्वक प्रयाण करना है। इस आदेश के प्रचारित होते ही सेना ने त्वरित गति से प्रयाण किया। मार्ग में अनेक भयभीत राजाओं ने आकर भरत महाराज को प्रणाम किया और उनकी अधीनता स्वीकार की। कोई राजा महाराज भरत से युद्ध करने का साहस नहीं करता था, इसलिए इन्हें किसी ने सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय नहीं करने पड़ते थे। भरत ने न तो कभी तलवार पर अपना हाथ लगाया और न कभी धनुष पर प्रत्यक्षा ही चढ़ाई। अनेक म्लेच्छ राजाओं ने उन्हें हाथी दात, गज मुक्ता, चमरी गाय के बाल और कस्तूरी भेंट की। मार्ग में सेनापति ने महाराज की आज्ञा से अन्तपालों के सहयोग किलों को अपने अधिकार में किया। अन्तपालों ने रत्न, सुवर्ण आदि भेंटकर भरत की आज्ञा स्वीकार की। इस प्रकार मार्ग के सभी राजाओं को अपने वशवर्ती बनाते हुए गंगासागर के तट पर पहुँचे। वहाँ गंगा के उपवन की वेदिका के उत्तर द्वार से प्रवेश करके वन में पहुँच कर सेना ने विश्राम किया।

भरत महाराज सेना को सेनापति के सुपुर्द करके अकेले ही, दिव्य अस्त्रों से सुसज्जित होकर अजितजय रथ में बैठकर समुद्र विजय के लिये चल दिए। उनका रथ स्थल और जल सर्वत्र समान रूप से चल सकता था। उन्होंने सारथी को जल में रथ को चलाने का आदेश दिया। उनके आदेशानुसार सारथी ने समुद्र में रथ बढ़ाया। रथ बारह योजन तक समुद्र में चला गया। तब भरत ने एक दिव्य वाण धनुष पर सन्धान किया, जिस पर लिखा हुआ था कि 'मैं वृषभदेव तीर्थकर का पुत्र भरत चक्रवर्ती हूँ। इसलिए मेरे उपभोग के योग्य क्षेत्र में रहने वाले सब व्यतर देव मेरे अधीन हों।' वह वाण सनसनाता हुआ मागध देव के महल के आगमन में जाकर गिरा। उसे देखते ही सम्पूर्ण व्यन्तरो में आतक व्याप्त होगया। भयभीत मागध देव व्यन्तरो के परिकर सहित उस वाण को रत्न मजूपा में रखकर भागा हुआ भरत के निकट आया और उन्हें अनर्घ्य रत्न भेंटकर उनकी अधीनता स्वीकार की। इसके पश्चात् भरत पुनः अपने स्कन्धावार में लौटे।

अगले दिन सेना ने प्रस्थान किया। सेना महाराज के आदेशानुसार समुद्र के किनारे-किनारे चली। चक्रवर्ती का आगमन सुनकर राजा लोग छत्र-मुकुट त्याग कर चक्रवर्ती का स्वागत करने अपने राज्य को सीमा पर भेंट लिए उपस्थित हो जाते। जो भोगी विलासी राजा थे, भरत ने उन्हें सत्ताच्युत करके उनके स्थान पर कुलीन पुरुषों को राज्य शासन सौंपा। अनेक राजा भय के कारण राज्य छोड़कर भाग गए। जिसने तनिक भी शत्रुता प्रदर्शित की, भरत ने उनके राज्य, धन, संपत्ति छीन ली। कोई अन्यायी राजा बच नहीं सका। अनुकूल राजाओं को अभय देकर भरत ने सम्मानित किया।

सेनापति ने बिना किसी प्रतिरोध के अग, वग, कर्लिंग, कुरु, अवन्ती, पांचाल, काशी, क्रोशल, विदर्भ, कच्छ, चेदि, वत्स, सुहा, पुण्ड्र, ओण्ड्र, गौड, दक्षार्ण, कामरूप, कश्मीर, उशीनर, और मध्यदेश के राजाओं को अपने वश में कर लिया। उसने कालिन्द, कालकूट, भिल्ल देश और मल्लदेश में पहुँच कर उनसे अपनी आज्ञा मनवाई। उसकी सेना के हाथियों ने हिमवान पर्वत के निचले भाग से लेकर वैभार और गोरथगिरि पर स्वच्छन्द विचरण

किया। वे हाथी सुमागधी, गगा, गोमती, कपीवती, रथास्फा, गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा और निचुरा नदियों तथा लौहित्य समुद्र और कम्बुक नामक सरोवरो में घूमे थे। इन हाथियों ने उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना नदी के जल का निर्वाध पान किया था। इन विजयों हाथियों ने ऋष्यमूक, कोलाहल, माल्य और नागप्रिय पर्वतों को रोद डाला। इन्होंने चेदि और ककूश देश के हाथियों को परास्त कर दिया।

भरत की सेना के तीव्रगामी घोड़े शोण नदी के दक्षिण और नर्मदा नदी के उत्तर और बीजा नदी के दोनों ओर और मेखला नदी के चारों ओर घूमे थे।

भरत ने पूर्वदिशा के सब राजाओं को जीतकर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया। दक्षिण में भरत ने त्रिकलिंग, ओड्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाग देश के राजाओं पर विजय प्राप्त की। उन्होंने कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पाड्य और अन्तर पाड्य देश के राजाओं के मस्तक अपने चरणों में नवाये। चक्रवर्ती की आज्ञानुसार उनका सेनापति जयकुमार तेला, इक्षुमती, नकरवा, वगा, स्वसना, वैतरणी, माषवती, महेन्द्रका, गोदावरी, सुप्रयोगा, कृष्णवेणा सन्नीरा, प्रवेणी, कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका, और अम्बवर्णा नदियों को पार कर उनके तटवर्ती राजाओं को आज्ञानुवर्ती बनाता हुआ कर्णाटक, आन्ध्र, चोल, पाण्ड्य आदि देशों को अपने आधीन करने में सफल हुआ। चक्रवर्ती ने समुद्र में जाकर वरतनु नामक देव को जीता।

सम्पूर्ण दक्षिण देश को जीतकर महाराज भरत ने पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया। वे सह्याद्रि को लाघकर समुद्र तट पर पहुँचे। भीमरथी, दारुवेणा, नीरा, मूला, वाणा, केतवा, करीरी, प्रहरा, मुररा, पारा, मदना, गोदावरी, तापी, लागलखातिका आदि नदियों को उनकी सेनाओं ने आननफानन में पार कर लिया। किसी का साहस नहीं हुआ जो उनका विरोध करता। सह्याद्रि को पाकर सेना विन्ध्याचल पर्वत पर पहुँची। फिर वहा से बढ़ती हुई वह सेना सिन्धु नदी के तट पर जा पहुँची और सम्पूर्ण पश्चिम दिशा के राजाओं को जीता।

इसके बाद भरत ने उत्तर दिशा की ओर अभियान किया। वे विजयार्ध पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ विजयार्धदेव चक्रवर्ती के दर्शनो के लिये आया और बहुमूल्य भेंट देकर चक्रवर्ती को प्रसन्न किया तथा उनका अभिषेक किया। फिर विजयार्ध की वेदी पारकर म्लेच्छ देश में पहुँचे। वहाँ अनेक म्लेच्छ राजाओं ने चक्रवर्ती का प्रतिरोध किया। किन्तु सेनापति जयकुमार ने उन्हें आननफानन में पराजित कर दिया। फिर सेना तमिस्रा नामक विशाल गुफा को पारकर मध्यम म्लेच्छ देश में पहुँची। वहाँ चिलात और आवर्त देश के राजाओं ने चक्रवर्ती की सेना का सयुक्त होकर सामना किया। उन राजाओं के सहायक नागमुख और मेघमुख नामक दो देवों ने बड़ा उपद्रव किया। किन्तु जयकुमार सेनापति ने उन दोनों को युद्ध में परास्त कर दिया। तभी से उनका नाम मेघेश्वर पड गया। तब दोनों राजाओं ने भी आकर भरत की अधीनता स्वीकार करली। फिर चक्रवर्ती ने हिमवत कूट पर पहुँच कर हिमवान् पर्वत के राजाओं पर विजय प्राप्त की। (फिर वे वृषभाचल पर्वत पर पहुँचे। वहाँ भरत ने काकिणी रत्न से पर्वत की एक सपाट शिला पर अपना नाम अंकित करना चाहा। उन्होंने सोचा था कि समस्त पृथ्वी को जीतने वाला मैं ही प्रथम चक्रवर्ती हूँ। किन्तु जब उन्होंने अपना नाम उस शिला पर लिखना चाहा तो उन्हें यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वहाँ नाम लिखने के लिये कोई स्थान नहीं है। वहाँ शिला पर असंख्य चक्रवर्तियों के नाम उत्कीर्ण हैं। तब भरत का अभिमान नष्ट हो गया और उन्होंने स्वीकार किया कि इस भरत क्षेत्र पर मेरे समान शासन और विजय करने वाले असंख्य सम्राट् मुझसे पहले ही चुके हैं। तब उन्होंने एक चक्रवर्ती की प्रशस्ति को अपने हाथ से मिटाया और अपनी प्रशस्ति अंकित की)।

इसके पश्चात् विजयार्ध पर्वत की उत्तर और दक्षिण श्रेणी के विद्याधर राजा भेंट लेकर भरत की सेवा में उपस्थित हुए। ये दोनों राजा नमि और विनमि चक्रवर्ती के लिये उपहार में सुन्दर कन्यायें भी लाये थे। भरत ने राजा नमि की बहन सुभद्रा के साथ विद्याधरों की परम्परानुसार विवाह किया। यहीं सुभद्रा चक्रवर्ती के पटरानी पद पर प्रतिष्ठित हुई।

इस प्रकार चारों दिशाओं के सम्पूर्ण राजाओं पर विजय प्राप्त कर और सम्पूर्ण भरत क्षेत्र का चक्रवर्तित्व स्थापित कर विजय आनन्द का रसपान करते हुए चक्रवर्ती भरत अपनी विजयिनी सेना के साथ अयोध्या की ओर लौटे। इन्हें नव निधियों और चौदह रत्नों का लाभ प्राप्त हुआ था। सम्पूर्ण खण्ड को विजय करने में भरत को साठ हजार वर्ष लगे। प्रयाण करते हुए भरत जब कैलाश पर्वत के समीप पहुँचे तो उनका हृदय जिनेंद्रदेव की भक्ति से भर गया। वे जिनेंद्रदेव की पूजा के उद्देश्य से कैलाश पर्वत पर पहुँचे। उनके साथ अनेक मुकुटवद्ध राजा चल रहे थे। कैलाश पर्वत पर पहुँच कर वे सवारी छोड़ कर पैदल ही चले। उन्होंने दूर से ही जगद्गुरु ऋषभदेव का समवसरण देखा। वे वहाँ पहुँचकर धूलिसाल में आगे बढ़े और मानस्तम्भ की पूजा की। फिर वापिका, कोट, अष्ट मंगल द्रव्य, नाट्यशालाओं, वनों, चैत्य वृक्षां, ध्वजाओं, सिद्धार्थ वृक्षां, रत्नूपों आदि का अवलोकन-पूजन करते हुए श्रीमण्डप में विराजमान भगवान के दर्शन किये। उन्होंने जमीन पर घुटने टेंक कर भगवान को नमस्कार किया। फिर अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजा की। उनकी स्तुति की। फिर यथास्थान बैठकर भगवान के मुख से धर्म का स्वरूप सुना। फिर भक्तिपूर्वक भगवान को तथा वहाँ विराजमान समस्त मुनियों को नमस्कार कर उन्होंने समवसरण से प्रस्थान किया और अपनी सेना के साथ चलते हुए वे यथासमय अयोध्या के निकट पहुँचे।



१५. भरत के भाई-बहनो का वैराग्य

भगवान ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थी—ब्राह्मी और सुन्दरी। ब्राह्मी भरत की बहन और नन्दा माता की पुत्री थी तथा सुन्दरी बाहुवली की बहन और सुनन्दा माता की पुत्री थी। इनकी दीक्षा के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा में मान्य भगवज्जिनसेन कृत आदिपुराण में केवल इतना उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मी और सुन्दरी भगवान का उपदेश सुनकर पुरिमताल नगर में दोनों ने भगवान के समीप दीक्षा धारण कर ली। आदिपुराण २४।१७५-१७७ के शब्दों में 'भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्याओं के बीच में गणिनी के पद को प्राप्त हुई थी। वह ब्राह्मी सब देवों के द्वारा पूजित हुई थी। उस समय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरदऋतु की नदी के शीलरूपी किनारे पर बैठी हुई और मधुर शब्द करती हुई हसी के समान सुशोभित हो रही थी। ऋषभदेव की दूसरी पुत्री सुन्दरी को भी उस समय वैराग्य उत्पन्न हो गया था, जिससे उसने भी ब्राह्मी के बाद दीक्षा धारण कर ली थी।' इस विवरण के अतिरिक्त और कोई विवाह या ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विवरण इनके सम्बन्ध में इस पुराण में नहीं मिलता।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा^१ में ब्राह्मी का बाहुवली के साथ और सुन्दरी का भरत के साथ सम्बन्ध हुआ था। ब्राह्मी ने तो भगवान को केवलज्ञान होते ही दीक्षा ले ली किन्तु सुन्दरी इस समय दीक्षा नहीं ले सकी क्योंकि भरत ने उसे इसकी अनुमति नहीं दी। भरत चाहता था कि षट्खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके जब मैं चक्रवर्ती बन जाऊँ, तब सुन्दरी को पटरानी पद प्रदान किया जाय। किन्तु सुन्दरी के मन में प्रबल वैराग्य भावना थी। जब भरत दिग्विजय के लिये गया तब उसने आचाम्ल तप करना आरम्भ कर दिया। साठ हजार वर्ष व्यतीत होने पर जब भरत सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीतकर वापिस आया तो बारह वर्ष महाराज्याभिषेक समारोह में लग गये।

१ आवश्यक नियुक्ति, आवश्यक चूणि तथा मलयगिरि श्रृंखला

इससे निवृत्त होने पर एक दिन वह सुन्दरी के महलो मे पहुँचा तो उसे अत्यन्त कृशकाय देखकर भरत को अत्यन्त दुःख हुआ। सेवको से उसे इसका कारण ज्ञात हुआ तो उसने पूछा—सुन्दरी ! तुम गृहस्थ जीवन मे रहना चाहती हो अथवा दीक्षा लेना चाहती हो। सुन्दरी ने दीक्षा लेने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रगट की। तब भरत ने उमे ब्राह्मी को निकट दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान कर दी। इस प्रकार उसने भी दीक्षा लेली।

इस कथा के बावजूद श्वेताम्बर परम्परा ने भी दोनो को बाल ब्रह्मचारिणी माना है।

चक्रवर्ती भरत अपनी विशाल बाहिनी के साथ अयोध्यापुरी के निकट पहुँचा। नगरवासियो ने चिरकाल बाद वापिस लौटे अपने हृदयसम्राट् के स्वागत के लिए अयोध्यापुरी को खूब सजाया था। सारे राजमार्ग और वीथियाँ हाट और निगम तोरणो और बन्दनवारो से सजाये थे। राजमार्गो पर सुगन्धित चन्दन के जल का छिडकाव किया गया था। सौभाग्यवती स्त्रियो ने मंगलकलश रखकर रत्नचूर्ण से चौक पूरे थे। सारा नगर चक्रवर्ती के स्वागत के लिए पलक पावडे विछाये हुए अधीरता से प्रतीक्षा कर रहा था। किन्तु समस्त शत्रुदल का विध्वंस करने वाले चक्रवर्ती का चक्ररत्न गोपुर द्वार के बाहर ही ठहर गया। उस समय चक्ररत्न की रक्षा करने वाले देव इस अप्रत्याशित घटना से आश्चर्य-चकित रह गये।

भाइयो का
वंराग्य

सेनापति आदि प्रमुख लोगो ने इस घटना की सूचना चक्रवर्ती को दी। चक्रवर्ती भी इसका कुछ कारण नही खोज पाये। तब उन्होने पुरोहित को बुलाया और उससे पूछने लगे—‘आर्य ! समस्त शत्रुदल का सहार करने वाला यह चक्ररत्न मेरे ही नगर के द्वार पर क्यो रुक गया है ? यह अन्दर प्रवेश क्यो नही करता ? जो समुद्र मे, विजयार्थ की गुफाओ मे, पर्वतो और वनो मे कही नही रुका, वह अव्याहतगति यह चक्र मेरे ही घर के आगन मे क्यो रुक गया है ? आप दिव्य नेत्र है। चक्र के रुकने का कोई साधारण कारण नही हो सकता। आप विचार कर बताइये। आप ही इसके रुकने का कारण बता सकते है।

भरत के ऐसा कहने पर पुरोहित कुछ समय के लिए विचारमग्न हो गये। तब निमित्त-ज्ञान से इसका कारण जानकर बोले—‘देव ! हम लोगो ने निमित्त-ज्ञानियो से सुना है कि जवतक दिविजय करना कुछ भी शेष रहता है, तब तक चक्ररत्न विश्राम नही लेता। व्यवहार मे न आपका कोई मित्र है और न शत्रु है। सब आपके सेवक है। तथापि अब भी कोई आपके जीतने योग्य रह गया है। आपने बाहरी राजाओ को जीत लिया है किन्तु आपके घर के लोग अब भी आपके अनुकूल नही है। आपने समस्त शत्रु-पक्ष को जीत लिया है किन्तु आपके भाई आपके प्रति नम्र नही हैं। उन्होने आपको नमस्कार नही किया है। आपके भाई आपके विरुद्ध खडे हुए है और सजातीय होने से वे बध्य भी नही हैं। अत आप उनके पास दूत भेजिये जो बातचीत द्वारा उन्हे आपके अनुकूल बनावें।

पुरोहित के कथन को चक्रवर्ती बडे ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। उन्हे पुरोहित का यह परामर्ष युक्तियुक्त लगा। उन्हीने सोचा—बाहुबली महाबलवान है। उसे छोडकर शेष भाइयो के पास मैं दूत भेजूंगा, यह विचार कर उन्हीने योग्य निःसृष्टार्थ सब भाइयो के पास भेजे। सब भाइयो ने दूतो के मन्देश सुने। फिर वे परस्पर परामर्श करने के लिए एक स्थान पर एकत्रित हुए। उन्हीने कहा—‘भरत हमारे अग्रज है। वे पिता के समान पूज्य हैं। किन्तु पिता जी तो अभी विद्यमान हैं। यह वैभव भी उन्ही का दिया हुआ है। इसलिए हम लोग इस विषय मे पिताजी की आज्ञा के आधीन है, स्वतन्त्र नही है।’ इस प्रकार राजजनोचित नीतिमत्तापूर्ण उत्तर देकर दूतो का यथोचित सम्मान किया और भरत के पत्र का उत्तर देकर और उनके लिए उपहार देकर दूतो को विदा किया।

तब सब भाई भगवान ऋषभदेव के पास कैलाश पर्वत पर पहुँचे। उन्हीने भगवान के दर्शन किये, उनकी पूजा की। फिर निवेदन किया—हे देव ? आपने हमे जन्म दिया। आपसे हमे ससार के समस्त वैभव मिले। हम केवल आपकी प्रसन्नता के इच्छुक हैं। हम आपको छोडकर और किसी की उपासना नही करना चाहते। भरत हमे प्रणाम करने के लिए बुलाते हैं। किन्तु जो सिर आपके चरणो मे झुका है, वह अन्य किसी के चरणो मे नही झुक सकता। जिसमे किसी अन्य को प्रणाम नही करना पडता, ऐसी वीर दीक्षा धारण करने के लिए हम आपके चरणो मे उपस्थित हुए हैं।

भगवान ने उन राजकुमारों को अविनाशी मोक्षगुण प्राप्त करने का उपाय बताते हुए उपदेश दिया। भगवान के हितकारी वचन सुनकर उन राजकुमारों को वैराग्य हो गया। उन्होंने भगवान के चरणों में दीक्षा धारण करली और वे निर्गन्ध दिगम्बर मुनि बन गये। वे घोर तप करने में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने द्वादशाङ्ग वाणी का अध्ययन किया। उन्होंने ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।



१६. भरत-बाहुवली-युद्ध

चक्रवर्ती विचार करने लगे कि मेरे अन्य भाइयों और बाहुवली में बहुत अन्तर है। बाहुवली महा बलवान, मानधन से युक्त और युद्ध में शत्रुओं के लिए महा भयकर है। वह दाम, दण्ड और भेद से बच में आने वाला नहीं है। इसलिए उस पर साम नीति का ही प्रयोग करना उचित है। यदि वह फिर भी बच में नहीं आता और बाहुवली आया, तब उस परिस्थिति पर पुनः विचार कर जो उचित होगा, वह किया जायगा। यह का निर्णायक युद्ध विचार कर चक्रवर्ती ने नीति निरीक्षण एक चतुर दूत को बाहुवली के पास भेजा।

वह दूत शीघ्रतापूर्वक मार्ग तय करता हुआ बाहुवली के पौदनपुर नामक नगर में पहुँचा। उसने राजद्वार पर जाकर द्वारपाल से अपना परिचय और उद्देश्य बाहुवली के पास भिजवा दिया। बाहुवली ने दूत को तत्काल अन्दर बुला भेजा। दूत ने अप्रतिम सौन्दर्य और वीरदर्प की राशि कुमार बाहुवली को देखा। उसने कुमार बाहुवली के समक्ष जाकर उनके चरणों में नमस्कार किया। कुमार ने उसका यथोचित सम्मान करके अपने पास ही बैठाया। कुमार ने मन्द स्मित द्वारा अपने भाई चक्रवर्ती की कुशल मंगल पूछी।

तब दूत ने अत्यन्त विनयपूर्वक उत्तर दिया—हे प्रभो! हम तो अपने स्वामी के सेवक हैं। उनका सन्देश पहुँचाना ही हमारा कर्तव्य है। भरत इक्ष्वाकुवंशी हैं, भगवान् ऋषभदेव के पुत्र हैं, आपके बड़े भ्राता हैं। उन्होंने भरत क्षेत्र के समस्त राजाओं, देवों और विद्याधरों को जीत लिया है। समुद्र, गंगा और सिन्धु के अधिष्ठाता देवों ने उनकी आरती उतागी है। उन्होंने वृषभाचल पर दण्डरत्न से अपना नाम उत्कीर्ण किया है। ममस्त रत्न और निधियाँ उन्हें प्राप्त हैं। उन्होंने आपको आशीर्वाद दिया है और आज्ञा दी है कि ममस्त द्वीप और समुद्रों तक फैला हुआ हमारा राज्य हमारे प्रिय भाई बाहुवली के बिना शोभा नहीं देता। दूसरी बात यह है कि यदि आप उन्हें प्रणाम नहीं करते तो उनका चक्रवर्ती पद भी सुशोभित नहीं होता। इसलिये आप उन्हें जाकर नमस्कार करिये। उनकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं जाती। जो उनकी आज्ञा की अवहेलना करते हैं, उनके नियमन के लिये उनका चक्ररत्न है। इसलिये आप चलकर उनके मनोरथ पूर्ण कीजिये। आप दोनों भाइयों के मिलाप से ससार मिलकर रहेगा।

दूत के निवेदन करने पर कुमार बाहुवली मन्दमन्द मुस्कराते हुए बोले—हे दूत! तू बहुत चतुर है। तूने साम नीति की बात करते हुए भेद और दण्ड की भी बातें चतुराई से कह दी। किन्तु तूने इनका अयोग्य स्थान में प्रयोग किया है। बड़ा भाई वन्दनीय है किन्तु सिर पर तलवार रखकर प्रणाम कराना तो अयोग्य है। आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ने राजा शब्द मेरे और भरत के दोनों के लिये दिया है। भरत राजराज बन जाय, हम अपने धर्मराज्य में रहकर राजा ही बने रहेंगे। भरत हम लोगों को बच्चों की तरह बुलाकर और प्रणाम कराकर पृथ्वी का कुछ टुकड़ा देना चाहता है। किन्तु मनस्वी पुरुष अपने भुजबल से भोग अर्जित करना पसन्द करता है, दूसरे के अनुग्रह से मिला हुआ दान उसके लिये तुच्छ होता है। वन में निवास करना अच्छा है, प्राण विसर्जन करना अच्छा है, किन्तु कुलाभिमानी पुरुष कभी दूसरे की आज्ञा के अधीन रहना या परतन्त्र रहना स्वीकार नहीं करेगा। हे दूत!

भगवान ऋषभदेव द्वारा दी हुई हमारी पृथ्वी को भरत छोनना चाहता है। अतः उसका विरोध करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। मुझे पराजित किये बिना भरत इस पृथ्वी का भोग नहीं कर पायगी। तू भरत से जाकर कह देना कि अब तो हम दोनों का निर्णय युद्ध-भूमि में ही होगा।

इस प्रकार कहकर उस स्वाभिमानी कुमार बाहुवली ने दूत को विदा कर दिया। बाहुवली युद्ध की तैयारी करने लगे।

उधर जब दूत ने जाकर चक्रवर्ती भरत को सब समाचार सुनाये तो चक्रवर्ती की आज्ञा से समस्त सेना ने युद्ध के लिये प्रयाण कर दिया। दोनों ओर की सेनाये युद्ध-भूमि में आमने-सामने आ डटी। सेनापति लोग व्यूह-रचना करने लगे। तभी दोनों ओर के बुद्धिमान मंत्री लोग आपस में मिलकर परामर्श करने लगे—दोनों भाई चरम शरीरी हैं। युद्ध में इनमें से किसी की क्षति होने वाली नहीं है, केवल दोनों पक्ष के सैनिकों का ही सहार होगा। अतः इस प्रकार युद्ध में जन-सहारा से कोई लाभ नहीं है। इसलिये दोनों भाइयों का ही परस्पर तीन प्रकार का युद्ध हो। इन युद्धों में जो जीते, उसकी विजय स्वीकार कर लेनी चाहिए।

यह निर्णय दोनों भाइयों के समक्ष रक्खा गया और दोनों ने ही इसे स्वीकार कर लिया। दोनों ने जल-युद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध (मल्लयुद्ध) करने में अपनी सहभक्ति प्रदान कर दी।

श्वेताम्बर परम्परा में दृष्टि युद्ध गायुद्ध, बाहु युद्ध और मुष्टि युद्ध इस प्रकार चार प्रकार के युद्ध माने हैं।

परस्पर युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुई सेना अब मूक दर्शक बन कर खड़ी थी। यह ससार का अभूतपूर्व और अदृष्टपूर्व युद्ध था, जिसमें अहिंसात्मक रीति से जय-पराजय का निर्णय होना था। यह हिंसा पर अहिंसा की विजय थी, जिसमें शस्त्रास्त्रों का प्रयोग नहीं हुआ, रक्त की एक बूँद नहीं गिरी। ऐसा अद्भुत युद्ध ससार ने न कभी देखा था, न सुना था। सम्पूर्ण पृथ्वी का साम्राज्य दो व्यक्तियों की शक्ति पर दाव पर लगा हुआ था।

भरत पाँच सौ धनुष ऊँचा था। बाहुवली की ऊँचाई सवा पाँच सौ धनुष थी। शारीरिक बल में भी बाहुवली भरत की अपेक्षा कुछ अधिक ही था। इन दोनों बातों का लाभ बाहुवली को मिला। सर्वप्रथम दृष्टि युद्ध हुआ। किन्तु भरत के पलक झपक गये। सबने इस युद्ध में भरत की पराजय स्वीकार कर ली। फिर दोनों भाई जल-युद्ध करने के लिए सरोवर में प्रविष्ट हुए। दोनों एक दूसरे पर पानी उछालने लगे। भरत बाहुवली के ऊपर जल उछालते तो वह उनकी छाती तक ही जाता, जबकि बाहुवली द्वारा उछाला हुआ जल भरत के मुँह और आँखों में भर जाता था। शीघ्र ही बाहुवली इस युद्ध में भी विजयी रहे। अब अन्तिम मल्ल युद्ध होना था। दोनों वीरों में जमकर मल्ल युद्ध हुआ। दोनों ही असाधारण वीर पुरुष थे। किन्तु दाव लगते ही बाहुवली ने भरत को ऊपर हाथों में उठाकर चक्र के समान घुमा दिया। बाहुवली ने यह विचार कर भरत को जमीन पर नहीं पटकना कि ये बड़े हैं, बल्कि उन्होंने भरत को उठाकर कंधे पर बैठा लिया।

बाहुवली तीनों युद्धों में निर्विवाद विजय प्राप्त कर चुके थे। भरत-पक्ष के लोग लज्जा से सिर नीचा किये बैठे थे, तभी एक भयानक घटना घटित हो गई। भरत अपनी पराजय की लज्जा से क्रोधान्ध हो गये। उन्होंने चक्र-रत्न का स्मरण किया। चक्ररत्न स्मरण करते ही उनके पास आया। उन्होंने विवेकशून्य होकर बाहुवली के ऊपर चक्र चला दिया। किन्तु चक्र देवरक्षित होता है। वह सगोत्रज और चरम शरीरी का वध नहीं कर सकता। वह बाहुवली की ओर चला और उनकी प्रदक्षिणा देकर लौट गया। राजाओं ने इस कृत्य के लिये भरत को धिक्कारा।

बाहुवली ने केवल इतना ही कहा—आपने खूब पराक्रम दिखाया। और यह कहकर भरत को कंधे से उतार कर जमीन पर रख दिया। सबने बाहुवली की विजय स्वीकार की और उनकी बड़ी प्रशंसा की।

यद्यपि बाहुवली की यह विजय निर्विवाद थी, अनेक राजाओं ने उनकी इस विजय की प्रशंसा की, उन्होंने बाहुवली का सत्कार भी किया। किन्तु भरत द्वारा चक्र चलाये जाने से बाहुवली के मन पर उसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। वे विचार करने लगे—हमारे बड़े भाई ने इस नरहर राज्य के लिये यह कैसा लज्जाजनक बाहुवली का वैराग्य कार्य किया है। धिक्कार है इस साम्राज्य-निष्ठा को। यह राज्य प्राणी को छोड़ देता है किन्तु प्राणी इसे नहीं छोड़ना चाहता। मनुष्य का अहभाव और विषयलालसा मनुष्य से न जाने

कितने अकृत्य कराते हैं। किन्तु क्षणभंगुर जीवन का व्यय केवल अहंकार और विषयो के लिये करना क्या बुद्धिमत्ता है? इस मानव-जीवन का प्रयोजन इससे कहीं महान् है।

इसके पश्चात् उन्होंने भरत की भर्त्सना करते हुए कहा—हे राजाओ मे श्रेष्ठ ! लज्जा को छोड़कर तुम सुनो। मेरे अभेद्य शरीर पर तुमने चक्र चलाकर बड़े दुस्साहस का कार्य किया है। तुम अपने भाइयों से इस राज्य को छीनकर अकेले ही उसका भोग करना चाहते हो। अब यह राज्य तुम्हें ही सुवारिक हो। मैं अब इस राज्य-लक्ष्मी का परित्याग करके तप-लक्ष्मी का वरण करना चाहता हूँ। मैंने आपकी विनय नहीं की थी, उसे आप क्षमा करे।

बाहुवली के वचन सुनकर भरत को भी अपने कार्य पर बहुत अनुताप हुआ और वे अपने कृत्य की निन्दा करने लगे। बाहुवली ने अपने पुत्र महावली को राज्य सौंप कर भगवान् वृषभदेव के चरणों का ध्यान करते हुए मुनि-दीक्षा ले ली। वे वहाँ से विहार करते हुए कुछ समय भगवान् के निकट रहे। फिर वे कैलाश पर्वत पर पहुँचे और एक वर्ष का प्रतिमा योग लेकर निश्चल लड़े होकर तपस्या करने लगे। वे कभी आहार के लिये नहीं गये। एक स्थान पर खड़े हुए उनके शरीर पर माधवी लतायें चढ़ गईं। वामी के छिद्रों से भयानक सर्प निकल कर उनके चरणों पर फण फैलाकर बैठ जाते। सर्प के वच्चे उनके शरीर में किलोल करते। उनके केश बढ़कर कन्धों तक लटकने लगे। विद्याधरियाँ आकर उन वासन्ती लताओं को हटाती, उनके पत्ते तोड़ देती। तीव्र तपस्या करते हुए उनका शरीर ज्यों ज्यों कृश होता जा रहा था, उनके कर्म भी उसी प्रकार कृश हो रहे थे। उन्होंने आहार, मैथुन, भय और परिग्रह इन चारों सजाओं पर विजय प्राप्त कर ली। उन्होंने अपनी आत्मा द्वारा आत्मा को जीत लिया था। उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थी। जाति विरोधी जीव उनके निकट निर्भय होकर विचरण करते थे।

जिस दिन उनका एक वर्ष का नियम पूरा होने वाला था, उसी दिन चक्रवर्ती भरत आये। उन्होंने आकर महामुनि बाहुवली की पूजा की। इससे पहले बाहुवली के मन में यह विकल्प रहता था कि भरत को मेरे कारण सकलेश पहुँचा है। किन्तु भरत द्वारा पूजा करने पर वह विकल्प भी दूर हो गया और तत्काल केवलज्ञान प्रगट हो गया। उसके पश्चात् चक्रवर्ती ने पुनः महापूजा की। भगवज्जिनसेन आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञान से पहले भरतेश्वर ने जो पूजा की थी, वह अपना अपराध नष्ट करने के लिये की थी और केवलज्ञान होने के पश्चात् जो पूजा की, वह केवलज्ञान का अनुभव करने के लिये की थी।

चक्रवर्ती की पूजा की कल्पना करना भी कठिन है। उन्होंने रत्नों का अर्घ वनाया था। गंगा के जल की जल धारा दी थी। रत्नों की ज्योति के दीपक चढाये थे। अक्षत के स्थान पर मोती चढाये थे। अमृत के पिण्ड से नैवेद्य अर्पित किया था। कल्पवृक्ष के चूर्ण की धूप बनाई थी। पारिजात के पुष्पो से पुष्पो की पूजा की थी। और फलों के स्थान पर रत्न और निधियाँ चढाई थी।

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्र और देवों ने आकर महामुनि बाहुवली की पूजा की। उस समय सुगन्धित वायु बह रहा था। आकाश में देव दुन्दुभि बज रही थी। पुष्प-वर्षा हो रही थी। मुनिराज के ऊपर तीन छत्र और उनके नीचे दिव्य सिंहासन सुशोभित हो रहा था। उनके दोनों ओर चमर ढोले जा रहे थे। देवों ने उनके लिये गन्धकुटी की रचना की। अब वे अरहन्त परमेष्ठी बन गए थे।

भगवान् बाहुवली ने समस्त पृथ्वी पर विहार किया और ससार को कल्याण-मार्ग का उपदेश दिया। अन्त में वे भगवान् वृषभदेव के समीप कैलाश पर्वत पर पहुँचे और वही से मुक्त हुए।

आदिपुराण में भरत के भेजे हुए दूत का जो वर्णन आया है, उसमें पोदनपुर के मार्ग तथा पोदनपुर के निकटवर्ती प्रदेश का वर्णन आया है, उससे पोदनपुर के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पडता है। यद्यपि उससे यह

निर्णय कर सकना कठिन है कि पोदनपुर कहाँ था। किन्तु उससे इस बात पर प्रकाश अवश्य पडता है कि पोदनपुर के आसपास कौन कौन सी फसले होती थी। उसमें पर्व ३५ श्लोक २८-२९ में वर्णन है कि नगर से बाहर घानों से युक्त मनोहर पृथ्वी को पाकर और पके हुए चावलों के खेतों को देखता हुआ वह दूत बहुत ही आनन्द को प्राप्त हुआ। जो बहुत से फलों से शोभायमान है

और किसानों के द्वारा बड़े यत्न से जिनकी रक्षा की जा रही है ऐसे धान क गुच्छों को देखते हुए हूत ने मनुष्यों को बड़ा स्वार्थी समझा था ।' इस विवरण से प्रतीत होता है कि पोदनपुर के निकट धान की खेती बहुलता से होती थी ।

आगे इसी पर्व के श्लोक ३७ में ईश का वर्णन मिलता है । स्त्रियों के वर्णन में कवि ने उनकी शृंगार-सज्जा पर भी कुछ प्रकाश डाला है । इसमें बताया है कि वहाँ की कृपक-वालाओं ने धान की बालों से अपने कान को आभूषण बनाए थे । नील कमलों की मालाओं से अपनी चोटियाँ बाध रखी थी । उन्होंने तोते के रंग वाली हरी चोलियाँ पहन रखी थी (श्लोक ३२-३६)

उपर्युक्त विवरण से पोदनपुर की फसलों, स्त्रियों के शृंगार प्रसाधनों और वेष भूषण पर कुछ प्रकाश पड़ता है । हरिवंश पुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन बाहुवली को पोदनपुर नरेश तो स्वीकार करते हैं किन्तु दोनों पक्षों की सेनाओं की मुठभेड़ वितता नदी के पश्चिम दिग्भाग में मानते हैं । सम्भवतः वितता से उनका आशय वितस्ता (भेलम) नदी से है । किन्तु भेलम के पश्चिम दिग्भाग में न तो धान की खेती होती है, न ईश होती है और न स्त्रियों का परिधान और शृंगार वैसा होता है जैसा कि आदि पुराण में बताया गया है । इससे लगता है कि दोनों पुराणों में पोदनपुर की स्थिति के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं था ।

हरिवंश कथाकोष कथा २३ में पोदनपुर की अवस्थिति पर कुछ प्रकाश डाला गया है—'अथोत्तरापथे देशे पुरे पोदनामनि' अर्थात् पोदनपुर नामक नगर उत्तरापथ देश में था । इसी प्रकार कथा २५ में इसी के समर्थन में कहा गया है—'अथोत्तरापथे देशे पोदनाख्ये पुरेऽभवत् ।' उत्तरापथ से आशय नक्षत्रशिला से है ।

किन्तु इसके विरुद्ध बाहुवली की मान्यता दक्षिण भारत में सर्वाधिक रही है और भरत ने बाहुवली की जिस स्वर्ण-प्रतिमा का निर्माण कराया था, वह दक्षिण भारत में थी तथा उसकी पूजा रामचन्द्र, रावण और मन्दोदरी ने की थी, इसका समर्थन राजावलि कथे और मुनिवशाभ्युदय काव्य से भी होता है तथा आदिपुराण में धान और ईश की फसलों और कृषक वालाओं के परिधान आदि का जो वर्णन किया है, वह भी दक्षिण भारत की परम्परा से मिलता है ।

उत्तर पुराणकार आचार्य गुणभद्र ने स्पष्ट शब्दों में पोदनपुर को दक्षिण भारत में स्वीकार किया है । यथा—

जम्बू विशेषणे द्वीपे भरते दक्षिणे महान् ।

सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्ण पोदनं पुरम् ॥७३६

अर्थात् जम्बूद्वीप के दक्षिण भारत क्षेत्र में एक सुरम्य नामक बड़ा भारी देश है और वहाँ बड़ा विस्तृत पोदनपुर नगर है ।

श्री वादिराज सूरि ने भी पार्वनाथ चरित सर्ग १ श्लोक ३७-३८ में और सर्ग २ श्लोक ६५ में पोदनपुर को सुरम्य देश में बताया है । इस काव्य ग्रन्थ में सुरम्य देश को शालि चावलों के खेतों से भरा हुआ बताया है । यह कथन आदिपुराण के कथन से मेल खाता है ।

सोमदेव विरचित यशस्तिलक चम्पू (उपासकाध्ययन) में 'रम्यक देश में विस्तृत पोदनपुर के निवासी' ऐसा कथन मिलता है—'रम्यक देश निवेशोपेत पोदनपुर निवेशिनो'

पुण्यास्रव कथाकोष कथा २ में 'सुरम्य देशस्य पोदनेश' ऐसा वाक्य है ।

(जैन साहित्य के अतिरिक्त जैनैतर साहित्य में भी पोदनपुर का उल्लेख पोटलि (पोत्तलि), पोदन, पोतन आदि नामों से मिलता है । बौद्ध ग्रन्थ चुल्लकालिंग अस्सक जातक में पोटलि को अस्सक जनपद की राजधानी बताया है और अस्सक देश को गोदावरी नदी के निकट सक्थ पर्वत पश्चिमी घाट और गोदावरी के निकट बताया है । सुत्तनिपात १७७ में अस्सक को गोदावरी के निकट बताया है । पाणिनि १।३।७३ अस्सक को दक्षिण प्रान्त में बताते हैं । महाभारत (द्रोण पर्व) में अस्सक पुत्र का वर्णन है । उसकी राजधानी पोतन या पात्तलि थी । इसमें पोदन्य नाम भी दिया है)।

हेमचन्द्र राय चौधरी ने महाभारत के पोदन्य और बौद्ध ग्रन्थों के पोत्तन की पहचान आधुनिक बोधन से

की है। वह आन्ध्र प्रदेश के मजिरा और गोदावरी नदियों के सगम से दक्षिण में स्थित है। इसका समर्थन 'वसुदेव हिण्डि' से भी होता है। उसके २४ वें पञ्चावती लम्बे पृ० ३५४।२४० और पचम लम्बे पृ० १८७।२४१ में बताया है कि गोदावरी नदी को पार कर वह पोदनपुर पहुँच गया।

(उपर्युक्त प्रमाणों से पोदनपुर अश्मक, सुरम्य अथवा रम्यक देश में गोदावरी के निकट था जो आधुनिक आन्ध्र प्रदेश का बोधन प्रतीत होता है।)

श्वेताम्बर परम्परा में बाहुवली की राजधानी का नाम पोदनपुर के स्थान पर तक्षशिला दिया गया है। वहाँ सर्वत्र वहली देश (वाल्हीक) और तक्षशिला नगर का ही उल्लेख मिलता है। कल्पसूत्र, कुमारपाल प्रतिबोध, परिशिष्ट पर्व, विविध तीर्थकल्प इन ग्रन्थों में तथा विमलसूरिकृत पञ्चम चरित्र में तक्षशिला को ही बाहुवली की राजधानी माना है।

इस पोदनपुर को दिगम्बर परम्परा की निर्वाण भक्ति में सिद्ध क्षेत्र या निर्वाण क्षेत्र माना है।



१७. चक्रवर्ती का वैभव

भरत ने चारों दिशाओं के राजाओं को जीत लिया था। अब उनका कोई शत्रु शेष न था। भारत जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में स्थित है। इसके उत्तर में हिमवान् पर्वत है। और मध्य में विजयार्घ पर्वत पड़ा हुआ है। पश्चिम में हिमवान् से निकली हुई सिन्धु नदी बहती है और पूर्व में गंगा नदी, जिससे उत्तर भारत चक्रवर्ती का राज्या- के तीन विभाग हो जाते हैं। दक्षिण के भी पूर्व, मध्य और पश्चिम दिशाओं में तीन विभाग हैं। भिषेक ये ही भारत के छह खण्ड हैं। इन छह खण्डों को भरत ने जीत लिया था और चक्रवर्ती पद धारण किया था। वह भारत का प्रथम चक्रवर्ती था।

दिग्विजय करके जब भरत अयोध्या नगरी में वैभव के साथ प्रविष्ट हुए तो समस्त राजाओं और नागरिकों ने अपने चक्रवर्ती सम्राट् का अभूतपूर्व स्वागत किया। तब शुभ मुहूर्त में राजाओं ने और प्रजा ने भगवान् ऋषभदेव के समान उनका राज्याभिषेक किया। राजाओं के साथ देवों ने प्रथम चक्रवर्ती का अभिषेक किया। उन्हें दिव्य वस्त्र और अलंकार पहनाये। उनकी जय घोषणा की। दुन्दुभि और मागलिक भेरियों का नगर में मधुर निनाद गूँजता रहा। गंगा और सिन्धु नदियों की अधिष्ठात्री देवियों ने आकर तीर्थ जल से अभिषेक किया। फिर अनेक देवों, विद्याधरों, नरेशों और प्रजा ने सिंहासनासीन चक्रवर्ती भरत के चरणों में भेंट समर्पित करके नमस्कार किया। फिर भरत ने समागत राजाओं का समुचित सत्कार किया।

महाराज भरत को चक्रवर्ती पद पाकर अभिमान नहीं हुआ, बल्कि उनके मन में दुःख था कि मैंने अपने भाइयों को यह विभूति नहीं वाँट पाई। सारी प्रजा ऐसे न्यायवत्सल स्वामी को पाकर अपने आपको सनाथ अनुभव करने लगी थी।

चारों ओर उनका जय जयकार हो रहा था—यह सोलहवा मनु है। यह प्रथम चक्रवर्ती है। राज-राजेश्वर हैं।

षट् खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती अपार वैभव के स्वामी थे। उनके पास चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रत्न निर्मित रथ, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ पदाति थे। वे वज्रवृषभनाराच सहनन के धारी थे। उनका समचतुरस्र सस्थान था। उनके शरीर में चौसठ शुभ लक्षण थे। सम्पूर्ण राजाओं के सम्मिलित बल के बराबर उनके शरीर में बल था। उनके दरवार में बत्तीस

हजार मुकुटबद्ध राजा थे। उनके आधीन बत्तीस हजार देश थे। उनके अन्त पुर में बत्तीस हजार आर्य कुल की स्त्रियाँ थी, बत्तीस हजार म्लेच्छ (अनार्य) राजाओं द्वारा दो हुई अति रूपवती कन्याएँ थी, इनके अतिरिक्त उपहार स्वरूप दी गयी बत्तीस हजार और रानियाँ थी। इस प्रकार वे छियानव हजार अनुपम सुन्दरी रानियों के स्वामी थे।

उनके अधिकार में बत्तीस हजार रगशालाएँ थी। उनके राज्य में बहत्तर हजार नगर, छियानव करोड़ गाँव थे। निन्यानव हजार द्रोणमुख, अडतालीस हजार पत्तन, सोलह हजार खेट, छप्पन अन्तर्द्वीप, चौदह हजार सवाह थे। एक करोड़ हल, तीन करोड़ ब्रज (गौशालाएँ), सात सौ कुक्षिवास और अट्ठाईस हजार सघन वन थे। उनमें आधीन अठारह हजार म्लेच्छ राजा थे। काल, महाकाल, नैस्सर्ष्य, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिग, शख और सर्वरत्न य नौ निधियाँ थी। उनके जड और चैतन चौदह रत्न थे। चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सा अजीव रत्न थे। सेनापति, गृहपति, हाथी, घोडा, स्त्री, सिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे। चक्र, दण्ड, असि और छत्र ये चार रत्न आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे तथा मणि, चर्म और काकिणी ये रत्न श्रीगृह में प्रगट हुए थे। स्त्री, हाथी और घोडा की उत्पत्ति विजयार्ध पर्वत पर हुई थी। शेष रत्न निधियों के साथ अयोध्या में ही उत्पन्न हुए थे। उनकी पटरानी का नाम सुभद्रा था। उसके अनिन्द्य सौन्दर्य का वर्णन करने में कविजन भी समर्थ नहीं हो सकते।

सोलह हजार देव उनकी निधियो, रत्नो और उनकी रक्षा करने में सदा तत्पर रहते थे। उनके प्रासाद के चारो ओर क्षितिसार नामक कोट था। सर्वतोभद्र नामक गोपुर था। उनको सेनाओं के पडाव का स्थान नन्द्यावर्त कहलाता था। उनके प्रासाद का नाम वैजयन्त था। दिक्स्वस्तिका नामक उनकी सभाभूमि थी। भ्रमण में जिस छडी को वे ले जाते थे, वह रत्न निर्मित थी। उसका नाम सुविधि था। गिरिकूटक नामक महल में बैठकर वे नगर का निरीक्षण किया करते थे। वर्धमानक नामक नृत्यशाला में बैठकर वे नृत्य का आनन्द लिया करते थे। विभिन्न ऋतुओं के योग्य उनके अलग-अलग महल थे। गरमी के लिए धारागृह, वर्षा-ऋतु के लिये गृहकूटक था। पुष्करावर्त नामक उनका विशेष महल था। उनके भण्डारगृह का नाम कुवेरकान्त था। श्रवतसिका नाम की उनकी रत्नमाला थी। उनका अजितजय नामक रथ, वज्रकाण्ड धनुष, वज्रतुण्डा नाम की शक्ति सिंहाटक भाला, सुदर्शन चक्र, चण्ड-वेग दण्ड आदि भ्रमोघ शस्त्र थे। उनका विजयपर्वत हाथी, पवनजय घोडा ससार में अद्भुत थे। उनका भोजन इतना गरिष्ठ होता था, जिन्हे कोई दूसरा नहीं पचा सकता था।

इस प्रकार चक्रवर्ती की विभूति का वर्णन सीमित शब्दों में सीमित स्थान में करना अत्यन्त कठिन है।



८. भरत द्वारा वर्णव्यवस्था में सुधार

एक दिन भरत चक्रवर्ती के मन में विचार आया—मेरे पास अगाध सम्पदा है, अपार वैभव है। मैं इससे दूसरे का उपकार कैसे कर सकता हूँ। मुनिजन तो धन लेते नहीं। किन्तु गृहस्थों में ऐसे कौन हैं जो धन-धान्य, सम्पत्ति आदि के द्वारा पूजा के योग्य हो। जो अणुव्रतधारी हो, आवको में श्रेष्ठ हो, ऐसे व्यक्ति ही पूजा के अधिकारी हैं। तब ऐसे व्यक्तियों की परीक्षा करनी चाहिए। यह विचार कर उन्होंने समस्त राजाओं के पास खबर भेज दी कि आप लोग अपने यहाँ के सदाचारी पुरुषों और सेवकों के साथ हमारे उत्सव में पधारें। इधर चक्रवर्ती ने अपने घर के आँगन में घास, फूलों के पौधे लगवा दिये। यथासमय सब लोग उत्सव में पधारें। जो अन्नती थे, वे तो बिना सोच-विचार के हरी घास

ब्राह्मण वर्ण की
स्थापना

पर चलते हुए आ गये। किन्तु जो व्रती लोग थे, वे हरी घास के कारण नहीं आ सके और वापिस लौटने लगे। तब चक्रवर्ती ने बहुत आग्रह करके उन्हें दूसरे स्थल-मार्ग से बुलाया।

चक्रवर्ती ने उनसे प्रेमपूर्वक पूछा—‘आपलोग पहले क्यों नहीं आ रहे थे और अब किस कारण आ गये है ? तब उन लोगो ने उत्तर दिया—‘देव ! आज पर्व का दिन है। पर्व के दिनों में घास, कोपल आदि का विधान नहीं किया जाता क्योंकि उनमें असख्य जीव होते हैं।

यह उत्तर सुनकर भरत बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें दान-मान देकर सम्मानित किया। ब्रह्मसूत्र नामक व्रतसूत्र पहनाकर उन्हें चिन्ह दिया। प्रतिमाओं के अनुसार उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराये। इसके बाद भरत ने उन लोगो को श्रावक के योग्य षडावश्यक कर्मों का उपदेश दिया और उनका ब्राह्मण वर्ण स्थिर किया। वे लोग अपने तप और शास्त्रज्ञान के कारण ससार में पूज्य हुए।

एक दिन चक्रवर्ती के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करके कुछ अनुचित तो नहीं किया। इसका समाधान भगवान के चरणों में जाकर कर लेना उचित होगा। यह विचार कर वे एक दिन भगवान के समवसरण में पहुँचे, भगवान की वन्दना और स्तुति की। फिर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक निवेदन किया—‘प्रभो ! मैंने श्रावकाचार में कुशल और व्रतों के पालन करने वाले त्यागियों को ब्राह्मण सजा देकर नवीन ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है, और उन्हें प्रतिमाओं के अनुसार एक से लेकर ग्यारह तक यज्ञोपवीत व्रतों के चिन्ह स्वरूप प्रदान किये हैं। आपके रहते हुए मैंने मूर्खतावश यह कार्य किया है। हे देव ! मेरी यह जानने की इच्छा है कि ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करके मैंने कुछ अनुचित तो नहीं किया।

चक्रवर्ती का प्रश्न सुनकर भगवान ऋषभदेव की दिव्य वाणी प्रगट हुई—हे वत्स ! तुमने धर्मात्मा द्विजों की पूजा की, उनका सम्मान किया, यह कार्य तुमने उचित किया। किन्तु इसमें जो दोष है, वह सुन। जब तक कृत युग अर्थात् चतुर्थ काल रहेगा, तब तक ये द्विज ब्राह्मण उचित आचार का पालन करते रहेंगे। किन्तु ज्यो-ज्यो कलि युग अर्थात् पचम काल निकट आता जाएगा, इनमें जातिमद बढ़ता जाएगा। ये सदाचार से भ्रष्ट होकर मोक्षमार्ग के विरोधी हो जायेंगे। आज इन्हे जो यह सम्मान मिल रहा है, पचम काल में इस सम्मान का मद इन्हे विवेकहीन बना देगा। वे अपने आपको और अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ मानकर मोक्षमार्ग विरोधी शास्त्रों की रचना करेंगे। ये मिथ्यात्व में फसकर धर्मद्रोही बन जायेंगे। ये एक दिन हिंसा को भी धर्म मानने लगेंगे, स्वयं मांस भक्षण करने लगेंगे और प्राणी हिंसा द्वारा मुक्ति के मिथ्यामार्ग का प्रचार करेंगे। इसलिए यद्यपि वर्तमान में ब्राह्मण वर्ण की स्थापना में कोई अनौचित्य नहीं है, किन्तु भविष्य में ये ब्राह्मण ही जैनधर्म के कट्टर शत्रु बन जायेंगे।

भगवान के मुखारविन्द से ब्राह्मण वर्ण की स्थापना सम्बन्धी अपने कार्य का ऐसा भयकर परिणाम सुनकर चक्रवर्ती को बड़ा पश्चात्ताप हुआ।



९. भरत के सोलह स्वप्न

एक रात्रि को चक्रवर्ती भरत सुख-निद्रा में निमग्न थे। रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्होंने कुछ स्वप्न देखे। अचानक उनकी निद्रा भंग हो गई। उनके मन पर उन स्वप्नों का प्रभाव गहरा पड़ा। जागकर वे उन स्वप्नों के सम्बन्ध में विचार करने लगे। उन्हें यह निश्चय हो गया कि ये स्वप्न भविष्य के सूचक हैं। जब तक इस भरतखण्ड में तीर्थंकरों का पुण्य-विहार रहेगा, तब तक किसी अनिष्ट की संभावना नहीं है। किन्तु पचम काल में इन स्वप्नों का फल दृष्टिगोचर होगा। इन स्वप्नों का स्पष्ट फल राजा और प्रजा में विप्लव के रूप में दिखाई पड़ेगा। ये स्वप्न

भरत के सोलह स्वप्न

अनिष्ट के सूचक है। मैं तो स्थूल दृष्टि से ही इन स्वप्नों के फल का मूल्यांकन कर सकता हूँ। अतः सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् ऋषभदेव से इन स्वप्नों का फल पूछना उचित होगा।

यह विचार कर वे प्रातः की क्रियाओं से निबट कर परिजनो-पुरजनो के साथ जहाँ भगवान् विराजमान थे, वहाँ पहुँचे। वहाँ त्रिलोकीनाथ भगवान् को देखकर उनके मन में आन्तरिक आल्हाद हुआ। उनके हृदय में भगवान् के प्रति निश्चल निष्काम भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगी। जिस समय वे भक्ति से गद्गद होकर भगवान् की वन्दना करने लगे, उनके परिणामों में इतनी विशुद्धि और निर्मलता आई कि तत्काल उन्हें अवधिज्ञान की प्राप्ति हो गई। उन्होंने कोमल भावों से भगवान् के कल्याणकारी उपदेशामृत का पान किया। फिर दोनों हाथ जोड़कर बड़ी विनय और भक्तिपूर्वक बोले—

‘प्रभो! आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में मैंने सोलह सपने देखे हैं। मुझे लगता है, ये स्वप्न अनिष्ट फल देने वाले हैं। मैंने स्वप्न में (१) सिंह (२) सिंह का वच्चा (३) हाथी के भार को धारण करने वाला घोडा (४) वृक्ष, झाड़ियों के सूखे पत्तों खाने वाले वकरो (५) हाथी के स्कन्ध पर बैठा हुआ बन्दर (६) कौओं आदि के द्वारा उपद्रव किया हुआ उलूक (७) आनन्द करते हुए भूत (८) मध्य में सूखा और किनारों पर जल से भरा हुआ सरोवर (९) धूल धूसरित रत्नराशि (१०) लोगों से पूजित और नैवेद्यभक्षी कुत्ता (११) जवान बैल (१२) मण्डल से युक्त चन्द्रमा (१३) शोभारहित और मिलते हुए दो बैल (१४) मेघों से आच्छादित सूर्य (१५) छायाहीन सूखा वृक्ष और (१६) पुराने पत्तों का ढेर देखे हैं। भगवन्! इनका क्या फल होगा, आप दया करके मेरे सन्देह को दूर कीजिये।

चक्रवर्ती का प्रश्न सुनकर भगवान् ने उत्तर दिया—‘वत्स! तूने जो स्वप्न देखे हैं, भविष्य में उनका फल अनिष्टकारक है। अब तू अपने स्वप्नों का फल सुन। प्रथम स्वप्न में तूने पृथ्वी पर अकेले विहार कर पर्वत के शिखर पर आरूढ तेईस सिंह देखे हैं। इस स्वप्न का फल यह होगा कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर को छोड़कर शेष तेईस तीर्थंकरों के समय में दुष्ट नयों की उत्पत्ति नहीं होगी। दूसरे स्वप्न में अकेले सिंह के वच्चे के पीछे हरिणों का झुण्ड चलते हुए देखा है। उसका फल यह है कि महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह को धारण करने वाले बहुत से कुलिंगी हो जायेंगे। तीसरे स्वप्न में बड़े हाथी के उठाने योग्य बोक के भार से दबा हुआ घोडा देखा है, उससे मालूम होता है कि पचम काल में साधु अपने मूल गुणों और उत्तर गुणों में असावधान हो जायेंगे। स्वप्न में सूखे पत्तों खाने वाले वकरो के समूह को देखने से प्रतीत होता है कि आगामी काल में मनुष्य सदाचार छोड़कर दुराचारी बन जायेंगे। पाचवें स्वप्न में गजेन्द्र के कन्धे पर बानर के देखने का फल यह होगा कि प्राचीन क्षत्रिय कुल नष्ट हो जायेंगे और नीच कुल वाले पृथ्वी का पालन करेंगे। छठवें स्वप्न में कौओं के द्वारा उलूक को त्रास दिये जाने से मनुष्य धर्म की इच्छा से जैन मुनियों को छोड़कर अन्य मतवाले साधुओं के पास जायेंगे। सातवें स्वप्न में नाचते हुए बहुत से भूतों को देखने से मालूम होता है कि प्रजाजन व्यन्तरो को सच्चे देव मानकर उनकी उपासना करने लगेंगे। आठवें स्वप्न में मध्य में शुष्क और किनारों पर जल से भरे हुए सरोवर के देखने का फल यह है कि धर्म आर्य खण्ड से हटकर प्रत्यन्तवासी-भलेच्छ खण्डों में ही रह जायगा। नौवें स्वप्न में धूल धूसरित रत्नराशि देखने से प्रगट होता है कि पचम काल में ऋद्धिधारी मुनि नहीं होंगे। दसवें स्वप्न में सत्कार किये हुए कुत्ते को नैवेद्य खाते देखने का फल यह होगा कि व्रतहीन ब्राह्मण गुणों पात्रों के समान सत्कार पायेंगे। ग्यारहवें स्वप्न में उच्च स्वर से शब्द करने वाले तरुण बैल का बिहार देखने से सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्था में ही मुनि पद में ठहर सकेंगे, अन्य अवस्था में नहीं। बारहवें स्वप्न में मण्डलयुक्त चन्द्रमा देखने का यह फल होगा कि पचम काल के मुनियों में अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान नहीं होगा। तेरहवें स्वप्न में परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलों के देखने से पचम काल में मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले बिहार करने वाले नहीं होंगे। चौदहवें स्वप्न में मेघाच्छन्न सूर्य के देखने का फल यह होगा कि पचमकाल में केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। पन्द्रहवें स्वप्न में सूखा वृक्ष देखने से स्त्री-पुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो जायगा। और सोलहवें स्वप्न में जीर्ण पत्तों के देखने से महा औषधियों का रस नष्ट हो जायगा। ये स्वप्न दूर

२०. भरत की विदेह वृत्ति

भरत नन्दार्थी थे। मनुष्य सम्पन्न भी। उनकी ध्यायनाओं की लज्जित करने वाली श्रियान्वय हज़ार गनिया भी। उनका शरीर नोगेय था। उनका नाम मनुष्य शीत में सर्वत्र अधिक था। अर्थात् मानसिक भोगों में राजप्रासाद से निमग्न शीत शिल्प करने में उनके पास सभी मायन थे। किन्तु विदुष भोग-मायनों उल्लेख बन्दनमालायें तम पर भी वे यथाःशक्ति भोगों को अनिन्द्यपूर्वक भोगते थे। उनके मन में उन भोगों में मुक्त होने की भावना मर जागृत रहती थी। जगत्परायण भिन्नते ही वे आत्म-स्वरूप के चिन्तन में लीन हो जाते थे। उनके आत्मानुभव में जो रम साया था, जिस आनन्द को अनुभूति होती थी, वंशों अनुभूति भोगों में नहीं आती थी। वे भोगों को गुणों का शेष समझते थे। जब वह गुणों, तब तक शीत मुग पनीत हृष्टा। किन्तु वह रोग पापमूलक है, पाप परिणामी है, दुःख ही उगता मर है। इसी प्रकार वे भी मोचने में—उन नन्दर शरीर के मुग के लिये नन्दर मायन बुझते हैं, उनमें मुग भी नन्दर भिन्नते ही शीत फिर उसका परिणाम दुःख होता है। आत्मा शाश्वत है। अतः उगका मुग भी शाश्वत है। वह मुग निगलम्य दशा में ही मिल सकता है। शरीर का आत्मबन्धन करके शरीर का क्षणिक मुग तो भिन्न सकता है, आत्मा का मुग उमने केंद्र में भिन्नता है। आत्मा वा मुग तो आत्मा के आत्मबन्धन में ही मिल सकते हैं। जिन्हें वह आत्म-मुग पूर्ण रूप में प्राप्त हो चुका है, उनके स्मरण में आत्मोन्मुखता की प्रेरणा मिल सकती है।

यह विचार कर भरत मदा आत्मोन्मुखता का अभ्यास करते रहते थे। जब उनका उपयोग आत्मोन्मुख न होकर वहिर्मुख होता था तो तीर्थकरों का स्मरण करने लगते थे। वे भगवान का स्मरण करने में अभावधान न हो जाय, इसके लिए उन्होंने कुछ ऐसे उपाय किए थे, जिसमें उन्हें भगवान का ध्यान, स्मरण और बन्दन करने का स्मरण बना रहे। उन्होंने अपने महलों के द्वार पर, कक्षों और प्रकोष्ठों के द्वार पर रत्न निर्मित चौबीस घण्टियों की बन्दनमालायें बनवाई थी। जब वे उन द्वारों में से निकलते थे, तब उनके मुकुट से टकराकर वे घण्टियाँ शब्द करती थी। घण्टियों की आवाज सुनकर भरत को चौबीस तीर्थकरों का स्मरण हो आता था, जिससे वे उन्हें तत्काल परोक्ष नमस्कार करते थे।

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने भरत की इन बन्दनमालायों का वर्णन बड़े भक्तिपूरित शब्दों में किया है। वे लिखते हैं—

‘चतुर्विंशति तीर्थेशबन्दनार्थं शिरःस्पृशम् ।

अर्चीकरवत्सी वैशमद्वारे बन्दनमालिकाम् ॥१२१२

अर्थात् उन्होंने चौबीस तीर्थकरों की बन्दना के लिए अपने महलों के द्वार पर शिर का स्पर्श करने वाली बन्दनमालायें बंधवाई थी।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने ‘आदिपुराण’ में बन्दनमालायों के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से प्रकाश डाला है।
उन्हीं के शब्दों में—

निर्मापितास्ततो घण्टा जिनविचैरलकृता ।
 परार्घ्यरत्ननिर्माणा. सम्प्रद्धा हेमरज्जुभिः ॥ ४१।८७
 लम्बिताश्च पुरद्वारि ताश्चतुर्विंशति प्रभा ।
 राजवेश्ममहाद्वार—गोपुरेऽप्यनुक्रमात् ॥४१।८८
 यदा किल विनिर्यति प्रविशत्यप्यय प्रभु ।
 तदा मौल्यप्रलग्नाभिरस्य स्यादहंता स्मृति. ॥४१।८९
 स्मृत्वा ततोऽहं दर्शना भक्त्या कृत्वाभिनन्दनाम् ।
 पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशश्च स पुण्यधी ॥ ४१।९०

अर्थात् उन्होंने बहुमूल्य रत्नों से बने हुए, सुवर्ण रस्सियों से बन्धे हुए श्रीर जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं में सजे हुए बहुत से घण्टे बनवाये तथा ऐसे-ऐसे चौबीस घण्टे बाहर के दरवाजे पर, राजभवन के महा द्वार पर श्रीर गोपुर दरवाजे पर अनुक्रम से टगवा दिये। जब वे चक्रवर्ती उन दरवाजों से बाहर निकलते अथवा भीतर प्रवेश करते, तब मुकुट के अग्रभाग पर लगे हुए घण्टों में उन्हें चौबीस तीर्थकरों का स्मरण ही आता था। तदनन्तर स्मरण कर उन अरहन्त देव की प्रतिमाओं को वे नमस्कार करते थे। इस प्रकार पुण्य रूप बुद्धि को धारण करने वाले महाराज भरत निकलते श्रीर प्रवेश करते समय अरहन्तदेव की पूजा करते थे।

राजा का अनुकरण प्रजा करती है। यदि राजा लोकप्रिय और धर्मात्मा हो तो प्रजा उसके आचार व्यवहार का अनुकरण बहुत जल्दी करने लगती है। सम्राट् धर्मात्मा और लोक प्रिय थे, वे प्रजा के हृदय-सम्राट् थे। प्रजा उन्हें प्राणों से भी अधिक चाहती थी। प्रजा भी उस काल में धर्मात्मा थी। लोक में बन्दनमाला अतः उनका सम्राट् जो करता था, उसका अनुगमन प्रजा बहुत शीघ्र करने लगती थी। श्रीर परम्परा भरत ने अपने प्रासाद के तोरणों पर, द्वारों पर और गोपुरों पर अहन्त प्रतिमाओं से युक्त घण्टों की बन्दनमाला लटकाई थी। उनके इस कृत्य का अनुकरण प्रजा भी करने लगी। बिना किसी प्रयत्न के भरत के इस कार्य का जनता में प्रचार हो गया। प्रजा में एक दूसरे के अनुकरण द्वारा यह रिवाज श्रीर परम्परा बन गई और प्रत्येक घर के द्वार पर बन्दनमाला टगने लगी। आदिपुराणकार ने इस परम्परा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है। आप लिखते हैं—

‘रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिता ।
 दृष्ट्वाहं द्वन्दनाहं तोर्लोकोज्यासीत्तदादर ॥ ४१।९३
 पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेदमतोरणदामसु ।
 यथाविभवमावद्धा घण्टास्ता सपरिच्छदा ॥४१।९४

अर्थात् निधियों के स्वामी भरत ने अहन्त देव की बन्दना के लिये जो घण्टा रत्नों के तोरणों की रचना में स्थापित किये थे, उन्हें देखकर अन्य लोग भी उनका आदर करने लगे। उसी समय से नगरवासी लोगों ने भी अपने-अपने घरकी तोरणमालाओं में अपने-अपने वैभव के अनुसार जिन-प्रतिमा आदि से युक्त घण्टे बाधने शुरू कर दिये।

भरत के इस कार्य का अनुकरण तत्कालीन समाज ने ही नहीं किया था, उस परम्परा का निर्वाह अब तक हो रहा है। यद्यपि उसका मूल रूप वह नहीं रहा। शायद वह भी नहीं सकता था। काल के विंगल अन्तराल में उद्देश्य तो तिरोहित होगया, इसलिए घण्टों का श्रीर बन्दनमालाओं का वह रूप भी नहीं रह पाया। किन्तु फिर भी बन्दनमाला अब भी हर शुभ कार्य में बाधी जाती है और समाज उसे मागलिक चिह्न मानता है। इसी आशय को प्रगट करते हुए आदिपुराण कर्त्ता लिखते हैं—

आदिराजकृता सृष्टि प्रजास्तां बहुमेनिरे ।
 प्रत्यगार यतोऽद्यापि लक्ष्या बन्दनमालिका ॥४१।९५
 बन्दनार्थं कृता माला यतस्ता भरतेशिना ।
 ततो बन्दनमालाख्या प्राप्य रुढि गताः क्षितौ ॥ ४१।९६

अर्थात् उस समय प्रथम राजा भरत की वनवाई हुई इस सृष्टि को प्रजा के लोगों ने बहुत माना था। यही कारण है कि आज भी प्रत्येक घर पर वन्दनमालाये दिखाई देती है। (चूँकि भरतेश्वर ने वे भालाएँ अरहन्त देव की वन्दना के लिए वनवाई थी, इसलिये ही वे वन्दनमाला नाम पाकर पृथ्वी पर प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है)

वन्दनमाला के इस रहस्य को लोक में प्रचारित करने की आवश्यकता है। यदि लोग वन्दनमाला का मूल रूप और उद्देश्य समझ जायें तो वन्दनमाला पुनः अपने वास्तविक रूप को पा सकती है।

चक्रवर्ती भरत को अनेक राज-काज रहते थे। उन्हें सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर जामन करना पड़ता था। अनेको राजाओं के विद्रोह को दबाना पड़ता था। विदेशी नरेशों से सन्धि और मैत्री के कूटनीतिक दाव चलाने पड़ते

थे। प्रजा की बहुविध शिकायतों और समस्याओं को सुलझाना पड़ता था। फिर अन्त पुर और भरत की मुनि-भक्ति परिवार की समस्याएँ नाना रूप लेकर आती और उन्हें हल करना होता था। जिनकी

छियानवे हजार रानिया हो, उनकी समस्याओं का क्या कोई अन्त हो सकता है। कोई रानी रुठ रही है, कोई सीतिया डाह से शिकायतें पेश कर रही है। माना कि सभी रानियों में परस्पर बहनापा था।

किन्तु मानव-स्वभाव कहां चला जायगा। जलन और कुडन, पट्यन्त्र और अभाव अभियोग। इन सब टेढी-मेढी गालियाँ को पारकर सबकी सन्तुष्टि का राजमार्ग पाना क्या सरल होता है। किन्तु चक्रवर्ती कुशल तैराक थे।

समस्याओं की भीषण प्रवाह वाली नदी में तैरना ही जैसे उनका नित्य का व्यापार था। कभी कहीं कोई अडास नहीं। राजा हो या प्रजा, पत्नी हो या परिजन, राज्य हो या अन्त पुर, चक्रवर्ती के व्यवहार से सभी सन्तुष्ट थे। सब

यही समझते, मानो महाराज एकमात्र उन्हें ही चाहते हैं। महाराज की सर्वप्रियता का रहस्य उनके कोमल स्वभाव, उनका व्यवहार-चातुर्य और सर्वजन-समभाव में निहित था।

सब उन्हें चाहते थे, सभी उन पर अपनी जान न्योछावर करते थे, वे सबके थे। किन्तु भरत केवल अपने थे, वे सदा अपने में रहते थे। सारा लोक-व्यवहार करते थे, किन्तु वे इस सबसे जैसे पृथक् थे। ससार में रहते थे, किन्तु कभी उन्होंने अपने भीतर ससार नहीं बसाया। ससार के समुद्र में वे कमल बनकर रहते थे। वे श्रावकोचित आवश्यक धार्मिक कृत्यों के करने में कभी प्रमाद नहीं करते थे और लौकिक या धार्मिक कृत्य करते हुए भी आत्म-स्वरूप के चिन्तन की ओर सदा सावधान रहते थे। ऐसा था बहुधन्वी और व्यस्त चक्रवर्ती का अद्भुत जीवन।

भरत समय के बड़े पावन्द थे। उनके प्रत्येक कार्य का समय सुनिश्चित था। मुनि-चर्या के समय वे अन्य कार्य छोड़कर मुनिजनों को आहार-दान के लिये तैयार हो जाते। वे समस्त राजचिह्नों को उतार कर शुद्ध घोती व दुपट्टा पहनते और एक रेशमी दुकूल कमर से बांध लेते। इस समय वे सम्राट् भरत नहीं, बल्कि पात्र-दान की प्रतीक्षा करने वाले सामान्य श्रावक थे। पात्र-दान के लिये द्वारापेक्षण करते समय उनके बाये हाथ में अष्ट द्रव्य और दाये हाथ में जल का कलश रहता था। माण्डलिक और महामाण्डलिक सदा जिनके ऊपर-छत्र-चमर लिये ढोरते थे, वे ही भरत चक्रवर्ती विनय भाव से गुरुओं की सेवा के लिये प्रतीक्षारत हैं। वे अपने भृत्यों को समझा रहे हैं—जब मुनि महाराज पधारें, उस समय तुम लोगों को मेरे लिये महाराज आदि नहीं कहना चाहिये और न मेरे प्रति हाथ जोड़ कर खड़ा रहना चाहिये।

वे राजप्रासाद से बाहर राजद्वार के बगल में बने हुये चबूतरे के पास पहुँचे। उन्होंने अष्ट द्रव्य की थाली और जलपूर्ण कलश चबूतरे पर रखी हुई एक चौकी पर रख दिये और वे मुनियों की प्रतीक्षा करने लगे। वे उस समय अकेले ही खड़े थे। उनकी स्त्रियाँ तथा नरेश गण उनसे दूर खड़े हुये थे।

सामान्य जनो के केवल दो आँखें होती हैं, जिन्हें चर्म चक्षु कहा जाता है। किन्तु विवेकी जनो के एक आँख और होती है, जिसे ज्ञान चक्षु कहते हैं। भरत अपने दोनों चर्म चक्षुओं से मुनियों के मार्ग का अवलोकन कर रहे थे, किन्तु वे अपनी भीतर की आँखों से—ज्ञान चक्षुओं से अन्तरात्मा का निरीक्षण कर रहे थे। उन्हें भीतर अपनी आत्मा का साक्षात्कार हो रहा था। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि सरसों के दानों में जैसे समुद्र अटक गया हो, ऐसे ही यह त्रैलोक्यवेत्ता ज्ञानशरीरी आत्मा इस क्षुद्र शरीर में क्यों कर अटक रहा है ?

सब उन्हें देख रहे थे, किन्तु वे किसी को नहीं देख रहे थे। वे तो सबसे निर्लिप्त केवल अपने आपको देख रहे थे। उनके मन में यकायक एक भाव आया और मानो वही सब विचारों को ठेल कर जम गया—मेरे पास अपार सम्पत्ति है, किन्तु उसकी सार्थकता तभी है, जब कोई निर्ग्रन्थ योगी मेरे हाथ से आहार ग्रहण कर ले तब यह सम्पत्ति भी सार्थक हो जाय और मैं भी धन्य हो जाऊँ।

नगर में उस दिन अनेक मुनिराज चर्या के लिये पधारे, किन्तु मार्ग में अन्य श्रावकों ने उनका प्रतिग्रहण कर लिया। अतः राजमहल तक कोई मुनिराज नहीं आ पाये। इसलिए भरत चिन्तामग्न हो गये। वे बार-बार विचार करने लगे—क्या आज कोई पर्व तिथि है? क्या जगल से आते समय हाथी घोड़ों से मार्ग अवरुद्ध तो नहीं हो गया? अथवा दुष्ट जनो ने कोई दुर्व्यवहार तो नहीं किया? आज कोई मुनिराज क्यों नहीं पधारे यहाँ? अथवा अतिथि को दान देने का क्या मेरा सौभाग्य नहीं है। इस विचार के आते ही उनके अन्तर में एक कसक होने लगी।

तभी उन्हें आकाश में गतिशील प्रभा-पुज दिखायी पड़ा। भरत आश्चर्यचकित होकर उधर देखने लगे। धीरे-धीरे उस प्रभा-पुज ने आकार ग्रहण करना प्रारम्भ किया। फिर वह पुज दो भागों में विभक्त हो गया। जब तक भरत किसी निश्चय पर पहुँचे, दो तेज-पुज आकाश से नीचे आते हुये भरत के समीप उतरे। वे दो चारण ऋद्धिधारी मुनि थे। भरत उन्हें देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए। शरीर और आत्मा के भेदविज्ञानी दो योगिराज आज पधारे हैं, यह सोचकर भरत का रोम-रोम हर्ष से नृत्य करने लगा। उन्होंने पूजा की थाली और जलपूर्ण कलश उठाया और मुनिराजों के सामने जाकर 'भो मुनिवर्ये ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ' इस प्रकार शब्दोच्चारण करके मुनियों को ठहराया, फिर अष्ट द्रव्यों से उन्हें दर्शनाञ्जलि देते हुये भाव शुद्धि से जल-धारा दी। तदनन्तर उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर गुरु-चरणों में साष्टांग नमस्कार किया। फिर खड़े होकर भरत ने कहा—मन शुद्धि, वचन शुद्धि काय शुद्धि आहार जल शुद्ध है, प्रभु मेरे घर पधारिये। इस प्रकार कहने पर मुनिराज भरत के पीछे पीछे आहार मुद्रा में ईर्यापथपूर्वक भूमि को देखते हुए धीरे धीरे चले। भरत मन में सोचते जा रहे थे कि इन कुटिल और लम्बे मार्ग पर चलने से इन योगियों को मेरे कारण कितना कष्ट हो रहा है।

भरत मुनियों को लेकर अपने महल में पहुँचे। वहाँ सब रानियाँ भी आ गयीं। वे जलपूर्ण कलश, दर्पण और आरती लिये हुये थीं। उन्होंने मुनियों की आरती उतार कर प्रणाम किया। वे सब मिलकर मंगल गान करने लगीं। भरत ने मुनियों को उच्चासन पर बैठाया, उनके चरणों का प्रक्षालन करके अष्ट द्रव्यों से पूजन की। फिर नवधा भक्तिपूर्वक उनको आहार दिया। रानियाँ भरत को भक्ष्य पदार्थ देती जाती थीं और भरत मुनियों के हाथों में एक एक ग्रास रखते जाते थे। उन ऋद्धिधारी मुनियों के हाथों में जाकर नीरस भोजन भी सरस बन जाता था। किन्तु आत्म-विहारी मुनियों की आसक्ति आहार में नहीं थी। राजा भरत ने अपनी भक्ति से मुनियों को तृप्त किया और सुभुक्ति से उनकी जठराग्नि को तृप्त किया। तृप्त होने पर मुनियों ने नीचे बैठ कर मुख-शुद्धिपूर्वक हाथ-शुद्धि की और कुछ देर ध्यान किया। दोनों ने ध्यान पूर्ण होने पर भरत को आशीर्वाद दिया।

तभी राजमहल के प्रांगण में रत्न और स्वर्ण की वर्षा हुई। आकाश में देवों ने वाद्य-ध्वनि के साथ जय-जयकार किया। फिर मुनिराज वहाँ से विहार कर गये। भरत उनके कमण्डलु लिये कुछ दूर तक मुनियों को पहुँचाने गये। उनके बार-बार कहने पर इच्छा न रहते हुए भी भरत वापिस आये और तब उन्होंने भोजन किया। प्रांगण में जो रत्न और स्वर्ण राशि पड़ी थी, वह निर्धनो में बँटवा दी।

सम्राट भरत के जीवन का यह दैनिक कार्यक्रम था।

महाराज भरत की सभी रानियाँ यौवनवती थी, मदवती थी, रसवती थी। उनके अंग प्रत्यगो का लावण्य अद्भुत था, माधुर्य नित नवीन था और सौन्दर्य अनिन्द्य था। उनके गदराये यौवन में से रस भोग में भी विराग-चूता था। रतिको लज्जित करने वाली उनकी सुषमा थी। उन मोहनियों का मोहन-पाश अच्छेद्य वृत्ति था। देवाँगनायें और न -कन्या- हो जायें, ऐसा उनका रूप था।

किन्तु भरत रूप और

। वे आत्मचेता थे, आत्मजयी

थे। वे एक साथ सबका भोग भी करते थे, किन्तु भोग के समय भी उनकी भावना योग की रहती थी। वे भोग देह का करते और उनको रस आता था देहातीत। इसका कारण था। भोग करते हुए भी वे आत्मानन्द को भूलते नहीं थे। कभी-कभी तो भोग करते समय जब उन्हें आत्म-चिन्तन की सुधि आ जाती थी तो वे भोग को भूलकर आत्मा में लीन हो जाते थे। एक दिन पट्टमहिषी सुभद्रा के महलो में चक्रवर्ती पधारे। सुभद्रा ने उनकी अर्थ्यना की। रात्रि-शयन भी वही हुआ। भुवनमोहिनी अनिद्यसुन्दरी सुभद्रा ने अपने पति को मुक्त भाव से रस-दान किया। किन्तु जब रसानुभूति अपनी चरम सीमा पर पहुँची, भरत के अन्तर्मन के किवाड़ खुल गये। वे चिन्तन में डूब गये— 'अनन्त काल बीत गया शरीर और इन्द्रियो की तृप्ति का प्रयत्न करते करते, किन्तु क्या कभी ये तृप्त हो सकी। नित नवीन शरीर मिले और इन्द्रिय-भोगों में ही सारा जीवन गला दिया। जीवन भर अतृप्ति से जूझता रहा किन्तु भोगों की प्यास कभी बुझी नहीं। कभी आत्म-रस का स्वाद नहीं लिया। यदि एक बार भी आत्मानुभव हो जाता तो अनन्त जीवनो की अतृप्ति एक क्षण भर में मिट जाती।' यो चिन्तन करते करते वे आत्म-रस का पान करने में वेसुध हो गये। शरीर निश्चेष्ट हो गया। पट्टमहिषी इस स्थिति का कारण न समझ सकी।

कैसी अकल्पनीय परिणति थी भरत की। इसीलिए तो घर में रहते हुए भी भरत वैरागी कहलाते हैं। वस्तुतः वे राजर्षि थे, विद्वेह थे। श्रीमद्भागवत में उन्हें भगवत्परायण माना है और उन्हें जब भरत बताया है। जब अर्थात् सासारिक भोगों के प्रति अनासक्त।

उनके पास भोग और वैभव का विशाल स्तूप था। यह जितना ऊँचा था, उससे भी ऊँचा इनके प्रति उनका विराग था। राग के सभी साधन उन्हें उपलब्ध थे, उनका भोग भी खूब किया उन्होंने किन्तु भावना सदा इनसे मुक्ति की रही। इसलिए राग हारा और विराग की सदा जय हुई। अद्भुत व्यक्तित्व था उनका। अनुपम भी था। ऐसा व्यक्तित्व ससार में दूसरा कोई न हुआ, न होगा।



२९. भरत का निष्पक्ष न्याय

भरत चक्रवर्ती सम्राट् थे। जब वे राज-सिंहासन पर बैठते थे, उस समय वे केवल राजा थे। उनके समक्ष अनेक अभियोग उपस्थित होते थे। उन्हें सुनकर वे उनका उचित न्याय करते थे। उनके न्याय में कभी कोई सम्बन्ध आड़े नहीं आता था, कोई सम्बन्ध उनके न्याय को प्रभावित नहीं कर सकता था। भले ही अभियोग उनके युवराज के ही विरुद्ध क्यों न हो, किन्तु न्याय की तुला पर सामान्य जन और युवराज में कोई अन्तर नहीं आता था। एक बार अभियोगकर्त्ता थे स्वयं युवराज अर्ककीर्ति। अभियोग था चक्रवर्ती के प्रमुख सेनापति जयकुमार के विरुद्ध। राज दरवार स्तब्ध था कि देखें, न्याय किसके पक्ष में जाता है। अभियोग उपस्थित किया गया, सुनवाई हुई। दोनों पक्षों ने अपना पक्ष उपस्थित किया। सम्राट् ने पाया—दोष युवराज का है। उन्होंने मर्यादा का भंग किया है। युवराज दोषी घोषित हुए और सबके समक्ष सम्राट् ने उनकी भर्त्सना की। न्याय की यह कहानी जितनी अद्भुत है, उतनी रोचक भी है। सुनिये उसे।

काशी नरेश अकम्पन की स्त्री सुप्रभा थी। उन दोनों के सुलोचना नाम की एक पुत्री थी जो सुलक्षणा थी और सर्वगुण-सम्पन्न थी। जब वह विवाह योग्य हुई तो राजा को उसके विवाह की चिन्ता हुई। तब राजा ने मंत्रियों से परामर्श करके उसके स्वयम्बर का निश्चय किया। उन्होंने दूतों द्वारा राजाओं को सुलोचना स्वयम्बर इसकी सूचना दी। इसके लिये नगर के बाहर सर्वतोभद्र नामक विवाह-मण्डप की रचना की गई। निश्चित तिथि को अनेक देशों के राजा और राजकुमार अपनी सेनाओं के साथ वहीं

आये। राजा अकपन ने उनकी अभ्यर्थना की, उनके निवास आदि की समुचित व्यवस्था की।

इस स्वयंवर में सम्मिलित होने अथवा भाग लेने के लिये चक्रवर्ती भरत के पुत्र युवराज अर्ककीर्ति, चक्रवर्ती के सेनापति-रत्न राजकुमार जयकुमार, नमि-विनमि के पुत्र सुनमि और सुविनमि आदि अनेक भूमि-गोचरी और विद्याधर राजा आये। शुभ लग्न के समय स्वयंवर मण्डप में सभी समागत राजा और राजकुमार अपने योग्य आसनो पर बैठ गए। कुमारी सुलोचना को भी स्नान कराकर और वस्त्राभूषणो से अलंकृत करके उसकी माता सुप्रभा ने तैयार किया। सुलोचना सर्वप्रथम जिनैन्द्रदेव के मन्दिर में गई। वहाँ उसने भक्तिपूर्वक पूजन किया। पूजन समाप्त होने पर उसके पिता ने आशोर्वाद के रूप में शेषाक्षत उसके सिर पर रखे। तब सुलोचना महेन्द्रदत्त कचुकी के साथ विवाह-मण्डप में प्रविष्ट हुई। वह जब वहाँ पहुँची तो सभी राजा वडो उत्सुकता से उसे देखने लगे। उसकी रूपछटा देखकर सब विमुग्ध होकर सोचने लगे—यह देवकन्या अवतरित हुई है अथवा स्वयं शची ही विनोद करने यहाँ पधारी है। ऐसा मोहक रूप तो आज तक देखने में नहीं आया।

सभी उद्ग्रीव होकर वडो उत्कण्ठा से मन में कामना करने लगे—काश! सौन्दर्य की यह खान मुझे प्राप्त हो जाय तो मानव-जन्म सफल हो जाय। सभी आशान्वित थे, सभी को अपने पुण्य पर विश्वास था। कचुकी क्रम क्रम से राजकुमार प्रत्याशियो का परिचय देता जाता था। कुमारी सुलोचना एक दृष्टिपात करके आगे बढ़ जाती। वह जिस ओर जाती, वही राजकुमार आशा से मधुर सपने सजोने लगता, किन्तु जब वह आगे बढ़ जाती तो वे दिवा-स्वप्न एक आघात से टूट जाते।

जब सुलोचना अर्ककीर्ति आदि राजकुमारो को छोड़कर जयकुमार के सामने पहुँची तो कचुकी ने जयकुमार के गुण वर्णन करना प्रारम्भ किया—यह हस्तिनापुर नरेश सोमप्रभ का यशस्वी पुत्र है। इसका रूप कामदेव को लज्जित करने वाला है। इसने उत्तर भरतक्षेत्र में मेघकुमार नामक देवो को जीतकर वादलो की गर्जना को जीतने वाला सिंहनाद किया था। उस समय निधियो के स्वामी महाराज भरत ने हर्षित होकर अपनी भुजाओ पर धारण किया जाने वाला वीरपट्ट इसके बाँधा था तथा प्रेम से इसका नाम मेघेश्वर रक्खा था।

कचुकी जब यह विरुदावली बोल रहा था, उस समय वस्तुतः सुलोचना वह सब सुन नहीं रही थी। वह तो हृदय से जयकुमार के लिये आत्म-समर्पण कर चुकी थी और आसक्त भाव से उसे निहार रही थी। उधर जयकुमार भी मुग्ध भाव से उसे देख रहा था। दोनों ही एक दूसरे में खोये हुए थे। दोनों के शरीर कटकित हो रहे थे। जयकुमार के सामने खड़ी हुई सुलोचना ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो कामदेव के सामने विह्वल रति खड़ी हो। उसने कचुकी के हाथो में से रत्नमाला लेकर जयकुमार के गले में डालदी। जब सुलोचना ने दोनों वाहे उठाकर वरमाला जयकुमार के गले में डाली, उस समय ऐसा लगता था, मानो विह्वले हुए अपने पति कामदेव को पाकर अधीर रति ने दोनों भुजायें पसार कर आलिंगन किया हो। शेष राजकुमारो की मुख की कान्ति उचट कर मानो जयकुमार के मुखकमल पर आ जमी।

तभी मगल वाद्यो की मधुर ध्वनि से सारा मण्डप और वन प्रान्त एकवारगी ही प्रतिध्वनित हो उठा। नाथ वश के अधिपति अकपन आगे आये और अपनी पुत्री को साथ में लेकर और जयकुमार को आगे करके नगर की ओर चले। साथ में बन्धु-बान्धव और अनेक राजा थे। इस युग का यह प्रथम स्वयंवर था और जयकुमार इस मुहिम का प्रथक विजेता था।

किन्तु इस हर्षोत्सव में असूयारसिको की भी कमी नहीं थी। युवराज अर्ककीर्ति का एक दुष्ट सेवक था। नाम था दुर्मर्षण। उसने जयकुमार को इस उपलब्धि को सहज भाव से ग्रहण नहीं किया। वह द्वेष से दग्ध होकर अपने स्वामी के पास पहुँचा और बोला—‘देव! यह घोर अन्याय है। अभिमानी अकपन ने युवराज का अन्याय आपको यहाँ बुलाकर आपका घोर अपमान किया है। अकपन की तो जयकुमार के गले में वरमाला डलवाने की पहले से ही योजना थी। उसे तो केवल आपका अपमान करना था। कहीं तो आप षट्खण्ड भरत क्षेत्र के मावी अधिपति और कहीं आपका अकिंचन सेवक जयकुमार। यदि आपने इसे सहन कर लिया तो आपका आतक टूटनी पर से उठ जायगा और जयकुमार महाराज भरत के वाद में इस पृथ्वी का

भोग करेगा। न्याय से ससार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु के भोग करने का अधिकार महामान्य चक्रवर्ती महाराज का है या फिर आपका। आपके रहते ससार के सर्वश्रेष्ठ कन्यारत्न का भोग आपका एक सेवक करे, इसमें वडो अनीति ससार में कोई दूसरी हो नहीं सकती।

सेवक की यह सलाह सुनकर युवराज अर्ककीर्ति को भी इस घटनाचक्र में अपना अपमान और अनीति दिखाई देने लगी। वह क्रोध से लाल आग्ने किये और नयुने फुलाता हुआ गरज उठा—जिस मूर्ख ने मेरा अपमान किया है, उमने बिना जाने ही अपने काल को निमन्त्रण दिया है। उन अरुपन और जयकुमार ने राज्यद्रोह किया है, उसका प्रतिकार आज युद्ध में ही होगा।

उसके क्रोध की छाया में स्वयम्बर में निराश हुए अनेक राजा भी एकत्रित हो गये।

उस समय अर्ककीर्ति को मन्त्री ने बहुत समझाया—पहले आपके पितामह भगवान ऋषभदेव ने राज्य शासन करके एक मर्यादा स्थिर की थी। उसके पश्चान् आपके पिता महाराज भरत ने उस मर्यादा को दृढतापूर्वक रक्षा की। उसके पश्चात् आप राज्य-शासन का भार सभालेंगे। यदि आप ही उस मर्यादा का उल्लंघन करेंगे तो पृथ्वी मर्यादाहीन हो जायगी आप न्याय के रक्षक हैं। स्वयम्बर में वर का निर्वाचन कन्या का उच्छा पर निर्भर है। उसने जिसे भी चुना, उसके प्रति अन्य लोगों को ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए, यही न्यायमार्ग है। यदि कोई इस मार्ग का उल्लंघन करता है तो आपको तो न्याय-मार्ग की रक्षा करनी चाहिए। आपकी स्वयं उस न्याय-मार्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। फिर ये महाराज अरुपन सब क्षत्रियों में पूज्य हैं, महाराज भरत तो इनका सम्मान अपने पिता के समान करते हैं। और यह सोमवश भी नाश वश के समान ही हैं। आपके वश ने धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति की तो सोमवश को भी दान-तीर्थ की प्रवृत्ति करने का गौरव प्राप्त है। और फिर महाराज भरत को दिग्विजय के अवसर पर ससार ने जयकुमार की वीरता देखी ही है। यह तो तुम्हारे लिए सहायक ही सिद्ध होगा। आपकी यह अनीति सुनकर चक्रवर्ती भी आप पर असन्तुष्ट होंगे। एक सुलोचना हो तो ससार में कन्या-रत्न नहीं है। और भी कन्यारत्न है। आप चाहें तो मैं अनेक कन्या-रत्न आपके लिये ला दूंगा।

किन्तु दुराग्रह और क्रोध में ग्रस्त अर्ककीर्ति ने किसी की एक नहीं सुनी और मेनापति को बुलाकर युद्ध की भेरी बजावा दी। भेरी का शब्द सुनते ही रथ, हाथी और अश्वसेना तथा पदाति सेना के असंख्य सैनिक वहाँ एकत्रित होने लगे। अर्ककीर्ति गजाट्ट होकर अनेक राजाओं और मेना से घिरा हुआ युद्ध के लिए चल दिया।

महाराज अरुपन ने ज्यों ही यह समाचार सुना, वे सहसा इस अतर्क्य और असंभव बात पर विश्वास नहीं कर सके। इन्होंने मन्त्रियों तथा जयकुमार आदि से परामर्श करके एक चतुर दूत अर्ककीर्ति के पास दौड़ाया।

उसने जाकर युवराज को समझाया किन्तु वह असफल होकर लौट आया। जयकुमार ने युवराज की पराजय चिन्तित अरुपन से कहा—आप निश्चिन्त रहें और यही रहकर सुलोचना की रक्षा करें। मैं

अभी इस अनीतिमार्ग को वाध कर लाता हूँ। फिर उन्होंने अपनी मेघ घोषा भेरी बजाई। भेरी की आवाज सुनते ही उनके असंख्य सैनिक और उनके पक्ष के अनेक राजा लोग शस्त्रसज्जित होकर एकत्रित हो गए। उन्होंने भी शत्रु सेना की ओर कूच कर दिया। इधर महाराज अरुपन भी अपने पुत्रों और सैनिकों को साथ लेकर चल पड़े। सोमवश और नाथ वश के आश्रित राजाओं के अतिरिक्त पांच राजा भी अपनी सेना के साथ जयकुमार से आ मिले। विद्याधर राजाओं में से आधे राजा भी अन्याय का पक्ष छोड़कर इस सेना में आकर मिल गए।

दोनों ओर से मकर व्यूह, गरुड व्यूह आदि व्यूहों की रचना की गई। युद्ध के वाजे तुमुल घोष के साथ बजने लगे। युद्ध प्रारम्भ हो गया। वाणों की वर्षा से आकाश ढक गया। मनुष्य, हाथी, घोड़े कट-कटकर भूमि पर गिरने लगे। सारी रणभूमि में जयकुमार ही दिखाई पड़ रहा था। उसके वाणों ने अर्ककीर्ति की सेना को निष्पेष्ट बना दिया। तब अर्ककीर्ति ने अपना हाथी आगे बढ़ाया। जयकुमार भी विजयाधर हाथी पर आरूढ़ होकर आगे बढ़ा। तभी उसका एक मित्र देव आया और उसे नागपाश तथा अर्धचन्द्र नामक वाण दिया जो अमोघ था। जयकुमार ने अपने बज्रकाण्ड धनुष पर वह वाण चढ़ाया और सन्धान कर दिया। उस एक ही वाण ने अर्ककीर्ति और

उसके आठो रक्षक विद्याधरो के रथ, सारथी तथा धनुष-वाण नष्ट कर दिये। अर्ककीर्ति निरुपाय हो गया। जय-कुमार ने क्षण भर का विलम्ब किये बिना अर्ककीर्ति को पकड़ लिया और नागपाश से सम्पूर्ण विद्याधर राजाओ को बाध लिया।

युद्ध समाप्त हो गया। जयकुमार ने अर्ककीर्ति और वधे हुए राजाओ को महाराज अकपन के सुपुदं कर दिया। हताहतो की समुचित व्यवस्था करके सवने वाराणसी नगरी मे प्रवेश किया। वे सर्वप्रथम नित्यमनोहर नामक चैत्यालय मे गये और जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन किये, जिनकी अनुकम्पा से अनिष्ट की शान्ति हुई। फिर अपनी महारानी सुप्रभा के निकट कायोत्सर्ग से खडी हुई पुत्री सुलोचना के पास गये। उसने सकट निवारण तक चारो प्रकार के आहार का त्याग कर दिया था। महाराज अकपन ने उसे विजय का हर्ष-समाचार सुनाया तथा कहा— 'वेटी ! तेरे पुण्ययोग से राव विघ्न टल गए है। अब तुम अपने महलो मे जाओ।' यह कहकर पुत्री को उसकी माता तथा भाइयो के साथ राजभवन मे भेज दिया।

महाराज अकपन ने मन्त्रियो से परामर्श किया और फिर विद्याधर राजाओ का सत्कार करके छोड दिया। फिर वे कुमार अर्ककीर्ति के पास पहुँचे और उनको नाना प्रकार के मीठे वचनो से प्रसन्न किया। उन्होने जयकुमार को भी बुलाकर दोनो मे सन्धि करादी। फिर उन्होने अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला का विवाह अर्ककीर्ति के साथ वडे वैभव के साथ कर दिया और वडे मान-सन्मान के साथ अर्ककीर्ति तथा अन्य राजाओ को विदा कर दिया।

तब उपयुक्त देव ने जयकुमार के साथ सुलोचना का विवाह कर दिया और उन्हे नाना प्रकार के अनर्घ्य उपहार दिये।

महाराज अकपन वडे अनुभवी और दूर-दृष्टि थे। उन्होने परामर्ग करके एक चतुर दूत को बहुमूल्य रत्न आदि की भेंट देकर चक्रवर्ती के पास भेजा। उसने चक्रवर्ती के दरवार मे जाकर उनके चरणो मे भेंट चढाई, साष्टांग प्रणाम किया और महाराज अकपन एव जयकुमार की ओर से लघुता प्रगट करते हुए इस चक्रवर्ती का न्याय घटना का सारा दोष अपने ऊपर ले लिया और अपराध का दण्ड देने की प्रार्थना की। चक्रवर्ती ने दूत को बीच मे ही रोककर उन दोनो की प्रशंसा की। उन्होने कहा— महाराज अकपन तो मेरे पूज्य है। मैं यदि कोई अन्याय कर्हू तो उन्हे मुझे रोकने का अधिकार है। और जयकुमार ! उसी की वदौलत मेरा यह चक्रवर्ती-पद है। अपराध अर्ककीर्ति का है। उसने मेरी कीर्ति मे कलक लगा दिया है। मैं उसे अवश्य दण्ड दूँगा।

जयकुमार कुछ दिनो तक वाराणसी मे ही रहा और सुलोचना के साथ उसने यथेच्छ भोग किया। एक दिन अपने मन्त्री का पत्र पाकर और उसका गूढ अर्थ समझकर अपने श्वसुर महाराज अकपन से जाने की अनुमति माँगी। महाराज ने विचार कर 'तथास्तु' कहा। और अनेक प्रकार की बहुमूल्य भेंट देकर दोनो को सम्मानपूर्वक विदा किया। जयकुमार भी सुलोचना को लेकर अपने भाइयो और सेना के साथ वहाँ से चल दिया। मार्ग मे एक स्थान पर सेना का पडाव पडा। वहाँ समझा-बुझाकर सुलोचना को छोडा और अपने भाइयो को उसकी रक्षा मे नियुक्त कर स्वयं अयोध्या की ओर प्रस्थान किया। अयोध्या पहुँचने पर अनेक मान्य पुरुषो ने उसका स्वागत किया। वह युवराज अर्ककीर्ति से वडे प्रेम से मिला। वह सीधा राजदरबार मे पहुँचा और महाराज भरत के समक्ष जाकर अष्टांग प्रणिपात किया। महाराज भरत बोले—क्यो जयकुमार तुम बहू को क्यो नही लाये ? हम तो उसे देखने के लिये उत्सुक थे। तुमने हमे अपने विवाह मे भी नही बुलाया। महाराज अकपन ने भी हमे भुलाकर बन्धु-वान्धवो से हमे अलग कर दिया।

इस प्रकार कहकर उन्होने जयकुमार का समुचित आदर-सत्कार किया और बहू के लिये बहुमूल्य वस्त्रालकार प्रदान करके उसे विदा किया। जयकुमार भी हाथी पर आरूढ होकर अपनी प्रिया से मिलने चल दिया।

चक्रवर्ती ने युवराज को राज-सभा मे ही बुलाकर उसके कृत्य की समुचित भर्त्सना की।

सेनापति जयकुमार हाथी पर आरूढ होकर अपने शिविर की ओर जा रहे थे। भूल से उसने हाथी को गहरे जल में उतार दिया। हाथी अपनी सूँड ऊपर उठाकर गंगा में आगे बढ़ने लगा। सूँड का केवल अग्रभाग पानी में नहीं डूब पाया था, शेष गारा शरीर पानी में डूबा हुआ था। वह अचानक एक गड्ढे में पहुँच गया। तभी एक मगर ने हाथी को जकट लिया। तट पर खड़े हुए लोगों ने हाथी को डूबते हुए देखा तो सभी घबड़ा उठे। मुलोचना के भाई हेमाङ्गद तथा अन्य अनेक व्यक्ति गंगा में कूद पड़े। मुलोचना ने अपने पति पर आये हुए उग्र भयानक मकट को देखा तो उसने उपसर्ग दूर होने तक आहार-जन का त्याग करके जिनेन्द्र प्रभु का स्मरण करना प्रारम्भ कर दिया और साहस करके अपनी सखियों के साथ गंगा में कूद पड़ी। तभी गंगा देवी का आसन कम्पित हुआ। वह गीर्ण वहाँ उपस्थित हुई और मगर रूप धारिणी कार्तिका देवी को उाँटकर उपसर्ग दूर किया। वह सबको किनारे पर लाई। वहाँ तट पर उसने एक भव्य भवन का निर्माण किया तथा एक मणिजटित सिंहासन पर मुलोचना को बैठाकर उसकी पूजा की। पूर्व जन्म में विन्ध्यश्री नामक एक राजकुमारी मुलोचना की मन्त्री थी। एक दिन उसे साँप ने काट लिया। मरने समय मुलोचना ने उसे णमोकार मन्त्र मुनाया, जिसके प्रभाव से वह मरकर गंगा नदी की अधिष्ठात्री देवी हुई।

जयकुमार मुलोचना के साथ अपने बन्धु-बान्धवों और सैनिकों को लेकर हस्तिनापुर पहुँचा। वहाँ जनता ने अपने महाराज को बहुत दिनों के पश्चात् अपने बीच पाकर उनका हार्दिक स्वागत किया। महाराज जयकुमार ने एक दिन शुभ दिन शुभ लग्न में उत्सव किया। उसमें मुलोचना को पट्टमहिषी का पट्टवन्ध बाँधकर सम्मानित किया तथा हेमाङ्गद आदि को बहुमूल्य उपहार भेंट कर विदा किया। तथा अपने भाइयों तथा अन्य लोगों को भी नाना प्रकार के उपहार प्रदान कर सन्तुष्ट किया।

जयकुमार और मुलोचना में कई भवों से प्रीति चली आ रही थी और कई भवों से पति-पत्नी के रूप में उत्पन्न होते आ रहे थे। एक दिन एक विद्याधर दम्पति आकाश मार्ग से जा रहा था। उसे देखते ही जयकुमार को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया और वह 'हा प्रभावती' कहकर मूर्च्छित हो गया। इतने में कवूतरी का एक जोड़ा देखकर मुलोचना भी 'हा रतिवर' कहकर सज्ञाहीन हो गई। दासियों के शीतलोपचार से दोनों की मूर्छा भग हुई। तभी उन दोनों को अवधिज्ञान प्राप्त हो गया। जयकुमार के पूछने पर मुलोचना ने अपने मूर्च्छित होने का कारण बताते हुए कवूतर-कवूतरी के पर्याय की कथा सुनाई। फिर प्रभावती और हिरण्यवर्मा के भव की कथा सुनाई।

जयकुमार और मुलोचना में परस्पर में बड़ा प्रेम था। बहुत समय तक इन दोनों ने सांसारिक सुखों का भोग किया। एक दिन जयकुमार भगवान् वृषभदेव के दर्शनो को गया और उनके उपदेश को सुनकर उसके मन में सासार से वैराग्य हो गया। उसने आकर अपने पुत्र अनन्तवीर्य का राज्याभिषेक करके अपने भाइयों और चक्रवर्ती के पुत्रों के साथ भगवान् के समीप दीक्षा धारण कर ली। वह चार ज्ञान का धारण, सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता और सात ऋद्धियों का स्वामी बना और भगवान् का इकहत्तरवाँ गणधर बना। मुलोचना ने भी ब्राह्मी गणिनी के पास दीक्षा ले ली और तप करके अन्त में अच्युत स्वर्ग में अहमिन्द्र हुई।



२२. भरत का निर्वाण

एक दिन चक्रवर्ती भरत अपने कक्ष में खड़े हुए दर्पण में मुख देख रहे थे। तभी उन्हें अपने केशों में एक सफेद बाल दीखा। उसे देखते ही उनके मन में शरीर और भोगों की असारता को देखकर निर्वेद भर गया। उन्होंने तत्काल अपने ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति का राज्याभिषेक किया और वन में जाकर सकल समय धारण कर लिया। उन्हें उसी समय मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रगट हो गया।

पहले चक्रवर्ती भरत राजाओं द्वारा पूजित थे। अब भगवान भरत इन्द्रो और देवों द्वारा पूजित हो गये। भगवान भरत ने चिरकाल तक विहार किया और अपने उपदेशों से असंख्य प्राणियों का कल्याण किया। आयु का अन्त निकट जानकर वे कैलाश पर्वत पर पहुँचे और वहाँ योग निरोध करके जन्म-जरा-मरण से मदा के लिए मुक्त हो गये। वे सिद्ध परमात्मा हो गये।

भगवान के वृषभसैन आदि गणधर, भगवान के पुत्र तथा अन्य अनेक मुनि भी कर्मों का उच्छेद करके मुक्त हो गये।



२३. भरत और भारत

हमारा देश भारतवर्ष कहलाता है। इससे पहले इस देश का नाम महाराज नाभिराज के नाम पर अजनाभवर्ष कहलाता था। कहीं कहीं इसके स्थान पर अजनाभ खण्ड भी आता है। जब ऋषभदेव भारत का प्राचीन नाम के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने इस देश के छह खण्डों को जीतकर चक्रवर्ती पद धारण किया, तब उन्होंने अपने नाम पर इसका नाम भारतवर्ष कर दिया।

जैन साहित्य और भारत—जैन साहित्य में इस सम्बन्ध में असदिग्ध शब्दों में उल्लेख मिलते हैं। भगवज्जिनसेनाचार्य ने 'आदिपुराण' पर्व १५ श्लोक १५६ में बताया है।

तन्नाम्ना भारत वर्षमितिहासीज्जनास्पदम् ।

हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्र चक्रभृतामिदम् ॥

अर्थात् इतिहास के जानने वालों का कहना है कि जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते हैं ऐसा यह हिमवान् पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त का चक्रवर्तियों का क्षेत्र भरत के नाम के कारण भारतवर्ष रूप से प्रसिद्ध हुआ। (यही श्लोक पुरुदेव चम्पू ६।३२ में भी इसी प्रकार मिलता है)।

इसी प्रकार एक स्थान पर उक्त आचार्य कहते हैं—

यन्नाम्ना भरतावनित्वमगमत् षट्खण्ड सूषा मही ॥३७।२०३॥

अर्थात् जिसके नाम से षट्खण्डों से विभूषित पृथ्वी भरत भूमि नाम को प्राप्त हुई।

और भी

ततोऽर्भविच्य साम्राज्ये भरत सुनुमग्रिमम् ।

भगवान् भारत वर्षं तत्सनाथ व्यघादिदम् ॥१७।७६॥

अर्थात् भगवान् ऋषभनाथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके यह घोषणा की कि भरत से शासित देश भारतवर्ष कहलाये।

इसी तथ्य को पद्मपुराण के कर्त्ता आचार्य रविषेण ने कई स्थलों पर स्वीकार किया है। यथा—

ऋषभेण यशोवत्या जातो भरतकीर्तितः ।

यस्य नाम्ना गतं त्पातिमेतद्धारयं .जगत्त्रये ॥२०॥१२४॥

चक्रवर्तिश्रियं तावत्प्राप्तो भरत भूपतिः ।

यस्य क्षेत्रमिदं नाम्ना जगत्प्रगटतां गतम् ॥४१७९

अर्थात् भगवान् ऋषभदेव की यशस्वती रानी से भरत नामक प्रथम चक्रवर्ती हुआ । उस चक्रवर्ती के नाम से ही यह क्षेत्र तीनों जगत में भरत क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

भगवान् ऋषभदेव का पुत्र राजा भरत चक्रवर्ती की नरमों को प्राप्त हुआ था और उसी के नाम से यह क्षेत्र गसार में भरत क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

उसी प्रकार नमुदेव लिखित प्रथम स्कन्द पृ० १८६ में बताया है कि—

‘तत्र भरहो भरहवाम च्छामणि, तस्मैय नामेण इहं भारहवास ति पद्व्यच्चति ।

भारतवर्ष के च्छामणि भग्न हुए । उन्ही के नाम से यह भारतवर्ष कहलाता है ।

भारतवर्ष का नामकरण किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में जैन और हिन्दू पुराण दोनों एकमत हैं । जिस प्रकार जैन पुराणों में स्कन्द गन्धों में ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर भारत का नामकरण माना है, उसी प्रकार हिन्दू पुराणों में भी ऋषभदेव-पुत्र भरत से ही उस देश का नामकरण स्वीकार किया है । हिन्दू और जैन परम्पराओं में इस सम्बन्धी एकमत्य में इस सम्बन्ध में मन्दिर करने अथवा स्नाना करने का कोई अन्तर नहीं रहता । यहाँ हिन्दू पुराणों के कुछ उद्धरण देना हम आवश्यक समझते हैं, जिससे उस विषय पर स्पष्ट प्रमाण पट सके ।

अग्नि पुराण हिन्दुओं का प्राचीन ग्रन्थ है । करने से, उसमें नर्भो विषयों और विचारों का समावेश है । इसमें भरत और भारत के सम्बन्ध में एक स्थान पर उस प्रकार उद्धरण मिलता है—

‘जरामृत्युभयं नास्ति धर्मादमी युगादिकम् ।

नाधर्मं मध्यम तुल्या हिनादेशात् नानित ॥

ऋषभो मरुदेव्या च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।

ऋषभोऽदात् श्रीपुत्रे शात्मप्राप्ते हारं गत ।

भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत् । अध्याय १० श्लोक १०-१२

उस हिमवत् प्रदेश में जरा और मृत्यु का भय नहीं था, धर्म और अधर्म भी नहीं थे । उनमें समभाव था । वहाँ नाभिराज ने मरुदेवी से ऋषभ का जन्म हुआ । ऋषभ से भरत हुए । ऋषभ ने राज्यश्री भक्त को प्रदान कर सन्यास ले लिया । भरत ने इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा । भरत के पुत्र का नाम सुमति था ।

आग्नीध्रसूनोर्नाभित्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विज ।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशता हरः ॥

सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्र महा प्राजाज्यमास्थित ।

तपस्तेपे महाभाग पुलहाश्रमसंश्रय ॥

हिमाब्धं दक्षिण वर्षं भरताय पिता ददौ ।

तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥

मार्कण्डेय पुराण अ० ५०, श्लोक ३६-४२

आग्नीध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ उत्पन्न हुए जो अपने सौ भाइयों में अग्रज थे । ऋषभदेव ने पुत्र का राज्याभिषेक करके महाप्रज्ञ जया धारण कर ली । इस महाभाग ने पुलह आश्रम में रहकर तप किया ।

ऋषभदेव ने भरत को हिमवत् नामक दक्षिण प्रदेश दिया था । उसी भरत महात्मा के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ ।

‘नाभिस्त्वजनयत्पुत्र मरुदेव्या महाद्युतिः ।

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥५०॥

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रज ।
सोऽभिषिञ्चयाथ भरत पुत्र प्रावाज्यमास्थित ॥५१॥
हिमाव्हय दक्षिण वर्ष, भरताय न्यवेदयत् ।
तस्माद् भारत वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्वुधा ॥५२॥

—वायु महापुराण पूर्वार्ध अध्याय ३३

(प्राय सभी पुराणों में समान पाठ है। अतः सबके अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थ सुस्पष्ट है।

‘नाभिस्त्वजनयत्पुत्र मरुदेव्या महाद्युतिम् ॥५६॥
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रज ॥६०॥
सोऽभिषिञ्च्यर्षभ पुत्र महाप्रावाज्यमास्थित ।
हिमाव्ह दक्षिण वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्वुधा ॥६१॥

नाम्ना ब्राह्मण्ड पुराण पूर्वार्ध, अनुपगपाद, अध्याय १४

‘नाभेर्मरुदेव्या पुत्रमजनयत् ऋषभनामान तस्य भरत पुत्रश्च तावदग्रजः । तस्य भरतस्य पिता ऋषभः
हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारत नाम शशास ।

—वाराह पुराण, अध्याय ७४

‘नाभेविसर्गं वक्ष्यामि हिमाकेस्मिन्निवोधत ।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्र मरुदेव्या महामति ॥१६॥
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्र शताग्रज ॥२०॥
सोऽभिषिञ्चयाथ ऋषभो भरत पुत्रवत्सल ।
ज्ञान-वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान् ॥२१॥
सर्वात्मनात्मन्यारथाप्य परमात्मानमीश्वरम् ।
नग्नो जटो निराहारोऽचीरो ध्वातगतो हि स ॥२२॥
निराशस्त्यक्तसन्देह शैवमाप पर पदम् ॥
हिमाद्रेर्दक्षिण वर्ष भरताय न्यवेदयत् ॥२३॥
तस्मात् भारत वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्वुधा ।

—लिंग पुराण, अध्याय ४७

‘हिमाव्हय तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मन ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्या महाद्युतिः ॥२७॥
ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठ पुत्रशतस्य सः ।
कृत्वा राज्य स्वधर्मेण तथेष्ट्वा विविधान्मखान् ॥२८॥
अभिषिञ्च्य सुत वीर भरत पृथिवीपति ।
तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रम ययौ ॥२९॥
ततश्च भारत वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ।
भरताय यत् पित्रा दत्तं प्रातिष्ठता वनम् ॥३२॥
सुमतिर्भरतस्याभूत्पुत्र परम धार्मिक ।

—विष्णु पुराण, द्वितीय अंश, अध्याय १

‘नाभे पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विह वर्षं भारत चेति कीर्त्यते ॥५७॥

—स्कन्धपुराण, माहेश्वर खण्ड का कौमार खण्ड, अ० ३७

'आसीत् पुरा मुनि श्रेष्ठः भरतो नाम भूपति' ।

आपंभो यस्य नाम्नेदं भर्तव्यमुच्यते ॥५॥

—नारद पुराण, पूर्व खण्ड, अ० ४८

'येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठगुण आसीद्येनेद वर्णं भारतमिति व्यपदिशन्ति ।

—श्रीमद्भागवत ५।४।६

'अजनाभ नामतद्वर्णं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ।

श्रीमद्भागवत ५।६।३

तस्य पुत्रश्च वृषभो वृषभाद् भरतोऽभवत् ।

तस्य नाम्नात्विद वर्णं भारतं चेति कीर्त्यते ॥

—शिवपुराण ३७।५७

उम प्रकार हम देखते हैं कि जैन और हिन्दू नभो पुत्राण ऋषभदेव के पुत्र भरत ने अजनाभवर्ण अथवा हियवत् क्षेत्र का नाम भारतवर्ष पडा, उम बात में मतभेद है ।

कुछ हिन्दू इतिहासकार उम गर्वमान्य तथ्य की उपेक्षा करके दौष्यन्ति भर्त से भारतवर्ष के नामकरण का सम्बन्ध जो उने की चेष्टा करते हैं । वे केवल आगह्वय ही ऐसा करने हैं. उनके पाम उमके लिये कोई पौराणिक या दूसरे प्रकार का साक्ष्य नहीं है । इतिहास के तथ्य सागहों ने सिद्ध नहीं किये जा सकते । दुष्यन्त-पुत्र भरत के चरित्र का वर्णन श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध में विस्तार में दिया गया है । उममें बताया है कि 'भरत ने ममता के पुत्र दीर्घतमा मुनि को पुत्रोहित बनाकर गगातट पर गगागागर में लेकर गगोत्री पर्यन्त पचपन पवित्र अश्वमेध यज्ञ किये । उमी प्रकार यमुना तट पर भी प्रयाग में लेकर यमुनात्री तक अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ किये . भरत ने सत्ताईस हजार वर्ष तक समस्त दिशाओं का एकछत्र शासन किया ।' अन्त में वे गमार में उदान्तीन हो गये । इस सारे चरित्र में कही पर ऐसा एक भी शब्द नहीं आया, जिसमें यह ध्वनित होता हो कि उनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पडा । जो लोग इतने स्पष्ट साक्ष्यों के बावजूद दुष्यन्त-पुत्र भरत से उम देश का नाम भारतवर्ष बताने का साहस करते हैं, उन्हें एक बात का उत्तर देना होगा । दुष्यन्त-पुत्र भरत चन्द्र वंश के गिरोमणि थे । उनमें पूर्व इक्ष्वाकु वंश, सूर्य वंश और चन्द्रवंश के हजारों राजाओं ने यहाँ शासन किया था । उन राजाओं के काल में इस देश का नाम क्या था और क्या ऋषभ-पुत्र भरत ने भारतवर्ष के नामकरण का सम्बन्ध जोड़ने वाले थे सारे पुराण मिथ्या सिद्ध नहीं हो जायेंगे ? किन्तु यह तो किन्ही की भी अभीष्ट न होगा । अत इस निर्विवाद तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि उस देश का नाम ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ही भारतवर्ष पडा, न कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम पर ।



तृतीय परिच्छेद

भगवान अजितनाथ

तीर्थकर नामकर्म सातिशय पुण्य प्रकृति है। यह प्रकृति उसी महाभाग के बधती है, जिसने किसी पूर्व जन्म में दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया हो, तदनुकूल अपना जीवन-व्यवहार बनाया हो और जिसके मन में सदाकाल यह भावना जागृत रहती हो—‘ससार में दुःख ही पूर्व भव दुःख है। प्रत्येक प्राणी यहाँ दुःखों से व्याकुल है। मैं इन प्राणियों का दुःख किस प्रकार दूर करूँ, जिससे ये सुखी हो सकें।’ सम्पूर्ण प्राणियों के सुख की निरन्तर कामना करने वाले महामना मानव को तीर्थकर प्रकृति का बध होता है अर्थात् आगामी काल में तीर्थकर बनता है। द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ ने भी पहले एक जन्म में इसी प्रकार की भावना की थी। उसकी कथा इस प्रकार है —

वत्स देश में सुसीमा नाम की एक नगरी थी। वहाँ का नरेश विमलवाहन बड़ा तेजस्वी और गुणवान था। उसमें उत्साह शक्ति, मन्त्रशक्ति और फलशक्ति थी। वह उत्साह सिद्धि, मन्त्रसिद्धि और फलसिद्धि से युक्त था। वह पुत्र के समान अपनी प्रजा का पालन करता था। उसके पास भोगों के सभी साधन थे, किन्तु उसका मन कभी भोगों में आसक्त नहीं होता था। वह सदा जीवन की वास्तविकता के बारे में विचार किया करता—जिस जीवन के प्रति हमारी इतनी आसक्ति है, इतना अहंकार है, वह सीमित है। क्षण-प्रतिक्षण वह छोड़ रहा है और एक दिन वह समाप्त हो जायगा। इसलिए भोगों में इसका व्यय न करके आत्म-कल्याण के लिये इसका उपयोग करना चाहिए।

यह विचार कर उसने एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट करना उचित नहीं समझा और अपने पुत्र को राज्य-शासन सौंपकर अनेक राजाओं के साथ उसने दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। उसने ग्यारह अगो का ज्ञान प्राप्त कर लिया, दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में पंच परमेष्ठियों में मन स्थिर कर समाधिमरण कर वह विजय नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ।

भगवान के जन्म लेने से छह माह पूर्व से इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने साकेत नगरी के अधिपति इक्ष्वाकु वशी और काश्यपगोत्री राजा जितशत्रु के भवनों में रत्नवर्षा की। ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या को महाराज जितशत्रु की रानी विजयसेना के गर्भ में विमलवाहन का जीव स्वर्ग से आयु पूर्ण होने पर अवतरित भगवान अजितनाथ हुआ। उस रात्रि के अन्तिम प्रहर में महारानी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। स्वप्न दर्शन के का गर्भकल्याणक पश्चात् उन्होंने देखा कि मुख में एक मदोन्मत्त हाथी प्रवेश कर रहा है। प्रातः काल होने पर महारानी ने अपने पति के पास जाकर स्वप्नों की चर्चा की और उनका फल जानना चाहा। महाराज ने अपने अवधिज्ञान से जानकर हर्षपूर्वक बताया कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थकर अवतीर्ण हुए हैं।

नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ल दशमी के दिन प्रजेश योग में तीर्थकर भगवान का जन्म हुआ। जन्म भगवान का जन्म होते ही इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान का जन्म-कल्याणक बनाया और सुमेरु पर्वत पर महोत्सव ले जाकर पाण्डुक शिला पर उनका जन्माभिषेक किया। उनका वर्ण तप्त स्वर्ण के समान था। आपका चिन्ह हाथी था।

जब भगवान को जीवन दशा प्राप्त हुई तो उनका अनेक सुन्दरी राजकन्याओं के साथ विवाह हो गया और वे ससार के भोग भोगने लगे । राजा जितशत्रु अब वृद्ध हो चुके थे । उन्होंने अपने पुत्र को बुलाकर स्वयं मुनि-दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की और राज्य-भार उन्हें सौंपकर वन में जाकर दीक्षा लेली । अब भगवान अजितनाथ प्रजा का पालन करने लगे । प्रजा उनके न्याय और व्यवहार के कारण उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रेम करती थी ।

यद्यपि अजितनाथ भगवान राज्य कर रहे थे और स्त्रियों का भोग भी करते थे, किन्तु उनके मन में सदा विराग की ही भावना रहती थी । वे भोगों में कभी आसक्त नहीं हुए । वे अनासक्त वृत्ति से ही ससार के सब कार्य किया करते थे । एक दिन वे महल की छत पर बैठे हुए प्रकृति की शोभा देख रहे थे भगवान का दीक्षा-ग्रहण कि उन्हें बादलों में एक क्षण को उल्का दिखाई पड़ी और तत्क्षण वह विलीन हो गई । भगवान को इस चंचल और अस्थिर उल्का को देखकर बोध हुआ—ससार के भोग और यह लक्ष्मी भी इसी प्रकार चंचल और अस्थिर है । उन्होंने इन भोगों और इस विनश्वर लक्ष्मी का त्याग करने का तत्काल मन में सकल्प कर लिया । तभी लौकान्तिक देवों ने ब्रह्म स्वर्ग से आकर भगवान के सकल्प की सराहना की । भगवान ने अपने पुत्र अजितसेन का राज्याभिषेक किया और दीक्षा लेने चल दिए । इन्द्रों और देवों ने उनका निष्क्रमण महोत्सव मनाया । भगवान ने माघ शुक्ला ६ को रोहिणी नक्षत्र का उदय रहते सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे मायकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली । दीक्षा लेते ही उन्हें तत्काल मन पर्यय ज्ञान हो गया ।

उन्होंने दूसरे दिन साकेत नगरी में ब्रह्मा नामक राजा के घर आहार लिया । वे फिर वनों में जाकर धौर तप करने लगे । बारह वर्ष तपस्या करने के पश्चात् उन्हें पीप शुक्ला एकादशी की सन्ध्या के समय रोहिणी नक्षत्र में भगवान को केवल लोकालोक प्रकाशक निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो गया । इन्द्रों और देवों ने आकर केवलज्ञान ज्ञान की पूजा की । समवसरण की रचना हुई और भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया ।

उनके परिंकार में ६० गणधर, ३७५० पूर्वधारी, २१६०० शिक्षक, ६४०० अबधिज्ञानी, २०००० केवल भगवान का परिवार ज्ञानी, २०४०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १२४५० मन पर्ययज्ञानी और १२४०० अनुत्तरवादी थे । कुल एक लाख मुनि, तीन लाख बीस हजार आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्रविकायें थी ।

उन्होंने समस्त आर्य क्षेत्र में विहार किया । उनके उपदेशों को सुनकर असख्य प्राणियों ने आत्म-कल्याण भगवान का निर्वाण किया । अन्त में सम्मेदाचल पर पहुँचकर एक माह का योग-निरोध करके समस्त अवशिष्ट कल्याणक कर्मों का क्षय कर दिया और चैत्र शुक्ला पचमी को प्रातः काल के समय भगवान को निर्वाण प्राप्त हो गया ।

भगवान अजितनाथ भगवान ऋषभदेव के काफी समय पश्चात् उत्पन्न हुए थे । भगवान अजितनाथ को भगवान अजितनाथ जब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब तक भगवान ऋषभदेव का तीर्थ प्रचलित था । केवलज्ञान की का तीर्थ प्राप्ति के पश्चात् भगवान अजितनाथ का तीर्थ प्रवृत्त हुआ और वह तीसरे तीर्थकर सभवनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने तक चला । आपके समय में दूसरा रुद्र हुआ ।

यक्ष-यक्षिणी—आपका सेवक महायक्ष और सेविका रोहिणी यक्षिणी थी ।

सगर चक्रवर्ती

वत्स देश के पृथ्वी नगर का अधिपति जयसेन नामक राजा राज्य करता था। जयसेन उसकी रानी थी और रतिपेण एव धृतिपेण नामक उसके दो पुत्र थे। दोनों ही पुत्र पिता को प्राणों के समान प्रिय थे। दुर्भाग्यवश रतिपेण की मृत्यु हो गयी। इस असह्य आघात से जयसेन बहुत शोकाकुल हो गया। इस अवस्था में षट् खण्ड का अधिपति वह धर्म की ओर अधिक ध्यान देने लगा, जिससे शोक का भार कम होकर शान्ति मिल सके। सगर चक्रवर्ती एक दिन विचार करते करते उसे ससार के इस भयानक रूप को देख कर वैराग्य हो गया और उसने धृतिपेण नामक पुत्र को राज्य-भार सौंप कर अनेक राजाओं और महारत्न नामक अपने साले के साथ यशोधर मुनिराज के पास सकल सयम धारण कर लिया अर्थात् वह मुनि बन गया। जयसेन और महारत्न ने घोर तप किया। अन्त में समाधिमरण किया और वे दोनों अच्युत नामक देव हुए। दोनों के नाम क्रमशः महाबल और मणिकेतु हुए। स्वर्ग में भी दोनों में बड़ी प्रीति थी। उन दोनों देवों ने एक दिन प्रतिज्ञा की कि हम लोगों में जो पहले पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर मनुष्य बनेगा, उसे दूसरा देव समझाने जावेगा और दीक्षा लेने की प्रेरणा करेगा।

महाबल देव अपनी आयु पूर्ण होने पर अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवशी नरेश समुद्रविजय और रानी सुवाला के सगर नाम का पुत्र हुआ। एक दिन उसकी आयुधशाला में चक्र रत्न उत्पन्न हुआ। उसने चक्र रत्न की सहायता से भरत क्षेत्र के षट्खण्डों पर विजय प्राप्त की और वह चक्रवर्ती पद से विभूषित हुआ। चक्रवर्ती भरत के समान ही उसकी विभूति थी। उसके महा प्रतापी साठ हजार पुत्र हुए।

एक समय सिद्धिवन में चतुर्मुख नामक एक मुनिराज को केवलज्ञान प्रगट हुआ। उसके ज्ञान की पूजा करने के लिए इन्द्र और देव आये। मणिकेतु देव भी उनके साथ आया। वहाँ उसे अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि मणिकेतु द्वारा हमारा मित्र महाबल यहाँ सगर नामक चक्रवर्ती हुआ और भोगों में आसक्त है। वह अपने सगर को समझाने मित्र के पास आया। वह सगर से मिला और अपना परिचय देकर तथा दोनों में हुई का यत्न प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाकर उसे मुनि-दीक्षा लेने की प्रेरणा की। किन्तु सगर के ऊपर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा।

कुछ समय पश्चात् मणिकेतु देव चारणऋद्धिधारी मुनि का रूप धारण करके सगर के चैत्यालय में आकर ठहरा। सगर ने मुनिराज को देखकर उनकी पाद वन्दना की और उनके सुकुमार रूप को देखकर पूछा—‘आपने इस अल्प वय में क्यों मुनि-दीक्षा ली है? वह देव बोला—‘ससार में दुःख ही दुःख है। यहाँ सदा इष्ट-वियोग और अनिष्ट-सयोग होते रहते हैं। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह सब कर्मों के कारण है। मैं तप के द्वारा इन कर्मों का ही विनाश करना चाहता हूँ। चक्रवर्ती ने सुना किन्तु पुत्रों के मोह के कारण उसने देव के इस कथन की भी उपेक्षा कर दी। वह देव पुनः निराश होकर वापिस चला गया।

किसी समय चक्रवर्ती राज्य सभा में सिंहासन पर विराजमान थे। तभी उसके साठ हजार पुत्र आये और पिता से कहने लगे ‘हम लोग क्षत्रिय-पुत्र हैं। निठल्ले बैठना हमें अच्छा नहीं लगता। आप हमें कोई कार्य दीजिये, अन्यथा भोजन भी नहीं करेंगे। चक्रवर्ती पुत्रों की बात सुनकर चिन्ता में पड़ गये। फिर विचार कर बोले—‘पुत्रों! भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर रत्नमय चौबीस जिनालय बनवाये थे। तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गंगा

नदी की परिखा बनादो।' पुत्र यह काम पाकर बड़े प्रसन्न हुए और पिता की आज्ञानुसार दण्डरत्न लेकर उसके द्वारा उन मन्दिरों के चारों ओर परिखा गोद दी।

मणिकेतु देव अपने मित्र का हिन-मपादन करने के सद्भाव में पुनः स्वर्ग में आया और जहाँ वे साठ हजार राजपुत्र परिखा खोद रहे थे, वहाँ भयकर नाग का रूप धारण कर वह पहुँचा। उसकी विषमयी फुकार के द्वारा सभी राजकुमार भ्रम हो गये।

इसके पश्चात् मणिकेतु ब्राह्मण का रूप धारण कर चक्रवर्ती के पास पहुँचा और बड़े शोकपूरित स्वर में बोला—देव! आपके शासन की छाया में रहते हुए हमें कोई दुःख नहीं है। किन्तु असमय में ही यमराज मेरे एक मात्र पुत्र को मुझसे छीन ले गया है। यदि आप उन्में जीवित नहीं करेंगे तो मेरा भी मरण निश्चित समझें।

चक्रवर्ती ने मान्त्वता देने हुए कहा—विप्रवर्य! जो मसार में आया है, यमराज उसे नहीं छोड़ता। तुम यदि यमराज को पराजित करना चाहते हो तो तुम घग्वार का मोह छोड़ कर मुनि-दीक्षा ले लो।

तब देव मन में प्रमन्न होता हुआ बोला—देव मत्स्य कहते हैं। यमराज को जीतने का एकमात्र उपाय है मुनि-दीक्षा। किन्तु देव मेरी एक बात मुन। आपके साठ हजार पुत्र कैलाश पर्वत पर परिखा खोदने गये थे, उन्हें यमराज हर ले गया। अब आपको भी यमराज को जीतने के लिए मुनि-दीक्षा ले लेनी चाहिये।

ब्राह्मण के ये वचन सुनते ही चक्रवर्ती मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ समय पश्चात् उपचार से वे सचेत हुए और विचार करने लगे—धिवकार है उम मोह को, जिसके कारण मैं अभी तक मसार का वास्तविक रूप नहीं समझ पाया।

उन्होंने तत्काल भगाल देश के राजा सिंहविक्रम की पुत्री विदर्भा के पुत्र भगीरथ को राज्य-भार सौंप दिया सगर द्वारा और दृढधर्मा केवली के समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली। मणिकेतु देव ने कैलाश पर्वत मुनि दीक्षा पर जाकर उन राजकुमारों को सचेत किया और कहा—आपके पिता को किसी ने आपके मरण का दुस्सवाद सुना दिया था, जिसे सुनकर वे भगीरथ को राज्य देकर मुनि बन गये हैं।

ब्राह्मण वेपधारी देव के ये वचन सुनकर उन राजकुमारों को भी वैराग्य हो गया और वे भी मुनि बन गये और तप करने लगे। फिर वह देव सगर मुनि के पास गया और उनसे सब वृत्तान्त सुनाकर क्षमा मागी।

सगर तथा साठ हजार मुनियों ने धोर तप किया और सम्मेदगिरि पर जाकर मुक्त हो गये। भगीरथ ने सगर का जब यह समाचार सुना तो उसे बड़ा वैराग्य हुआ और उसने बरदत्त पुत्र को राज्य देकर निर्वाण कैलाश पर्वत पर शिवगुप्त मुनिराज से दीक्षा ले ली।

उन्होंने गंगा-तट पर प्रतिमा योग धारण करके धोर तप किया। उनके तप की कीर्ति दिग्दिगन्तो में फैल तीर्थ के रूप में गंगा गयी। इन्द्र ने क्षीर सागर के जल से महामुनि भगीरथ के चरणों का अभिषेक किया। वह क्षी प्रसिद्धि का पवित्र जल बह कर गंगा में जा मिला। तभी से गंगा नदी को पवित्र तीर्थ मानने की मान्यता कारण लोक में प्रचलित हो गई। भगीरथ गंगा नदी के तट पर उत्कृष्ट तप कर वही से निर्वाण को प्राप्त हुए।

चतुर्थ परिच्छेद

भगवान् सम्भवनाथ

विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तरी तट पर कच्छ नामक देश था। वहाँ का राजा विमलवाहन था। वह राज्य के विपुल भोगों के मध्य रहकर भी अनासक्त जीवन व्यतीत करता था। एक दिन उसने भोगों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से राजपाट अपने पुत्र विमलकीर्ति को सौंपकर भगवान् स्वयंप्रभु तीर्थंकर के चरणों में मुनि-दीक्षा ले ली। उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर के चरण मूल में सोलह कारण भावनाएँ भाई। इससे उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। आयु के अन्त में सन्यास मरण करके प्रथम^१ श्रैवेयक के सुदर्शन विमान में अहमिन्द्र देव हुए। वहाँ भी उनकी भावना और आचरण धर्ममय था और सदा धार्मिक चर्चा में ही समय व्यतीत होता था। वहाँ का विपुल वैभव और भोगों की सामग्री भी उन्हें लुभा न सकी।

श्रावस्ती नगरी के अधिपति दृढराज्य^२ बड़े प्रभावशाली नरेश थे। उनकी धर्म-प्राण महारानी का नाम सुषेणा था। सुषेणा माता के गर्भ में तीर्थंकर प्रभु अवतार लेने वाले हैं, इस बात की सूचना देने के लिये ही भानो गर्भावतरण से छह माह पूर्व से ही रत्नवृष्टि होना प्रारम्भ होगई। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के प्रातःकाल माता सुषेणा ने सोलह स्वप्न देखे। इन स्वप्नों के बाद में उन्होंने स्वप्न में देखा कि एक विशालकाय हाथी उनके मुख में प्रवेश कर रहा है। उन्होंने पति देव से स्वप्नों की चर्चा की। महाराज हर्षित होकर स्वप्न-फल बताते हुए बोले—देवी! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान् हमारे पुण्योदय से हमारे घर में जन्म लेने वाले हैं। महारानी को सुनकर बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। उसी रात्रि को उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव उनके गर्भ में आया।

नौ माह व्यतीत होने पर कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी^३ के दिन मृगशिरा नक्षत्र और सौम्य योग में मति-श्रुत-अवधि ज्ञानधारी पुत्र का जन्म हुआ। इन्द्रो और देवों ने भगवान् का जन्म-महोत्सव मनाया, उन्हें सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया। फिर बाल प्रभु को श्रावस्ती के राज जन्म कल्याणक प्रासादों में लाकर सौधर्म इन्द्र ने उनका नाम 'सभव' रक्खा और वहाँ आनन्द नाटक करके देवों के साथ स्वर्ग चला गया। आपका घोड़े का चिन्ह था।

कुमार सभव दिव्य सुखों का भोग करते थे। दिव्य वस्त्रालंकार धारण करते थे। युवावस्था में पिता ने उनका राज्याभिषेक करके दीक्षा धारण कर ली। अब महाराज सभवकुमार प्रजा का पालन करने लगे। उनकी पत्नी अत्यन्त सुन्दर और सुशील थी। उन्हें मनवाञ्छित सुख प्राप्त थे।

१ श्वेताम्बर मान्यतानुसार सप्तम श्रैवेयक

२ तिलोयपण्णत्ती के अनुसार पिता का नाम जितारि और माता का नाम सुसेना, श्वेताम्बर मान्यतानुसार पिता जितारि और माता का नाम सेनादेवी था।

३ उत्तर पुराण के अनुसार। तिलोयपण्णत्ती के अनुसार मगसिर शुक्ला १५।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार मगसिर शुक्ला १४।

प्रभु एक दिन अपने प्रासाद की छत पर बैठे हुए थे। सुहावना मौसम था। शीतल पवन वह रहा था। आकाश में मेघ आसमिचीनी करते उल रहे थे। तभी यकायक मेघ न जाने, कहाँ विलीन होगये। भगवान के मन में विचार आया—जीवन और वैभव, भोग और ससार के सम्पूर्ण पदार्थ इन चंचल निष्कमण कल्याणक वादलो के समान क्षणभंगुर है। जीवन के अमोल क्षण इन भोगों में ही बीते जा रहे हैं, अब मुझे आत्म-कल्याण करना है और इस जन्म-मरण के पाश को सदा के लिये काटना है। तभी पाचवे रवर्ग की आठो दिशाओं में रहने वाले लीकान्तिक देव आये और उन्होंने भगवान के वैराग्य की सराहना की और भगवान की स्तुति करके लौट गये।

भगवान ने अपने पुत्र को राज्य देकर दीक्षा के लिये देवों द्वारा लाई हुई मिद्धार्थ पालकी में प्रस्थान किया और नगर के बाहर सहेतुक वन में शाल्मली वृक्ष के नीचे एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दीक्षा लेकर ध्यानासक्त हो गये। दूसरे दिन आहार के लिये वे श्रावस्ती नगरी में पधारे और गुरेन्द्रदत्त नामक राजा ने उन्हें पडगाह कर आहार दिया। भगवान के प्रताप से देवों ने पचाइचर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान सभवनाय चौदह वर्ष तक विभिन्न स्थानों पर विहार करके तप करते रहे। तदनन्तर वे दीक्षा वन में पहुँच और कार्तिक कृष्ण चतुर्थी के दिन मृगशिर नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का नाश करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुए, चारों प्रकार के देवों ने आकर भगवान का केवल्य महोत्सव किया और केवलज्ञान की पूजा की। भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि समवमरण में इसी दिन खिरी।

भगवान के मुख्य गणधर का नाम चारुपेण था। उनके गणधरों की कुल सख्या १०५ थी। उनके सघ में २१५० पूर्वधारी, १२६३०० उपाध्याय, ६६०० अवधिज्ञानी, १५००० केवल ज्ञानी, १६८०० विक्रिया-ऋद्धिधारी, १२१५० मन पर्ययज्ञानी, १२००० वादी मुनि थे। इस प्रकार मुनियों की भगवान का परिकर कुल सख्या दो लाख थी, आर्थिकाये तीन लाख बीस हजार थी। उनके अनुयायी श्रावको की सख्या तीन लाख तथा श्राविकायें पाँच लाख थी। भगवान ने आर्य देशों में विहार करके धर्म की देशना दी। अनेक जीवों ने उनका उपदेश सुनकर कल्याण किया।

निर्वाण महोत्सव—आयु का जब एक माह अवशिष्ट रह गया, तब भगवान ने एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर प्रतिमायोग धारण कर लिया और चैत्र शुक्ला पष्ठी को सम्पूर्ण अवशिष्ट अघातिया कर्मों का नाश करके निर्वाण प्राप्त किया। मनुष्यों और देवों ने वहाँ आकर भगवान का निर्वाण महोत्सव मनाया।

यक्ष यक्षिणी—आपका श्रीमुख यक्ष और प्रज्ञप्ति यक्षिणी थी।

श्रावस्ती—यह उत्तर प्रदेश में बलरामपुर-बहराइच रोड के किनारे है। बलरामपुर से बस, टैक्सी और जीप भी मिलती है। अयोध्या से गोडा होते हुए यह ६८ मील है।

प्राचीन भारत में कोशल जनपद था। कोशल के दक्षिणी भाग की राजधानी अयोध्या थी और उत्तर कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी। महावीर के काल में यहाँ का राजा प्रसेनजित था। जब महावीर बाईस वर्ष के थे, उस समय यहाँ भयकर बाढ़ आई। अचिरावती (ताप्ती) के किनारे अनाथपिण्डद सेठ सुदत्त की अठारह करोड़ मुद्रायें गढी थी। बाढ़ में वे सब बह गयीं।

यहाँ जितशत्रु नरेश के पुत्र मृगध्वज ने मुनि-दीक्षा ली और यही पर उनका निर्वाण हुआ। (हरिवंश पुराण २८।२६)

सेठ नागदत्त ने स्त्री-चरित्र से खिन्न होकर मुनि-व्रत धारण किये और यही से मुक्त हुए। (करकण्डु चरित्र)

इस प्रकार यह सिद्धक्षेत्र भी है।

यह उस समय व्यापारिक केन्द्र था और बड़ा समृद्ध नगर कहलाता था। इसकी यह समृद्धि १२-१३ वीं शताब्दी तक ही रही। महमूद गजनवी भारत के अनेक नगरों को लूटता और जलाता हुआ जब गजनी लौट गया

तो वह अपने पीछे अपने भानजे सैयद सालार मसऊद गाजी को बहुत बड़ी सेना देकर अवध-विजय के लिये छोड़ गया। वह अवध को जीतता हुआ बहराइच तक पहुँच गया। उस समय श्रावस्ती का राजा सुहलदेव अथवा सुहृद्वज था। वह जैन था। जैन युद्ध में कभी पीछे नहीं हटे। सुहलदेव भी सेना सजाकर कौडियाला के मैदान में पहुँचा। गाजी और सुहलदेव का वहाँ डटकर मोर्चा हुआ। इस युद्ध में सन् १०३४ में सैयद सालार और उसकी सारी फौज सुहलदेव के हाथों मारी गई। जैन राजा जितने अहिंसक होते थे, उतने देशभक्त और वीर भी होते थे। किसी जैन राजा ने कभी देश के प्रति विश्वासघात किया हो अथवा युद्ध से मुह मोड़ कर भागा हो, ऐसा एक भी उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

कभी यह नगरी अत्यन्त समृद्ध थी। किन्तु आतताइयों ने या प्रकृति ने इसे खण्डहर के रूप में परिवर्तित कर दिया। ये खण्डहर सहेट महेट नाम से मीलों में बिखरे पड़े हैं। यहाँ पुरातत्व विभाग की ओर से कई बार खुदाई हो चुकी है। फलतः यहाँ महत्वपूर्ण पुरातत्व सामग्री निकली है। इस सामग्री में जैन स्तूपों और मन्दिरों के अवशेष, मूर्तियाँ, ताम्रपत्र आदि भी निकले हैं। सहेट भाग में प्रायः बौद्ध सामग्री मिली है और महेट भाग में प्रायः जैन सामग्री। यह सामग्री ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक की है। इमलिया दरवाजे के निकट भगवान सम्भवनाथ का जीर्ण शीर्ण मन्दिर खड़ा है। यह अब सोभनाथ का मन्दिर कहलाता है, जो सम्भवनाथ का ही विकृत रूप है। खुदाई के समय यहाँ अनेक जैन मूर्तियाँ मिली थीं। इनके अतिरिक्त चैत्यवृक्ष, शासन देवताओं की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई थीं। ये सब प्रायः ११-१२ वीं शताब्दी की हैं। पुरातत्ववेत्ताओं की मान्यता है कि यहाँ आसपास अठारह जैन मन्दिर थे, जिनके अवशेषों पर अब भाडियाँ और पेड़ जग आये हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि चन्द्रप्रभ भगवान का जन्म स्थान यहीं पर था।

यहाँ बौद्धों के तीन नवीन मन्दिर बन चुके हैं और वैशाखी पूर्णिमा को उनका मेला लगता है, जिसमें अनेक देशों के बौद्ध आते हैं।

पंचम परिच्छेद

भगवान अभिनन्दननाथ

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर मगलावली नाम का एक देश था। उसमें रत्न-सचय नामक नगर में महाबल नाम का एक राजा था। वह कीर्ति, सरस्वती और लक्ष्मी तीनों का ही स्वामी था। एक दिन उसने आत्म-कल्याण की भावना में राजपाट अपने पुत्र धनपाल को सौंपकर विमल-वाहन नामक मुनिराज के पास समय धारण कर लिया। कुछ ही काल में वह ग्यारह अगो का पाठी हो गया। उसने सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको अपने जीवन में मूर्त रूप दिया। अतः उसे तीर्थकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में उसने समाधिमरण किया और विजय नामक पहले अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ।

अयोध्या नगरी का इक्ष्वाकु वंशी काश्यपगोत्री स्वयंवर नामक एक राजा था। उसकी पटरानी का नाम सिद्धार्थी था। भगवान के गर्भवितरण से छह माह पूर्व से देवों ने रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। वैशाख शुक्ला पक्ष की पुनर्वसु नक्षत्र में महारानी को सोलह स्वप्न दिखाई दिए। स्वप्नों के पश्चात् उसने अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। उसी समय विजय विमान से वह अहमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण करके उसके गर्भ में आया। पति से स्वप्नों का फल सुनकर महारानी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई।

तीसरे माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला द्वादशी को अदिति योग में माता ने पुत्र उत्पन्न किया। इन्द्रो और देवों ने आकर सुमेरु पर्वत पर ले जाकर एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने बाल प्रभ का श्रृ गार किया। उनकी भुवनमोहिनी छवि को हजार नेत्र बनाकर सौधमन्द्र देखता रहा और जन्म कल्याणक भक्ति में विह्वल होकर उसने ताडव नृत्य किया। फिर वहाँ से लौटकर देव भगवान को अयोध्या लाये। इन्द्र ने बाल प्रभु को माता-पिता को सौंपकर आनन्द मनाया और बालक का नाम 'अभिनन्दननाथ' रखकर सब देवों के साथ वह स्वर्ग को वापिस चला गया। उनका जन्म लाछन बन्दर था।

यौवन प्राप्त होने पर उनका विवाह पिता ने सुन्दर राजकन्याओं के साथ कर दिया और उनका राज्याभिषेक करके मुनि-दीक्षा लेली। महाराज अभिनन्दन नाथ राज्य-कार्य करने लगे। एक दिन वे आकाश में मेघों की शोभा देख रहे थे। मेघों में गन्धर्व नगर का आकार बना हुआ दीख पड़ा। थोड़ी देर में वह दीक्षा कल्याणक आकार नष्ट हो गया। मेघ भी विलीन हो गये। प्रकृति की इस चञ्चलता का प्रभाव भगवान के मन पर पड़ा। वे चिन्तन में डूब गये—ससार के भोगों की यही दशा है। ये शाश्वत नहीं है, क्षणिक है। इनमें सुख नहीं, सुख की कल्पना मात्र है। आत्मा का सुख ही शाश्वत है, वही वास्तविक है। मुझे उसी शाश्वत के लिये प्रयत्न करना है।

तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा की और उनके सकल्प की सराहना की। देवों ने भगवान का निष्क्रमण कल्याणक मनाया। भगवान हस्तचित्रा नामक पालकी में विराजमान होकर नगर के बाहर अग्र उद्यान में पधारे। वहाँ उन्होंने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन अपने जन्म-नक्षत्र के समय एक हजार राजाओं के साथ शाल्मली वक्ष के नीचे जिन-दीक्षा धारण कर ली और ध्यान लगाकर बैठ गये। दूसरे दिन वे पारणा के निमित्त

अयोध्या नगरी में पधारे । वहाँ इन्द्रदत्त ने आहार-दान देकर पुण्योपार्जन किया । देवों ने पचाश्चर्य किये ।

भगवान ने अठारह वर्ष तक मौन रहकर विभिन्न स्थानों में विहार किया । वे नाना प्रकार के तप करते रहे । एक दिन भगवान दीक्षा-वन में असन वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ हो गये । तभी पौष शुक्ला चतुर्दशी के दिन शाम के समय पुनर्वसु नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया । तभी देवों केवलज्ञान कल्याणक और इन्द्रों ने आकर उनकी पूजा की । समवसरण की रचना हुई । उसमें गन्धकुटी में बैठकर भगवान की दिव्य देशना प्रगट हुई ।

भगवान का परिकर—भगवान के परिकर में वज्रनाभि आदि १०३ गणधर थे । २५०० पूर्वधारी, २३००५० शिक्षक, ६८०० अधिज्ञानी, १६००० केवलज्ञानी, १६००० विक्रियाऋद्धिधारी, ११६५० मन पर्यय-ज्ञानी और ११००० प्रचण्ड वादी थे । इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या तीन लाख थी । इनके अतिरिक्त ३३०६०० अर्जिकाये, ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये थी ।

दीर्घ काल तक भगवान ने समस्त देशों में विहार करके उपदेश दिया और असंख्य जीवों का कल्याण किया । जब आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मोदशिखर पर पधारे । वे एक माह तक निर्वाण कल्याणक ध्यानारूढ रहे । अन्त में उन्होंने वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन प्रातःकाल के समय पुनर्वसु नक्षत्र में अनेक मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया । इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की ।

भगवान सभवनाथ का तीर्थ भगवान अभिनन्दननाथ की केवलज्ञान-प्राप्ति तक रहा । जब भगवान अभिनन्दननाथ की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी, तबसे उनका तीर्थ प्रवृत्त हुआ । तीर्थकर का धर्म-चक्र-प्रवर्तन ही तीर्थ प्रवर्तन कहलाता है ।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और यक्षिणी का नाम वज्रशृ खला था ।

पष्ठ परिच्छेद

भगवान सुमतिनाथ

धातकी खण्ड द्वीप मे पूर्व मेरु पर्वत से पूर्व की ओर स्थित विदेह क्षेत्र मे सीतानदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामक एक देश था । उसमे पुण्डरीकिणी नाम की एक नगरी थी, जिसमे रतिपेण नाम का राजा राज्य करता था । उसने खूब धन अर्जित किया और खूब धर्म करता था । एक दिन उसने विचार किया—अर्थ और काम से तो सुख मिल नहीं सकता । सुख केवल धर्म से ही प्राप्त हो सकता है । अतः उसने अपने पुत्र अतिरथ को राज्य सौंपकर मुनि-दीक्षा लेली और भगवान अभिनन्दन के चरण मूल मे उसने ग्यारह अंगो का ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन और व्यवहार करने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया । आयु के अन्त मे समाधिमरण करके वैजयन्त विमान मे वह अहमिन्द्र बना ।

पूर्व भव

किया—अर्थ और काम से तो सुख मिल नहीं सकता । सुख केवल धर्म से ही प्राप्त हो सकता है । अतः उसने अपने पुत्र अतिरथ को राज्य सौंपकर मुनि-दीक्षा लेली और भगवान अभि-

नन्दन के चरण मूल मे उसने ग्यारह अंगो का ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन और व्यवहार करने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया । आयु के अन्त मे समाधिमरण करके वैजयन्त विमान मे वह अहमिन्द्र बना ।

अयोध्या नगरी के राजा का नाम मेघरथ^१ था । वह भगवान ऋषभदेव के वंश और गोत्र का था । उसकी पटरानी मगला थी । भगवान के गर्भावतार से छह माह पहले से उनके प्रासाद मे रत्नवर्षा हुई जो पन्द्रह माह तक होती रही । एक दिन रानी ने श्रावण शुक्ला द्वितीया को मघा नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह स्वप्न देखे । तदनन्तर उन्होंने अपने मुख मे एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा । महाराज ने महारानी के मुख से स्वप्नो की बात सुनकर हर्षपूर्वक कहा—देवि ! तुम्हारी कुक्षि मे तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है । स्वप्न का फल सुनकर महारानी को बड़ी प्रसन्नता हुई । वह अहमिन्द्र ही उनके गर्भ मे आया था ।

गर्भ कल्याणक

मे सोलह स्वप्न देखे । तदनन्तर उन्होंने अपने मुख मे एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा । महाराज ने महारानी के मुख से स्वप्नो की बात सुनकर हर्षपूर्वक कहा—देवि !

तुम्हारी कुक्षि मे तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है । स्वप्न का फल सुनकर महारानी को बड़ी प्रसन्नता हुई । वह अहमिन्द्र ही उनके गर्भ मे आया था ।

नौ माह पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र मे महारानी मगला ने तीन ज्ञान के धारी त्रिभुवनपति को जन्म दिया । चारो निकाय के देव और इन्द्र वहाँ आये । उन्होंने भगवान के दर्शन करके अपना जन्म सफल माना । वे बालक प्रभु को ऐरावत हाथी पर विराजमान करके सुमेरु पर्वत पर ले गये । जन्म कल्याणक वहाँ उन्होंने पाण्डुक शिला पर विराजमान करके क्षीर सागर के जल से भगवान का अभिषेक किया । इन्द्र ने भगवान की भक्ति करके उनका नाम सुमतिनाथ रखा । चक्रवाक पक्षी इनका

चिन्ह था ।

भगवान धीरे-धीरे दूज के चन्द्रमा की भाँति दबने लगे । वे रूप मे कामदेव को लज्जित करते थे । इस प्रकार क्रमशः वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए । पिता मेघरथ ने आत्मकल्याण के लिये अपने त्रिलोक के गुरु पुत्र को राज्य देकर मुनि-दीक्षा ले ली । भगवान ने न्यायपूर्वक राज्य चलाया । अनेक स्त्रियो के साथ सासारिक भोग भोगे । वे इन्द्र द्वारा भेजे गये अशन वसन आदि का भोग करते थे । इस प्रकार राज्य भोग करते हुए बहुत समय बीत गया ।

एक दिन भगवान बैठे हुए चिन्तन मे लीन थे । उन्होंने अपने पूर्व जन्मो का स्मरण किया—मैं पूर्वजन्म में

१. तिलोयपण्णत्ती के अनुसार मेघप्रभ नाम था ।

पच अनुत्तर विमानो मे से दूसरे वैजयन्त विमान मे अहमिन्द्र था । मैंने वहाँ सभी प्रकार की सुख सामग्री का भोग किया किन्तु मेरे दु खो का अन्त नहीं आया और यह मनुष्य भव पाकर और तीन ज्ञान का दीक्षा-कल्याणक धारी होने पर भी मैं इन्द्रिय-भोगो मे फसा रहा । फिर साधारण जन इन्द्रियो के भोगो को ही सर्वस्व मान बैठता है तो इसमे आश्चर्य क्या है । मुझे अहितकर इन्द्रिय-भोगो को छोड़कर आत्म-हित करना चाहिए ।

भगवान के मन मे वैराग्य भावना को जानकर सारस्वत आदि आठ प्रकार के लौकान्तिक देवो ने भगवान के विचारो की सराहना की । देवो ने उन्हे पालकी मे बैठकर नगर के बाहर सहेतुक वन मे पहुँचाया । वहाँ भगवान ने एक हजार राजाओ के साथ सयम धारण कर लिया । सयम के प्रभाव से उन्हे उसी समय मन पर्ययज्ञान हो गया । दूसरे दिन वे चर्या के लिए सीमनस नामक नगर मे गये । वहाँ पदम राजा ने पडगाह कर भगवान को आहार दिया ।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान बीस वर्ष तक भीन रहकर तपस्या करते रहे । तदनन्तर उसी सहेतुक वन मे प्रियगु वृक्ष के नीचे उन्होने दो दिन का उपवास लेकर योग-निरोध किया । फलत चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन सन्ध्या समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ । देवो ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक की पूजा की ।

भगवान का परिवार—भगवान के अमर आदि ११६ गणधर थे । इनके अतिरिक्त २४०० पूर्वधारी, २५४३५० शिक्षक, ११००० अवधिज्ञानी, १३००० केवलज्ञानी, ८४०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १०४०० मनः पर्ययज्ञानी, १०४५० वादी थे । इस प्रकार कुल मुनियो की सख्या ३२०००० थी । अनन्तमती आदि ३३०००० अर्जिकाये थी । ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये उनकी भक्त थी ।

मोक्ष कल्याणक—भगवान ने विभिन्न देशो मे विहार करके और उपदेश देकर अनेक जीवो का कल्याण किया । जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदगिरि पर पहुँचे । उन्होने विहार करना और उपदेश देना बन्द कर दिया और एक हजार मुनियो के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया । और चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र मे शाम के समय निर्वाण प्राप्त किया । इन्द्रो और देवो ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की ।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान सुमतिनाथ के यक्ष का नाम तुवर और यक्षिणी का नाम पुरुषदत्ता था ।।।

सप्तम परिच्छेद

भगवान पद्मप्रभ

घातकी राष्ट्र द्वीप के पूर्व निन्देह क्षेत्र में गोता नदी के दक्षिण तट पर वरुण देश था। उन्हीं मुर्मा नामक एक नगर था। उसके अधिपति महाराज अपराजिन थे। उनके राज्य में प्रजा गन्धर्वा और गम्बूध थी। उन्होंने बहुत समय तक सामारिक भोग भोगे। एक दिन उनके मन में विचार आया कि नगर में ममस्त पर्याय क्षणभंगुर है। नगर पर्यायों द्वारा भोगे जाते हैं। पर्याय नष्ट होने पर वह नगर भी नष्ट हो जाता है। शन नगर के सम्पूर्ण नगर क्षणभंगुर है। यह विचार कर उन्होंने अपने पुत्र मुमिन्द्र को राज्य देकर पिहितसव जिनैत्र के पास जाकर जिन-रीक्षा ले ली। उनके नगरों में उन्होंने ग्यारह अगो का अध्ययन किया, और पौंड्य कारण भावनाओं का चिन्तन करके तीर्थंकर प्रकृति का बन्धन कर लिया। आयु के अन्त में समाधिग्रहण करके ऊर्ध्वगैधेयक के प्रीतिकर विमान में अहमिन्द्र हुए।

पूर्व भव

कौशाम्बी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोधी धरण नामक राजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम सुसीमा था। जब उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव उनके गर्भ में आने वाला था, तब उनके पुण्य प्रभाव में गर्भावतरण में छह माह पूर्व में देवों ने महाराज धरण के नगर में रत्न-वृष्टि करना आरम्भ किया जो भगवान के जन्म लेने तक बरगबर होती रही। माघ कृष्ण पक्ष के दिन ब्राह्म मुहूर्त में, जब चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा का योग हो रहा था, महारानी ने सोलह स्वप्न देकर मुग्ध में एक हाथी को प्रवेश करते देखा। पति ने स्वप्नों का फल जानकर वह बड़ी रूषित हुई।

गर्भावतरण

गर्भ-काल पूरा होने पर कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन त्वष्ट्र योग में लाल कमल की कलिका के समान कान्ति वाले पुत्र को महारानी सुसीमा ने जन्म दिया। पुत्र असाधारण था, लोकोत्तर कान्ति थी, उसका अद्भुत प्रभाव था। इस पुत्र के उत्पन्न होते ही क्षणभर के लिये तीनों लोकों के जीवों को जन्म कल्याणक सुख का अनुभव हुआ। उसी समय सौधर्म इन्द्र अन्य इन्द्रो और देवों के साथ आया और बाल भगवान को लेकर मुमेरु पर्वत पर पहुँचा। वहाँ क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और उनका नाम पद्मप्रभ रखा। फिर वापिस लाकर माता को सौंपकर आनन्दमग्न होकर नृत्य किया। इनका चिन्ह कमल था।

जब उनकी आयु का चतुर्थांश व्यतीत हो गया, तब उन्हें राज्य-शासन प्राप्त हुआ। उनके राज्य में कोई दुखी नहीं था। कोई दरिद्र नहीं था। सब निर्भय और निश्चिन्त थे। सभी लोग सम्पन्न थे।

एक दिन उनके हाथी की मृत्यु हो गई। घटना साधारण थी, किन्तु इस घटना की उनके मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, वह भिन्न थी। उन्होंने अद्विज्ञान में हाथी के पिछले भव पर विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। किन्तु इस जन्म-मरण की

दीक्षा-कल्याणक शृंखला का अन्त क्यों नहीं होता? प्रत्येक जीव सुख चाहता है। किन्तु मृत्यु के पश्चात् जन्म न हो, इसका प्रयत्न विरल ही करते हैं। जो मृत्यु को जीत लेते हैं, उनका पुन जन्म नहीं होता। मैं अब मृत्युजय बनने का प्रयत्न करूँगा और अनादिकाल की इस जन्म-मरण की शृंखला का उच्छेद करूँगा। वे ये विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की स्तुति की, उनके सकल्प की

सराहना की तथा निवेदन किया-प्रभो ! ससार के प्राणी अज्ञान और मोह में भटक रहे हैं। अब आपकी तीर्थ-प्रवृत्ति का समय आ पहुँचा है। आप उन जीवों को मार्ग दिखलाइये।

भगवान निवृत्ति नामक पालकी में आरूढ होकर पभीसा गिरि के मनोहर वन में पहुँचे और वहाँ वेला का नियम लेकर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को सन्ध्या समय चित्रा नक्षत्र में दीक्षा ले ली। उनके साथ में एक हजार राजाओं ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। भगवान को समय ग्रहण करते ही मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन भगवान वर्धमान नगर में चर्या के लिये पहुँचे। वहाँ राजा सोमदत्त ने उन्हें आहार-दान देकर अक्षय पुण्य उपार्जित किया। देवों ने भगवान के आहार-दान के उपलक्ष्य में पचाश्चर्य किये।

भगवान छह माह तक मीन धारण करके विविध प्रकार के तप करते रहे।

केवलज्ञान कल्याणक—उन्होंने चैत्र शुक्ला पूर्णमासी के दिन अपराह्न में चित्रा नक्षत्र में शिरीष वृक्ष के नीचे चार घातिया कर्मों का क्षय कर दिया। तभी उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान की पूजा की। कुवेर ने समवसरण की रचना की। भगवान ने पभीसा गिरि पर प्रथम उपदेश देकर तीर्थ-प्रवर्तन किया।

उनके सघ में वज्रचामर आदि ११० गणधर थे। इनके अतिरिक्त २३०० पूर्वधारी, २६६००० शिक्षक, भगवान का सघ १०००० अर्वाधज्ञानी, १२००० केवलज्ञानी, १६८०० विद्विया ऋद्धिधारी, १०३०० मन-पर्यय ज्ञानी, तथा ६६०० श्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार कुल ३२०००० मुनि उनके सघ में थे। मुनियों के अतिरिक्त रात्रिपेणा आदि ४२०००० अर्जिकाये थी। उनके श्रावकों की सख्या ३००००० तथा श्राविकाओं की सख्या ५००००० थी।

भगवान बहुत समय तक विहार करके जीवों को सन्मार्ग का उपदेश देकर उन्हें सन्मार्ग में लगाते रहे। जब निर्वाण कल्याणक आयु में एक माह शेष रह गया, तब भगवान सम्मैद शिखर पहुँचे और उन्होंने योग-निरोध कर प्रतिमा योग धारण कर लिया। अन्त में फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी की सध्या को चित्रा नक्षत्र में जन्म-मरण की परम्परा सर्वदा के लिए नष्ट कर दी और वे ससार से मुक्त हो गये। उनके साथ एक हजार मुनि भी मुक्ति पधारे। देवों और इन्द्रो ने आकर निर्वाण महोत्सव मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान पद्मप्रभ के यक्ष का नाम कुसुम और यक्षिणी का नाम मनोवेगा है।

कौशाम्बी नगरी का वर्तमान नाम कोसम है। कोसम नामक दो गाव पास पास है—कोसम इनाम और कौशाम्बी कोसम खिराज। इस गाव का एक नाम कौशाम्बी गढ भी है। यहाँ एक पुराना किला यमुना के तट पर बना हुआ है जो प्रायः धराशायी होकर खण्डहर बन चुका है। किन्तु कहीं-कहीं पर अभी तक दीवालें और बुर्ज बने हुए हैं। इसके अवशेष लगभग चार मील में बिखरे हुए हैं।

कोसम इलाहाबाद से लगभग इकत्तीस मील दूर है। इलाहाबाद से यहाँ के लिए अकिलसराय होती हुई बस जाती है। बस कोसम के रैस्ट हाउस तक जाती है। वहाँ से मन्दिर कच्चे मार्ग से लगभग डेढ़ मील है। रैस्ट हाउस के पास एक प्राचीन कुआ है जिसका सम्बन्ध अर्जुन के पौत्र परीक्षित और प्रसिद्ध वैद्य धन्वन्तरि से जोड़ा जाता है।

कौशाम्बी का मन्दिर छोटा ही है। इसमें दो गर्भगृह हैं, जिनमें दो सर्वतोभद्रिका प्रतिमायें तथा भगवान पद्मप्रभु के चरण चिन्ह विराजमान हैं। मन्दिर के बाहर धर्मशाला बनी हुई है। मन्दिर के चारों ओर प्राचीन नगर के अवशेष बिखरे पड़े हैं। मन्दिर के पीछे एक पाषाण-स्तम्भ है, जिसे अशोक निर्मित कहा जाता है।

यहाँ प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग की ओर से कई वर्ष तक खुदाई हुई थी, जिसमें बहुमूल्य पुरातत्व सामग्री मिली है। चार अखण्डित जैन मूर्तियाँ भी मिली हैं। यहाँ मृण्मूर्तियाँ और मनके बहुत बड़ी सख्या में मिले हैं। यह सब सामग्री प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित है। खुदाई के फलस्वरूप अजीबक सम्प्रदाय का विहार भी निकला है। कहा जाता है, इसमें गोशालक के अनुयायी पाच हजार साधु रहते थे।

कौशाम्बी भारत की प्राचीन नगरियों में मानी जाती है तथा यह वत्स देश की राजधानी थी। यहाँ अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनायें हुई हैं। भगवान नेमिनाथ ने जब जरत्कुमार के हाथों से नारायण कृष्ण की मृत्यु और द्वैपायन ऋषि के शाप से द्वारका के भस्म होने की भविष्यवाणी की तो दुर्निवार भवितव्य को टालने के लिये

जरत्कुमार और द्वैपायन ऋषि दोनों ही द्वारका से दूर चले गये। एक बार बलभद्र बलराम और नारायण कृष्ण भ्रमण करते हुए इसी वन में आये। यहाँ आकर नारायण को प्यास लगी। बलभद्र जल की तलाश में दूर चले गये, नारायण को नींद आ गई और एक वृक्ष के नीचे सो गये। भील का वेष बनाये हुए जरत्कुमार धूमने हुए उधर ही आ निकला। उसने नारायण के चमकते हुए अगूठे को दूर से हिरण की आख समझा। उसने उसको लक्ष्य करके बाण सधान किया। बाण नारायण के लगा, जिससे उनकी मृत्यु हो गई। जब बलभद्र जल लेकर वहाँ आये तो उन्हें अपने प्रिय अनुज की यह दशा देखकर भारी सन्ताप हुआ। वे प्रेम में इतने अधीर हो गये कि वे छह माह तक मृत शरीर को कन्धे से लगाये शोक सतप्त होकर धूमते रहे। अन्त में मागीतुंगी पर जाकर देव द्वारा समझाने पर उस देह का सस्कार किया और वही दीक्षा लेकर तप करने लगे।

भगवान महावीर के काल में वैशाली गणतन्त्र के अधिपति चेटक की छोटी पुत्री चन्दनवाला अपहृत होकर यहाँ बिकने आई और वात्सल्यवश एक धर्मात्मा सेठ ने उसे खरीद लिया। जब सेठ व्यापार के कार्य से बाहर गये हुए थे, तब सेठानी ने सापत्य के झूठे सदेह में पडकर चन्दना को जजीरो से बाँध दिया, उसके बाल काट दिये और खाने को सूप में बाकले दे दिये। तभी भगवान महावीर आहार के निमित्त उधर पधारे और चन्दना ने भक्तिवश वे ही बाकले भगवान को आहार में दिये। तीर्थंकर के पुण्य प्रभाव से चन्दना के बन्धन कट गये। देवताओं ने रत्न-वर्षा की। भगवान आहार लेकर चले गये। कुछ समय पश्चात् चन्दना ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ले ली और उनके आर्यिका-सघ की मुख्य गणिनी बनी।

इसी काल में कौशाम्बी पर उदयन शासन कर रहा था, जो अर्जुन की अठारहवीं पीढ़ी में कहलाता है। उदयन के कई विवाह हुए। उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता के साथ उसका प्रेम-विवाह हुआ, जिसको लेकर संस्कृत भाषा में अनेक काव्यों की रचना हुई है। उदयन जितना वीर था, उतना कला-भर्मज्ञ भी था। वह अपनी मजुघोषा वीणा पर जब उ गली चलाता था तो उसकी ध्वनि पर पशु-पक्षी तक खिंचे चले आते थे। वह महावीर भगवान का भक्त था और अन्त में जैन विधि से उसने सन्यास मरण किया।

उसके काल में कौशाम्बी धन धान्य से अत्यन्त समृद्ध था और व्यापारिक केन्द्र था। जल और स्थल मार्गों द्वारा इसका व्यापार सुदूर देशों से होता था। इतिहासकार इस काल की कौशाम्बी को भारत का भाचेस्टर कहते हैं।

काल ने इस समृद्ध नगरी को एक दिन खण्डहर बना दिया।

पभौसा का दूसरा नाम प्रभासगिरि भी था। प्राचीन काल में यह कौशाम्बी नगरी का वन था। इसी में भगवान पद्मप्रभु ने दीक्षा ली थी और इसी वन में उन्हें केवल-ज्ञान हुआ था। यह जमुना पभौसा के किनारे अवस्थित है। यह एक छोटी सी पहाड़ी है। यह कौशाम्बी से जमुना के रास्ते छह मील दूर है। यहाँ जाने के लिये कोसम से नाव मिलती है।

प्राचीन काल में यह जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ प्राचीन जैन मन्दिर पहाड़ी के ऊपर था। कहते हैं, उसके सामने एक मान स्तम्भ भी था। वही भट्टारक ललितकीर्ति की गद्दी थी। पहाड़ी की तलहटी में कई दिगम्बर जैन मन्दिर थे। कहते हैं, सवत् १८२५ में बिजली गिर जाने से मन्दिर आदि को काफी क्षति हुई थी। फिर भट्टारक वाले स्थान पर सवत् १८८१ में पंच कल्याणक प्रतिष्ठापूर्वक पद्मप्रभ की प्रतिमा विराजमान की गई। इस सम्बन्ध में जो शिलालेख मिलता है, उसका आशय निम्न प्रकार है—

सवत् १८८१ मिति मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी शुक्रवार को भट्टारक श्री जगतकीर्ति उनके पट्टधर भट्टारक श्री ललितकीर्ति जी उनके आम्नाय में गोयल गोत्री प्रयाग नगरवासी साधु श्री रावजीमल के लघुभ्राता फेरुमल उनके पुत्र साधु श्री माणिकचन्द्र उनके पुत्र साधु श्री हीरामल ने कौशाम्बी नगर के बाहर प्रभास पर्वत पर जो पद्मप्रभ भगवान का दीक्षा कल्याणक क्षेत्र है, जिन विम्ब प्रतिष्ठा कराई—अग्नेज बहादुर के राज्य में।

किन्तु इसके बाद फिर यहाँ एक भयानक दुर्घटना होगई। वीर सवत् २४५७ भाद्रपद कृष्णा ६ को रात्रि में इस मन्दिर पर पहाड़ के तीन वजनी टुकड़े गिर पड़े। इससे मन्दिर और मानस्तम्भ दोनों नष्ट हो गये और जो

भवन यहाँ पर थे, वे भी नष्ट हो गये। किन्तु इसे एक चमत्कार ही कहना चाहिए कि प्रतिमायें सुरक्षित रही।

अब पहाड़ पर एक कमरे में प्रतिमायें विराजमान हैं तथा पहाड़ की तलहटी में एक कम्पाउण्ड के भीतर घर्मशाला (जीर्ण शीर्ण दशा में) तथा कुआँ है। घर्मशाला के ऊपर एक छोटा मन्दिर है, जिसमें प्राचीन प्रतिमायें हैं। घर्मशाला के एक कमरे में इधर उधर खेतों आदि में मिली कुछ प्राचीन खण्डित अखण्डित प्रतिमायें रक्खी हुई हैं।

पहाड़ के ऊपर-मन्दिर से काफी ऊँचाई पर, एक शिला में चार खड्गासन प्रतिमायें उकेरी हुई हैं जो सिद्ध-प्रतिमा कही जाती हैं। दाईं ओर ऊपर को देखने पर एक गुफा दिखाई पड़ती है। प्राचीन काल में यह गुफा दिगम्बर जैन साधुओं के ध्यान और तपस्या के काम में आती थी। इस गुफा में शिलालेख भी उपलब्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ आयागपट्ट भी मिला था जो अभिलिखित है। अभिलेख के अनुसार राजा शिवमित्र के १२ वें सवत् में शिवनन्दि की स्त्री शिष्या स्थविरा बलदासा के कहने से शिवपालित ने अहन्तो की पूजा के लिए यह आयागपट्ट^१ स्थापित किया।

गुफा के बाहर जो लेख पढा गया है, उसका आशय यह है

‘काश्यपी अहन्तो के सवत्सर १० में आषाढसेन ने यह गुफा बनवाई, यह गोपाली और वैहदरी का पुत्र था व गोपाली के पुत्र वहसतिमित्र राजा का मामा था। यह काश्यप गोत्र महावीर स्वामी का था।

गुफा के भीतर भी एक अभिलेख है, जिसका भाव इस प्रकार है—

‘अहिच्छत्रा के राजा शौनकायन के पुत्र वगपाल, उसकी रानी त्रिवेणी, उसके पुत्र भागवत, उसकी स्त्री वैहदरी, उसके पुत्र आषाढसेन ने बनवाई।

उपर्युक्त आषाढसेन ई० सन् के प्रारम्भ में उत्तर पांचाल का राजा था। उक्त लेख में आषाढसेन को वहसतिमित्र (वृहस्पतिमित्र) का मामा बतलाया है।

यहाँ शु ग काल में स्थापत्य और मूर्तिकला की बड़ी उन्नति हुई थी। जिन शु गकालीन शासकों के सिक्के इस प्रदेश में मिले हैं, उनके नाम अग्निमित्र, भानुमित्र, भद्रघोष, जेठमित्र, भूमिमित्र आदि हैं।

शु गो के बाद यहाँ मगधशीय स्थानीय शासकों का अधिकार रहा। इन राजाओं के लेख और सिक्के यहाँ बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

शु गवश की प्रधान शाखा का अन्त ई० पू० १०० के लगभग हो गया। किन्तु उसकी अन्य कई शाखायें शासन करती रही। उनके केन्द्र थे अहिच्छत्रा, विदिशा, मथुरा, अयोध्या और पम्पौसा।

मथुरा में अनेक मित्रवशीय राजाओं के सिक्के मिले हैं, जैसे गोमित्र, ब्रह्ममित्र, दृढमित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र।

१. सिद्धम् राज्ञो शिवमित्रस्य सवच्छरे १०-२ खम

थाविरस बलदास स निवर्ततन सा ए शिवनददिस अतेवासिस

शिवपालितन आयागपट्टो थापयति अरहत पूजायै

अष्टम परिच्छेद

भगवान सुपाश्वनाथ

धानकी एण्ट द्वीप में सीता नदी के उत्तर तट पर मुकच्छ नाम का देश था। उसके क्षेमपुर नगर में नन्दिपेण नामक राजा राज्य करता था। वह बड़ा नीतिनिपुण, प्रतापी और न्यायवान राजा था। जब भोग भोगते हुए उसे बहुत समय बीत गया तो एक दिन वह भोगों से विरक्त हो गया। उसने अपने पुत्र **पूर्व भव** धनपति को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करके अनेक राजाओं के साथ अर्हन्नन्दन मुनि से दीक्षा ले ली। फिर ग्यारह अंग का धारी होकर दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थङ्कर नाम कर्म का वन्दन किया और आयु के अन्त में सन्यास मरग कर मध्यम ग्रंथेयक के सुभद्र विमान में अर्हमिन्द्र हुआ।

काशी देश में वाराणसी नामक एक नगरी थी। उसमें सुप्रतिष्ठ महाराज राज्य करते थे। वे इक्ष्वा-कृवशी थे। उनकी महारानी पृथ्वीपेणा थी। उनके आगम में देवों ने गर्भावतरण से पूर्व छह माह तक रत्नवर्षा की। महारानी ने भाद्रपद शुक्ला पण्ठी को विशाखा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में **गर्भ कल्याणक** सोलह शुभ स्वप्न देखे। उसके बाद उन्होंने मुख में एक हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय वह अर्हमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण कर महारानी के गर्भ में आया। पति के मुख से स्वप्नों का फल जानकर रानी बड़ी हर्षित हुई। देवों ने गर्भावस्था के पूरे समय उनके आगम में रत्न वृष्टि की और भगवान का गर्भ कल्याणक मनाया।

ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन अग्निमित्र नामक शुभयोग में महारानी ने तीनों लोकों के गुरु महान् पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रो और देवों ने सुमेरु पर्वत के शिखर पर उनका जन्माभिषेक किया, **जन्म कल्याणक** सबने भगवान के चरणों में अपने मस्तक भुकाये और उनका नाम सीधमन्द्र ने 'सुपाश्व' रखा। उनका चिन्ह स्वस्तिक था। शरीर का वर्ण हरित था।

जब कुमार काल व्यतीत हो गया तो पिता ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। इन्द्र उनके मनोरजन के लिये नाना प्रकार के उपाय करता था। उन्हें सभी प्रकार का सुख प्राप्त था। सुख के साधन तो सभी थे, किन्तु तीर्थंकरों को आठ वर्ष की आयु में देशसंयम हो जाता है। इसलिए भगवान की वृत्ति संयमित थी। उनके तीन ज्ञान थे।

एक दिन भगवान को ऋतु-परिवर्तन देखकर मन में विचार उठा-संसार की यही दशा है। सब क्षण-स्थायी है। राज्यलक्ष्मी भी इसी प्रकार एक दिन नष्ट हो जाने वाली है। मैं अब तक व्यर्थ ही इनके मोह में अटक रहा। मैंने आत्म-कल्याण में व्यर्थ ही विलम्ब किया। लौकान्तिक देवों ने आकर **दीक्षा-कल्याणक** भगवान की स्तुति की। भगवान अपने पुत्र को राज्य सौंपकर देवों द्वारा उठाई हुई मनो-गति नामक पालकी में चढ़ कर सहेतुक वन में जा पहुँचे और वहाँ ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को सन्ध्या समय विशाखा नक्षत्र में वेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ संयम ग्रहण कर लिया। उसी समय उन्हें मन-पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन चर्या के लिए वे सोमखेट नगर में पहुँचे। वहाँ महेन्द्रदत्त राजा ने आहार देकर महान पुण्य-लाभ किया।

भगवान नौ वर्ष तक तप करते रहे। तदनन्तर उसी सहेतुक वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर शिरीष वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो गये और फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को विशाखा नक्षत्र केवलज्ञान कल्याणक में उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की। वही पर समवसरण में भगवान की प्रथम देशना हुई।

उनके बल आदि ६५ गणधर, मीनार्या आदि ३३०४०० अजिकाये, २०३० पूर्वज्ञान के धारी, २६४६२० शिक्षक, ६००० अवधिज्ञानी, ११०० केवलज्ञानी, १५३०० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ६१५० भगवान का परिकर मन पर्ययज्ञान के धारी और ८६०० वादी थे। कुल ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये थी।

भगवान बहुत काल तक पृथिवी पर विहार करके भव्य जीवों को कल्याण-मार्ग का उपदेश देते रहे। जब उनकी आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मैद शिखर पर पहुँचे। उन्होंने प्रतिमा-निर्वाण कल्याणक योग धारण कर लिया और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को विशाखा नक्षत्र में एक हजार मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया। देवो ने भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक यक्ष का नाम परजन्दी और यक्षिणी का नाम काली है।

मथुरा के ककाली टीले पर एक स्तूप के ध्वसावशेष प्राप्त हुए हैं। आचार्य जिनप्रभसूरि ने इस स्तूप के सम्बन्ध में 'विविध तीर्थकल्प' में लिखा है कि इस स्तूप को कुवेरा देवी ने सुपाश्वनाथ के काल में सोने का बनाया था और उस पर सुपाश्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। फिर पार्श्वनाथ के काल में इसे ईंटों से ढक दिया। आठवीं शताब्दी में वप्पभट्ट सूरि ने इसका जीर्णोद्धार किया था। सुपाश्वनाथ कालीन स्तूप किन्तु सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलक चम्पू ६।१७-१८ में एव हरिषेण कथाकोष में वज्र कुमार की कथा के अन्तर्गत इस स्तूप को वज्रकुमार के निमित्त विद्याधरो द्वारा निर्मित बताया है। आचार्य सोमदेव ने तो उस स्तूप के दर्शन भी किये थे और उसे 'देवनिर्मित लिखा है। इस स्तूप का जीर्णोद्धार साहू टोडर ने भी किया था, इस प्रकार की सूचना कवि राजमल्ल ने 'जम्बूस्वामी चरित्र' में दी है। उन्होंने भी इस स्तूप के दर्शन किये थे। उस समय वहाँ पाँच सौ चौदह स्तूप थे।

कुषाणकाल का (सन् ७६) का एक आयागपट्ट मिला है, उसमें भी इस स्तूप को देव निर्मित लिखा है। सर विसेण्ट स्मिथ ने इसे भारत की ज्ञात इमारतों में सर्व प्राचीन लिखा है।

इस साक्ष्य से यह प्रगट होता है कि ईस्वी सन् से हजारों वर्ष पूर्व भगवान सुपाश्वनाथ की मान्यता जनता में प्रचलित हो चुकी थी और जनता उन्हें अपना आराध्य देव मानती थी।

सुपाश्वनाथ इक्ष्वाकुवशी थे। किन्तु उनकी मूर्तियों के ऊपर सर्प-फण-मण्डल मिलता है। पार्श्वनाथ को सर्पफणावलीयुक्त मूर्तियों से सुपाश्वनाथ की मूर्तियों में भिन्नता प्रकट करने के लिये सुपाश्वनाथ के ऊपर पञ्च फणावली बनाई जाती है और पार्श्वनाथ के ऊपर सात फणावली। किसी किसी मूर्ति में पार्श्वनाथ के ऊपर नौ और ग्यारह फणावली भी मिलती हैं। कुछ मूर्तियाँ सहस्र फणावली वाली भी उपलब्ध होती हैं। पार्श्वनाथ के ऊपर सर्प-फण-मण्डल का तो एक तर्कसंगत कारण रहा है। वह है सगम देव द्वारा उपसर्ग करने पर घरणेन्द्र द्वारा भगवान के ऊपर सर्प-फण का छत्र लगाना। इसके अतिरिक्त उनका चिन्ह भी सर्प है। किन्तु सुपाश्वनाथ के ऊपर

सर्प-फण-मण्डल किस कारण से बनाया जाता है, इसका कारण खोजने की आवश्यकता है। दिगम्बर शास्त्रों में इस बात का कोई युक्तियुक्त कारण हमारे देखने में नहीं आया। हाँ, श्वेताम्बर परम्परामान्य आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' में लिखा है कि जब भगवान सुपाश्व को केवलज्ञान हो गया और जब इन्द्र द्वारा विरचित समवसरण में वे सिंहासन पर विराजे, तब इन्द्र ने उनके मस्तक पर सर्प-फण का छत्र लगाया

था। आचार्य ने इस प्रकार करने का कोई कारण तो नहीं दिया। सभव है, इन्द्र ने जो छत्र लगाया था, उसका आकार सर्प-फण-मण्डल जैसा रहा हो।

इस सम्बन्ध में हमारी विनम्र मान्यता है कि सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ दोनों ही वाराणसी में उत्पन्न हुए थे। पार्श्वनाथ का प्रभाव अपने काल में पूर्व और पूर्वोत्तर भारत में अत्यधिक था। यही कारण है कि उनकी मूर्तियाँ अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक मिलती हैं। उनके इस प्रभाव के कारण और दोनों का नाम प्रायः समान होने के कारण पार्श्वनाथ-मूर्तियों की अनुकृति पर सुपार्श्वनाथ की भी मूर्तियाँ बनने लगी और उनके ऊपर भी सर्प-फण बनाये जाने लगे। इसके सिवाय दूसरा कोई युक्तियुक्त उत्तर बन नहीं सकता।

भगवान सुपार्श्वनाथ की लोक-प्रसिद्धि के कारण स्वस्तिक का मगल चिन्ह भी लोकविश्रुत हो गया। अतः स्वस्तिक का लोक-प्रचलन इतिहासातीत काल से रहा है। मोहन जो दड़ो, लायल, रोपड़ आदि के प्राचीनतम

पुरातत्त्व में कई मुद्राओं में स्वस्तिक अंकित पाया गया है। एक मुद्रा मोहन जो दड़ो में ऐसी भी उपलब्ध हुई है, जिसमें स्वस्तिक अंकित है और उसके आगे एक हाथी नतमस्तक खड़ा है। भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता अभी तक इस प्रतीक का रहस्योद्घाटन करने में असमर्थ रहे हैं।

किन्तु जैन प्रतीक-योजना के छत्र को इसके समाधान में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। प्रतीकात्मक रूप से स्वस्तिक सुपार्श्वनाथ का चिन्ह है और हाथी उनके यक्ष मातंग^१ के वाहन का द्योतक है। सुपार्श्वनाथ की द्योतक एक मुद्रा और मिली है। एक दिग्भ्रमर योगी पद्मासन मुद्रा में विराजमान है। उसके दोनों ओर दो सर्प बने हुए हैं और दो व्यक्ति भक्ति में वीणा-वादन कर रहे हैं। निश्चय ही यह योगी सुपार्श्वनाथ हैं और सर्प उनके चिन्ह हैं।

खण्डगिरि-उदयगिरि की रानी गुफा में स्वस्तिक का चिन्ह है। यह गुफा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की है। एक गुफा में सर्प का चिन्ह अंकित है। मथुरा के ककाली टीला से प्राप्त कुपाणकालीन आयागपट्ट में भी स्वस्तिक या नन्द्यावर्त बना हुआ है। कौशाम्बी, राजगृह, श्रावस्ती आदि में ऐसे शिलापट्ट मिले हैं, जिन पर स्वस्तिक और सर्प बने हुए हैं। जैन मन्दिरों में सर्वत्र स्वस्तिक मगल चिन्ह के रूप में सदा से प्रयुक्त होता आया है। जैनो की पूजा-विधि में स्वस्तिक एक आवश्यक अंग है। विधान, प्रतिष्ठा, मगल कार्यों आदि में स्वस्तिक की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है।

स्वस्तिक में बड़ा रहस्य निहित है। यह चतुर्गति रूप ससार का द्योतक है। इसके ऊपर तीन विन्दु रत्न-त्रय के और अर्धचन्द्र रत्नत्रय द्वारा प्राप्त मुक्ति (सिद्धशिला) का प्रतीक है।

धीरे धीरे स्वस्तिक की ख्याति से प्रभावित होकर ससार की सभी सभ्यताओं और अधिकांश धर्मों ने इसे अपना लिया।

काशी देश में वाराणसी नगरी थी। काशी जनपद की यह राजधानी थी। यहाँ के वर्तमान भदनी घाट को भगवान सुपार्श्वनाथ का जन्म-स्थान माना जाता है। स्याद्वाद विद्यालय के ऊपर वाराणसी मन्दिर बना हुआ है। कहते हैं, भगवान का जन्म-कल्याणक यही हुआ था। कुछ लोग मानते हैं कि छेदीलाल जी का जैन मन्दिर—जो इस मन्दिर के निकट है—भगवान का वास्तविक जन्म-स्थान है। यहाँ भगवान के प्राचीन चरण-चिन्ह भी हैं।

काशी में अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाएँ हुई हैं। कर्म युग के प्रारम्भ में महाराज अकपन यहाँ के राजा थे। उन्होंने अपनी पुत्री सुलोचना का स्वयंवर यही किया था। यह कर्मभूमि का प्रथम स्वयंवर था।

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म यही हुआ था और उन्होंने यही पर कमठ तपस्वी के अविशेषपूर्ण तप की निस्सारता बताते हुए जलते हुए सर्प-युगल को णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से वे नागकुमार जाति के इन्द्र-इन्द्राणी धरणेन्द्र और पद्मावती बने थे और यही भगवान पार्श्वनाथ का उपदेश सुनकर अश्वसेन और वामा देवी ने दीक्षा ली थी।

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि स्वामी समन्तभद्र भस्मक व्याधि के काल में यहाँ के शिवालय में रहे थे और जब उनके छद्म रूप का रहस्य फूट गया, तब राजा के द्वारा वाध्य किये जाने पर उन्होंने शिवपिण्डी के समक्ष जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा की कल्पना करके स्वयम्भू स्तोत्र का पाठ करना आरम्भ किया और जब वे चन्द्रप्रभ की स्तुति करने लगे, तभी शिवपिण्डी फटकर उसके बीच में से भगवान चन्द्रप्रभ की दिव्य मूर्ति प्रगट हुई। उन्होंने उसे नमस्कार किया। इस घटना की सत्यता बताने वाला फटे महादेव का मन्दिर अब तक विद्यमान है। कुछ वर्ष पूर्व तक इस मन्दिर का नाम समन्तभद्रेश्वर मन्दिर था। यह पहले बहुत बड़ा मन्दिर था। किन्तु जब यहाँ से सड़क निकली, तब सड़क मार्ग में बाधक इसका बहुत सा भाग गिरा दिया गया था।

इस प्रकार यहाँ अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई हैं।

भगवान सुपार्श्वनाथ के नाग चिन्ह का प्रभाव यहाँ व्यापक रूप से पडा और जनता नाग-पूजा करने लगी।

यहाँ यक्ष-पूजा का भी बहुत प्रचलन रहा है। लगता है, इन दोनों पूजाओं का सम्बन्ध काशी में नाग पूजा सुपार्श्वनाथ से था।

पुरातत्त्व—यहाँ राजघाट से उत्खनन में महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्व सामग्री मिली है, जिसमें कुषाण और गुप्त युग की अनेक जैन मूर्तियाँ भी हैं जो यहाँ के भारत कला भवन में सुरक्षित हैं।

नवम परिच्छेद

भगवान चन्द्रप्रभ

भगवान चन्द्रप्रभ का जीव एक जन्म में श्रीपुर के राजा श्रीपेण और रानी श्रीकान्ता का पुत्र श्रीवर्मा हुआ। एक दिन उन्नापात देगकर उमें भोगों में विरक्ति हो गई और उमने श्रीप्रभ जिनेन्द्र के निकट मुनि-दीक्षा ले ली। आयु पूर्ण होने पर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। उम देव का जीव आयु समाप्त होने पर घातकी गण्ट की अयोध्या के राजा अजितजय और अजितमेना का अजितसेन नामक पुत्र हुआ। राज्य प्राप्त होने पर उमकी आयुधमाला में चक्रवर्त्तन उत्पन्न हुआ। उसने दिग्विजय करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। यद्यपि पुण्योदय में भोग की सम्पूर्ण मामग्री उमके निकट थी किन्तु उसकी भोगों में तनिक भी आनक्ति नहीं थी। वह ब्रह्म न्यायपरायण और धर्मनिष्ठ था। लोग उमें राजपि कहते थे। पुण्य कर्म के उदय से उमें चौदह रत्न और ती निधिया प्राप्त थी। भाजन, भोजन, शय्या, मेना, नवारी, आसन, निधि रत्न, नगर और नाट्य इन दशविध भोगों का भोग करता था। एक दिन चक्रवर्ती ने अरिन्दम नामक मुनि को आहार-दान किया। फलस्वरूप रत्न-वर्षा आदि पचासचर्य प्राप्त किये। दूसरे दिन वह गुणप्रभ जिनेन्द्र की वन्दना करने गया और उनका उपदेश सुनकर बहुत में राजाओं के साथ नयम धारण कर लिया। अन्न में समाधिमरण करके वह सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुआ।

आयु पूर्ण होने पर अच्युतेन्द्र घातकी गण्ट के रत्नसचयपुर के नरेश कनकप्रभ और उसकी रानी कनकमाला का पद्मनाभ नामक पुत्र हुआ। यौवन अवस्था में राज्य प्राप्त कर मुखपूर्वक रहने लगा। फिर एक दिन उसे वैराग्य हो गया और दीक्षा ले ली। वह मुनि अवस्था में चारों आराधनाओं का आराधन करने लगा। उसने ग्यारह अगो का पारगामी बन कर सोलह कारण भावनाओं का चिंतन किया और तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध किया। वह नाना प्रकार के तपो द्वारा कर्मों का क्षय करता रहा। अन्त में समाधिमरण करके वह वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। तैतीस सागर की आयु उसने प्राप्त की।

भरतक्षेत्र में चन्द्रपुर नामक नगर के अधिपति इक्ष्वाकुवशी काश्यप गोत्री महासेन राजा थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मणा था। उनके प्रासाद के प्रागण में छह माह तक देवों ने रत्न-वर्षा की। श्री ह्री आदि देवियाँ महारानी की सेवा करती थी। देवोपनीत वस्त्र, माला, लेप तथा शय्या आदि सुखों का भोग करती थी।

गर्भ कल्याणक उन्होंने चैत्र कृष्णा पचमी को पिछली रात्रि में सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होने पर उन्होंने वस्त्राभरण धारण किये और सिंहासन पर आसीन अपने पति के निकट जाकर उन्होंने उनसे अपने स्वप्नों की चर्चा की। महाराज ने अधिज्ञान से स्वप्नों का फल जानकर रानी से कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थकर प्रभु पधारें हैं। फल सुनकर रानी अत्यन्त हर्षित हुई। देवों ने गर्भ के नौ माह तक रत्न-वर्षा की। श्री, ह्री, घृति, कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी देवियाँ उनकी कान्ति, लज्जा धैर्य, कीर्ति, बुद्धि और सौभाग्य सम्पत्ति को सदा बढाती रहती थी तथा माता का मनोरजन नाना प्रकार से किया करती थी।

गर्भ-काल व्यतीत होने पर रानी ने पौष कृष्णा एकादशी को शक्र योग में देवपूजित, अलौकिक प्रभा के धारक पुत्र को जन्म दिया। उसी समय इन्द्र और देव आये। सौधर्मेन्द्र ने अपनी शची के द्वारा बाल प्रभु को मगाकर, सुमेरु पर्वत पर लेजाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया। उन्हें दिव्य वस्त्रालकारों से जन्म-कल्याणक विभूषित किया, तीन लोक के राज्य की कण्ठी बाधी और उनकी रूप छटा को हजार नैत्र बना

कर विमुग्ध भाव से उन्हें निहारता रहा। उनके उत्पन्न होते ही कुवलय समूह विकसित हो गया था। अतः इन्द्र ने उनका नाम 'चन्द्रप्रभ रक्खा। फिर इन्द्र ने भगवान के समक्ष आनन्द नामक भक्तिपूर्ण नाटक और नृत्य किया। फिर लाकर उन्हें माता-पिता को सौंपकर कुबेर को आज्ञा दी—'तुम भोगोपभोग की योग्य वस्तुओं के द्वारा भगवान की सेवा करो' और फिर वह देवों के साथ स्वर्ग को चला गया। भगवान का लाछन चन्द्रमा है।

भगवान ज्यो-ज्यो बढ़ने लगे, उनका रूप, कान्ति, लावण्य सभी कुछ बढ़ने लगे, वे प्रियदर्शन थे। लोग उनके दर्शनो के लिए व्याकुल रहते थे और दर्शन मिलने पर उन्हें अपूर्व तृप्ति अनुभव होती थी।

मा र अवस्था वीतने पर उनके पिता ने राज्याभिषेक कर दिया। उनकी स्त्रियाँ उनकी आज्ञानुवर्ती थी, समस्त राजा उनके वशवर्ती थे और भृत्यगण, पुरजन और परिजन उनके सकेतानुवर्ती थे।

साम्राज्य-सम्पदा का भोग करते हुए जब उन्हें काफी समय हो गया, तब एक दिन वे अपने शृंगार-कोष्ठक में दर्पण में अपना मुख देख रहे थे। उन्हें अन्त स्फुरणा हुई—एक दिन था जब यह मुख मधुर कान्ति से उमगता था।

वे कौमार्य के दिन थे। उन दिनों कितना भोलापन था इसके ऊपर। कौमार्य वीता, किशोरा-

भगवान को स्वयं स्फूर्त प्रेरणा वस्था आई, कान्ति और ओज फूटे पड़ते थे। यौवन आया तो ससार के भोगों की और आकर्षण सग में लाया। अब आयु निरन्तर छीजती जा रही है। आयु का चतुर्थ पाद आ गया है, तीन पाद बीत चुके हैं। आयु का इतना लम्बा काल मैंने केवल सासारिकता में ही खो दिये।

अपना हित नहीं किया। अब तक मैंने ससार की सम्पदा का भोग किया, किन्तु अब मुझे आत्मिक सम्पदा का भोग करना है। ससार का यह रूप, यह सम्पदा क्षणिक है, अस्थिर है। किन्तु आत्मा का रूप अलौकिक है, आत्मा की सपदा अनन्त अक्षय है। मैं अब इसी का पुरुषार्थ जगाऊँगा।

इस प्रकार जब चन्द्रप्रभ अपने आत्मा को जागृत कर रहे थे, तभी लौकान्तिक देव आये और भगवान की स्तुति करते हुए उनके विचारों की सराहना की। भगवान अपने पुत्र वरचन्द्र को राज्य-भार सौंप कर देवों द्वारा

दीक्षा कल्याणक लाई हुई विमला नामक पालकी में नगर के बाहर सर्वतुंक वन में पधारे। वहाँ उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दो दिन बाद वे नलिन नामक नगर में आहार के निमित्त पधारे। वहाँ सोमदत्त राजा ने उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार-दान दिया। इससे प्रभावित होकर देवों ने रत्नवृष्टि आदि पचाश्चर्य किये।

भगवान मुनिजनोचित पच महाव्रत, पच समिति, पचेन्द्रिय निग्रह, दशधर्म आदि में सावधान रहते हुए कर्म शत्रुओं से युद्ध करने में सलग्न रहने लगे। उन्हें घातिया कर्मों को निर्मूल करने में तीन माह लग गये। अन्त में दीक्षा

वन में नाग वृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर प्रभु ध्यानलीन हो गये और फाल्गुन कृष्णा केवलज्ञान कल्याणक सप्तमी को सायंकाल अनुराधा नक्षत्र में वे अघ करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण

रूप तीन परिणामों के संयोग से क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके प्रथम शुक्ल ध्यान के बल से मोहनीय कर्म का नाश करने में सफल हो गये। फिर बारहवें गुणस्थान के अन्त में द्वितीय शुक्ल ध्यान के प्रभाव से

शेष तीन घातिया कर्मों का भी क्षय कर दिया। जीव के उपयोग गुण का घात करने वाले घातिया कर्मों का नाश होते ही वे संयोग केवली हो गये। उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से सम्पन्न

हो गई। उन्हें परमावगाढ सम्यग्दर्शन, यथाख्यात चारित्र्य, क्षायिक ज्ञान आदि पाच लब्धियों की उपलब्धि हो गई। अब वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गए।

इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की। उन्होंने समवसरण की रचना की और उसमें भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी। भगवान के धर्म-चक्र का प्रवर्तन हुआ।

उनके दत्त आदि तिरानवे गणधर थे। दो हजार पूर्वधारी थे। आठ हजार अवधिज्ञानी, दो लाख चार सौ शिक्षक, दस हजार केवलज्ञानी, चौदह हजार विक्रिया ऋद्धिधारी, आठ हजार मन पर्ययज्ञानी और चार हजार भगवान का परिवार छह सौ वादी थे। इस प्रकार सब मुनियों की संख्या ढाई लाख थी। वरुणा आदि तीन लाख

श्रस्ती हजार अजिकाये थी। तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्रविकाये थी।

भगवान चन्द्रप्रभ समस्त देशो मे विहार करते हुए सम्मेद शिगर पर पहुँचे और वहाँ एक हजार मुनियों के साथ एक माह तक प्रतिमा योग धारण करके श्रास्ट हो गये। अन्त मे फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र भोक्ष कल्याणक मे सायकाल के समय योग-निरोध कर समस्त अघातिया कर्मों का नाश करके परम पद निर्वाण को प्राप्त हुए। उसी समय देवो ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान चन्द्रप्रभ के सेवक विजय यक्ष और ज्वालामालिनी यक्षिणी थे।

भगवान चन्द्रप्रभ की जन्मनगरी चन्द्रपुरी है जो वाराणसी से आगे कादीपुर स्टेशन से ५ किलोमीटर दूर गगा के तट पर अवस्थित है। टैंकसी और मोटर के द्वारा वाराणसी से गोरखपुर रोड पर २४ किलोमीटर है। मुख्य चन्द्रपुरी सडक से २ किलोमीटर कच्चा मार्ग है। यह सिंहपुरी (सारनाथ) से १७ किलोमीटर है। इस गाव का वर्तमान नाम चन्द्रावती है।

यहाँ दिगम्बर जैनो का जो प्राचीन मन्दिर था, उस पर श्वेताम्बरो ने अधिकार कर लिया था। तब आरा निवासी लाला प्रभुदास ने गगा के किनारे सन् १९१३ मे नवीन मन्दिर का निर्माण कराया तथा मूर्तियों की पच कल्याणक प्रतिष्ठा वा० देवकुमार जी ने कराई। मन्दिर मे भगवान चन्द्रप्रभ की श्वेत वर्ण १४ इंच अवगाहना वाली प्रतिमा विराजमान है। इसके आगे पार्श्वनाथ की श्याम वर्ण प्रतिमा विराजमान है। मन्दिर दूसरी मजिल पर है। मन्दिर के चारो ओर धर्मशाला बनी हुई है।

यहाँ चैत्र कृष्ण पचमी को वार्षिक मेला भरता है।

दशम परिच्छेद

भगवान् पुष्पदन्त

पुष्करार्ध द्वीप, पूर्वं विदेह क्षेत्र, सीता नदी, उसके उत्तरी तट पर पुष्कलावती देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी थी। वहाँ का राजा महापद्म था। वह बड़ा पराक्रमी था। उसने शत्रुदल को अपने वश में कर लिया था। जनता पर उसका इतना प्रभाव था कि वह जो नई परम्परा डालता था, जनता में वह रिवाज बन जाती थी। जनता उसके गुणों पर मुग्ध थी। वह बड़ा पुण्यात्मा था। उसे कभी किसी वस्तु का अभाव नहीं खटकता था।

एक दिन वनपाल ने आकर राजा को समाचार दिया कि वन में महान् विभूतिसम्पन्न भूतहित नामक जिनराज विराजमान हैं। समाचार सुनते ही वह पुरजनों-परिजनों के साथ वन में गया। वहाँ जाकर उसने जिनराज की वन्दना की, पूजा की और जाकर अपने स्थान पर बैठ गया। उनका कल्याणकारी उपदेश सुनकर राजा को ससार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया। सत्यज्ञान होने पर क्या कोई ससार के भोगों और ममता के बन्धनों में बना रह सकता है। उसने तत्काल अपने पुत्र धनद को राज्य-भार सौंप दिया और अनेक राजाओं के साथ वह मुनि बन गया। ऋमश वह द्वादशाग का वेत्ता हो गया और वह सोलह कारण भावनाओं का धिन्तन करने लगा जिससे उसे तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध हो गया। अन्त में उसने समाधिमरण ले लिया। आयु पूर्ण होने पर वह प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ।

भरत क्षेत्र में काकन्दी नगरी के अधिपति महाराज सुग्रीव थे जो इक्ष्वाकु वंशी काश्यप गोत्री थे। उनकी पटरानी का नाम जयरामा था। भगवान् जब गर्भ में आये, उससे छह माह पूर्व से गभकाल के नौ माह पर्यन्त देवों ने रत्नवृष्टि की। एक दिन महारानी सो रही थी। उस दिन फाल्गुन कृष्णा नौमी और मूल नक्षत्र था। ब्राह्म मुहूर्त का समय था। उस समय महारानी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। जब महारानी जागी तो उन्होंने अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछा—महाराज ने अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल महारानी से कहा। महारानी फल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। उस शुभ मुहूर्त में प्राणत स्वर्ग का वह इन्द्र आयु पूर्ण होने पर महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ।

नौ माह पूर्ण होने पर महारानी ने मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा के दिन जैत्रयोग में एक लोकोत्तर पुत्र को जन्म कल्याणक जन्म दिया। उसी समय चारों प्रकार के देवों और इन्द्रों ने आकर बाल भगवान् को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और उनका सब देवों ने मिलकर जन्म कल्याणक महोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया। इन्द्र ने कुन्द क पुष्प के समान काति वाले उस बालक का नाम पुष्पदन्त रक्खा। उनका लाछन मगर था।

बालक पुष्पदन्त जन्म काल से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान का धारक था। वह अपनी बाल-क्रीडाओं निष्क्रमण कल्याणक से सब मनुष्यों को प्रसन्न करता था। उसके वस्त्राभूषण, भोजन-पान सभी कुछ देवोपनीत थे। उसके बालसाथी देव थे।

जब बालक कुमार अवस्था पार करके यौवन को प्राप्त हुआ, पिता ने अपना राजपाट उसे सौंप दिया और वे मुनि दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण के लिये वनों में चले गये। राज्य-शासन करते हुए महाराज पुष्पदन्त ने ससार

के सभी सुखों का अनुभव किया। भगवान तो असीम पुण्य के स्वामी थे ही, किन्तु जो स्त्रियाँ भगवान को सुख देती थी, वे भी असाधारण पुण्याधिकारिणी थी।

एक दिन भगवान बैठे हुए प्रकृति के सौन्दर्य का रस पान कर रहे थे, तभी अकस्मात् उल्कापात हुआ। ससार में रहकर भी जो ससार से पृथक् थे, उनके लिए यह साधारण लगने वाली घटना ही प्रेरक सिद्ध हुई। वे उल्कापात देखकर विचारमग्न हो गये। वे विचार करने लगे—यह उल्का नहीं है, अपितु मेरे अनादिकाल के महा मोह रूपी अन्धकार को दूर करने वाली दीपिका है। इससे उन्हें बोधि प्राप्त हुई और उन्हें यह दृढ आत्म प्रतीति हुई—मेरा आत्मा ही मेरा है, यह राज्य, स्त्री-पुत्र आदि सभी पर हैं, कर्मकृत सयोग मात्र हैं। अब मुझे आत्मा के लिये ही निज का पुरुषार्थ जगाना है।

तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा की और उनके विचारों को सराहना की। भगवान भी अपने पुत्र सुमति का राज्याभिषेक करके सूर्यप्रभा पालकी में बैठकर नगर के बाहर उद्यान में पहुँचे। वहाँ बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्द्रो और देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाया।

दूसरे दिन वे आहार के लिये ञ्जलपुर नगर में पहुँचे। वहाँ पुष्पमित्र राजा ने उन्हें आहार देकर असीम पुण्य का उपार्जन किया। देवों ने वहाँ पचासचर्यं किये।

केवल ज्ञान कल्याणक—भगवान निरन्तर तपस्या करते रहे। उन्हें इस प्रकार तपस्या करते हुए चार वर्ष व्यतीत हो गये। तब वे कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन सायंकाल के समय मूल नक्षत्र में दो दिन का उपवास लेकर नाग वृक्ष के नीचे बैठ गये और उसी दीक्षा वन में घातिया कर्मों को निर्मूल करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किया।

इन्द्रो ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की और समवसरण की रचना की। उस दिन सर्व पदार्थों का निरूपण करने वाली भगवान की दिव्य ध्वनि प्रगट हुई।

भगवान का संघ—भगवान, पुष्पदन्त के सात ऋद्धियों के धारक विघर्भ आदि अठासी गणधर थे। १५०० श्रुतकेवली, १५५५०० शिक्षक, ८४०० अवधिज्ञानी, ७००० केवलज्ञानी, १३००० विप्रिया ऋद्धि के धारक, ७५०० मनःपर्ययज्ञानी और ६६०० वादी मुनि थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या २००००० थी। इनके अतिरिक्त घोषार्या आदि ३८०००० आर्यिकायं, २००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायं थीं।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने समस्त आर्य देशों में विहार करके सद्धर्म का उपदेश दिया, जिससे असंख्य प्राणियों ने आत्म-हित किया। अन्त में वे सम्मदशिखर पहुँचे और योग-निरोध करके भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष को प्राप्त हो गये। देव और इन्द्र आये और उनका निर्वाण कल्याणक मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

अपर नाम—भगवान पुष्पदन्त का दूसरा नाम सुविधिनाथ भी है।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान पुष्पदन्त के सेवक यक्ष का नाम अजित यक्ष और सेविका यक्षिणी का नाम महा-काली था।

इन्ही के समय में रुद्र नामक तीसरा रुद्र हुआ।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में खुखन्दू नामक एक कस्बा है। यह सड़क मार्ग से देवरिया-सलेमपुर सड़क से एक मील है। मार्ग कच्चा है। पश्चिम से आने वालों को देवरिया और पूर्व से आने वालों को सलेमपुर

काकन्दी

उतरना चाहिए। दोनों ही स्थानों से यह १४-१४ कि० मी० है। यहाँ पुराने भवनो के भग्नावशेष लगभग एक मील में बिखरे पड़े हैं। यहाँ प्राचीन तालाब हैं और तीस टीले हैं। यही पर प्राचीन काल में काकन्दी थी। काकन्दी का नाम बदलते बदलते किष्किन्धापुर

और फिर खुखन्दू हो गया।

इस नगर में पुष्पदन्त भगवान का जन्म हुआ था।

यही पर काकन्दी नरेश अभयघोष हुए थे। उन्होंने एक कछुए की टांगे तलवार से काट दी थी। कछुए का वह जीव उनके घर में ही पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। अभयघोष नरेश यथासमय पुत्र को राज्य देकर मुनि बन गये। एक बार मुनि अभयघोष विहार करते हुए काकन्दी आये और नगर के बाहर उद्यान में ध्यान लगाकर खड़े हो गये। उनका पुत्र चण्डवेग घूमता हुआ उधर से निकला। पूर्व जन्म के वैर के कारण चण्डवेग ने मुनि अभयघोष को देखते ही उन पर उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। उसने तीक्ष्ण धार वाले हथियार से उनके अग्र काटना प्रारम्भ कर दिया। जब अन्तिम अंग कट रहा था, तभी मुनिराज को केवलज्ञान हो गया और वही से निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार यह स्थान सिद्ध क्षेत्र भी है।

यहाँ के टीलो को लोग 'देउरा' कहते हैं। देउरा का अर्थ है देवालय। यहाँ भारत सरकार की ओर से जो खुदाई हुई थी, उसके फलस्वरूप यहाँ तीर्थकर मूर्तियाँ, चैत्य वृक्ष और स्तूपों के भग्न भाग निकले थे। यहाँ खुदाई में ईंटों का एक फर्श भी मिला था, जिसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जैन मन्दिर माना है।

यहाँ के मन्दिर में भगवान नेमिनाथ की श्यामवर्ण वाली सवा दो फुट की पद्मासन प्रतिमा मूलनायक है। इसके अतिरिक्त भगवान पुष्पदन्त, भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ हैं। एक चौबीसी है। अम्बिका देवी की एक पाषाण प्रतिमा भूगर्भ से निकली हुई यहाँ रक्खी है। नेमिनाथ और अम्बिका की मूर्तियाँ गुप्त काल या उससे भी पूर्व की हैं।

ककुभग्राम—आजकल इसका नाम 'कहाऊँ' है। यही भगवान पुष्पदन्त की दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुआ था। यह काकन्दी से १६ कि० मो० है। प्राचीन काल में यह काकन्दी का बाहरी उद्यान या वन था।

यहाँ भी चारों ओर भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं। यहाँ एक टूटे मकान में पाँच फुट ऊँची सिलेटी वर्ण की एक तीर्थकर प्रतिमा रक्खी हुई है। यह बीच से खण्डित है। ग्रामीण लोग तेल पानी से इसका अभिषेक करते हैं।

इस कमरे के सामने एक और ऐसी ही प्रतिमा चबूतरे पर पड़ी हुई है। यह काफी शोण है। इसका मुख तक घिस गया है।

इनसे कुछ आगे एक मानस्तम्भ खड़ा है। यह २४ फुट ऊँचा है। इसमें एक ओर भगवान पार्श्वनाथ की सवा दो फुटी खड्गासन प्रतिमा उत्कीर्ण है। स्तम्भ के ऊपरी भाग में पाँच तीर्थकर प्रतिमाएँ विराजमान हैं। ग्रामीण लोग पार्श्वनाथ की पूजा दही-सिन्दूर से करते हैं और इस स्तम्भ को 'भीमसेन की लाट' कहते हैं।

स्तम्भ पर ब्राह्मी लिपि में बारह पक्तियों का एक लेख खुदा हुआ है। उसके अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण एव प्रतिष्ठा मद्र नामक एक ब्राह्मण ने गुप्त सवत् १४१ (ई० सन् ४६०) में सम्राट् समुद्रगुप्त के काल में कराई थी। यह ज्ञात मान स्तम्भों में सबसे प्राचीन है।



एकादश परिच्छेद

भगवान् शीतलनाथ

पुष्करवर द्वीप के विदेह क्षेत्र में गीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स नामक देश था। उसके सुसीमा नगर में पद्मगुल्म नामक राजा राज्य करता था। वह गान, दास, दण्ड और भेद का ज्ञाता था। महाय, गाघनोपाय, देश विभाग, काल विभाग और विनियान प्रयोग इन पान शर्मा ने युक्त मन्वि-विग्रह का सम्यक् विनियोग करने वाला था। उगने अपने बुद्धि-कौशल में स्वामी, मंत्री, कोट, कोष, मित्र, देश और मेना का नृप प्रमाण-विग्रह किया था। वह देव, बुद्धि और पुण्याय द्वारा लक्ष्मी की निरन्तर वृद्धि करता रहता था। अन्त में उसे आगमन होने पर वह प्रतिदिन अपनी रानियों के मग विविध क्रीडाये किया करता था। जब अन्त में मनु गमाप्त हो गई तो उसे नगर को उस क्षणभंगुरता में वैराग्य हो गया और चन्दन नामक अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंपकर आनन्द नामक मुनिराज के पास जाकर उसने जनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उसने निरन्तर तपश्चर्या करते हुए अन्त में प्रगता अभ्ययन किया और पोडश कारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए तीर्थकर नाम कर्म का बन्धन किया। वह नारायण आराधनाओं का आराधन करता हुआ आयु के अन्त में समाधिमरण धारण करके आरण्य नामक पन्द्रहवें स्वर्ग का इन्द्र बना।

भरत क्षेत्र में मलय नामक देश था। उसमें भद्रपुर नगर के स्वामी इक्ष्वाकु कुल के भूपण राजा दृढरथ राज्य करते थे। उनकी प्राणवल्ताभा का नाम महारानी सुनन्दा था। कुशेर को आज्ञा से यक्ष देवों ने भगवान् के गर्भावतरण से छह मास पहले में महाराज दृढरथ के प्रासाद में रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन महारानी सुनन्दा ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे और उसके बाद एक विशालकाय हाथी को मुख में प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय चंद्र कृष्णा अष्टमी के दिन पूर्वाषाढा नक्षत्र में वह आरण्येन्द्र का जीव रानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ।

प्रातः काल होने पर महारानी ने महाराज के पास जाकर अपने स्वप्नों की चर्चा की। महाराज ने ज्ञान से जानकर उनके फल बताते हुए कहा—देवि! तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकीनाथ तीर्थकर देव अवतरित हुए हैं। चुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। देवी ने आकर गर्भकल्याणक की पूजा की।

जन्म कल्याणक—गर्भ-काल पूर्ण होने पर माघ कृष्णा द्वादशी के दिन विश्वयोग में महारानी ने पुत्र-प्रसव किया। उसी समय चारों जाति के देव और इन्द्र आकर बड़े समारोह के साथ बाल भगवान् को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ उन्होंने क्षीरसागर के जल से भगवान् का अभिषेक किया। सौधर्म इन्द्र ने भगवान् की भक्ति से विह्वल होकर ताण्डव नृत्य किया और बालक का नाम शीतलनाथ रक्खा। उनका लक्षण श्रीवृक्ष था।

दीक्षा कल्याणक—बालक शीतलनाथ दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। जब किशोरवय पार कर वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, उनके पिता ने उन्हें राज्याभिषेक करके राज्य सौंप दिया और स्वयं मुनि बन गये। भगवान् राज्य पाकर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा उनके सुशासन से इतनी सन्तुष्ट थी कि वे प्रजा के हृदय-सम्राट् कहलाते थे।

एक दिन वे वन-विहार के लिए गये। वे जब वन में पहुँचे, उस समय कोहरा छाया हुआ था। किन्तु सूर्यो-

दय होते ही कोहरे का पता भी न चला। सर्वसाधारण के लिए घटना साधारण थी, किन्तु आत्मदृष्टा शीतलनाथ के लिये यही साधारण घटना असाधारण बन गई। वे चिन्तन में डूब गये—कोहरा नष्ट हो गया, यह सारा ससार ही नाशवान् है। अब मुझे दुःख, दुःखी और दुःख का निमित्त इन तीनों का यथार्थ बोध हो गया। मोह के निमित्त से मैं समझता रहा—मैं सुखी हूँ, इन्द्रिय-सुख ही वास्तविक सुख है और यह सुख पुण्योदय से मुझे फिर भी मिलेगा। अतः अब मुझे इस मोह का ही नाश करना है।

भगवान ऐसा विचार कर रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की वन्दना की और उनके विचारों की सराहना की। भगवान ने तत्काल अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया और शुक्रप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर नगर के बाहर सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने माघ कृष्णा द्वादशी के दिन सायंकाल के समय पूर्वाषाढा नक्षत्र में दो उपवास का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ सयम धारण कर लिया।

दीक्षा लेते ही भगवान को मन पर्ययज्ञान प्रगट हो गया। दो दिन के पश्चात् चर्या के लिए वे अरिष्ट नगर में पहुँचे। वहाँ पुनर्वसु राजा ने नवघा भक्तिपूर्वक भगवान को आहार-दान देने का सौभाग्य प्राप्त किया।

देवों ने रत्नवर्षा आदि पचासचर्य किये। भगवान आहार करके विहार कर गये। वे घोर केवलज्ञान कल्याणक तपस्या करने लगे। इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था के तीन वर्ष तक उन्होंने नानाविध तप किये। तदनन्तर वे एक दिन बेल के वृक्ष के नीचे दो दिन का उपवास करके ध्यानलीन हो गये।

तभी पीष कृष्णा चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढा नक्षत्र में सायंकाल के समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक की पूजा की तथा समवसरण की रचना की। उसमें देव, मनुष्य और तिर्यचो के समक्ष भगवान की कल्याणी दिव्यध्वनि खिरी। यह भगवान का प्रथम धर्म-चक्र-प्रवर्तन था।

भगवान का सघ—भगवान के सघ में अनगार आदि ८१ गणधर थे। १४०० पूर्वधारी, ५६२०० शिक्षक, ७२०० अवधिज्ञानी, ७००० केवली, १२००० विक्रियाऋद्धिधारी मुनि, ७५०० मन पर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार उनके मुनियों की कुल संख्या एक लाख थी। घरणा आदि ३८०००० आर्यिकाये थी। दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाये थी।

निर्वाण कल्याणक—वे चिरकाल तक अनेक देशों में विहार करके भव्य जीवों को कल्याण का मार्ग बताते रहे। अन्त में वे सम्मेदशिखर जा पहुँचे और वहाँ एक माह का योग-निरोध करके उन्होंने प्रतिमा योग धारण कर लिया और आश्विन शुक्ला अष्टमी को सायंकाल के समय पूर्वाषाढा नक्षत्र में समस्त कर्मों का नाश करके एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। देवों ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष यक्षिणी—भगवान शीतलनाथ के सेवक यक्ष का नाम ब्रह्म यक्ष और सेविका मानवी यक्षिणी थी।

भगवान शीतलनाथ के समय विश्वानल नाम का चौथा रुद्र हुआ था।

भगवान शीतलनाथ का जन्म भद्रिकापुरी या भद्रिलपुर में हुआ था और उन्होंने अपनी जन्म-नगरी के बाह्य उद्यान में दीक्षा ग्रहण की थी तथा दीक्षा-वन में ही उन्हें केवलज्ञान हुआ। किन्तु भद्रिकापुरी कहाँ है, इस बात

को जैन समाज प्रायः भूल चुकी है। कई विद्वान् अज्ञानवश भेलमा (मध्य प्रदेश) को शीतल-
भ० शीतलनाथ की नाथ भगवान की जन्म-भूमि मानते हैं। किन्तु भगवान शीतलनाथ की जन्म-नगरी भद्रिकापुरी
जन्म-भूमि- वर्तमान में बिहार प्रान्त में हजारीबाग जिले में है और वर्तमान में उस नगर का नाम भोदल
भद्रिकापुरी गाव है। इसी प्रकार उनका दीक्षा-वन एव केवलज्ञान कल्याणक स्थान कोल्हुआ पर्वत है।
यह स्थान हजारीबाग जिले की चतरा तहसील में है। यहाँ जाने के लिये ग्राण्ड ट्रक रोड पर
डोभी से या चतरा से सड़क जाती है। चतरा के लिये हजारीबाग से और ग्राण्ड ट्रक रोड पर स्थित चौपारन से
सड़क जाती है। इनके अतिरिक्त गया से शेरघाटी, हटरगज और हटवारिया होकर भी मार्ग है। यह हटरगज से
दक्षिण-पश्चिम में छह मील है। भोदलगाव कोल्हुआ पहाड़ से पाच-छह मील है।

सन् १८६६ में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री नन्दलाल डे ने यहाँ का निरीक्षण करके इस पर्वत को मकुल पर्वत माना था, जहाँ भ० बुद्ध ने अपना छठवाँ चातुर्मास किया था तथा इस मन्दिर पर स्थित मन्दिरो और मूर्तियों को बौद्ध लिखा था। किन्तु सन् १९०१ में ज० एम० ए० स्टन ने एक नैस लिखकर यह सिद्ध किया था कि यहाँ के सारे मन्दिर और मूर्तियाँ वस्तुतः जैन हैं और यह पर्वत जैन तीर्थंकर शीतलनाथ की पवित्र जन्म-भूमि है। तभी से यह स्थान प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। यही नहीं, इसके आस-पास में मतगवा, कुन्दविला, बलरामपुर, औरम, दारिका, छर्वा, डलमा, कतरासगढ, पचनपुर, पाकवीर, तेलकुपी आदि में अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। भोदलगाव के निकट तो श्रावक गाव और श्रावक पहाड भी है। इस सबसे यह सहज ही अनुमान होता है कि यह स्थान कभी जैन धर्म का महान् केन्द्र था और इसके निकट का मारा प्रदेश जैन धर्मानुयायी था।

कोल्हुआ पहाड पर जाने के दो मार्ग हैं—पश्चिम की ओर में हटवारिया होकर तथा पूर्व की ओर से घाटी में होकर। हटवारिया की ओर में चढ़ने पर लगभग एक किलोमीटर चलने पर भगवान् पार्श्वनाथ की पीने दो फुट अवगाहना वाली एक प्रतिमा मिलती है। हिन्दू जनता इसे 'द्वारपाल' कहती है। इसमें दो कि० मी० आगे चलने पर एक भग्न कोट मिलता है। फिर एक तालाब ३०० × ७०० गज का मिलता है। सरकार की ओर से इसकी खुदाई कराई गई थी। फलतः एक सहस्रकूट चैत्यालय मिला। इसमें ढाई इंच वाली पचास प्रतिमाये हैं। सरोवर के किनारे अनेक खण्डित अखण्डित जैन प्रतिमाये और जैन मन्दिरो के अवशेष बिखरे पड़े हैं।

कोट द्वार के दक्षिण पूर्व की ओर कुलेश्वरी देवी का मन्दिर है, जो मूलतः जैन मन्दिर था। मन्दिर के दक्षिण की ओर एक गुफा में पार्श्वनाथ प्रतिमा है जो प्रायः एक गज ऊँची है। इसके निकट दूसरी गुफा में एक पद्मासन तीर्थंकर-मूर्ति है।

सरोवर के उत्तर में एक छोटा-सा प्राचीन जैन मन्दिर है, जिसके ऊपर पाच शिखर हैं। इसे सर्वे सैटिल-मैण्ट के नकशे में पार्श्वनाथ मन्दिर माना है। मन्दिर के बाहर जो चबूतरा है, उसे पार्श्वनाथ चबूतरा लिखा है। आगे जाकर आकाश लोचन झूट है। उस पर आठ इंच लंबे चरण बने हुए हैं। इसमें कुछ आगे एक गुफा में एक फुट अवगाहना वाली दस प्रतिमाये एक चट्टान में उकेरी हुई हैं। इससे आगे एक चट्टान में पाच पद्मासन और पाच खड्गासन प्रतिमाये उत्कीर्ण हैं। भूल से लोग इन्हे पाच पाण्डवों और दशावतार की प्रतिमाये कहने लगे हैं।

भोदलगाव छोटा-सा गाव है। अनुसन्धान किया जाय तो यहाँ भी जैन मन्दिर और मूर्तियाँ मिल सकती हैं।

भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ का अन्तिम चरण था। उस समय वक्ता, श्रोता और धर्माचरण करने वाले व्यक्तियों का अभाव हो गया। उस समय भद्रिलपुर में मलय देश का राजा मेघरथ था। एक दिन राजा ने राज्य-सभा में प्रश्न किया—सबसे अधिक फल देने वाला दान कौन सा है? इसके उत्तर में

मिथ्यादान का सत्यकीर्ति नामक मंत्री, जो दान के तत्त्व को जानने वाला था—कहा—'अपचार्यों ने तीन दान सर्वश्रेष्ठ बताये हैं—शास्त्रदान, अभयदान और अन्नदान। अन्नदान की अपेक्षा अभयदान श्रेष्ठ है और अभयदान की अपेक्षा शास्त्रदान उत्तम है। आप्त द्वारा कहा हुआ और

पूर्वापर अविरोधी एवं प्रत्यक्ष-परोक्ष से वाधित न होने वाला शास्त्र ही सच्चा शास्त्र कहलाता है। ऐसे शास्त्र का व्याख्यान करने से ससार के दुःखों से त्रस्त व्यक्तियों का कल्याण होता है। अतः शास्त्र-दान ही सर्वोत्तम फल देने वाला है। इस दान के द्वारा ही हेय और उपादेय तत्त्व का बोध होता है। किन्तु राजा को यह रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। अपनी कलुषित भावनाओं के कारण वह कुछ और ही दान देना चाहता था।

उसी नगर में भूतिशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह छोटे शास्त्र बनाकर राजा को प्रसन्न किया करता था। उसके मरने पर उसका पुत्र मुण्डशालायन भी यही काम करता रहा। वह भी उस समय राज्य-सभा में बैठा हुआ था। वह बोला—'महाराज! ये सब दान तो साधुओं और दरिद्रों के लिये हैं। किन्तु महत्त्वाकांक्षी राजाओं के लिये तो शाप और अनुग्रह करने की शक्ति से सम्पन्न ब्राह्मणों के लिये सुवर्ण, भूमि आदि का दान अन्न

काल तक यश देने वाला है।' यह कहकर उसने अपने बनाये हुए शास्त्र को खोलकर उसे सबको सुना दिया। राजा उसकी बातों से बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने मुण्डलायन को पृथ्वी और सुवर्ण का दान देकर सम्मानित किया।

इसके बाद उत्साहित होकर मुण्डलायन ने दस प्रकार के दानों का विधान किया (१) कन्यादान (२) सुवर्णदान (३) हस्तिदान (४) अश्वदान (५) गोदान (६) दासीदान (७) तिलदान (८) रथदान (९) भूमिदान और (१०) गृहदान।

तबसे पूर्वार्चार्थों द्वारा प्रणीत दानों के स्थान पर इन दानों की परम्परा चल पड़ी।



धीरे धीरे श्रेयान्स कुमार बढ़ने लगे। जब उनका कुमार काल व्यतीत हो गया और उन्होंने यौवन में पदार्पण किया, पिता ने अपना राज्य पुत्र को सौंप दिया। अब श्रेयान्सनाथ ने राज्य-भार दीक्षा कल्याणक सभाल लिया। उन्हें पूर्व पुण्य से सब प्रकार के भोग प्राप्त थे। प्रजा उनके पुण्य-प्रभाव और सुशासन से खूब सन्तुष्ट थी और निरन्तर समृद्धि की ओर बढ़ रही थी। उनका शासन

कल्याणकारी था।

एक दिन वसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर उनके मन में विचार प्रस्फुटित हुआ—काल बड़ा बलवान है, ऐसा कहा जाता है। किन्तु काल भी छिन छिन में खीज रहा है। जब काल ही अस्थिर है, तब ससार में स्थिर क्या है? केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा के गुण ही अविनश्वर हैं। जब तक शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति न हो जाय, तब तक निश्चिन्त नहीं हो सकता,

भगवान यह विचार कर रहे थे, तभी सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और उनके वैराग्य की सराहना की।

भगवान ने अपने पुत्र श्रेयस्कर को राज्य सौंप दिया और देवों द्वारा उठाई गई विमलप्रभा नामक पालकी में आरूढ होकर नगर के बाह्य अचल में स्थित मनोहर उद्यान में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर दो दिन के लिये आहार का त्याग कर फाल्गुन कृष्णा एकादशी को प्रातःकाल के समय श्रवण नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ सयम धारण कर लिया। उसी समय उन्हें मन पर्ययज्ञान प्रगट हो गया।

उन्होंने पारणा के लिये सिद्धार्थ नगर में प्रवेश किया। वहाँ नन्द राजा ने भगवान को भक्तिपूर्वक आहार दिया। देवों ने पचाश्चर्य किये।

भगवान श्रेयान्सनाथ ने तप करते हुए दो वर्ष विभिन्न स्थानों पर विहार करते हुए बिताये। वे फिर विहार करते हुए अपने दीक्षा-वन में पधारे। वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे तुम्बुर वृक्ष के नीचे ध्याना-रूढ हो गये। वही पर उन्हें माघ कृष्णा अमावस्या के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय केवलज्ञान कल्याणक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों और इन्द्रों ने आकर केवलज्ञान कल्याणक उत्सव मनाया।

इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने समवसरण की रचना की। उसमें देव, मनुष्य और तिर्यचों के पुण्य योग से भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी। इस प्रकार उन्होंने धर्मचक्र प्रवर्तन किया।

भगवान के कुन्धु आदि सतत्तर गणधर थे। १३०० पूवधर, ४८२०० शिक्षक, ६००० अबधिज्ञानी, ६५०० केवलज्ञानी, ११००० विक्रियाऋद्धिधारी, ६००० मन पर्ययज्ञानी और ५००० बादी भगवान का परिवार मुनि थे। इस प्रकार कुल मिलाकर ८४००० मुनि थे। इनके अतिरिक्त धारणा आदि १२०००० अजिकाये थी। २००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये थी।

केवलज्ञान के पश्चात् भगवान विभिन्न देशों में विहार करके भव्य जीवों को उपदेश देते रहे। जब आयु निर्वाण कल्याणक कर्म का अन्त होने में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेशिखर पहुँचे। वहाँ एक माह तक योग निरोध कर एक हजार मुनियों के साथ श्रावण शुक्ला पूर्णमासी के दिन सायंकाल के समय धनिष्ठा नक्षत्र में अघातिया कर्मों का क्षय करके मुक्त हो गये।

देवों ने आकर धूमधाम से उनका निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान श्रेयान्सनाथ के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और सेविका यक्षिणी का नाम गौरी था।

भगवान श्रेयान्सनाथ का जन्म सिंहपुरी में हुआ था। यह स्थान वाराणसी से सड़क मार्ग द्वारा छह किलो सिंहपुरी मीटर है। वाराणसी से टैक्सी और बस बराबर मिलती है। ट्रेन से जाना हों तो सारनाथ स्टेशन उतरना चाहिए। वहाँ से जैन मन्दिर तीन फर्लांग है। आजकल यह स्थान सारनाथ कहलाता है। यहाँ श्रेयान्सनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे।

यहाँ एक शिखरवन्द दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर में भगवान श्रेयान्सनाथ की ढाई फुट अवगाहना

त्रिपृष्ठ नारायण

राजगृह नगर के अधिपति विश्वभूति और उनकी पत्नी जैनों के एक ही पुत्र था, जिसका नाम विश्वनन्दी निदान बन्ध था। विश्वभूति का एक भाई था विशाखभूति। उनकी स्त्री का नाम लक्ष्मणा था। उनके पुत्र का नाम विशाखनन्द था। वह निपट मूर्ख था।

एक दिन शत्रु शत्रु के मेघ का नाम देगाकर विश्वभूति नरेश को बंगम्य हो गया। उगने अपने छोटे भाई विशाखभूति को राज्य दे दिया और युवराज पर अपने पुत्र विश्वनन्दी को देकर मुनि-शिक्षा ले ली। विशाखभूति राज्य-भाग्य चलाते लगा।

उन नगर के बाहर नन्दन उद्यान था, जो चनास्रो, गुग्गुली और पुष्पों में परिपूर्ण था। विश्वनन्दी को यह उद्यान बहुत पसन्द था। एक दिन वह अपनी मित्रों के साथ उग स्थान में प्रहार कर रहा था। विशाखनन्द ने उसे देखा और द्वेषवश वह उग उद्यान पर अधिकार करने का उपाय सोचने लगा। तभी वह अपने पिता विशाखभूति के पास पहुँचकर बोला—'यह नन्दन उद्यान मैं चाहता हूँ। उसे आप मुझे दे दीजिये, अन्यथा मैं राज्य छोड़कर अन्यत्र चला जाऊँगा।' विशाखभूति बोला—'यह क्या बड़ी बात है। वह उद्यान तुम्हें दे दूँगा।'

राजा ने युवराज विश्वनन्दी को बुलाया और कहने लगा—'पुत्र! मैं समीपवर्ती राजाओं पर आक्रमण करके उनके उपद्रव शान्त करने जा रहा हूँ। तब तक राज्य का भार तुम ग्रहण करो।' विश्वनन्दी यह सुनकर बोला—'पूज्यपाद! आप यहाँ पर निश्चिन्त रहें। मैं जाकर शत्रु ताल में उन राजाओं को पराजित करके मोघ लौट आऊँगा।'

विश्वनन्दी चान्चा की आज्ञा में मेना गजाकर चल दिया। तभी विशाखभूति ने नन्दन उद्यान अपने पुत्र विशाखनन्द को दे दिया। विश्वनन्दी को उन घटना का पता तत्काल चल गया। उसे चान्चा के इस छल को देखकर बड़ा क्रोध आया। वह फौरन लौट आया और उद्यान पर अधिकार करने वाले विशाखनन्द को मारने को उद्यत हो गया। विशाखनन्द भयभीत होकर कंधे के वृक्ष पर चढ़ गया। विश्वनन्दी ने क्रोध में उग वृक्ष को जड़ मगैत उखाड़ डाला और उसी में विशाखनन्द को मारने को भपटा। विशाखनन्द वहाँ में भागकर एक पाषाण-स्तम्भ के पीछे जा छिपा। विश्वनन्दी पीछा करता हुआ वही जा पहुँचा और मुष्टिका प्रहार में उग स्तम्भ को ही तोड़ दिया। विशाखनन्द वहाँ में भी भागा। तब विश्वनन्दी को उग पर दया आ गई और उसे अभय देते हुए वह उद्यान भी उसे ही दे दिया किन्तु मन में ऐसी गिनता भर गई कि वह तत्काल वहाँ में चलकर सम्भूत मुनि के पास पहुँचा और उनसे मुनि-शिक्षा ले ली। उस घटना से विशाखभूति को भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ, उसे अपनी भूल पर दुःख हुआ और उसने भी राजपाट छोड़ कर समय धारण कर लिया।

मुनि विश्वनन्दी घोर तपश्चर्या करने लगे। शरीर अत्यन्त कृश हो गया। विहार करते हुए वे मथुरा पहुँचे। वे आहार के निमित्त नगर में गये। शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था, पैर डगमगा रहे थे। विशाखनन्द व्यसनी के कारण राज्यभ्रष्ट होकर मथुरा आया हुआ था। उस समय वह एक वेश्या के भवन की छत पर बैठा हुआ था। तभी एक सद्य प्रसूता गाय ने मुनि विश्वनन्दी को घक्का देकर गिरा दिया। उन्हें गिरते देखकर विशाखनन्दी उनका उपहास करता हुआ बोला—'पत्थर का खम्भा तोड़ने वाला तुम्हारा पराक्रम क्या यही है?' बात मुनि के मन में चुभ गई। उन्होंने निदान किया कि मैं इस उपहास का बदला विशाखनन्दी से अवश्य लूँगा। इस प्रकार निदान-बन्ध कर

के उनका मरण हो गया। वे मरण कर महाशुक्र विमान में देव हुए। विशाखभूति मुनि भी मर कर इसी स्वर्ग में देव हुए।

त्रिपृष्ठ नारायण के रूप में—सुरम्य देश के पोदनपुर नगर के नरेश प्रजापति की दो रानियाँ थी—जयावती और मृगावती। विशाखभूति का जीव स्वर्ग से आयु पूरी करके जयावती का पुत्र विजय हुआ और विश्व-नन्दी का जीव मृगावती के त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुआ।

विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव नाम का विद्याधरो का राजा रहता था। उसकी रानी का नाम नीलाजना था। विशाखनन्द का जीव विभिन्न योनियों में भटकता हुआ उस विद्याधर नरेश के अश्वग्रीव नाम का पुत्र हुआ।

विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्रवाल नामक एक प्रसिद्ध नगर था। ज्वलनजटी नामक विद्याधर उस नगर का स्वामी था। उसकी रानी का नाम वायुवेगा था। उनके अर्ककीर्ति नामक पुत्र और स्वय-प्रभा नामक पुत्री थी। स्वयप्रभा अत्यन्त सुन्दरी थी। यौवन में पदार्पण करते ही उसका सौन्दर्य सम्पूर्ण कलाओं से सुशोभित हो उठा। उसे देखकर ज्वलनजटी विचार करने लगा कि मेरी पुत्री के उपयुक्त कौन पात्र है। उसने निमित्त शास्त्र में कुशल पुरोहित से इस सम्बन्ध में परामर्श किया। पुरोहित बोला—यह सर्व शुभ लक्षणों से सम्पन्न कन्या प्रथम नारायण की पट्टमहिषी बनेगी। प्रथम नारायण पोदनपुर में उत्पन्न हो चुका है।

ज्वलनजटी ने तत्काल नीतिकुशल इन्द्र नामक मन्त्री को बुलाया और उसे पत्र तथा भेंट देकर पोदनपुर को भेजा। मन्त्री रथ में आरूढ़ होकर पोदनपुर पहुँचा। वहाँ ज्ञात हुआ कि पोदनपुर नरेश पुष्पकरण्डक नामक वन में वन-विहार के लिये गये हुए हैं। वह उस वन में पहुँचा और राजा के समक्ष जाकर मन्त्री ने उन्हें प्रणाम किया तथा उनके चरणों में भेंट रखकर पत्र समर्पित किया। राजा ने पत्र खोलकर पढ़ा। पत्र में जो लिखा था, उसका आशय यह था—विद्याधरो का स्वामी, महाराज नमि के वंश रूपी आकाश का सूर्य में ज्वलनजटी रथनूपुर से पोदनपुर नगर के स्वामी, भगवान् वृषभदेव के पुत्र बाहुवली के वंशावतस महाराज प्रजापति को सिर से नमस्कार करके कुशल प्रश्न के अनन्तर निवेदन करता हूँ कि हमारा और आपका वैवाहिक सम्बन्ध अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। मेरी पुत्री स्वयप्रभा जो सौन्दर्य और गुणों में लक्ष्मी सदृश है, आपके प्रतापी पुत्र त्रिपृष्ठ की अर्धाङ्गिनी बनें, मेरी यह हार्दिक इच्छा है।

महाराज प्रजापति पत्र पढ़ कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—भाई ज्वलनजटी को जो इष्ट है, वह मुझे भी इष्ट है। यह कहकर उन्होंने बड़े आदर के साथ मन्त्री को विदा किया। मन्त्री ने यह हर्ष-समाचार अपने स्वामी को दिया। ज्वलनजटी अपने पुत्र अर्ककीर्ति के साथ स्वयप्रभा को लेकर पोदनपुर आया और बड़े वैभव के साथ अपनी पुत्री का विवाह त्रिपृष्ठ के साथ कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने त्रिपृष्ठ के लिए सिंहवाहिनी और गरुडवाहिनी नामक दो विद्याएँ भी प्रदान की।

जब अश्वग्रीव को अपने चरो द्वारा इस विवाह के समाचार ज्ञात हुए तो वह ईर्ष्या और क्रोध से भडक उठा। वह अनेक विद्याधर राजाओं, रणकुशल सैनिकों और अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर रथावत नामक पर्वत पर आ पहुँचा। अश्वग्रीव के अभियान की बात सुनकर राजकुमार त्रिपृष्ठ भी सेना को सज्जित कर युद्धक्षेत्र में आ डटा। दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। अश्वग्रीव से त्रिपृष्ठ जा भिडा। दोनों में भयानक युद्ध हुआ। अन्त में त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव को बुरी तरह पराजित कर दिया। किन्तु अश्वग्रीव पराजय स्वीकार करने वाला व्यक्ति नहीं था। उसने क्रुद्ध होकर त्रिपृष्ठ के ऊपर भयानक चक्र चला दिया। सारी सेना आतक के मारे सिहर उठी। किन्तु वह चक्र त्रिपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजा पर ठहर गया। त्रिपृष्ठ ने चक्र लेकर शत्रु के ऊपर फेंका। उसने जाते ही शत्रु की गर्दन धड़ से अलग कर दी।

त्रिपृष्ठ अर्धचक्री अर्थात् नारायण बनकर भरत क्षेत्र के तीन खण्डों का अधीश्वर बन गया। प्रतिनारायण अश्वग्रीव पर विजय प्राप्त कर नारायण त्रिपृष्ठ अपने भाई विजय के साथ विजयार्थ पर्वत पर गया। वहाँ उसने दक्षिण और उत्तर दोनों श्रेणियों के राजाओं को एकत्रित करके ज्वलनजटी को दोनों श्रेणियों का सम्राट् बना दिया।

विजय और निपूठ दोनों प्रथम बलभद्र और नागगण थे। विजय का शरीर शय्य के समान ध्वेत तथा निपूठ का शरीर इन्द्रनील मणि के समान नील था। ये दोनों सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, विद्याधरो एवं व्यन्तर श्रेयो के अधिपति थे। निपूठ के देवरक्षित धनुष, शर, चक्र, दण्ड, शक्ति, शक्ति और मश ये सात रत्न थे। उमारी सोलह हजार रानियां थी तथा बलभद्र के आठ हजार रानियां थी। उनके नाम रत्न थे—हनु, मूगल, मदा और भाना। निपूठ नारायण चिर ज्ञान तक भोग भोगकर अत्यधिक आरम्भ और परिग्रह के कारण मरकर सातवें नरक में गया। विजय ने भार्गव के वियोग में दुःखित होकर मुचणुम्भ नामक मुनिगण के पास समय धारण कर लिया। वह घोर तपस्या करके केवली हुआ। अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

(निपूठ का यह जीव ही आगे जाकर चौबीसवां तीर्थंकर महावीर बना ।)

त्रयोदश परिच्छेद

भगवान् वासुपूज्य

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती नाम का देश था। उसके रत्नपुर नगर का स्वामी पद्मोत्तर नाम का राजा था। उस राजा की कीर्ति चारो दिशाओ मे व्याप्त थी। वह अनेक गुणो का पूज और प्रजा-वत्सल था। एक दिन मनोहर पर्वत पर युगन्धर जिनराज पधारे।
पूर्व भव राजा को उनके आगमन का समाचार मिलते ही वह उनके दर्शनो के लिए पहुँचा। उसने भक्ति-पूर्वक जिनराज की वन्दना और स्तुति की। भगवान का उपदेश सुनकर उसका मन वैराग्य के रग मे रग गया। उसे ससार नि सार अनुभव होने लगा। उसने तभी आकर अपने पुत्र धनमित्र को राज्य सौंप दिया और अनेक राजाओ के साथ जिनदेव से मुनि-दीक्षा ले ली। उसने जिनराज के चरणो मे ग्यारह अंगो का अध्ययन किया, दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओ का निरन्तर चिन्तन किया। फलत उसे तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध हो गया। अन्त मे सन्यास मरण करके वह महाशुक्र विमान मे इन्द्र बना।

चम्पा नगरी अग देश की राजधानी थी। वहाँ के अधिपति महाराज वसुपूज्य थे जो इक्ष्वाकु वशी काश्यप गोत्री थे। उनकी पत्नी का नाम जयावती था। गर्भकल्याणक से छह माह पूर्व से देवो ने उनके यहाँ रत्नवर्षा करना प्रारम्भ किया। रानी ने आपाढ कृष्णा षष्ठी के दिन चौबीसवे शतमिषा नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह स्वप्न देखे। उन्होने प्रात काल होने पर पति से स्वप्नो की चर्चा की और उनका फल पूछा। पतिदेव ने उनका फल वर्णन किया, सुनकर रानी वडी हर्षित हुई। उसी दिन महाशुक्रेन्द्र का जीव आयु पूरी करके उनके गर्भ मे अवतरित हुआ। देवो ने आकर भगवान का गर्भ कल्याणक महोत्सव किया।

नौवे माह के पूरे होने पर फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन वारुण योग मे सब प्राणियो का हित करने वाले पुत्र का जन्म हुआ। वह पुत्र असाधारण था, उसका जन्म-महोत्सव भी असाधारण ढग से मनाया गया। चारो जाति के देव और इन्द्र चम्पापुरी मे आये। सौधर्मेन्द्र शची द्वारा सौर गृह से लाये हुए बालक को
जन्म कल्याणक ऐरावत गज पर आरूढ करके सब देवो के साथ सुमेरु पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्होने क्षीर-सागर के जल से प्रभु का जन्माभिषेक किया। शची ने प्रभु का श्रृंगार किया। फिर बालक को लेकर चपापुरी लीटे। बालक को माता को सौपा और इन्द्र ने बालक का नाम वासुपूज्य रक्खा। इनका शरीर लाल कमल के समान लाल था। पैर मे भैसे का चिन्ह था।

भगवान के पुण्य-प्रभाव से माता-पिता तथा प्रजा के धन-धान्य, सुख-ऐश्वर्य सभी प्रकार की वृद्धि होने लगी। बाल भगवान गुणो की खान थे। जब भगवान यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब उन्होने विवाह के बन्धन मे वधना स्वीकार नही किया और वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। एक दिन वे एकान्त मे बैठे चिन्तन
दीक्षा कल्याणक मे लीन थे, तभी अवधिज्ञान से उन्होने अपने पिछले जन्म का ज्ञान किया। उनके गत जन्म मे जो नाना घटनाये घटित हुई थी, उन्हें जानकर मन पर ऐसा प्रभाव पडा कि यहाँ सब चञ्चल है, नाशवान है। जो है, सब राग रूप है, दुःख रूप है। फिर ऐसे ससार से मोह जोडकर लाभ क्या? जिसका विछोह अनिवार्य है, उससे ममत्व का नाता क्यों?

भगवान् इस प्रकार के चिन्तन में लीन थे, तभी लौकान्तिक देव वहाँ आये और उन्होंने भगवान की स्तुति करके उनके विचारों की प्रशंसा की। देवों ने दीक्षा कल्याणक के समय होने वाला अभिषेक किया, विविध वस्त्राभूषण पहनाये। भगवान देवों द्वारा लाई हुई पालकी पर आरूढ होकर मन्दारगिरि के वन में पहुँचे और एक दिन के उपवास का नियम लेकर फागुन कृष्णा चतुर्दशी को सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सामायिक चारित्र धारण कर छह सौ छहत्तर राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा लेते ही उनकी परिणाम-विशुद्धि के कारण तत्काल मन-पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

वे पारणा के लिए जब नगर में पधारे तो सुन्दर नरेश ने उन्हें आहार-दान देकर पुण्य-बन्ध किया और पचाश्चर्य का सम्मान प्राप्त किया।

भगवान तप करने लगे। छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीतने पर वे विहार करते हुए दीक्षा-वन में पधारे। वहाँ उन्होंने कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठकर उपवास का नियम लिया और माघ शुक्ला द्वितीया के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी केवलज्ञान कल्याणक बन गये। इन्द्रो और देवों ने आकर उनकी पूजा की। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें श्रीमण्डप के बीच गन्धकुटी में अशोक वृक्ष के नीचे कमलासन पर विराजमान होकर भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी। इस प्रकार उन्होंने मन्दारगिरि पर धर्म-चक्र-प्रवर्तन करके धर्म की विच्छिन्न कडी को पुन जोड़ा।

भगवान का सघ—उनके धर्म आदि छियासठ गणधर थे। उनके सघ में १२०० पूर्वधर, ३६२०० शिक्षक, ५४०० अवधि ज्ञानी, ६००० केवल ज्ञानी, १०००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ६००० मन पर्ययज्ञानी और ४२०० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ७२००० थी। इनके अतिरिक्त सेना आदि १०६००० श्रायिकाये थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने समस्त आर्य क्षेत्रों में विहार करके धर्म-वर्षा की और विहार करते हुए चम्पापुरी में एक हजार वर्ष तक रहे। जब आयु में एक मास शेष रह गया, तब योग निरोध कर रजतमालिका नदी के तट पर स्थित मन्दारगिरि के मनोहरोद्यान में पल्यकासन से स्थित हुए तथा भाद्रपद^१ शुक्ला चतुर्दशी के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में चौरानवे मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए। देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—उनके सेवक यक्ष का नाम कुमार और यक्षिणी का नाम गान्धारी है।

भगवान वासुपूज्य के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पाचो कल्याणक चम्पानगरी में हुए थे। चम्पा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी नगरी नहीं है, जिसको किसी तीर्थकर के पाचो कल्याणक मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। इस दृष्टि से चम्पा की विशेष स्थिति है। [निर्वाण काण्ड, निर्वाण भक्ति, तिलोय-पणत्ति तथा सभी पुराण ग्रन्थों में चम्पा को वासुपूज्य भगवान की निर्वाण-भूमि माना है। केवल उत्तर पुराणकार ने पर्व ५८ श्लोक ५१-५३ में मन्दार पर्वत को वासुपूज्य भगवान की निर्वाण-स्थली लिखा है। किन्तु इससे चम्पा को उनकी निर्वाण-भूमि मानने में कोई असंगति अथवा विरोध नहीं आता। चम्पापुरी उन दिनों काफी विस्तृत थी। पुराणों में उल्लेख है कि चम्पा का विस्तार अडतालीस कोस में था। मन्दारगिरि तत्कालीन चम्पा का बाह्य उद्यान था और वह चम्पा में ही सम्मिलित था।]

[वर्तमान में मान्यता है कि चम्पा नाले में वासुपूज्य स्वामी के गर्भ और जन्म कल्याणक हुए थे, मन्दारगिरि पर दीक्षा और केवल ज्ञान कल्याणक हुए तथा चम्पापुर से भगवान का निर्वाण हुआ।]

१ यह उत्तर पुराण के अनुसार है।

तिलोयपणत्ति के अनुसार भगवान वासुपूज्य का निर्वाण फाल्गुन कृष्णा पचमी, अपराह्न काल, अश्विनी नक्षत्र में ६०१ मुनियों के साथ चम्पापुर में हुआ।

यह नगरी अग देश की राजधानी थी। ऋषभदेव भगवान ने जिन ५२ जनपदों की रचना की थी, उनमें अग भी था। महावीर-काल में जिन छह महानगरियों की चर्चा आती है, उनमें चम्पा भी एक नगरी थी। हजारों वर्षों तक इक्ष्वाकु वंशी ही उसके शासक होते रहे।

यहाँ अनेकों धार्मिक घटनाएँ हुई थीं। यहाँ अनेक मुनि मोक्ष पधारे। यहाँ अनेक महापुरुष हुए।

—मिथिला नरेश पद्मरथ सुधर्म गणधर के दर्शनो को गये। उनका उपदेश सुनकर श्रावक के वारह व्रत धारण किये। उन्होंने गणधर भगवान से पूछा—‘क्या ससार में कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो आपके समान उपदेश दे सके।’ गणधर बोले—‘हां, है। वे हैं भगवान वासुपूज्य जो समार के गुरु हैं, त्रिलोक पूज्य हैं। वे इस समय चम्पा के उद्यान में विराजमान हैं।’ राजा ने सुना तो वे तत्काल तीर्थंकर प्रभु के दर्शन करने चल दिये। मार्ग में गुणधर ने समाचार दिया कि अजातशत्रु की सेना आक्रमण के लिए आ रही है। पद्मरथ ने सेनापति को आज्ञा दी—सेना सज्जित करो, किन्तु शत्रु पक्ष का रक्त बहाये बिना विजय प्राप्त करनी है। युद्ध हुआ, शत्रु पक्ष का एक भी सैनिक हताहत नहीं हुआ और विजय पद्मरथ की हुई। उन्होंने ऐसे शस्त्रों का प्रयोग किया, जिससे शत्रु बेहोश हो जाय, किन्तु मरे नहीं।

पद्मरथ फिर चलने को तैयार हुए, किन्तु तभी मिथिला नगरी में भयानक आग लग गई। इस आग में राजमहल भी जल गया, किन्तु राजा के मन में विकलता नाममात्र को भी नहीं थी। मंत्रियों ने अपशकुन ब्रताकर उन्हें रोकना चाहा, किन्तु दृढनिश्चयी पद्मरथ ने कहा—‘वाधाओं को जीतना ही वीरो का काम है। और वह वीर तीर्थंकर प्रभु के दर्शनो को चल पडा। राह में देखा—कुछ कुष्ठ रोगी पीडा से कराह रहे हैं। राजा के मन में करुणा जागी और वे उनकी सेवा में जुट गये, उनके घाव साफ किये, मरहम पट्टी की। एक कोड़ी ने उनके ऊपर वमन कर दिया, किन्तु उन्हें तनिक भी क्षोभ या ग्लानि नहीं आई, बल्कि वे अपनी सुधि भूलकर उस असहाय की सेवा करने लगे।

आगे बढ़े तो एक स्थान पर बलि देते हुए किसी को देखा। उसे प्रेम से समझाया। तभी विश्वानल और धन्वन्तरि देव आये और राजा की प्रशंसा करते हुए बोले—‘राजन्! तुम धन्य हो। हमने ही तुम्हारी परीक्षा के लिए ये सब नाटक किये थे। किन्तु आप सम्यक्त्व में खरे उतरे।’ फिर वे दोनों देव राजा को एक अद्भुत भेरी और व्याधिहर हार देकर चले गये।

राजा भेरी बजाते हुए चम्पा के उद्यान में पहुँचे और वहाँ वासुपूज्य स्वामी की वन्दना करके उनकी स्तुति की। भगवान का उपदेश हुआ। उपदेश सुनकर पद्मरथ को वैराग्य हो गया। उन्होंने वही भगवान के चरणों में दीक्षा ले ली। उन्होंने ऐसी साधना की कि उन्हें मन पर्ययज्ञान हो गया। वे भगवान के गणधर बन गये और भगवान के ही साथ निर्वाण प्राप्त किया।

—चम्पा नरेश मधवा की पुत्री रोहिणी अत्यन्त सुन्दरी थी। सौन्दर्य में वह मानो रति ही थी। उसका स्वयंवर हुआ। उसने हस्तिनापुर नरेश वीतशोक के सुदर्शन पुत्र अशोक के गले में वरमाला डाल दी। दोनों आनन्द-पूर्वक रहने लगे। पिता के बाद अशोक राजा बना। एक बार दोनों भगवान वासुपूज्य के दर्शनो के लिए चम्पापुरी गये। भगवान का उपदेश सुनकर दोनों ने दीक्षा ले ली। मुनि अशोक भगवान के गणधर बने और अन्त में मोक्ष पधारे। रोहिणी अच्युत स्वर्ग में देव हुई।

—सेठ सुदर्शन यही उत्पन्न हुए थे और उन्हें पाटलिपुत्र में निर्वाण प्राप्त हुआ।

—चम्पानगर में धर्मघोष नामक एक श्रेष्ठी थे, वे मुनि हो गये। वे मासोपवासी थे। वे पारणा के निमित्त नगर को आ रहे थे, किन्तु मार्ग में घास होने के कारण गंगा-तट पर एक वट वृक्ष के नीचे बैठ गये। वे ध्यान में मग्न हो गये। तभी उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और वे वही से मुक्त हुए।

—राजा कर्ण यही के राजा थे, जिनकी दानवीरता की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं।

सोमा सती, सती अनन्तमती, कोटिभट श्रीपाल आदि पुराणप्रसिद्ध महापुरुषों का जन्म इसी नगरी में हुआ था।

[यहाँ भगवान महावीर, सुधर्म और केवली जम्बूस्वामी भी पधारे थे। जब केवली सुधर्मा स्वामी यहाँ पधारे थे, तब यहाँ का शासक अजातशत्रु, जो श्रेणिक विम्बसार का पुत्र था, नगे पाव उनके दर्शनो के लिये गया था। अजातशत्रु ने राजगृही से हटाकर चम्पा को अपनी राजधानी बनाया था।]

—यहाँ युधिष्ठिर स० २५५६ (ई० पू० ५४१) में जयपुर के सरदार भ्रघवी श्रीदत्त और उसकी पत्नी सघविन सुरजयी ने वासुपूज्य भगवान का एक मन्दिर बनवाया था। यह अनुश्रुति है कि नाथनगर में जो दिगम्बर जैन मन्दिर है वह वही पूर्वोक्त मन्दिर है।

[यहाँ एक मन्दिर सेठ घनश्यामदास सरावगी द्वारा सवत् २००० में बनवाया गया। इसमें विराजमान प्रतिमाओं पर लेख नहीं है। लाछन है। जनश्रुति है कि ये प्रतिमाये ई० पू० ५४१ में निर्मित मन्दिर की हैं। किन्तु यह भी धारणा है कि पहले ये प्रतिमाये चम्पा नाले के मन्दिर में विराजमान थी। भूकम्प आने से मन्दिर धराशायी हो गया, किन्तु प्रतिमाये सुरक्षित रही। वे प्रतिमाये यहाँ लाकर विराजमान कर दी गईं। इनमें चार प्रतिमाये ऋषभदेव भगवान की है जिनके सिर पर विभिन्न शैली की जटाये या जटाजूट है और एक प्रतिमा महावीर भगवान की है। ये प्रतिमाये अत्यन्त प्राचीन हैं। संभव है, कुषाण काल की हो। किन्तु इसमें सदेह नहीं है कि ये प्रतिमाये जिस मन्दिर की थी, वह मन्दिर चम्पापुरी का सबसे प्राचीन और मूल मन्दिर था।]

नाथनगर के वर्तमान मन्दिर में पूर्व और दक्षिण की ओर दो मानस्तम्भ बने हुए हैं। इनमें ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ भी थी, किन्तु अब बन्द कर दी गई हैं। पहले यहाँ चारो दिशाओं में मानस्तम्भ बने हुए थे किन्तु दो शताब्दी पूर्व भूकम्प में दो मानस्तम्भ गिर गये। अवशिष्ट दोनो मानस्तम्भों का भी जीर्णोद्धार किया गया है। पूर्व वाले मानस्तम्भ के नीचे से एक सुरग जाती थी जो १८० मील लम्बी थी और वह सम्मैदशिखर की चन्द्रप्रभ टोंक पर निकलती थी। किन्तु भूकम्प में जमीन घसक जाने से वह स्वतः बन्द हो गई।]

सरकारी कागजातो के अनुसार यह मन्दिर ६०० वर्ष प्राचीन है। नाथनगर से चम्पानाला लगभग एक मील है। इस नाले के किनारे एक दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें वासुपूज्य स्वामी की एक अन्य प्रतिमा और चरणयुगल अंकित हैं। यही स्थान प्राचीन चम्पा कहलाता है।

मन्दारगिरि—मन्दारगिरि भागलपुर से ३१ मील है। रेल और बस द्वारा जा सकते हैं। दि० जैन धर्मशाला बोसी स्टेशन के सामने बनी हुई है। यहाँ से क्षेत्र दो मील दूर पडता है।

मन्दारगिरि पर चम्पापुर का मनोहर उद्यान था। यह चम्पापुर के बाह्य अंचल में था। इसी वन में भगवान वासुपूज्य ने दीक्षा ली तथा यही पर उन्हें केवलज्ञान हुआ। इस प्रकार यहाँ भगवान के दो कल्याणक हुए थे।

धर्मशाला से एक फर्लांग चलने पर बी० स० २४६१ में निर्मित सेठ तलकचन्द्र कस्तूरचन्द जी वारामती वालो का मन्दिर है। वहाँ से लगभग डेढ़ मील चलने पर तालाब मिलता है, जिसे पापहारिणी कहते हैं। मकर सक्रान्ति में यहाँ वैष्णव लोगो का मेला भरता है। सब लोग स्नान करके पहाड पर वासुपूज्य स्वामी के दर्शन करने जाते हैं।

तालाब से आगे चलने पर कई कुण्ड मिलते हैं। पहाड की चढाई एक मील से कुछ अधिक है। पहाडी के ऊपर बड़ा दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर की दीवालें साढे तीन हाथ चौडी हैं। वेदी पर भगवान के चरण-चिन्ह बने हुए हैं। मन्दिर के ऊपर डबल शिखर है। बडे मन्दिर के निकट छोटा शिखरवन्द दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें तीन प्राचीन चरण-युगल बने हुए हैं। इस मन्दिर से आगे एक शिला के नीचे चरण बने हुए हैं।

हिन्दू जनता में यह विश्वास प्रचलित है कि इसी मन्दराचल के चारो ओर वासुकि नाग को लपेट कर उससे समुद्र मन्थन किया गया था। पहाड के चारो ओर वासुकि नाग की रगड के चिन्ह भी बडे कौशल से बना दिये गये हैं।

किन्तु हिन्दू पुराणों—जैसे वाराह पुराण अ० १४३, वामन पुराण अ० ४४, महाभारत अनुशासन पर्व १९ और वन पर्व अ० १६२-१६४ के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह मन्दराचल हिमालय में बदरिकाश्रम (वद्रीनाथ) के उत्तर में था। किन्तु पता नहीं, हिन्दू जनता में भागलपुर जिले के इस मन्दारगिरि को मन्दराचल मानने की गलत धारणा कबसे चल पड़ी।

द्विपृष्ठ नारायण, तारक प्रतिनारायण

भरत क्षेत्र में कनकपुर का नरेश सुषेण था। उसके राजदरबार में गुणमजरी नामक एक नर्तकी थी जो अत्यन्त रूपवती और नृत्यकला में पारंगत थी। उसकी ख्याति दूर-दूर तक थी। कई राजा भी उसे चाहते थे। मलय देश के विन्ध्य नगर के राजा विन्ध्यशक्ति ने तो उसे प्राप्त करने के लिए रत्न आदि उपहार पूर्वजन्म में निदान देकर एक दूत को राजा के पास भेजा। दूत ने जाकर राजा से अपने आने का प्रयोजन प्रगट किया—‘महाराज। आपके यहाँ जो नर्तकीरत्न है, उसे महाराज विन्ध्यशक्ति देखना चाहते हैं। उसे मेरे साथ भेज दीजिये। उसे मैं वापस लाकर आपको सौंप दूंगा।’ सुषेण दूत के ये वचन सुनकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और दूत का अपमान कर उसे निकाल दिया। दूत ने सारा समाचार अपने स्वामी से कह दिया। विन्ध्यशक्ति सुनकर क्रोधित हो गया और मंत्रियों से परामर्श करके सेना लेकर युद्ध के लिये चल दिया। दोनों राजाओं में घोर युद्ध हुआ। उसमें सुषेण पराजित हुआ। विन्ध्यशक्ति ने बलात् नर्तकी को छीन लिया। सुषेण अपनी पराजय से बड़ा खिन्न हुआ। उसने सुव्रत जिनेन्द्र के पास जाकर मुनि-दीक्षा लेली। उसने घोर तप किया और शत्रु से बदला लेने का निदान बन्ध करके सन्यासमरण द्वारा प्राणत स्वर्ग में देव हुआ।

महापुर नगर के नरेश वायुरथ ने चिरकाल तक राजलक्ष्मी का भोग किया, फिर उसने सुव्रत जिनेन्द्र के पास मुनि-दीक्षा लेली। अन्त में समाधिमरण कर वह उसी प्राणत स्वर्ग में इन्द्र बना।

द्वारावती नगरी के राजा ब्रह्म की रानी सुभद्रा के गर्भ में प्राणत स्वर्ग का इन्द्र आया। पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम अचलस्तोक रक्खा गया। उसका वर्ण कुन्द पुष्प के समान कान्ति वाला था। राजा ब्रह्म की दूसरी रानी उषा के गर्भ में प्राणत स्वर्ग का वह देव आया। पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम द्विपृष्ठ नारायण और रक्खा गया। उसके शरीर का वर्ण इन्द्रनील मणि के समान कान्ति वाला था। दोनों भाइयों प्रतिनारायण में अगाध प्रेम था। दोनों राजकुमार आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करते थे।

राजा विन्ध्यशक्ति ससार में विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करता हुआ भोगवर्धन नगर के राजा श्रीधर की महारानी से तारक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह यौवनसम्पन्न हुआ तो उसके शस्त्रागार में देवों द्वारा रक्षित सुदर्शन चक्र उत्पन्न हुआ। चक्र पाकर तारक को बड़ा हर्ष हुआ। उसने चतुरगिणी सेना सजाई और दिग्विजय के लिए निकला। अपनी शक्ति और चक्र के बल से उसने कुछ ही समय में आधे भरत खण्ड को जीत लिया। अपने साम्राज्य में उसके नाम से ही लोग आतंकित हो जाते थे। प्रकृति से वह उग्र था। वह कृष्ण वर्ण का था।

उधर अचल और द्विपृष्ठ दोनों भाइयों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। तारक को उनका यह प्रभाव सहन नहीं हुआ। उसने दोनों भाइयों का निग्रह करने के लिए उपाय सोचा और एक दूत को उनके पास भेजा। दूत अधिकार भरे स्वर में दोनों भाइयों से बोला—सम्पूर्ण शत्रुओं का मान भग करने वाले चक्रवर्ती तारक महाराज ने आदेश दिया है कि तुम्हारे पास जो भीमकाय गन्धहस्ती है, उसे फौरन मेरी सेना में भेज दो, अन्यथा तुम्हारा सिर काट लिया जाएगा और हाथी को मगा लिया जायगा।

दूत के ऐसे उद्धत और गर्वयुक्त वचन सुनकर धीर गम्भीर अचल बलभद्र बोले—‘हाथी क्या, हम तुम्हारे तारक महाराज को बहुत सी भेट देना चाहते हैं। वे अपनी सेना सहित आवें। वे चाहेंगे और वे जीवन से ऊब गये हों तो उनको जीवन के झुंझटों से सदा के लिये छुटकारा दे देंगे।’ दूत ने जाकर यह बात नमक मिर्च लगाकर महाराज तारक से कह दी। दूत द्वारा उन राजकुमारों के अपमानजनक उत्तर को सुनकर तारक अभिमानवश मंत्रियों से परामर्श किए बिना क्रोध में फुंकारता हुआ अपनी सेना लेकर उन राजकुमारों को दण्ड देने के लिये चल दिया और जाकर द्वारावती नगरी को घेर लिया। किन्तु अतिशय बलशाली अचल बलभद्र ने अपने पौरुष से शत्रु-सेना को रोक दिया और नारायण द्विपृष्ठ ने भयकर वेग से शत्रु पर आक्रमण किया। तारक और द्विपृष्ठ का भयानक युद्ध हुआ। किन्तु अभिमानी तारक इस युवक को पराजित नहीं कर सका। तब अत्यन्त क्रोधित होकर तारक ने मृत्यु से भी भयकर चक्र को द्विपृष्ठ के ऊपर फेंका। किन्तु सारी सेना यह देखकर विस्मयविमुग्ध रह गई कि वह चक्र नारायण द्विपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसकी भुजा पर स्थिर हो गया। द्विपृष्ठ ने उसी चक्र को तारक के ऊपर चला दिया। तारक का सिर गर्दन से कटकर अलग हो गया। उसी समय द्विपृष्ठ सात उत्तम रत्नों और तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी हो गया। वह नारायण मान लिया और अचल को सबने बलभद्र स्वीकार किया। अचल चार रत्नों का स्वामी हुआ। दोनों भाइयों ने दिग्विजय करके सब राजाओं को अपने आधीन किया। फिर वे वासुपूज्य स्वामी की वन्दना को गये। तब उन्होंने अपने नगर में जनता के हर्षोल्लास के बीच प्रवेश किया।

चिरकाल तक दोनों भाइयों ने राज्य का सुख भोगा। द्विपृष्ठ के मरने पर बड़े भाई अचल को भारी शोक हुआ। वह वासुपूज्य स्वामी के चरणों में पहुँचा और उसने मुनि-व्रत धारण कर लिया। घोर तप कर मुनि अचल को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। आयु के अन्त में अघातिया कर्मों का क्षय करके उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

चतुर्दश परिच्छेद

भगवान विमलनाथ

धातकीखण्ड द्वीप मे मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर रम्यकावती नामक एक देश था। उसके महानगर मे पद्मसेन नामक राजा राज्य करता था। नीति शास्त्र मे स्वदेश और परदेश ये विभाग किये गये है। उनके अर्थ का निश्चय करने मे वह अनुपम था। प्रजा न्याय का कभी उलघन पूर्व भव नहीं करती थी और राजा प्रजा का उलघन नहीं करता था। धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग राजा का उलघन नहीं करते थे और त्रिवर्ग परस्पर एक दूसरे को उलघन नहीं करते थे।

एक दिन राजा पद्मसेन वन मे गया। वहाँ सर्वगुप्त केवली विराजमान थे। राजा ने उनके दर्शन किये और उनका कल्याणकारी उपदेश सुना। इससे उसके मन मे ससार से विराग हो गया। उसने अपने पुत्र पद्मनाभ को राज्य सौंप दिया और मुनि-दीक्षा लेकर तप करने लगा। उसने ग्यारह अगो का अध्ययन करके उन पर दृढ प्रत्यय किया। एव सोलह कारण भावनाओ का निरंतर चिन्तन करने से उसे तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त समय मे चार आराधनाओ का आराधन करके सहस्रार स्वर्ग मे इन्द्र पद प्राप्त किया।

भरत क्षेत्र मे काम्पिल्य नगर के स्वामी कृतवर्मा राज्य करते थे जो ऋषभदेव भगवान के वंशज थे, इक्ष्वाकु वंशी थे। जयश्यामा उनकी पटरानी थी। सहस्रार स्वर्ग का वह इन्द्र जब आयु पूर्ण करके महारानी के गर्भ मे आने वाला था, उससे छह माह पूर्व से भगवान के स्वागत मे इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने गर्भ कल्याणक काम्पिल्य नगर और राजप्रासाद मे रत्न-वर्षा प्रारम्भ कर दी। महारानी एक रात को सुख-निद्रा का अनुभव कर रही थी, तभी उन्होने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह स्वप्न देखे और वाद, मे मुखकमल मे प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। यह ज्येष्ठ कृष्णा दशमी का दिन था और उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र था, जब सहस्रार स्वर्ग के उस इन्द्र के जीव ने माता के गर्भ मे प्रवेश किया।

प्रात काल उठकर महारानी पतिदेव के पास पहुँची और उनसे रात्रि मे देखे हुए स्वप्नो की चर्चा करके उनका फल जानना चाहा। महाराज ने विचार कर कहा-देवी! तुम्हारे गर्भ मे त्रिलोकीनाथ तीर्थकर प्रभू अवतरित हुए है। रानी स्वप्नो के फल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक की पूजा की तथा वे माता-पिता और भगवान को नमस्कार करके वापिस चले गये।

एक दिन काम्पिला कं उद्यान मे एक दम्पति ठहरे। लम्बा मार्ग तय करके आये थे। पति-पत्नी दोनो थके हुए थे। लेटते ही गहरी नीद आ गई। प्रात काल होने पर पति की नीद खुली। उसने आँखे खोलकर देखा तो उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही, उसके निकट दो स्त्रियाँ थी। दोनो का रूप-रग, वस्त्र महारानी जयश्यामा का न्याय आभूषण सभी कुछ एक से थे। पति अपनी वास्तविक पत्नी को पहचानना चाहता था, किन्तु पहचानने का कोई उपाय नहीं था। वह एकपत्नी व्रती था। पर-स्त्री के ससर्ग से अपनी रक्षा चाहता था। किन्तु एक ही रग रूप की दो स्त्रियो मे से अपनी पत्नी को वह पहचाने कैसे ? आखिर उसने राजा से न्याय कराने का निश्चय किया।

पथिक दोनो स्त्रियो को लेकर राजदरवार मे पहुँचा। महाराज सुकृतवर्मा सिंहासन पर विराजमान थे। उनके वाम पार्श्व मे उनकी प्राणवल्लभा जयश्यामा बैठी हुई थी। महारानी के मुख पर अलौकिक कान्ति थी। दरवार

लगा हुआ था। पथिक ने महाराज को सविनय प्रणिपात करते हुए निवेदन किया—‘महाराज ! आप न्यायावतार हैं। लोक में आपके निष्पक्ष न्याय की ख्याति फैल रही है। मुझे भी न्याय प्रदान करें।’ महाराज ने पूछा—‘आयुष्मन् ! तुम्हें क्या कष्ट है ? पथिक हाथ जोड़कर बोला—‘प्रभु ! मैं परदेशी हूँ। मैं कल रात को कम्पिला के बाह्य उद्यान के मठ में ठहरा था। साथ में मेरी पत्नी थी। किन्तु प्रातःकाल उठने पर पत्नी जैसी ही रंग रूप वाली एक और स्त्री को देख कर मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि मेरी वास्तविक पत्नी कौन सी है। राजन ! मेरा न्याय कीजिये और मेरी पत्नी मुझे दिला दीजिये। पर-स्त्री मेरे लिये भगिनी और सुता के समान है।’

राजा ने दोनों स्त्रियों को देखा। दोनों में तिल मात्र भी अन्तर नहीं था। दरवारियों ने भी देखा। सभी हैरान थे। राजा भी कोई निर्णय नहीं कर पा रहे थे। महारानी जयश्यामा ने महाराज की मन स्थिति को भाप लिया। वे बोली—‘आर्यपुत्र ! यदि आप अनुमति दें तो मैं इन दोनों स्त्रियों का न्याय कर दूँ।’ महाराज सहर्ष बोले—‘देवी ! न्याय करके अवश्य मेरी सहायता करिये।’ रानी ने क्षणभर में परिस्थिति भाँप ली। वे समझ गई कि इनमें एक देवी है अथवा विद्याधरी है, जो बहुरूपिणी विद्या जानती है। उसने अपने विद्या-बल से यह समान रूप बना लिया है। यह निश्चय होते ही वे बोली—‘अपने स्थान पर ही खड़ी रह कर तुम दोनों में से जो सिंहासन को छूलेगी, नदी इस युवक की पत्नी मान ली जायगी।’

असली पत्नी इस फैसले से भयभीत हो गयी। निराशा के कारण उसके नेत्रों में आसू छलछला आये। किन्तु मायाविनी ! उसने बिना विलम्ब किये अपना हाथ बढ़ाया और राजसिंहासन का स्पर्श कर लिया। महारानी ने निर्णय दिया—‘युवक ! तुम्हारी पत्नी तुम्हारे निकट खड़ी है। सिंहासन का स्पर्श करनेवाली मायाविनी है।’ मायाविनी सुनकर बड़ी लज्जित हुई। उपस्थित जनो ने महारानी के इस नीर-क्षीर-न्याय की तुमुल हर्ष के साथ सराहना की।

जन्म-कल्याणक—जबसे भगवान गर्भ में आये थे, परिवार और जनता में हर्ष की वृद्धि हो रही थी। नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला चतुर्दशी के दिन अहिर्बुध्न योग में रानी जयश्यामा ने तीन ज्ञान के धारी, तीन लोक के स्वामी भगवान को जन्म दिया। देवी और इन्द्रो ने आकर भगवान को सुमेरु पर्वत पर लेजाकर उनका जन्मभिषेक किया। इन्द्र ने उनका नाम विमलनाथ रक्खा। उनके शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनके पैर में सूअर का चिह्न था।

भगवान का कुमार काल व्यतीत होने पर उनका विवाह हुआ और राज्याभिषेक हुआ। उनके सुशासन से जनता की सुख-समृद्धि में निरन्तर अभिवृद्धि होती रही। एक दिन भगवान विमलनाथ हेमन्त ऋतु में प्रकृति की शोभा का आनन्द ले रहे थे। चारों ओर बर्फ पड़ रही थी। किन्तु तभी देखा कि सूर्य के दीक्षा-कल्याणक ताप से बर्फ पिघलने लगी। वात साधारण थी। किन्तु प्रभु के मन में इस घटना की प्रतिक्रिया दूसरे ही रूप में हुई। वे विचार करने लगे—‘बर्फ जमी हुई थी, अब वह पिघल रही है। यह क्षणभंगुर है। सभी कुछ क्षणभंगुर है। इन्द्रिय-भोग भी क्षणभंगुर है और मैं मोहवश अब तक इनमें उलझा हुआ हूँ। मुझे तो स्थाई सुख पाना है। इन्द्रिय-सुख का त्याग करके ही वह मिल सकेगा।’

भगवान इस प्रकार विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर उनका स्तवन किया और उनके विचारों की सराहना की। देवों ने आकर भगवान के दीक्षा कल्याणक के समय होने वाले अभिषेक का उत्सव किया। फिर देवों द्वारा धिरे हुए भगवान देवदत्ता नाम की पालकी में आरूढ होकर सहेतुक वन में गये और वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन सायंकाल के समय छब्बीसवें उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। भगवान को उसी समय मन पर्ययज्ञान उत्पन्न होगया।

भगवान आहार के निमित्त नन्दनपुर नगर में पहुँचे। वहाँ राजा कनकप्रभ ने उन्हें आहार-दान देकर पचाश्चर्य प्राप्त किये। भगवान आहार के पश्चात् विहार कर गये। वे घोर तपस्या करने लगे। इस प्रकार तपस्या करते हुए जब तीन वर्ष बीत गये, तब वे अपने दीक्षा-वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर केवलज्ञान कल्याणक एक जामुन के वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न हो गये। तभी उन्हें माघ शुक्ला षष्ठी के दिन सायंकाल के समय अपने दीक्षा-ग्रहण के नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान

प्राप्त हो गया। तभी इन्द्र और देव आये। देवी ने अष्ट प्रातिहार्यों का वैभव प्रगट किया। समवसरण की रचना की। भगवान गन्धकुटी में कमलासन पर विराजमान हुए। उसी समय उनकी दिव्य ध्वनि खिरी। यही उनका धर्म-चक्र-प्रवर्तन कहलाया।

भगवान का परिकर—भगवान के मन्दिर आदि पचपन गणधर थे। ११०० पूर्वधारी, ३६५३० गिक्षक, ४८०० अवधिज्ञानी, ५५०० केवलज्ञानी, ६००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ५५०० मन पर्ययज्ञानी, ३६०० वादी थे। इस प्रकार उनके सध में कुल मुनि ६८००० थे। पद्मा आदि १०३००० अजिकाये थी। २००००० धावक और ४००००० श्राविकाये थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने आर्यक्षेत्रों में विहार करके धर्म का उपदेश दिया। जब एक माह की आयु श्वशिशु थी, तब वे सम्मेदशिखर पहुँचे और एक माह का योग-निरोध किया। आठ हजार छह सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण किया। उन्होंने आपाढ कृष्णा अष्टमी के दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में प्रातःकाल के समय मोक्ष प्राप्त किया। तभी सौधर्म आदि इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान का अन्त्येष्टि सस्कार किया और भगवान की स्तुति की।

उसी समय से भगवान की यह निर्वाण-तिथि-आपाढ कृष्णा अष्टमी लोक में कालाष्टमी के नाम से पूज्य हो गई।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान का सन्मुख यक्ष और वैरोटनी यक्षिणी है।

कम्पिला—भगवान विमलनाथ की जन्म-नगरी कम्पिला उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में कायमगज तहसील में एक छोटा-सा गाव है। यह उत्तर रेलवे की अछनेरा-कानपुर शाखा के कायमगज स्टेशन से पांच मील दूर है। सड़क पक्की है। स्टेशन पर तागे और वस्ती में वसे मिलती है।

इस नगरी में भगवान विमलनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे। जब सौधर्मन्द्र ने सुमेरु पर्वत पर भगवान के चरण-तल में शूकर-चिह्न को देखा तो उनका चिह्न शूकर घोषित कर दिया। रुद्धिप्रिय लोगों ने इस चिह्न के कारण कम्पिला को शूकर क्षेत्र घोषित कर दिया। भगवान की प्रथम कल्याणी वाणी इसी स्थान पर प्रगट हुई थी।

आद्य तीर्थकर ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर तथा अन्य तीर्थकरों का समवसरण यहाँ आया था।

कम्पिला भारत की प्राचीन सांस्कृतिक नगरी थी। (भगवान ऋषभदेव ने जिन ५२ जनपदों की रचना की थी, उनमें एक पाचाल नाम का जनपद भी था, उसी पाचाल जनपद के दो भाग हो गये थे—अहिच्छत्र और कम्पिला। अहिच्छत्र उत्तर पाचाल की राजधानी थी और कम्पिला दक्षिण पाचाल की। महाभारत काल में उत्तर पाचाल के शासक द्रोण थे और दक्षिण पाचाल के शासक द्रुपद थे। यही पर पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने लक्ष्य-वेध कर द्रुपद सुता द्रौपदी के साथ विवाह किया था।

इस कम्पिला या काम्पिल्य के निकट पिप्पलगाव में रत्नप्रभ राजा ने एक विशाल सरोवर और जिनमन्दिर का निर्माण कराया था। आज कल वह पिप्पलगाव कम्पिला से १६-१७ मील दूरी पर अलीगज तहसील में है।

श्रीमद्भागवत में विष्णु भगवान के २२ अवतारों का वर्णन मिलता है। उसमें द्वितीय अवतार का नाम बराहावतार अथवा शूकरावतार बताया गया है। हिन्दू जनता उस क्षेत्र को, जहाँ यज्ञ पुरुष अर्थात् विष्णु भगवान ने अवतार लिया था, शूकर क्षेत्र मानती है। शूकर क्षेत्र की पहचान आजकल सोरो से की जाती है। यह स्थान कासगज (जिला एटा) से ६ मील है। विविध तीर्थकल्प के अनुसार जनता ने विमलनाथ के शूकर चिह्न के कारण कम्पिला को शूकर क्षेत्र मान लिया था। किन्तु आजकल सोरो को शूकर क्षेत्र माना जाता है। ऐसा लगता है, विमलनाथ के शूकर चिह्न और विष्णु के शूकरावतार में एकरूपता है। हिन्दू पुराणों में तथा श्रीमद्भागवत (तृतीय स्कन्ध अध्याय चौदह) में शूकरावतार की कथा में बताया गया है कि जब पृथ्वी रसातल को चली गई, तब विष्णु भगवान ने उसके उद्धार के लिए शूकरावतार लिया।

जैन पुराण ग्रन्थो मे विमलनाथ भगवान का चरित्र वर्णन करते हुए बताया है कि उस समय पाप की वृद्धि गई थी। भगवान विमलनाथ ने पापी पुरुषो का उद्धार किया।

उक्त दोनो कथाओ मे गहराई से भाँक कर देखे तो कोई अन्तर प्रतीत नही होगा। हिन्दू पुराणो मे आल-रिक्त शैली द्वारा कथन किया गया है। यदि अलङ्कार योजना को निकाल दिया जाय तो हिन्दू और जैन पुराणो के मनो मे एकरूपता ही मिलेगी और तब हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचने मे कोई बाधा प्रतीत नही होगी कि कम्पिला वास्तव मे शूकर क्षेत्र है, भगवान विमलनाथ ही वस्तुतः बराहावतार है और उन्होने ही पाप-पक मे डूवती हुई वो अर्थात् पृथ्वी पर रहने वालो का उद्धार किया।

धर्म बलभद्र, स्वयम्भू नारायण और मधु प्रतिनारायण

भरत क्षेत्र के पश्चिम विदेह मे मित्रनन्दी नामक एक राजा राज्य करता था। वह राजा बडा प्रतापी था। सने अपने बाहुबल द्वारा अनेक देश जीत लिए थे। उससे प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट थी। एक दिन सुव्रत नामक मुनिराज उपदेश सुनकर राजा को वैराग्य हो गया। उसने मुनि-व्रत धारण कर लिए। उसने घोर तपस्या की। अन्त मे माघिमरण धारण कर लिया। मरकर वह अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र हुआ।

द्वारावती नगरी के राजा भद्र की रानी का नाम सुभद्रा था। वह अहमिन्द्र आयु पूर्ण करके सुभद्रा के गर्भ अवतरित हुआ। उत्पन्न होने पर उसका नाम धर्म रक्खा गया।

कुणाल देश मे श्रावस्ती नगर था। वहाँ के राजा का नाम सुकेतु था। कुसगति के कारण वह कुव्यसनो मे नष्ट रहने लगा। वह अत्यन्त कामी था। दिन रात वह जुआ खेलता रहता था। जुआ के कारण वह अपनी स्त्री की राज्य तक हार गया। जब उसका सब कुछ चला गया तो वह मन मे अत्यन्त खिन्न होकर सुदर्शनाचार्य के पास पहुँचा। वहाँ उनका उपदेश सुनकर वह मुनि बन गया। किन्तु उसका मन निर्मल नही हो सका। वह शोक के कारण आहार का त्याग करके तप करने लगा। उसने बहुत समय तक तप किया। मृत्यु के समय उसने निदान किया कि स तप के द्वारा मुझे कला, गुण, चतुराई और बल प्राप्त हो। मरकर वह लान्तव स्वर्ग मे देव हुआ। वहाँ से आयु की होने पर द्वारावती के राजा भद्र की द्वितीय पत्नी पृथ्वी रानी के स्वयम्भू नामक पुत्र हुआ। दोनो भाइयो मे बडा म था।

राजा सुकेतु से जुआ मे बलि नामक राजा ने राज्य जीता था। वह मरकर, रत्नपुर नगर मे राजा मधु हुआ। यह पूर्व जन्म का सस्कार ही था कि राजा मधु के नाम से स्वयम्भू को चिड थी। एक वार किसी राजा ने राजा मधु के लिए कोई उपहार भेजा, किन्तु महाराज स्वयम्भू ने उसे दूत को मारकर छीन लिया। नारद ने यह समाचार मधु को बता दिया। इस अपमानजनक समाचार को सुनते ही मधु को बडा क्रोध आया। स्वयम्भू को दण्ड देने के अभिप्राय से मधु विशाल सेना लेकर द्वारावती की ओर चल दिया। उधर दोनो भाई युद्ध के लिए पहले से ही तैयार बैठे थे। दोनो पक्षो मे भयकर युद्ध हुआ। मधु स्वयम्भू से युद्ध करने लगा। मधु-ने कुपित होकर स्वयम्भू के ऊपर यमराज के समान भयकर चक्र फेका। मधु अब तक भरत क्षेत्र के आधे भाग का स्वामी था। चक्र, गदा, त्रिशूल आदि दैवी अस्त्र उसके पास थे। किन्तु अब उसके पुण्य का कोष रीता हो चुका था। चक्र तीव्रगति से स्वयम्भू की ओर आया और प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजा पर आकर टिक गया। राजा स्वयम्भू ने क्षुब्ध होकर उसी चक्र से मधु का सिर काट दिया। तब स्वयम्भू तीनो खण्डो का स्वामी बन गया। बलभद्र और नारायण दोनो भ्राता आनन्दपूर्वक राज्य करने लगे। आयु पूर्ण होने पर नारायण की मृत्यु हो गई। भ्रातृ-शोक से बलभद्र धर्म के हृदय को बडा आघात लगा। उसे ससार से ही वैराग्य हो गया। वह भगवान विमलनाथ की शरण मे पहुँचा और मुनि-दीक्षा ले ली। उसने घोर तपस्या की और अन्त मे कर्मो का क्षय करके वह मुक्त हो गया।

पचदश परिच्छेद

भगवान अनन्तनाथ

घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व मेरु से उत्तर की ओर अरिष्ट नामक एक नगर था। उस नगर के राजा का नाम पन्नरथ था। उसने दीर्घकाल तक सासारिक भोग भोगे। एक दिन वह स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के चरणों में पहुँचा। वहाँ उसने जिनेन्द्र प्रभु का उपदेश सुना। उसके मन में वैराग्य की भावनाये उदित हुई, राज्य, परिवार और शरीर के प्रति उसकी आसक्ति जाती रही। उसने अपने पुत्र धनरथ को बुलाकर राज्य सौंप दिया और वह मुनि हो गया। उसने घोर तप किया, ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया और निरन्तर सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो गया। अन्त में सल्लेखना धारण करके शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्र पद प्राप्त किया।

अयोध्या में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्रीय राजा सिंहासेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। देवों ने उनके घर पर रत्नवृष्टि की। एक दिन महारानी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह शुभ स्वप्न देखे। प्रातः होने पर उन्होंने अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछा। पति ने विचार कर उत्तर दिया—देवी! तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर अवतार लेंगे। उस दिन कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा और रेवती नक्षत्र था, जब अच्युत स्वर्ग से इन्द्र का जीव अपनी आयु पूर्ण करके उनके गर्भ में आया। उसी समय देवों ने गर्भ कल्याणक का अभिषेक करके वस्त्र, माला और आभूषणों से महाराज सिंहासेन और महारानी जयश्यामा की पूजा की।

जन्म कल्याणक—गर्भ सुख से बढ़ने लगा। नौ माह व्यतीत होने पर माता ने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन पूषा योग में पुण्यशाली पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रों और देवों ने आकर पुत्र का सुमेरु पर्वत पर अभिषेक करके जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने पुत्र का नाम अनन्तनाथ रखा। उनका रंग देदीप्यमान सुवर्ण के समान था। उनके पैर में सेही का चिन्ह था।

बालक क्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ। जब भगवान धौवन अवस्था को प्राप्त हुये, तब पिता ने पुत्र का विवाह कर दिया और उसे राज्य-भार सौंप दिया। राज्य करते हुए जब बहुत काल बीत गया, तब एक दिन उल्का-प्रातः देखकर उन्हें ससार से वैराग्य हो गया। वे ससार की अनित्य दशा को देखकर विचार करने लगे—इस अनित्य ससार में स्थिर केवल अपना आत्म-स्वरूप है। मैं अवतक अनित्य के पीछे भागता रहा, कभी आत्मस्वरूप की प्राप्ति का प्रयत्न नहीं किया। वे ऐसा विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देव आये। उन्होंने भगवान की वन्दना स्तुति की और उनके विचारों की सराहना की।

भगवान ने अपने पुत्र अनन्तविजय को राज्य-भार सौंप दिया और देवोपनीत सागरदत्त ४ पालकों में विराजमान होकर सहेतुक वन में गये। वहाँ वेला का नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मन-पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया, उन्होंने सा आधिक सयम धारण कर लिया और ध्यानलीन हो गये। दो दिन पश्चात् वे आहार के लिये साकेतपुरी में पधारे। वहाँ

स्वर्ण के समान कान्ति वाले विशाख नामक राजा ने भगवान को आहार देकर असीम पुण्य उपार्जन किया। देवो ने पचाश्चर्य करके उसकी सराहना की। आहार लेकर भगवान विहार कर गये।

केवलज्ञान कल्याणक—आपने दो वर्ष तक तपश्चरण किया, तब आपको अश्वत्थ वृक्ष के नीचे उसी सहेतुक वन में चैत्र कृष्णा अमावस्या को सायंकाल के समय रेवती नक्षत्र में सकल ज्ञेय-ज्ञायक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय देवो ने ज्ञान कल्याणक की पूजा की। इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने समवसरण की रचना की। उसमें सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान को दिव्य ध्वनि विखरी और भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का सघ—भगवान के सघ में जय आदि ५० गणधर थे। १००० पूर्वधारी, ३२०० वादी, ३६५०० शिक्षक, ४३०० अवधिज्ञानी, ५००० केवलज्ञानी, ८००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ५००० मन पर्ययज्ञानी, इस प्रकार कुल ६६००० मुनि उनकी पूजा करते थे। सर्वश्री आदि १०८००० आर्यिकायें थीं। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—भगवान अनन्तनाथ ने बहुत समय तक विभिन्न देशों में विहार करके भव्य जीवों को अपने उपदेश द्वारा सन्मार्ग पर लगाया। अन्त में सम्मेद शिखर पर जाकर उन्होंने विहार करना छोड़ दिया और एक माह का योग-निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया तथा चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग में निर्वाण प्राप्त किया। देवो ने आकर भगवान का अन्तिम सस्कार किया और पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान अनन्तनाथ के सेवक यक्ष का नाम पाताल और यक्षिणी का नाम अनन्तमती था।

अनन्त चतुर्दशी व्रत

सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मण था। वह रोगी, अपाहिज और दरिद्री था। वह देश-विदेश में फिरा, किन्तु जहाँ जाता, सब जगह उसे फटकार ही मिलती थी। कोई उसका आदर नहीं करता था और न उसे कोई वन ही देता था। एक दिन भगवान अनन्तनाथ का समवसरण देखकर और वहाँ राजा, रक, देव और मनुष्यों को जाते देखकर वह भी समवसरण में चला गया। वहाँ उसने भगवान का अद्भुत वैभव देखा। इन्द्र भगवान के ऊपर चवर ढोल रहे थे। वृक्षों पर पट्टे ऋतुओं के फल-फूल लहलहा रहे थे। शेर और हिरन, सर्प-नेवला, विल्ली-चूहा जैसे जाति-विरोधी जीव बड़े प्रेम से पास-पास बैठे हुए थे। देवो और मनुष्यों की अपार भीड़ लगी हुई थी। चारों ओर शान्ति और प्रेम का साम्राज्य था। समवसरण की अद्भुत महिमा को देखकर सोमशर्मा साहस करके आगे बढ़ा और भगवान को नमस्कार करके विनयपूर्वक बोला—भगवन् ! मैं बड़ा भाग्यहीन, दीन, दरिद्री हूँ, रोगी हूँ, तिरस्कृत हूँ। कहीं पेट भरने लायक भीख भी नहीं मिलती। कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मेरे कष्ट दूर हो जायें।

उसकी प्रार्थना सुनकर भगवान के मुख्य गणधर जय बोले—भव्य ! तुम भाद्रपद शुक्ला १४ को स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन कर भगवान अनन्तनाथ का चौदह कलगी से अभिषेक करो, पूजन करो। उपवास रखो। रात्रि को भगवान का कीर्तन करो। इस प्रकार चौदह वर्ष तक उपवास आदि करो। जब चौदह वर्ष समाप्त हो जायें, तब मन्दिर में छत्र, चैवर, सिंहासन, कलश आदि चौदह वस्तुयें चढ़ाकर अनन्त चतुर्दशी व्रत का उद्यापन करो। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो दूने व्रत करो अर्थात् अठारह वर्ष तक इसी प्रकार व्रत करो। अन्त समय में समाधिमरण धारण करो। इससे तुम्हारी दरिद्रता, रोग, शोक सब दूर हो जायेंगे।

सोमशर्मा ने गणधरदेव के कथनानुसार किया। मरकर वह चतुर्थ स्वर्ग में महा विभूतिवान् देव हुआ। आयु पूर्ण होने पर विजय नगर के सम्राट् मनोकुम्भ का पुत्र अरिजय हुआ। यह राजकुमार अत्यन्त रूपवान्, गुणवान् और बलवान् था और यह विपुलाचल पर भगवान् महावीर के दर्शनो के लिये भी गया था।

सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण और मधुसूदन प्रतिनारायण

भगवान् अनन्तनाथ के समय में चौथे बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण हुए।

पोदनपुर नरेश वसुषेण के पांच सौ रानियाँ थीं। उनमें नन्दा पटरानी थी। महाराज उसके प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे। मलय देश का स्वामी चण्डशासन वसुषेण का मित्र था। वह अपने मित्र से मिलने के लिये पोदनपुर आया। एक दिन नन्दा के ऊपर उसकी दृष्टि पड़ गई। उसे देखते ही वह नन्दा के ऊपर मोहित हो गया और उसका अपहरण करके ले गया। वसुषेण चण्डशासन के मुकाबिले अपने आप को असमर्थ पाता था। अतः वह मन मसोस कर रह गया, किन्तु वह नन्दा को न भूल सका। तब उसे विवेक जागृत हुआ। वह श्रेय नामक गणधर के पास जाकर दीक्षित हो गया। उसने धोर तप किया और यह निदान किया कि यदि मेरी इस तपस्या का कुछ फल है तो मैं ऐसा राजा बनूँ जिसकी आज्ञा का उल्लंघन कोई न कर सके। वह सन्यास मरण कर सहस्रार स्वर्ग में महा विभूतिसम्पन्न देव हुआ।

जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में नन्दन नामक एक नगर था। उसका अधिपति महाबल अत्यन्त प्रतापी और प्रजावत्सल राजा था। वह बड़ा दानी और दीनवत्सल था। एक दिन उसे भोगो से अरुचि हो गई। उसने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर प्रजापाल नामक अर्हन्त के समीप समय धारण कर लिया और तप करने लगा। अन्त में सन्यास धारण कर मरण को प्राप्त हुआ और सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ।

बलभद्र, नारायण, और प्रतिनारायण—द्वारावती नगर के स्वामी राजा सोमप्रभ की रानी जयवन्ती के गर्भ में सहस्रार स्वर्ग से महाबल का जीव आयु पूर्ण होने पर आया। उत्पन्न होने पर उसका नाम सुप्रभ रक्खा गया। वह सर्वप्रिय था। उसका वर्ण गौर था।

उसी राजा की दूसरी रानी के गर्भ में वसुषेण का जीव आया। उत्पन्न होने पर उसका नाम पुरुषोत्तम रक्खा गया। इसका वर्ण कृष्ण था।

दोनों भाइयों में अत्यन्त स्नेह था। ज्योतिषियों ने बताया था कि ये दोनों भाई बलभद्र और नारायण हैं और ये भरत क्षेत्र के आधे भाग पर शासन करेंगे। सब राजा इनके आज्ञानुवर्ती होंगे।

चण्डशासन का जीव विभिन्न योनियों में भटकता हुआ काशी देश की वाराणसी नगरी का स्वामी मधुसूदन नाम का राजा हुआ। वह प्रचण्ड तेज का धारक था, शत्रु इसके नाम से ही भयभीत हो जाते थे। एक बार नारद धूमते हुए वाराणसी में उसके दरबार में पहुँचे। मधुसूदन ने उनकी अभ्यर्थना की और बैठने के लिये उच्चासन दिया। दोनों में इधर-उधर की बातचीत होने लगी। प्रसंगवश नारद ने सुप्रभ और पुरुषोत्तम के वैभव की चर्चा की। सुनते ही असहिष्णु मधुसूदन ईर्ष्या से जल उठा। उसने अहंकारपूर्वक उन दोनों राजकुमारों को आदेश भेजा कि तुम लोग मेरे लिये हाथी, रत्न आदि कर-स्वरूप भेजो।

मधुसूदन की यह अनधिकार चेष्टा देखकर दोनों भाइयों को अत्यन्त क्रोध आया और उन्होंने दूत को अपमानित कर निकाल दिया। जब मधुसूदन ने यह समाचार सुना तो वह कुपित होकर विशाल सेना के साथ दोनों राजकुमारों को दण्ड देने के अभिप्राय से चल दिया। दोनों भाई भी अपनी सेना लेकर चल पड़े। दोनों सेनाओं में भयकर लड़ाई होने लगी। मधुसूदन के साथ पुरुषोत्तम का युद्ध होने लगा। जब मधुसूदन ने देखा कि शत्रु किसी प्रकार दब नहीं पा रहा है तो उसने प्रबल वेग से पुरुषोत्तम के ऊपर चक्र फेंका। जिस चक्र ने मधुसूदन को कभी धोखा नहीं दिया था, आज वह भी काम न आ सका। चक्र पुरुषोत्तम की प्रदक्षिणा देकर उनकी भुजा पर ठहर गया। पुरुषोत्तम ने उसी चक्र को मधुसूदन पर चला दिया, जिससे उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। दोनों भाई भरत क्षेत्र के तीन खण्ड के अधिपति हो गये और वे बलभद्र एवं नारायण कहलाये।

बहुत काल तक दोनों ने राज्य-सुख का अनुभव किया। एक दिन छोटे भाई पुरुषोत्तम की मृत्यु हो गई। इस घटना से सुप्रभ अति शोक सतप्त हो गये। वे एक बार सोमप्रभ जिनेन्द्र के दर्शनों को गये। उन्होंने बलभद्र को समझाया। फलतः बलभद्र ने उन्हीं के चरणों में दीक्षा ले ली। उन्होंने घोर तपस्या करके कर्मों का क्षय कर दिया और मोक्ष प्राप्त कर लिया।



पीडस परिच्छेद

भगवान धर्मनाथ

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्स नामक एक देश था। उसमें सुसीमा नामक एक नगर था। वहाँ राजा दशरथ राज्य करता था। उसके पास बुद्धि और बल था, भाग्य उसके पक्ष में था। इसलिये उसने तमाम शत्रुओं को अपने वश में कर लिया था। अतः वह शान्तिपूर्वक राज्य करता था। एक बार पूर्व भव वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को सब लोग उत्सव मना रहे थे। तभी चन्द्रग्रहण पडा। उसे देखकर राजा का मन भोगों से एकदम उदास हो गया। उसने अपने पुत्र महारथ का राज्याभिषेक करके सयम धारण कर लिया। उसने ग्यारह अगो का अध्ययन किया, सोलह कारण भावनाओं का सतत चिन्तन किया, जिससे उसे तीर्थकर प्रकृति का वन्ध हो गया। अन्त में समाधिमरण करके वह सर्वार्थ सिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ उसने तेतीस सागर तक सुख का भोग किया।

रत्नपुर नगर के अधिकारी महाराज भानु थे। वे कुखशी और काश्यपगोत्री थे। उनकी महादेवी का नाम सुप्रभा था। देवों ने भगवान के गर्भावतार से छह माह पूर्व से रत्नवृष्टि आरम्भ की। महारानी ने वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को रेवती नक्षत्र में प्रातः काल के समय सोलह स्वप्न देखे और एक विशाल हाथी मुख में प्रवेश करते हुए देखा। प्रातः काल उठकर वे अपने पति के पास पहुँची। उन्होंने रात में देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनमें इन स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से देखकर बताया—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थकर भगवान आने वाले हैं। सुनकर महारानी को बड़ा हर्ष हुआ। तभी सर्वार्थ सिद्धि का अहमिन्द्र आयु पूर्ण होने पर महारानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। इन्द्रो ने आकर गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

जन्म कल्याणक—नौ माह व्यतीत होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र में महारानी ने तीन ज्ञान का धारक पुत्र प्रसव किया। उसी समय इन्द्रो और देवों ने आकर सद्य जात बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया और भगवान का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने बालक का नाम धर्मनाथ रक्खा। उनके पैर में वज्र का चिन्ह था।

जब भगवान यौवन दशा में पहुँचे, तब पिता ने उनका विवाह कर दिया और राज्याभिषेक कर दिया। बहुत समय तक उन्होंने राज्य-सुख भोगा। एक दिन उत्कापात देखकर उन्हें वैराग्य हो गया। उन्हें अब तक का जीवन भोगों में व्यतीत करने का बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब दीक्षा कल्याणक क्षणभर भी इस अमूल्य जीवन को सासारिक भोगों में नष्ट न करके आत्म कल्याण करूँगा। प्रभु का ऐसा निश्चय जानकर लौकान्तिक देव वहाँ आये और भगवान की वन्दना करके प्रभु के विचारों को सराहते हुए अपने स्थान को वापिस चले गये। भगवान ने अपने पुत्र सुधर्म को राज्य देकर नागदत्ता नामक पालकी में आरूढ होकर दीक्षा के लिये गमन किया। उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया।

वे आहार के लिये पाटलिपुत्र नामक नगरी में गये। वहाँ धन्यषेण नामक राजा ने उत्तम पात्र के लिये आहार दान देकर पचाश्चर्य प्राप्त किये।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान ने एक वर्ष तक तपस्या की। फिर वे विहार करते हुए दीक्षा वन में पधारे। वहाँ सप्तच्छद वृक्ष के नीचे बैठकर और दो दिन के उपवास का नियम लेकर योग धारण कर लिया और पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन सायंकाल के समय पुण्य नक्षत्र में उन्हें लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रगट हुआ। देवों ने आकर केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की।

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। वहाँ गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी और इस तरह उन्होंने रतनपुरी में धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का परिंकर—भगवान धर्मनाथ के सघ में अरिष्टसेन आदि ४३ गणधर थे। ६११ पूर्वधर, ४०७०० शिक्षक, ३६०३ अवधिज्ञानी, ४५०० केवलज्ञानी, ७००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ४५०० मन पर्ययज्ञानी और २८०० वादी थे। इस प्रकार उनके सघ में मुनियों की कुल संख्या ६४००० थी। सुव्रता आदि ६२४०० आधिकार्ये थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकार्ये थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान विभिन्न आर्य देशों में विहार करके धर्मोपदेश द्वारा भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। अन्त में वे विहार बन्द करके सम्मैद शिखर पहुँचे। वहाँ एक माह का योग निरोध करके आठ सौ नौ मुनियों के साथ ध्यानारूढ हुए तथा ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन रात्रि के अन्तिम भाग में पुण्य नक्षत्र में निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान धर्मनाथ के यक्ष का नाम किन्नर और यक्षिणी का नाम परभृती था।

रतनपुरी—रतनपुरी कल्याणक क्षेत्र है। इस नगर में भगवान धर्मनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे। यह क्षेत्र जिला फ़ैजाबाद में प्रयोध्या से बाराबकी वाली सड़क पर १५ मील है। फ़ैजाबाद से सिटी बस मिलती है। रौनाही के चौराहे पर उतरना चाहिए। सड़क से गाँव डेढ़ मील है। कच्चा मार्ग है। गाँव का नाम रौनाही है। सरयू नदी के तट पर दो दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। एक मन्दिर में मूर्तियाँ हैं। कहते हैं, यहाँ भगवान का जन्म कल्याणक हुआ था। दूसरे मन्दिर में चरण विराजमान हैं। कहा जाता है, यहाँ भगवान का गर्भ कल्याणक हुआ था।

सुदर्शन बलभद्र, नारायण पुरुषसिंह और प्रतिनारायण मधुक्रीड

राजगृह नगर में राजा सुमित्र राज्य करता था। वह बड़ा भारी मल्ल था। उसने बड़े-बड़े मल्लों को मल्ल-युद्ध में पछाड़ दिया था। इसका उसे अभिमान भी था। लोग उसका बड़ा सम्मान करते थे। एक बार मल्ल-युद्ध विशारद और बल में हाथी के समान राजसिंह नाम का राजा राजगृह आया। उसका पूर्व भव अभिप्राय सुमित्र को मल्ल-युद्ध में पराजित करना था। दोनों राजाओं का अखाड़े में मल्ल-युद्ध हुआ। इसमें सुमित्र पराजित हो गया। इससे उसका मान भग्न हो गया। उसे राज्य में रहने में भी लज्जा आने लगी। अतः उसने राज्य-भार अपने पुत्र को सौंप दिया और वह कृष्णाचार्य के पास जाकर दीक्षित हो गया। उसने सिंह निष्क्रीडित आदि कठिन तप किये, किन्तु उसके मन में अपने पराभव का सकलेश बना रहा। अतः उसने मन में यह सकल्प किया कि यदि मेरे तप का कोई फल हो तो मुझे इतना बल और पराक्रम प्राप्त हो कि मैं अपने शत्रुओं को जीत सकूँ।

अन्त मे समाधिमरण करके वह माहेन्द्र स्वर्ग मे देव हुआ ।

जम्बूद्वीप मे मेरु पर्वत के पूर्व की ओर वीतशोकपुरी नामक नगरी थी । उसमें नरवृषभ नामक राजा राज्य करता था । उसने निर्विघ्न राज्य-सुख भोगा । अन्त में विरक्त होकर दमवर मुनिराज के पास दीक्षा ले ली । उसने कठोर तपस्या की और आयु पूर्ण होने पर वह सहस्रार स्वर्ग मे देव हुआ ।

बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण—खगपुर नगर मे इक्ष्वाकुवंशी राजा मिहसेन शासन करता था । उसकी बड़ी रानी विजया के गर्भ मे सहस्रार स्वर्ग के उस देव का जीव अवतीर्ण हुआ-। उसका जन्म होने पर सुदर्शन नाम रक्खा गया । छोटी रानी अम्बिका के गर्भ मे माहेन्द्र स्वर्ग का देव आया और उत्पन्न होने पर उसका नाम पुरुषसिंह रक्खा गया । दोनो ऋमश गौर और कृष्ण वर्ण के थे । दोनो मे अति स्नेह था और दोनो अविभक्त राज्य का आनन्दपूर्वक भोग करते थे । उन्होने अपने बाहुबल से अनेक शत्रुओ को पराजित किया था ।

हस्तिनापुर नगर का स्वामी मधुक्तीड बडा प्रतापी और अभिमानी नरेश था । उसने कुछ ही काल मे भरत क्षेत्र के तीन खण्डो पर अपना आधिपत्य जमा लिया था । उसे सुदर्शन और पुरुषसिंह दोनो भाइयो का बढता हुआ प्रभाव और तेज सहन नही हुआ । उसने अपने प्रधान मन्त्री दण्डगर्भ को उनके पास भेजा और कर-स्वरूप अनेक श्रेष्ठ रत्न मागे । सुनकर दोनो भाई अत्यन्त कुद्ध हो गये । उन्होने मन्त्री को उत्तर दिया—उस मूर्ख से कह देना, हम उसका कर युद्ध-स्थल मे चलकर चुकावेंगे ।

जब मन्त्री से मधुक्तीड ने ये समाचार सुने तो सुनते ही उसकी आँखे क्रोध के कारण रक्तवर्ण हो गई । वह विशाल सेना लेकर युद्ध के लिये चल दिया । दोनो भाई भी सेना सजाकर रणभूमि मे पहुँचे । दोनो सेनायों परस्पर भिड गई । लाशो से मैदान पट गया । पुरुषसिंह मधुक्तीड पर झपटा । अब दोनो वीरो का युद्ध होने लगा । दोनो एक-दूसरे के शस्त्रो और प्रहारो को काटते रहे । मधुक्तीड को अनुभव हुआ कि आज जिस शत्रु से पाला पडा है, वह साधारण नही है । उसका वध करना ही अपनी सुरक्षा का एकमात्र उपाय है । ऐसा विचार करके उसने अपने शत्रु पर भीषण वेग से चक्र फेंका । किन्तु पुरुषसिंह चक्र को देखकर तनिक भी भयभीत नही हुआ । चक्र भी उसके समीप पहुँच कर और प्रदक्षिणा देकर उसकी भुजा पर जा टिका । मधुक्तीड का पुण्य क्षीण हो चुका था । अन्त समय मे उसी के चक्र ने उसे धोखा दिया । पुरुषसिंह ने उसी चक्र को मधुक्तीड पर चला दिया, जिससे उसका सिर कटकर भूलु ठित हो गया । नारायण के हाथ प्रतिनारायण मारा गया । दोनो भाई तीन खण्ड पृथ्वी के अधीश्वर बन गये, सम्पूर्ण राजाओ ने आकर उनके चरणो मे नमस्कार किया । उन्होने बहुत समय तक राज्यलक्ष्मी का भोग किया ।

एक दिन नारायण की मृत्यु हो गई । अनुज के वियोग मे बलभद्र को बडा शोक हुआ । उसे किसी प्रकार भी कही पर शान्ति नही मिली । तब वह भगवान धर्मनाथ की शरण मे पहुँचा । उनका उपदेश सुनकर उसने दीक्षा ले ली और घोर तप करके उसने सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके अक्षय पद मोक्ष प्राप्त किया ।

ये पाँचवें बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण थे । ये तीनों भगवान धर्मनाथ के समय मे हुए थे ।

मघवा चक्रवर्ती

भगवान धर्मनाथ के तीर्थ में मघवा नामक तीसरा चक्रवर्ती हुआ ।

पूर्व भव—वासुपूज्य भगवान के तीर्थ मे नरपति नामक एक बडा राजा था । उसने अनेक शत्रुओ को जीत कर अपने राज्य की सीमाये बहुत विस्तृत कर ली । वह बहुत काल तक सूखपूर्वक राज्य करता रहा । जब उसे भोगों से अरुचि हो गई तो वह मुनि बनकर आत्म-कल्याण का पथिक बन गया । उसने घोर तप किया । अन्त में समाधि मरण करके मध्यम श्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ ।

चक्रवर्ती पद—फिर वहाँ आयु पूर्ण करके वह अयोध्या नरेश इक्ष्वाकुवशी सुमित्र की महारानी भद्रा से मधवा नाम का पुत्र हुआ। जब उसने किशोर वय पार करके यौवन में पदार्पण किया, उसकी आयुघशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसकी सहायता से उसने भरत क्षेत्र के षट् खण्डों की विजय की। वह चक्रवर्ती बना। उसके पास नौ निधियाँ थीं। वह चौदह रत्नों का स्वामी था। उसके छियानवें हजार रानियाँ थीं और चक्रवर्ती के योग्य अतुल वैभव था। इतना अपरिमित वैभव होते हुए भी वह भोगों में आसक्त नहीं हुआ।

एक दिन नगर के बाह्य अचल में स्थित मनोहर उद्यान में अभयघोष केवली पधारें। उनका आगमन सुनकर चक्रवर्ती उनके दर्शनो के लिए गया। जाकर उनकी तीन प्रदक्षिणायें दी, वन्दना की और उनसे धर्म का स्वरूप समझा। उपदेश सुनकर चक्रवर्ती के मन में आत्म-कल्याण की भावना जागृत हुई। उसने अपने पुत्र प्रियमित्र को राज्य सौंप कर सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दिया और मोक्ष-प्रसाधक सकल चारित्र्य धारण कर लिया। जिस प्रकार उसने बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी, इसी प्रकार उसने तपरूपी चक्र से आभ्यन्तर शत्रु-कर्मों पर विजय प्राप्त की और चार घातिया कर्मों का नाश करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गया। जिस प्रकार चक्रवर्ती दशा में उनके पास नव निधि थी, इसी प्रकार केवली दशा में वे नौ केवल लब्धियों के धारक बन गये। अब वे भव्य जीवों को कल्याणकारी मार्ग का उपदेश देने लगे। अन्त में शुक्ल ध्यान के तृतीय और चतुर्थ भेद के द्वारा अघाति-चतुष्क का क्षय करके अक्षय मोक्ष पद प्राप्त किया।

ये चक्रवर्ती भगवान धर्मनाथ और भगवान शान्तिनाथ के अन्तराल में एव भगवान धर्मनाथ के तीर्थ में हुए थे।

सनत्कुमार चक्रवर्ती

अयोध्या नगरी^१ के अधिपति, सूर्यवंश शिरोमणि महाराज अनन्तवीर्य की रानी सहदेवी के गर्भ से सनत्कुमार नामक पुण्यशील पुत्र उत्पन्न हुआ। इसने यौवन अवस्था प्राप्त होने पर भरत क्षेत्र के षट् खण्डों पर विजय प्राप्त करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। वे चौथे चक्रवर्ती थे। वे सम्यग्दृष्टियों में प्रधान थे। बत्तीस हजार राजा इनकी सेवा करते थे। देव और विद्याधर इनके सेवक थे। वे अतिशय रूपसम्पन्न थे। उनके रूप की प्रशंसा देव तक करते थे।

एक दिन सौधर्म इन्द्र की सभा में ईशान स्वर्ग से सगम नामक देव आया और आकर वह इन्द्र के समीप बैठ गया। जैसे सूर्योदय होने पर तारागण म्लान पड जाते हैं, इसी प्रकार उस देव के आने पर अन्य देवों की कान्ति म्लान हो गई। उसे देखकर सभी देव अत्यन्त विस्मित थे। कुछ देव अपने कुतूहल को नहीं दवा सके और इन्द्र से पूछने लगे—‘किस कारण से यह देव सूर्य के समान तेजस्वी है?’ इन्द्र ने उत्तर दिया—‘पिछले जन्म में इसने आचाम्ल वर्धमान तप किया था। उसी के फल से इसे ऐसा रूप मिला है।’

देवों ने इन्द्र से पुनः प्रश्न किया—‘क्या ऐसा रूप किसी और का भी है?’

इन्द्र बोला—हाँ, है। हस्तिनापुर में कुरुवंश में उत्पन्न सनत्कुमार चक्रवर्ती का रूप और तेज इससे भी अधिक है।

इन्द्र की यह बात सुनकर विजय और वैजयन्त नामक दो देव ब्राह्मण का रूप धारण करके कुतूहलवंश

१- आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण के अनुसार। आराधना कथाकोष के अनुसार नगर का नाम वीतशोक, राजा का नाम अनन्तवीर्य और रानी का नाम सीता। हरिपेण कथाकोष के अनुसार हस्तिनापुर नरेश विश्वसेन की रानी सहदेवी। श्वेताम्बर मान्यता भी यहीं है। केवल विश्वसेन के स्थान पर अश्वसेन नाम है।

हस्तिनापुर पहुँचे और प्रतिहार से चक्रवर्ती के रूप-दर्शन की आज्ञा लेकर स्नान-गृह में पहुँचे जहाँ चक्रवर्ती तेल की मालिश करवा रहे थे। उनका अनिष्ट रूप देखकर दोनों देव अत्यन्त विस्मित हो गये और बोले—राजन् ! तुम्हारे तेज, यौवन और रूप की जैसी प्रशंसा सौधर्मन्द्र ने की थी, यह उससे भी अधिक है। हम तुम्हारा यह रूप देखने ही स्वर्ग से यहाँ आये हैं।

चक्रवर्ती देवों द्वारा प्रशंसा सुनकर बोले—देवो ! अभी तुमने क्या देखा है। आप लोग कुछ देर ठहरे। जब मैं स्नान करके वस्त्राभूषण पहनकर और इत्र फुलेल, ताम्बूल आदि का सेवन करके तैयार हो जाऊँ, उस समय मेरी रूप माधुरी देखना।'

दोनों देव सुनकर कौतुक मन में सजोये प्रतीक्षा करने लगे। जब चक्रवर्ती स्नान, विलेपन आदि करके सिंहासन पर विराजमान हो गये, तब उन्होंने दोनों देवों को बुलाया। देव अत्यन्त उत्कण्ठा लिए पहुँचे और चक्री के तेज और रूप को देखकर बड़े खिन्न हुए और बोले—राजन् ! यह रूप, यौवन, बल, तेज और वैभव इन्द्र धनुष के समान क्षणभंगुर है। हमने वस्त्रालकार रहित अवस्था में आपके रूप में जो सौन्दर्य, जो माधुर्यवर्ती देखा था, वह अब नहीं रहा। देवों का रूप जन्म से मृत्यु पर्यन्त एक-सा रहता है, किन्तु मनुष्यों का रूप यौवन तक बढ़ता है और यौवन के पश्चात् छीजने लगता है। इसलिए इस क्षणिक रूप का मोह और अहंकार व्यर्थ है।

देवों की बात सुनकर उपस्थित सभी लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। तब कुछ सभ्य जन बोले—'हमें तो महाराज के रूप में पहले से कुछ भी कमी नहीं दिखाई पड़ती। न जाने आप लोगों ने पहली सुन्दरता से क्यों कमी बताई है।' सुनकर देवों ने सबको प्रतीति कराने के लिए जल से पूर्ण एक घड़ा मगवाया। उसे सबको दिखाया। फिर एक तृण द्वारा जल की एक बूंद निकाल ली। फिर सबको घड़ा दिखाकर बोले—'आप लोग बतलाइये, पहले घड़े में जैसे जल भरा था, अब भी वैसे ही भरा है। क्या इसमें तुम्हें कुछ विशेषता दिखाई पड़ती है?' सबने एक स्वर से कहा—'नहीं, कुछ विशेषता दिखाई नहीं पड़ती।' तब देव कहने लगे—'महाराज ! भरे हुए घड़े में से एक बूंद निकाली गई, तब भी इन्हीं जल उतना ही दिखाई पड़ता है। इसी तरह हमने आपका जो रूप पहले देखा था, वह अब नहीं रहा। वह कमी हमें दिखाई पड़ती है, किन्तु इन लोगों को दिखाई नहीं पड़ती।'

देव यो कह कर अपने स्वर्ग को चले गये, किन्तु चक्रवर्ती के अन्धेरे हृदय में एक प्रकाशमान ज्योति छोड़ गये। उनके मन में विचार-तरंग उठने लगी—ठीक ही तो कहते हैं ये देव। इस जगत में सब कुछ ही तो क्षणिक है, नाशवान है। मेरा यह शरीर भी तो नाशवान है, फिर इसके रूप का यह अहंकार क्यों ? मैंने अब तक इस शरीर के लिए सब कुछ किया, अपने लिए कुछ नहीं किया। मैं अब आत्मा के लिए करूँगा।

मन में वैराग्य जागा तो उन्होंने तत्काल अपने पुत्र का राजतिलक किया और चारित्र्यगुप्त मुनिराज के पास जाकर जिन-दीक्षा ले ली। वे आत्म कल्याण के मार्ग में निरन्तर बढ़ते रहे। एक बार षष्ठोपवास के बाद वे आहार के लिए नगर में गये। वहाँ देवदत्त नामक राजा ने उन्हें आहार कराया। मुनि सनत्कुमार ने आहार लेकर फिर षष्ठोपवास ले लिया। किन्तु वह आहार इतना प्रकृति-विरुद्ध था कि उससे शरीर में अनेक भयंकर रोग उत्पन्न हो गये। यहाँ तक कि उनके शरीर में कुष्ठ हो गया। शरीर में दुर्गन्ध आने लगी। किन्तु मुनिराज का ध्यान एक क्षण के लिए कभी शरीर की ओर नहीं गया। उन्हें औषध ऋद्धि प्राप्त थी, किन्तु कभी रोग का प्रतीकार नहीं किया।

एक दिन पुन इन्द्र सौधर्म सभा में धर्मप्रेमवश सनत्कुमार मुनिराज की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—
धन्य है सनत्कुमार मुनि, जिन्होंने पट् खण्ड पृथ्वी का साम्राज्य तृण के समान असार जानकर त्याग दिया और तप का आराधन करते हुए पाँच प्रकार के चारित्र्य का दृढतापूर्वक पालन कर रहे हैं।'

इन्द्र द्वारा यह प्रशंसा सुनकर मदनकेतु नामक एक देव सनत्कुमार मुनिराज की परीक्षा लेने वैद्य का वेष धारण करके उस स्थान पर पहुँचा जहाँ मुनिराज तपस्या कर रहे थे। वहाँ आकर वह जोर जोर से कहने लगा—
मैं प्रसिद्ध वैद्य हूँ, मृत्युञ्जय मेरा नाम है। प्रत्येक रोग की औषधि मेरे पास है। कोई उपचार करा लो।

मुनिराज बोले—'तुम वैद्य हो, यह तो बड़ा अच्छा है। मुझे बड़ा भयंकर रोग है। क्या तुम उसका भी उपचार कर सकते हो?'

देव बोला—‘अवश्य ही मैं आपके रोग का उपचार कर सकता हूँ। वह रोग आपके शरीर में निरन्तर चूने वाला कोढ़ है।’

मुनिराज कहने लगे—‘यह रोग तो साधारण है। मुझे तो इससे भी भयकर रोग है। वह रोग है जन्म-मरण का। यदि तुम उसका उपचार कर सकते हो तो कर दो।’

सुनकर वैद्य वेषधारी देव लज्जित होकर बोला—‘मुनिनाथ ! इस रोग को तो आप ही नष्ट कर सकते हैं।

तब मुनिराज मुस्कराकर कहने लगे—‘भाई ! जब तुम इस रोग को नष्ट नहीं कर सकते तो फिर मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। शरीर की व्याधि तो स्पर्श मात्र से ही दूर हो सकती है, उसके लिए वैद्य की क्या आवश्यकता है !’ यो कह कर मुनिराज ने एक हाथ पर दूसरे हाथ को फेरा तो वह स्वर्ण जैसा निर्मल बन गया।

मुनिराज की इस अद्भुत शक्ति को देखकर अपने असली रूप को प्रगट कर देव हाथ जोड़कर बोला—‘देव ! सौधर्मेन्द्र ने आपकी जैसी प्रशंसा की थी, मैंने आपको वैसा ही पाया।’ और वह नमस्कार करके अपने स्थान को चला गया।

मुनिराज सनत्कुमार शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मों को नष्ट करके अनन्त सुख के धाम सिद्धालय में जा विराजे। सनत्कुमार चक्रवर्ती भी भगवान धर्मनाथ के तीर्थ में और धर्मनाथ एव शान्तिनाथ के अन्तराल में हुए थे।



सप्तदश परिच्छेद

भगवान शान्तिनाथ

पूर्व भव—यहाँ भगवान शान्तिनाथ के पूर्व के नौ भवों की कथा दी जा रही है।

भगवान महावीर का जीव जब त्रिपृष्ठ नामक प्रथम नारायण था, उस समय की यह कथा है। त्रिपृष्ठ ने अपनी पुत्री ज्योतिप्रभा का विवाह रथनूपुर के राजकुमार अमिततेज के साथ कर दिया और अमिततेज की बहन सुतारा त्रिपृष्ठ के पुत्र श्रीविजय के साथ विवाही गई। जब त्रिपृष्ठ नारायण का देहान्त हो गया और भाई के शोक में बलमद्र विजय ने दीक्षा लेनी, तब श्रीविजय पोदनपुर का राजा बना। एक दिन एक निमित्तज्ञानी ने आकर कहा कि पोदनपुर के राजा के मस्तक पर आज से सातवें दिन वज्र गिरेगा। सुनकर सबको चिन्ता हुई। तब मत्रियों ने उपाय सोचा—निमित्तज्ञानी ने किसी राजा का नाम तो लिया नहीं। जो सिंहासन पर बैठा होगा, उसी पर तो वज्र गिरेगा, यह विचार कर उन्होंने सिंहासन पर एक यक्ष-प्रतिमा रख दी। ठीक सातवें दिन यक्ष-मूर्ति पर भयकर वज्र गिरा। राजा बच गया। राजा सुतारा को लेकर वन-विहार के लिये गया। वे दोनों वन में बैठे हुए थे, तभी आकाश मार्ग से चमरचचपुर का राजकुमार अशनिघोष विद्याधर उधर से निकला। उसने सुतारा को देखा तो वह उस पर मोहित हो गया। तब वह हरिण का रूप बनाकर आया और छल से श्रीविजय को दूर ले गया। फिर वह श्रीविजय का रूप धारण करके आया और सुतारा से बोला—‘प्रिये ! सूर्य अस्त हो रहा है, चलो लौट चले।’ सुतारा उसके साथ विमान में चल दी। मार्ग में अशनिघोष ने अपना रूप और उद्देश्य प्रगट किया। तब सुतारा जोर-जोर से विलाप करने लगी।

जब श्रीविजय वापिस आया और सुतारा वहाँ नहीं मिली तो वह अत्यन्त कातर हो उठा। तभी एक विद्याधर ने उसे सुतारा के अपहरण का समाचार दिया। सुनते ही वह सीधा रथनूपुर पहुँचा और अमिततेज से सब बातें बताईं। अमिततेज सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और सेना लेकर अशनिघोष पर जा चढ़ा। भयानक युद्ध हुआ। उसमें हारकर अशनिघोष वहाँ से भागा और नाभेयसीम पर्वत पर विजय तीर्थकर का समवसरण देखकर उसमें जा घुसा। अमिततेज और श्रीविजय भी उसका पीछा करते हुए समवसरण में जा पहुँचे। किन्तु वहाँ का यह अलौकिक प्रभाव था कि न अशनिघोष के मन में भय के भाव थे और न अमिततेज और श्रीविजय के मन में क्रोध के भाव रहे। तभी अशनिघोष की माता आसुरीदेवी ने सुतारा को लाकर उन दोनों को समर्पण किया और अपने पुत्र के अपराध की क्षमा मागी।

सबने भगवान का उपदेश सुना और सबने यथायोग्य मुनिव्रत आर्यिका के व्रत अथवा श्रावक के व्रत लिये।

अमिततेज के प्रश्न करने पर भगवान ने सबके पूर्व भव बताते हुए कहा—तेरा जीव आगे होने वाले नौवें भव में पाँचवा चक्रवर्ती और सोलहवा तीर्थकर शान्तिनाथ होगा।

सुनकर अमिततेज को बड़ा हर्ष हुआ। भगवान को नमस्कार कर वे लोग अपने-अपने स्थान को लौट गये। सब उसकी प्रवृत्ति धर्म की ओर हो गई। वह निरन्तर दान, पूजा, व्रत, उपवास करने लगा। यद्यपि उसे अनेक

विद्याये सिद्ध थी और वह विजयार्थ पर्वत की दोनों श्रेणियों का एकछत्र सम्राट् था, किन्तु धर्म-कार्यों में कभी प्रमाद नहीं करता था। किन्तु एक दिन उसने भोगो का निदान बन्ध किया।

जब दोनों की आयु एक मास शेष रह गई तो अपने-अपने पुत्रों को राज्य देकर वे नन्दन नामक मुनिराज के पास दीक्षा लेकर मुनि बन गये और अन्त में समाधिमरण करके तेरहवें स्वर्ग में अमित ऋद्धिधारी देव हुए।

आयु पूर्ण होने पर अभिततेज का जीव पूर्व विदेह क्षेत्र के वत्सकावती देश के राजा स्तिमितसागर की रानी वसुन्धरा के गर्भ से अपराजित नामक पुत्र हुआ और श्रीविजय का जीव उसी राजा की अनुमति नाम की रानी से अनन्तवीर्य नामक पुत्र हुआ। दोनों में परस्पर बड़ा प्रेम था। वे दोनों ही क्रमशः बलभद्र और नारायण थे। जब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए तो पिता ने उनका विवाह कर दिया और बड़े भाई को राज्य-भार सौंपकर छोटे भाई का युवराज पद दे दिया। राज्य पाते ही उनका प्रभाव और तेज बढ़ने लगा।

उनकी राज्य-सभा में बर्बरी और चिलातिका नामक दो सुन्दर नर्तकियाँ थी। नृत्यकला में उनकी प्रसिद्धि सम्पूर्ण देश में व्याप्त थी। एक दिन वे दोनों नर्तकियों का नृत्य देखने में मग्न थे, तभी नारद पधारे, किन्तु उनका ध्यान नारद की ओर नहीं गया, अतः वे उनका उचित आदर नहीं कर सके। इतने में नारद आगबबूला हो गये और सभा से निकल गये। वे सीधे शिवमन्दिर नगर के राजा दमितारि के पास पहुँचे। राजा ने उठकर उनकी अभ्यर्थना की और बैठने के लिये उच्चासन दिया। इधर-उधर की बातचीत होने के अनन्तर नारद ने उन नृत्यकारिणियों का जिक्र छेड़ा और कहा—महाराज! वे तो ऐसी रत्न हैं, जो केवल आपकी सभा में ही शोभा पा सकती हैं। उनके कारण आपकी सभा की भी शोभा बढ़ेगी।

नारद तो चिनगारी छोड़कर चले गये। दमितारि का प्रभाव आधे देश पर था। वह प्रतिनारायण का ऐश्वर्य भोग रहा था। उसने दूत भेजकर दोनों भाइयों को आदेश दिया—तुम लोग अपनी नर्तकियों को दूत के साथ हमारे पास भेज दो।

राजा अपराजित ने दूत को सम्मानपूर्वक ठहराया और मंत्रियों से परामर्श किया। फलतः वे दोनों भाई नर्तकियों का वेष धारण करके दूत के साथ दमितारि की सभा में पहुँचे। वहाँ उन्होंने जो कलापूर्ण नृत्य दिखाया तो दमितारि बोला—‘तुम हमारी पुत्रों को नृत्यकला सिखला दो।’ उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया। वे राजपुत्री कनक श्री को नृत्यकला सिखाने लगे। वही कनकश्री और अनन्तवीर्य का प्रेम हो गया। एक दिन दोनों भाई राजपुत्री को लेकर आकाश-मार्ग से चल दिये। जब अन्तपुर के कचुकी ने यह दुसवाद महाराज दमितारि को सुनाया तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेना लेकर युद्ध करने चल दिया। मार्ग में ही दमितारि का दोनों भाइयों के साथ भयानक युद्ध हुआ। अपराजित सेना के साथ युद्ध करने लगा और अनन्तवीर्य दमितारि के साथ। अनन्तवीर्य के प्रहारों से त्रस्त होकर दमितारि ने उस पर चक्र फेंका। किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर उसके कन्धे पर ठहर गया। तब अनन्तवीर्य ने उसी चक्र से दमितारि का वध कर दिया। पश्चात् सभी विद्याधरों को जीतकर अपराजित ने बलभद्र पद धारण किया और अनन्तवीर्य ने नारायण पद। वे दोनों आनन्दपूर्वक बहुत काल तक राज्य-सुख का भोग करते रहे।

अनन्तवीर्य की मृत्यु होने पर अपराजित बहुत शोक करता रहा। फिर पुत्र को राज्य सौंपकर सम्पूर्ण आभ्यन्तर-वाह्य आरम्भ परिग्रह का त्याग कर सयम धारण कर लिया और समाधिमरण कर अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हुआ। अनन्तवीर्य का जीव नरक और मनुष्यगति में जन्म लेकर अच्युत स्वर्ग का प्रतीन्द्र हुआ।

अच्युतेन्द्र आयु पूर्ण होने पर पूर्व विदेह क्षेत्र के रत्नसचयपुर में राजा क्षेभकर की कनकचित्रा नाम की रानी से वज्रायुध नामक पुत्र हुआ। उसके उत्पन्न होने पर सभी को महान् हर्ष हुआ। ज्यों ज्यों वह बड़ा होता गया, उसके गुणों का सौरभ और यश चारों ओर फैलने लगा। तरुण होने पर पिता ने उसको युवराज बना दिया। अब वज्रायुध राज्य-लक्ष्मी और लक्ष्मीमती नामक स्त्री का आनन्दपूर्वक भोग करने लगा। उन दोनों से प्रतीन्द्र का जीव सहस्रायुध नामक पुत्र हुआ।

वज्रायुध अष्टांग सम्यग्दर्शन का निरतिचार पालन करता था। वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि था। एक दिन ऐशान स्वर्ग के इन्द्र ने धर्म-प्रेम के कारण वज्रायुध के सम्यग्दर्शन की निष्ठा की प्रशंसा की। इस प्रशंसा को विचित्र-

चूल नामक देव सहन नहीं कर सका और वह वज्रायुध की परीक्षा करने चल दिया। आकर उसने वज्रायुध से नाना भाँति के प्रश्न किये, किन्तु वज्रायुध ने आत्म-श्रद्धा के साथ देव को उत्तर दिये। उससे वह न केवल निरुत्तर ही हो गया, बल्कि उसे भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। उसने अपना वास्तविक रूप प्रगट कर राजा की पूजा की और अपने आने का उद्देश्य प्रगट कर उनकी बहुत प्रशंसा की।

वज्रायुध के पिता क्षेमकर तीर्थंकर थे। उन्हें राज्य करते हुए बहुत समय बीत गया। तब वे वज्रायुध का राज्याभिषेक करके दीक्षित हो गये और तपस्या करते हुये उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्र और देव उनके ज्ञान कल्याणक के उत्सव में आये और उनकी पूजा की। वे चिरकाल तक विहार करके भव्य जीवों का कल्याण करते रहे।

एक बार वज्रायुध अपनी रानियों के साथ वन-बिहार के लिये गये। वहाँ एक तालाव में वे रानियों के साथ जल-क्रीडा कर रहे थे, तभी किसी दुष्ट विद्याधर ने एक शिला से सरोवर को ढक दिया और वज्रायुध को नागपाश से बाँध लिया। किन्तु वज्रायुध इससे जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने हाथ की हथेली से शिला पर प्रहार किया, जिससे उसके शत शत खण्ड हो गए। वे फिर रानियों के साथ अपने नगर वापिस आ गये।

इसके कुछ काल बाद ही नौ निधियाँ और चौदह रत्न प्रगट हुए। उन्होंने दिग्विजय के लिये अभियान किया और कुछ ही समय में षट् खण्ड पृथ्वी को जीतकर वे चक्रवर्ती बन गए। वे चिरकाल तक भोग भोगते रहे। एक दिन उनके पौत्र मुनिराज कनकशान्ति को केवलज्ञान हो गया। उन्होंने तभी अपने पुत्र सहस्रायुध का राज्याभिषेक करके क्षेमकर भगवान के पास जाकर दीक्षा लेली। दीक्षा लेकर वे सिद्धिगिरि पर्वत पर एक वर्ष का प्रतिमा-योग का नियम लेकर ध्यानलीन हो गये। धीरे-धीरे उनके चरणों के सहारे दीमको ने बमीठे बना लिये और उनमें लताएँ उग आईं जो मुनिराज के शरीर पर चढ़ गईं। दो असुरों ने उनके ऊपर उपद्रव करने का प्रयत्न किया किन्तु रम्भा और तिलोत्तमा नामक दो देवियों ने उन्हें भगा दिया। फिर उन्होंने मुनिराज की पूजा की।

कुछ समय पश्चात् सहस्रायुध ने भी दीक्षा लेली और प्रतिमायोग का काल पूर्ण होने पर वे भी मुनिराज वज्रायुध के पास आ गये। दोनों ने वैभार पर्वत पर जाकर तपस्या की और सन्यासमरण कर वे दोनों ऊर्ध्व ग्रंथेयक के सौमनस विमान में अर्हामिद्र हुए।

पूर्व विदेह क्षत्र में पुष्कलावती देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी थी। उस नगरी के शासक धनरथ थे। वज्रायुध का जीव ग्रंथेयक में आयु पूर्ण होने पर महाराज धनरथ की बड़ी रानी मनोहरा से मेघरथ नामक पुत्र पैदा हुआ और सहस्रायुध का जीव महाराज की दूसरी रानी मनोहरा से दूढरथ नामक पुत्र हुआ। दोनों पुत्रों की ज्यो ज्यो आयु बढ़ती गई, त्यो त्यो उनके गुणों में भी वृद्धि होती गई। जब वे पूर्ण युवा हो गये, तब पिता ने दोनों के विवाह कर दिये। मेघरथ को जन्म से ही अवधिज्ञान था और पिता तीर्थंकर थे। एक दिन महाराज धनरथ को ससार के सुखों से विरक्ति हो गई। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर स्वर्गीय पुष्पो से उनकी पूजा की और उनके विचारों की सराहना करके देव-लोक को चले गये। तब महाराज धनरथ ने मेघरथ का राज्याभिषेक करके स्वयं समय धारण कर लिया। तपस्या करते हुए उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने आकर बड़े वैभव के साथ उनकी पूजा की। भगवान धनरथ विभिन्न देशों में विहार करते हुए उपदेश देने लगे।

एक दिन मेघरथ अपनी रानियों के साथ देवरमण उद्यान में विहार के लिये गये। वे वहाँ चन्द्रकांत मणि की शिला पर बैठे विश्राम कर रहे थे। तभी उनके ऊपर से एक विद्याधर विमान में जा रहा था। किन्तु विमान रुक गया। इससे विद्याधर बड़ा कुपित हुआ। वह नीचे उतर कर आया। वह क्रोध के मारे उस शिलातल को उठाने के लिये प्रयत्न करने लगा। मेघरथ ने यह देखकर अपने पैर के अंगूठे से उस शिला को दबा दिया। इससे विद्याधर बुरी तरह उसके नीचे दब गया और करुण स्वर में चिल्लाने लगा। तब उसकी स्त्री आकर दीनतापूर्वक पति के प्राणों की भिक्षा मागने लगी। मेघरथ उसकी विनय से द्रवित हो गये और अपना पैर उठा लिया। तब उस विद्याधर राजा सिंहरथ ने मेघरथ की पूजा की।

एक दिन महाराज मेघरथ उपवास का नियम लेकर आष्टान्हिक पूजा के पश्चात् उपदेश दे रहे थे। तभी

एक भयाक्रान्त कबूतर उड़ता हुआ आया और उनकी गोद में बैठ गया। उसके पीछे एक गोध आया और खड़ा होकर बोला—महाराज मैं क्षुधा से पीड़ित हूँ। यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। यह मुझे दे दोजिये, अन्यथा मेरी मृत्यु निश्चित है।

मेघरथ ने जान लिया कि गोध नहीं बोल रहा है, बल्कि यह ज्योतिष्क देव बोल रहा है। गोध को बोलता देखकर दृढरथ को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—‘आर्य ! यह गोध इस प्रकार कैसे बोल रहा है ?’ तब मेघरथ कहने लगे—वस्तुतः कबूतर और गोध तो पक्षी ही है किन्तु गोध के ऊपर एक देव स्थित है। वह बोल रहा है। यह एक ज्योतिष्क देव है। वह एक दिन ऐशान स्वर्ग में गया था। वहाँ सभासद देव कह रहे थे कि इस समय पृथ्वी पर मेघरथ से बढ़कर दूसरा दाता नहीं है। मेरी प्रशंसा सुनकर इस देव को सहन नहीं हुई, अतः वह मेरी परीक्षा करने आया है। किन्तु जो मोक्ष मार्ग में स्थित है, वही पात्र है, वही दाता है। मांस देने योग्य पदार्थ नहीं है और मांस की इच्छा करने वाला पात्र नहीं है और इसका देने वाला दाता नहीं है। इसलिये यह गोध दान का पात्र नहीं है और यह कबूतर शरणागत है, इसलिये यह देने योग्य नहीं है।

मेघरथ की यह धर्मयुक्त बात सुनकर वह ज्योतिष्क देव प्रसन्न हुआ और प्रगट होकर मेघरथ को प्रशंसा करके अपने स्थान को चला गया।

एक दिन मेघरथ अष्टान्हिका पर्व में पूजा करके उपवास धारण कर रात्रि में प्रतिमायोग में ध्यानारूढ थे। तभी ऐशान स्वर्ग में इन्द्र ने प्रशंसा की—राजा मेघरथ सम्यग्दृष्टियों में अग्रगण्य है। वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, धर्मवीर हैं। इन्द्र द्वारा मेघरथ की इस प्रकार प्रशंसा सुनकर अतिरूपा और सुरूपा नाम की दो देवियाँ उनकी परीक्षा के लिये आईं। उन्होंने नाना प्रकार के नृत्य, हावभाव, विलास आदि द्वारा मेघरथ को विचलित करना चाहा, किन्तु असफल रही और उनकी स्तुति कर चली गईं।

किसी दिन भगवान धनरथ नगर के बाहर मनोहर उद्यान में पधारे। मेघरथ उनके दर्शनो के लिये गये। भगवान का उपदेश सुनकर उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग करने का सकल्प किया और अपने छोटे भाई दृढरथ से बोले—मैं दोक्षा लेना चाहता हूँ, तुम राज्य सभालो। दृढरथ बोला—आप जिस कारण से राज्य का परित्याग करना चाहते हैं, मैं उसी कारण से इसे ग्रहण नहीं करना चाहता। राज्य को ग्रहण कर एक दिन छोड़ना ही पड़ेगा तब उसे पहले ही ग्रहण करना अच्छा नहीं है। तब मेघरथ ने अपने पुत्र मेघसेन का राज्याभिषेक करके अपने छोटे भाई और सात हजार राजाओं के साथ भगवान धनरथ के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

वे क्रम से ग्यारह अंग के वेत्ता हो गये और उन्होंने सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे उन्हें सातिशय पुष्प वाली तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप इन चारों आराधनाओं की निरन्तर विशुद्धि बढ़ाते जा रहे थे। अन्त में नभस्तिलक नामक पर्वत पर अपने छोटे भाई दृढरथ के साथ एक माह तक प्रायोपगमन नामक समाधि धारण कर ली। अन्त में शान्त भावों से शरीर छोड़कर अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए। दृढरथ भी अहमिन्द्र बने।

भगवान शान्तिनाथ

हस्तिनापुर नगरी में काश्यप गोत्री महाराज विश्वसेन राज्य करते थे। गान्धार नरेश राजा अर्जितजय की पुत्री एरा उनकी महारानी थी। उनकी सेवा इन्द्र द्वारा भेजी हुई श्री, ह्री, वृत्ति आदि देवियाँ करती थी। भाद्रपद कृष्ण सप्तमी को भरणी नक्षत्र में रात्रि के चतुर्थ भाग में उन्होंने शुभ सोलह स्वप्न देखे। स्वप्नों के बाद उन्होंने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय मेघरथ का जीव अनुत्तर विमान से च्युत होकर महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ। प्रातः काल की भेरी

गर्भ कल्याणक

का शब्द सुनकर महारानी शय्या त्याग कर उठी। उन्होंने मगल स्नान करके वस्त्रालंकार धारण किये और राज-सभा में पहुँची। महाराज ने उनकी अभ्यर्थना की और अपने वाम पार्श्व में सिंहासन पर उन्हें स्थान दिया। महारानी ने रात को देखे हुए स्वप्नों का वर्णन करके महाराज से उन स्वप्नों का फल पूछा। प्रवधिज्ञान के धारक महाराज ने हर्षपूर्वक स्वप्नों का फल बताया और कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में विश्वोद्धारक तीर्थंकर देव का आगमन हुआ है। सुनकर महारानी को बड़ा हर्ष हुआ। उसी समय चारों निकाय के देव और इन्द्र वहाँ आये और गर्भवितार कल्याणक की पूजा की।

पन्द्रह माह तक देवों ने रत्नवृष्टि की। रानी के गर्भ में बालक बड़े अभ्युदय के साथ बढ़ने लगा। नौ माह पूरे होने पर ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन याम्य याग में प्रातःकाल के समय माता ने लोकोत्तर पुत्र को जन्म दिया।

जन्म कल्याणक पुत्र इतना सुन्दर था, मानो साक्षात् कामदेव ही अवतरित हुआ हो। उसका ऐसा मोहन रूप था कि जो देखता, वह उसकी मोहनी में बंधा रह जाता। वह जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान का धारी था। उस पुत्र को पुण्य वर्गणाओं के कारण उसके उत्पन्न होते ही चारों प्रकार की देव जाति में स्वतः ही प्रत्येक देव-विमान और आवास में शखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घण्टानाद होने लगा। उस ध्वनि को सुनते ही प्रत्येक इन्द्र और देव ने जान लिया कि तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ है। सबके हृदय भक्ति और उल्लास से उमगने लगे। सब देव और इन्द्र विविध वाहनों पर आरूढ़ होकर बड़े आनन्द उत्सव के साथ हस्तिनापुर में आये और इन्द्राणी ने माता की बगल में मायामय शिशु बनाकर सुला दिया तथा भगवान को अपने अक में उठा लिया। इन्द्राणी और देवियों के सन्तान नहीं होती, अतः वे नहीं जानती कि पुत्र-वात्सल्य क्या होता है। किन्तु त्रिलोकीनाथ को गोद में लेते ही इन्द्राणी के मन प्राण जिस अलौकिक पुलक से भर उठे, उससे उसके मन का अणु-अणु प्रभु-भक्ति में डूब गया। वह उस दिव्य बालक को लेकर सम्पूर्ण वाह्य को भूल गई, वह यह भी भूल गई कि वह इन्द्राणी है। वह तो प्रभु की भक्ति में इतनी विभोर हो गई कि अपने आपको प्रभु रूप ही देखने लगी। उस समय की उसकी मनोदशा का अकन क्या किसी लेखनी या तूलिका से हो सकता है ?

जब उसे प्रतीक्षारत देवों का ध्यान आया, तब उसे चेत आया। वह बाल प्रभु को लेकर चली, किन्तु दृष्टि प्रभु की सौन्दर्य-वल्लरी का ही रस-पान कर रही थी। वह चल रही है, क्या इसका उसे कुछ पता था। जब सौधमन्द्र ने उसके अक से बालक को ले लिया, तब उसे लगा जैसे वह रीती हो गई है। किन्तु जो रसाच्छन्नता उसके मन को विमोहित किये हुए थी, वही विमोहित दशा बालक को अक में लेते ही इन्द्र की भी हो गई। रूप ही मानो आकार धारण करके बाल रूप में आ गया था। किन्तु इन्द्र विजडित नहीं हुआ। वह तो सहस्र नेत्र बनाकर उस रूप-सुधा को अपने सारे जड चेतन प्राणों से पीने लगा। भक्ति का भी एक नशा होता है। जब यह नशा आता है तो वह सब कुछ भूल जाता है। तब केवल वह रहता है और उसका प्रभु रहता है। भक्त अपनी भक्ति से दोनों के अन्तर को मिटा डालता है। वहाँ द्वेष भाव समाप्त हो जाता है, अभेद भावना भर जाती है। इन्द्र भी तब ऐसी ही स्टेज पर पहुँच गया। मन में हुमक समाये न समायी, वह निकलने को मार्ग ढूँढने लगी। राह मिली पदों में। मन नाच रहा था, पैर नाचने लगे। जगत्प्रभु अक में और इन्द्र लोकातीत लोक में, जहाँ इन्द्र नहीं, प्रभु नहीं, देव नहीं, लोक भी नहीं, जहाँ भावना भी अतीत हो गई, जहाँ केवल शून्य है और शून्य में अधिष्ठित है केवल शुद्ध आत्मा, सिद्ध रूप आत्मा।

इन्द्राणी और इन्द्र भाव लोक की इस कुंवारी धारा में कितने समय बहते रहे, यह समय की पकड़ से परे थी। लेकिन इस धारा में उनके कितनी कर्म-वर्गणायें वह गई, उसका अन्त नहीं, उसकी सख्या भी नहीं।

तब सब देव चले। इन्द्र ने भगवान को ऐरावत हाथी पर अपने अक में ले रखा था। (इन्द्र सोच रहा था—क्या भगवान का स्थान यह है। नहीं, उनका स्थान यह नहीं, यह लोक भी नहीं, उनका स्थान तो इस लोक के अग्र भाग पर है। वही तो बनाना है अपना स्थान इन भगवान को। और मुझे ही क्या इन भगवानों का भार सदा लादे फिरना है। मुझे भी तो यह निस्सार वैभव, इन्द्र का तुच्छ पद और स्वर्ग का कोलाहल त्याग कर मगधवनकर लोक शिखर पर पहुँचना है। वही तो है मेरा वास्तविक स्थान)।

देवों का जलूस सुमेरु पर्वत पर जाकर रुका। कितने देव-देवियाँ थे इस शोभा यात्रा में, क्या उगलियों की सख्या में वे बाधे जा सकते थे। किन्तु सभी प्रभु की भक्ति में डूबे हुए थे। सब अपनी भक्ति अपने ही ढंग से प्रगट कर रहे थे। वह भक्ति सब बन्धनों से, लौकिक शिष्टाचारों से अतीत थी। लेकिन उसमें एक व्यवस्था थी, अनुशासन था और कलात्मकता थी। प्रभु को पाण्डुक पर्वत की रत्नशिला पर विराजमान किया और देव यन्त्र-चालित से सुमेरु से क्षीरसागर तक पत्किवद्ध खड़े हो गये। जलपूरित स्वर्ण कलश एक हाथ से दूसरे हाथों में पहुँचते गये और इन्द्र भगवान का अभिषेक करने लगे। यों प्रभु का एक हजार कलशों से अभिषेक हुआ। इन्द्राणी ने नृवन् के अनन्तर रत्नकवच से भगवान का शरीर पोछा, इन्द्र के भण्डार से लाये हुए वस्त्राभूषणों से उनका शृंगार किया। तब प्रभु की उस काल की मोहक छवि से इन्द्र फिर एक बार भूल गया अपनी सुघ-बुध को। उसके पैर स्वत ही थिरकने लगे, गन्धर्वों ने वाद्य सभाले, देवियों ने इन्द्र के नृत्य की सगत साधी। भक्ति के इस पूर में सब कुछ भूल गये। सबके मन शान्ति, दिव्य शान्ति से भर गये। शान्ति का यह चमत्कारपूर्ण अनुभव था। सौधमन्द्र ने नारा दिया—भगवान शान्तिनाथ की जय। सबने इस नारे को दुहराया। यही था बालक का नामकरण संस्कार। यही नाम फिर लोक-लोकान्तरो में विख्यात हो गया। बालक था त्रिलोकीनाथ, नामकरण करने वाला था स्वर्ग का इन्द्र और साक्षी था सम्पूर्ण देव समाज। नाम रखा गया था बालक के गुण के अनुसार।

देव समाज जिस उल्लास से बालक को ले गया था, उसी उल्लास से वापिस लौटा। आकर माता को इन्द्राणी ने उनकी अमूल्य धरोहर सौपी। इन्द्र ने पिता को सारे समाचार सुनाये। सुनकर माता-पिता बड़े हर्षित हुए (कैसी बिडम्बना है दुनिया वालों की। जो स्वयं तीनों लोक का शृंगार है, उसका शृंगार रत्नाभूषणों से करने हैं और जो स्वयं लोक का रक्षक है, उसकी रक्षा के लिये इन्द्र ने लोकपालों की नियुक्ति की। किन्तु सच बात तो यह है कि भगवान को न शृंगार की आवश्यकता है और न किसी रक्षक की। वह तो इन्द्राणी और इन्द्र की भक्ति थी)।

चक्रवर्ती पद—भगवान शान्तिनाथ के शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनके शरीर में ध्वजा, तोरण, सूर्य, चन्द्र, शख और चक्र आदि शुभ चिह्न थे।

महाराज विश्वसेन की दूसरी रानी यशस्वती के गर्भ से दृढरथ का जीव अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद का भोग करके उत्पन्न हुआ और उसका नाम चक्रायुध रखा गया।

बालक शान्तिनाथ ज्यो-ज्यो आयु में बढ़ते जाते थे, त्यों-त्यों उनकी लक्ष्मी, सरस्वती और कीर्ति भी बढ़ती जाती थी। जब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने सुन्दर, सुशील और गुणवती अनेक कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया और पिता ने अपना राज्य सौंप दिया। राज्य करते हुए जब शान्तिनाथ को कुछ समय हो गया, तब चक्र आदि चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रगट हुईं। उन चौदह रत्नों में से चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये चार आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे। काकिणी, चर्म और चूडामणि श्रीगृह में प्रगट हुए थे। पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर में मिले थे तथा कन्या, गज और अश्व विजयाद्यं पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ इन्द्रों ने नदी और सागर समागम पर लाकर दी थी। चक्र के बल पर और सेनापति के द्वारा उन्होंने भरत क्षेत्र के छोड़ो खडो पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण भरत में चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की। चक्रवर्ती पद को समस्त विभूति उन्हें प्राप्त थी। बत्तीस हजार मुकुटवद्ध राजा उन्हें नमन करते थे। उनके अन्त पुर में छियानव हजार रानियाँ थी। उन्हें दस प्रकार के भोग प्राप्त थे।

चक्रवर्ती पद का भोग करते हुए उन्हें बहुत काल बीत गया। एक दिन वे अलंकार गृह में अलंकार धारण कर रहे थे, तभी उन्हें दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़े। वे विचार करने लगे—यह क्या है। तभी उन्हें अपने पूर्वजन्म की बातें स्मरण हो आईं। ससार का अस्थिर रूप देखकर उनके मन में आत्म-दीक्षा कल्याणक कल्याण की भावना जागृत हुई। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान को नमस्कार किया और उनके वैराग्य की सराहना करते हुए उनसे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन करने की प्रार्थना की। भगवान ने नारायण नामक अपने पुत्र को राज्य-पट्ट बाध कर राज्य उसे सौंप दिया। इन्द्र ने आकर उनका दीक्षा

भिषेक किया। फिर वे देवनिर्मित सर्वाधिंसिद्धि पालकी में बैठकर नगर के बाहर सहस्राभ्र वन में पहुँचे। वहाँ शिला-तल पर उत्तर की ओर मुख करके पर्यकामन से बैठ गये। उगी समय ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन शाम के समय भरणी नक्षत्र में बेला का नियम लेकर सिद्ध भगवान को नमस्कार कर सम्पूर्ण परिग्रह का न्याग किया, पंचमुष्टि लोच किया और निर्ग्रन्थ दिग्म्बर मुद्रा धारण कर सामायिक चारित्र की विधुद्धता और मन पर्यय ज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र ने उनके देशों को एक रत्नमज्जा में रग कर धीरगागर में प्रवाहित कर दिया। उनके साथ चक्रायुध आदि एक हजार राजाओं ने भी सकल समय धारण कर लिया। इन्द्र और देव ऐंसे मयम की भावना करते हुए दीक्षा महोत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

पारणा के लिये भगवान मन्दिरपुर नगर में पहुँचे। वहाँ गुमित्र राजा ने भगवान को प्रासुक आहार दिया। देवों ने इस उपलक्ष्य में पनाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—छद्मस्थ अवस्था के मोरारु वगैरे तक भगवान विभिन्न स्थानों पर रहकर घोर तप करते रहे और निरन्तर कर्मों का क्षय करते गये। फिर भगवान चक्रायुध आदि मुनियों के साथ सहस्राभ्र वन में पधारे और नन्दावतं वृक्ष के नीचे बेला के उपवाम का नियम लेकर ध्यानमग्न हो गये। उनका मुख पूर्व की ओर था। भगवान को पीप धुवला दशमी को भरणी नक्षत्र में सायंकाल के समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म नष्ट होने पर केवलज्ञान प्रगट हुआ। देव और इन्द्रों ने आकर भगवान का ज्ञान कल्याणक मनाया और समवसरण की रचना की। भगवान ने उगी दिन दिव्य ध्वनि द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का संघ—भगवान के साथ में चक्रायुध आदि छत्तीस गणधर थे। ८०० पूर्वधर, ४१८०० शिक्षक, ३००० अग्रधिज्ञानी, ४००० केवलज्ञानी, ६००० विप्रिया ऋद्धिधारी, ४००० मन पर्ययज्ञानी, २४०० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ६२००० थी। हरिपेणा आदि ६०३०० आर्यिका थी। सुरकीर्ति आदि २००००० श्रावक और अर्हदासी आदि ४००००० श्राविकाएँ थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान बहुत समय तक विभिन्न देशों में विहार करके धर्म का प्रकाश सत्तार को देते रहे। जब एक माह की आयु शेष रह गई, तब वे सम्पेदक्षितरूप पर आये और विहार बन्द कर वहाँ योगनिरोध करके विराजमान हो गये। उन्होंने अवशिष्ट वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों का भी क्षय कर दिया और ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन रात्रि के पूर्व भाग में भरणी नक्षत्र में नौ हजार राजाओं के साथ निर्वाण प्राप्त किया। चार प्रकार के देव आये और निर्वाण कल्याणक की पूजा करके अपने-अपने स्थान को चले गये।

जन्म-चिन्ह—भगवान का चिन्ह हरिण था।

यक्ष-यक्षिणी—इनका गरुड यक्ष और महामानसी यक्षिणी थी।

हस्तिनापुर—भगवान की जन्म-नगरी हस्तिनापुर विख्यात जैन तीर्थ है। यही पर सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ, सत्रहवें कुन्धुनाथ और अठारहवें भगवान अरुनाथ का जन्म हुआ था। यही इन तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान के चार कल्याणक हुए। ये तीनों तीर्थंकर पाचवें, छठवें, सातवें चक्रवर्ती भी थे।

अयोध्या की तरह हस्तिनापुर की भी रचना देवों ने की थी। यहाँ ऋषभदेव, मल्लिनाथ, पार्वनाथ, महावीर आदि कई तीर्थंकरों का पदार्पण हुआ था। यही पर भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा के बाद राजकुमार श्रेयास से प्रथम आहार लिया था। जिस दिन भगवान ने आहार लिया था, वह पावन तिथि वैशाख शुक्ला तृतीया थी। भगवान के आहार के कारण यह तिथि भी पवित्र हो गई और अक्षय तृतीया कहलाने लगी। राजकुमार श्रेयास का नाम दान-तीर्थ के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हो गया और सत्तार में दान देने की प्रथा का प्रारम्भ भी इसी घटना के कारण हुआ।

सती सुलोचना श्रेयास के बड़े भाई राजा सोमप्रभ के पुत्र मेघेश्वर जयकुमार की पत्नी थी, जिनके शील की चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। सोमप्रभ से सोमवश या चन्द्रवश चला। जयकुमार प्रथम चक्रवर्ती भरत का प्रधान सेनापति था।

चौथा चक्रवर्ती सनत्कुमार यही हुआ था। इस प्रकार लगातार चार चक्रवर्ती और तीन तीर्थंकर यहाँ हुए।

यही पर बलि आदि मंत्रियों ने सात दिन का राज्य पाकर अकपनाचार्य के सघ के सात सौ मुनियों की बलि देकर यज्ञ-विधान का ढोंग रचा था। तब मुनि विष्णुकुमार ने चामन ब्राह्मण का रूप धरकर बलि से तीन पग धरती की याचना की थी। बलि द्वारा सकल्प करने पर मुनिराज ने विक्रियात्रुद्धि से अपना शरीर बढ़ाकर एक पग सुमेरु पर्वत पर रक्खा। दूसरा पग मानुषोत्तर पर्वत पर रक्खा। अब तीसरे पग लायक भूमि की माग उन्होंने की। सारे लोक में आतंक छा गया। बलि आदि चारों मंत्री भय के मारे कापने लगे। वे मुनि विष्णुकुमार के चरणों में गिरकर क्षमा मागने लगे। तत्काल मुनियों के चारों ओर लगाई हुई आग बुझाई गई। सब लोगों ने मुनियों की पूजा की और साधर्मिवात्सल्य के नाते परस्पर में रक्षा सूत्र बाधा। तबसे इस घटना की स्मृति में रक्षा-बन्धन का महान पर्व प्रचलित हो गया जो श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को उल्लासपूर्वक मनाया जाता है।

यही पर पाण्डव और कौरव हुए थे और राज्य के लिए दोनों पक्षों में महाभारत नामक प्रसिद्ध महायुद्ध हुआ था।

एक बार दमदत्त नामक मुनि उद्यान में विराजमान थे। कौरव उधर से निकले। मुनि को देखते ही वे उन पर पत्थर बरसाने लगे। थोड़ी देर बाद पाण्डव आये। उन्होंने मुनिराज की चरण-बन्दना की और पत्थर हटाये। मुनि तो ध्यानलीन थे। उन्हें उसी समय केवलज्ञान हो गया।

कवि बनारसीदास के 'अर्धकथानक' से ज्ञात होता है कि सन् १६०० में कविवर ने यहाँ की सकुटुम्ब यात्रा की थी। 'अर्धकथानक' से यह भी ज्ञात होता है कि उस काल में भी यहाँ जैन यात्री यात्रा के लिए बराबर आते रहते थे।

वर्तमान मन्दिर का भी बड़ा रोचक इतिहास है। यहाँ पर सन् १८५८ में ज्येष्ठ वदी तेरस को मेला था। इसमें दिल्ली से राजा हरमुखराय, शाहपुर से लाला जयकुमारमल आदि समाजमान्य सज्जन आये थे। सभी लोग चाहते थे कि यहाँ जैन मन्दिर बनना चाहिये। प्राचीन मन्दिर टूट-फूट गये थे। नसियों की हालत खस्ता थी। लोगों ने राजा हरमुखराय से मन्दिर-निर्माण की प्रार्थना की। राजा साहब मुगल बादशाह शाह आलम के खजाची थे और उनका बड़ा प्रभाव था। राजा साहब ने मन्दिर बनाने की स्वीकृति दे दी। लेकिन मन्दिर बनने में कठिनाई यह थी कि शाहपुर के गूजर जैन मन्दिर बनाने का विरोध करते थे। यह इलाका बहसूमे के गूजर नरेश नैनसिंह के अधिकार में था। राजा नैनसिंह के मित्र लाला जयकुमारमल भी वहाँ मौजूद थे। राजा साहब ने उनसे प्रेरणा की कि आप नैनसिंह जी से कह कर काम करा दीजिये। लाला जी ने अवसर देखकर नैनसिंह से मन्दिर की चर्चा छेड़ दी। उसमें राजा साहब का भी जिक्र आया। नैनसिंह जी राजा साहब से कई मामलों में आभार से दबे हुए थे। अतः उन्होंने मजूरी दे दी और मन्दिर का शिलान्यास करने की भी स्वीकृति दे दी।

दूसरे ही दिन सैकड़ों लोगों की उपस्थिति में राजा नैनसिंह ने मन्दिर की नींव में पांच ईंटें अपने हाथ से रक्खी। राजा हरमुखराय के धन श्रे लाला जयकुमारमल की देख-रेख में मन्दिर का निर्माण हुआ। जब मन्दिर का कार्य कुछ बाकी रह गया, तब राजा साहब ने जनता की उपस्थिति में समाज के पंचों से हाथ जोड़कर निवेदन किया—सरदारों! जितनी मेरी शक्ति थी, उतना मैंने कर दिया। मन्दिर आप सबका है। इसलिये इसमें सबको मदद करनी चाहिये।' वहाँ एक घड़ा रख दिया गया। सबने उसमें अपनी शक्ति के अनुसार दान डाला। लेकिन जो धन उससे सग्रह हुआ, वह बहुत कम था। राजा साहब का उद्देश्य इतना ही था कि मन्दिर पचायतो रहे और वे अहंकार में ग्रस्त न हो जायें।

सन् १८६३ में राजा साहब ने कलशारोहण और वेदी प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न कराया। सन् १८६७ में लाला जयकुमारमल ने मन्दिर का विशाल द्वार बनवाया। मन्दिर के चारों ओर पांच विशाल घर्मशालायें हैं।

सन् १८५७ में गदर के समय गूजरो ने इस मन्दिर को लूट लिया। वे लोग मूलनायक पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी उठा ले गये। बाद में फिर एक बार मन्दिर को लूटा। नया मन्दिर दिल्ली से भगवान शान्तिनाथ की

प्रतिमा ले जाकर मूल नायक के रूप में विराजमान कर दी गई। उसके कारण यह शान्तिनाथ का मन्दिर कहा जाने लगा।

इस मन्दिर के पीछे एक मन्दिर और है। मन्दिर में तीन मील की दूरी पर नशियाँ बनी हुई हैं। तागे मिलते हैं। रास्ता कच्चा है। सबसे पहले भगवान शान्तिनाथ की नशियाँ हैं। उसमें भगवान के चरण-चिन्ह हैं। फिर कुछ दूर जाने पर एक कम्पाण्ड में अरुनाथ और कुन्धुनाथ की नशियाँ हैं। इन दोनों में भी चरण-चिन्ह बने हुए हैं। इनमें आगे एक कम्पाण्ड में भगवान मल्लिनाथ की टोक है।

अष्टादश परिच्छेद

भगवान कुन्थुनाथ

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिणी तट पर वत्स नामक देश था। उसकी सुसीमा नगरी में राजा सिंहरथ राज्य करता था। उसने अपने पराक्रम से समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी और निष्कण्टक राज्य कर रहा था। एक दिन उसने उल्कापात होते हुए देखा। उसे देखकर उसके मन में ससार के भोगों की क्षणभंगुरता की ओर दृष्टि गई और उसने भोगों को निस्सार समझकर उन्हें छोड़ने का सकल्प कर लिया। वह राजपाट, परिवार का त्यागकर मुनि यति-वृषभ के समीप गया और उन्हें नमस्कार कर सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दिया। उनके साथ अनेक राजाओं ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। मुनि सिंहरथ गुरु के समीप रहकर घोर तपस्या करने लगे। उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करने लगे। फलतः उन्हें तीर्थङ्कर नामकर्म की पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में समाधिमरण कर सर्वार्थ सिद्धि अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए।

पूर्व भव

हस्तिनापुर नगर के कौरववंशी काश्यपगोत्री श्री महाराज सूरसेन थे। उनकी महारानी का नाम श्रीकाता था। महारानी ने भावण कृष्णा दसमों के दिन कृतिका नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब सर्वार्थसिद्धि के उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, सोलह शुभ स्वप्न देखे और बाद में मुख में प्रवेश गर्भ कल्याणक हुआ हाथी देखा। तभी अहमिन्द्र का वह जीव महारानी के गर्भ में अवतर्ण हुआ। प्रातः पल बन्दीजनों के मंगलगान से महारानी को नींद खुली। स्वप्नों के प्रभाव से महारानी के मन में बड़ा उल्लास था। उन्होंने नित्य कार्य कर स्नान किया, मांगलिक वस्त्राभूषण पहने और दासियों से परिवेष्टित होकर राजसभा में पधारी। उन्होंने महाराज की यथायोग्य विनय की। महाराज ने उन्हें बड़े आदरसहित वाम पार्श्व में स्थान दिया। महारानी ने महाराज से अपने स्वप्नों की चर्चा करके उनके फल पूछे। महाराज ने अवधिज्ञान से जानकर उनका फल बताया। फल सुनकर महारानी का मन हर्ष से भर गया। तभी देवों ने आकर महाराज सूरसेन और महारानी श्रीकाता का गर्भ कल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया और पूजा की।

नौ मास व्यतीत होने पर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन आग्नेय योग में महारानी ने पुत्र प्रसव किया। उस समय इन्द्र और देव आये और बालक को लेकर सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ क्षीरसागर के जल से उस दिव्य बालक का अभिषेक किया, उसका दिव्य वस्त्रालकारों से शृंगार किया। इन्द्र ने बालक का नाम कुन्थुनाथ रक्खा। उसके चरण में बकरे का चिन्ह था, जिस पर इन्द्र की सवप्रथम दृष्टि पड़ी। इसलिये उस बालक का साकेतिक चिन्ह बकरा माना गया। फिर इन्द्र और देव बालक को वापिस लाये और उसे माता-पिता को सोपकर आनन्दोत्सव किया। पिता ने भी नगरी में धूमधाम के साथ बालक का जन्मोत्सव मनाया। देव लोग उत्सव मनाकर अपने अपने स्थान पर चले गये।

शान्तिनाथ तीर्थङ्कर के मोक्ष जाने के बाद जब आधा पल्य बीत गया, तब कुन्थुनाथ भगवान का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी काल में सम्मिलित थी। उनकी आयु पचानव हजार वर्ष थी। उनका शरीर पेंतीस घनुष उन्नत था। सुवर्ण के समान उनके शरीर की कांति थी। जब तेईस हजार सात सौ दीक्षा कल्याणक पचास वर्ष कुमारकाल के व्यतीत हो गए, तब पिता ने उनका राज्याभिषेक और योग्य कन्याओं

के साथ उनका विवाह कर दिया। राज्य करते हुए इतना ही काल व्यतीत हो गया, तब उनकी आयुधशाला में चक्र आदि शस्त्र तथा चक्रवर्ती पद के योग्य अन्य रत्न और सामग्री प्राप्त हुई। उन्होंने विशाल मेना लेकर भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। सारे भरत क्षेत्र के बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके आज्ञानुवर्ती थे। उन्हें समस्त सांसारिक भोग उपलब्ध थे। भोग भोगते हुए और साम्राज्य लक्ष्मी का भोग करते हुए उन्हें तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष बीत गये। वे तीर्थंकर थे, चक्रवर्ती थे और कामदेव थे। उनका रूप, वैभव, और पुण्य असाधारण था। कोई ऐसा सांसारिक सुख नहीं था, जो उन्हें अप्राप्त था।

एक दिन वे वन विहार के लिये गये। मंत्री उनके साथ थे। उन्होंने देखा—एक निर्ग्रन्थ दिग्म्बर मुनि आतापन योग से स्थित है। उन्होंने उनकी ओर सकेत करके मंत्री से उनकी प्रशंसा की—‘देखो मंत्रीवर! ये मुनि कितना घोर तप कर रहे हैं।’ मंत्री ने नतमस्तक होकर मुनिराज की वन्दना की और प्रभु से पूछा—‘देव! इतना कठिन तप करके इनको क्या फल मिलेगा?’ प्रभु बोले—‘ये मुनि कर्मों को नष्ट करके इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे। जो परिग्रह और आरम्भ का त्याग करते हैं, वे ही ससार के परिभ्रमण में मुक्ति प्राप्त करते हैं। ससार-भ्रमण का कारण यह आरम्भ-परिग्रह ही है।’

वस्तुतः भगवान ने मंत्री को जो कुछ कहा था, वह उपदेश मात्र नहीं था, अपितु भगवान के सतत चिन्तन की उस दिशा का सकेत था, जो सांसारिक भोग भोगते हुए भी वे सांसारिक भोगों की व्यर्थता, ससार के स्वरूप और आत्मा के त्रिकाली स्वभाव के सम्बन्ध में निरन्तर किया करते थे। वास्तव में वे भोगों में कभी लिप्त नहीं हुए। वे भोगों का नहीं, भोग्य कर्मों का भोग कर रहे थे और चिन्तन द्वारा भोग-काल को अल्प कर रहे थे। एक दिन इस चिन्तन के क्रम में उन्हें अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। इससे उन्हें आत्मज्ञान हो गया। चिन्तन के फलस्वरूप उन्हें भोगों से अरुचि हो गई और उन्होंने दीक्षा लेने का निश्चय किया। लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की वन्दना की और निवेदन किया—‘धन्य है प्रभु आपके निश्चय को। अब आप धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये। ससार के दुखी प्राणी आपकी ओर आशा भरी निगाहों से निहार रहे हैं।’

भगवान ने अपने पुत्र को राज्य का भार सोप दिया। देवताओं ने शिविका लाकर उपस्थित की और प्रभु उस विजया पालकी में बैठकर नगर के बाहर सहेतुक वन में पहुँचे और वहाँ अपने जन्म-दिन—वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृत्तिका नक्षत्र में सायंकाल के समय वेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ उन्होंने सम्पूर्ण पापों का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण कर ली। उसी समय उन्हें मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु हस्तिनापुर नगर में पवारे। वहाँ राजा धर्ममित्र ने आहार देकर प्रभु का पारणा कराया। देवों ने पचाश्चर्य किये।

विविध प्रकार के घोर तप करते हुए भगवान ने छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष बिताये। फिर विहार करते हुए वे दीक्षा-वन में पवारे। वहाँ तिलक वृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर विराजमान हो गये। वही चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन सायंकाल के समय कृत्तिका नक्षत्र में मोह का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तभी हर्ष और भाव-भक्ति से युक्त देव और इन्द्र आये। कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें गन्धकुटी में अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान ने धर्म का स्वरूप देवों, मनुष्यों और तिर्यचो को सुनाकर धर्म-तीर्थ की स्थापना की और तीर्थंकर पद की सार्थकता की।

भगवान का संघ—भगवान ने चतुर्विध सघ की स्थापना की। उस सघ में स्वयम्भू आदि पैंतीस गणधर थे। ७०० मुनि पूर्व के ज्ञाता थे। ४३१५० शिक्षक, २५०० अवधिज्ञानधारी, ३२०० केवलज्ञानी, ५१०० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ३३०० मन पर्ययज्ञानी और २०५० सर्वश्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार ६०००० मुनि उनके सघ में थे।

भाविता आदि ६०३५० आर्यिकायें थीं । ३००००० श्राविकायें थीं और २००००० श्रावक थे । असख्यात देव-देवियाँ और सख्यात तिर्यंच थे ।

परिनिर्वाण—भगवान धर्मोपदेश करते हुए अनेक देशों में धर्म विहार करते रहे । जब उनकी आयु में एक मास शेष रह गया तो भगवान सम्मेदशिखर पधारे । वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्व भाग में कृत्तिका नक्षत्र का उदय रहते हुए समस्त कर्मों का नाश कर सिद्ध बुद्ध मुक्त हो गये ।

यक्ष-यक्षिणी—आपका सेवक गन्धर्व यक्ष और जया यक्षिणी थीं ।



एकोनविंशति परिच्छेद

भगवान अरनाथ

जम्बूद्वीप मे सीतानदी के उत्तर तट पर कच्छ नामक देग था। उसमे क्षेमपुर नगर था, जिसका अधिपति धनपति नामक राजा था। वह प्रजा का रक्षक था, प्रजा उमे हृदय से प्रेम करती थी। उसके राज्य मे राजा और प्रजा सब लोग अपनी-अपनी वृत्ति के अनुमार त्रिवर्ग का सेवन करते थे, अत धर्म की परम्परा निर्वाध रूप से चल रही थी। एक दिन राजा भगवान अर्हन्मन्दन तीर्थकर के दर्शनो के लिए गया और उनका उपदेश सुनकर उसके मन मे आत्म-कल्याण की भावना जागृत हुई। उसने अपना राज्य अपने पुत्र को दे दिया और भगवान के निकट जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। वह भगवान के चरणो मे रहकर तप करने लगा तथा शीघ्र ही ग्यारह अंग का पारगामी हो गया। वह निरन्तर सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करता था। फलत उसे तीर्थकर नामक सातिशय पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त मे प्रायोपगमन मरण करके जयन्त नामक अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

कुरुजागल देश के हस्तिनापुर नगर मे सोमवश के भूषण काश्यप गोत्री महाराज सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी महारानी मित्रसेना थी। जब उस अहमिन्द्र की आयु मे छह माह शेष थे, तभी से महाराज के महलो मे रत्न-चर्पा होने लगी। जब अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, तभी महारानी ने फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन रेवती नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे तीर्थकर जन्म के सूचक सोलह स्वप्न देखे तथा स्वप्नो के अन्त मे उसने मुख मे एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा। तभी अहमिन्द्र का जीव स्वर्ग से चयकर महारानी के गर्भ मे आया। प्रात काल होने पर महारानी स्नानादि से निवृत्त होकर शृंगार करके महाराज के निकट पहुँची और महाराज के वाम पार्श्व मे आसन ग्रहण करके उन्होने रात मे देखे हुए अपने स्वप्नो की चर्चा उनसे की तथा उनसे स्वप्नो का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में जगत का कल्याण करने वाले तीर्थकर भगवान अवतरित हुए हैं। फल सुनकर माता को अपार हर्ष हुआ। तभी देवो ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

नौ माह व्यतीत होने पर महारानी मित्रसेना ने मगसिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन पुण्य नक्षत्र मे एक हजार आठ लक्षणो से सुशोभित और तीन ज्ञान का धारी पुत्र उत्पन्न किया। उनके जन्म से तीनो लोको के जीवो को शान्ति का अनुभव हुआ था। उस असाधारण पुण्य के स्वामी पुत्र के जन्म लेते ही चारो प्रकार के देव और इन्द्र अपनी-अपनी देवियो और इन्द्राणियो के साथ तीर्थकर बालक का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाने वहाँ आये। वे पुत्र को सुमेरु पर्वत पर ले गये और वहाँ क्षीरसागर के जल से परिपूर्ण स्वर्ण कलशो से उन्होने बालक का अभिषेक करके महान उत्सव किया। उत्सव मनाकर वे लोग पुन हस्तिनापुर आये। इन्द्राणी ने बालक को माता को सोपा। इन्द्र ने माता-पिता से देवो द्वारा मनाये गये उत्सव के समाचार सुनाये। सुनकर माता-पिता अत्यन्त हर्षित हुए। फिर उन्होने पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया। सौधमेन्द्र ने बालक का नामकरण किया और उसका नाम अरनाथ रक्खा। बालक के एक हजार आठ लक्षणो मे से पैर मे बने हुए मीन चिन्ह पर अभिषेक के समय इन्द्र की दृष्टि सबसे पहले पडी थी। इसलिए अरनाथ का लाक्षणिक चिन्ह 'मीन' ही माना गया। भगवान के शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान था।

भगवान् कुन्थुनाथ के मोक्ष जाने के बाद जब एक हजार करोड़ वर्ष कम पत्य का चतुर्थ भाग बीत गया, तब अरनाथ भगवान् का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी काल में सम्मिलित थी। उनकी आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। तीस घनुष ऊँचा उनका शरीर था। कामदेव के समान उनका रूप था। ऐसा लगता था, मानो सौन्दर्य की समग्र सचित निधि से ही उनके शरीर की रचना हुई हो।

प्रभु धीरे-धीरे जीवन की ओर बढ़ रहे थे। जब उनकी कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत गये, तब पिता ने उन्हें राज्य सौंप दिया। उनका विवाह अनेक सुलक्षणा सुन्दर कन्याओं के साथ कर दिया। वे इक्कीस हजार वर्ष तक मण्डलेश्वर राजा के रूप में शासन करते रहे। तब उन्हें नौ निधियाँ और चौदह रत्न दीक्षा कल्याणक मिले। उन्होंने सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया। उन्हें चक्रवर्ती-पद के योग्य सम्पूर्ण वैभव प्राप्त था। इस प्रकार भोग-भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया अर्थात् जब अट्ठाईस हजार वर्ष की आयु बाकी थी, तब उन्होंने एक दिन देखा—शरदऋतु के बादल आकाश में इधर-उधर तैरते डोल रहे हैं। वे प्रकृति के इस सलौने रूप को निहार रहे थे कि देखते-देखते बादलों का नाम तक न रहा, वे अकस्मात् ही अदृश्य हो गये। इस दृश्य का भगवान् के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और इस दृश्य से उन्हें जीवन की वास्तविकता का अन्तर्बोध हुआ। उन्होंने तभी निश्चय कर लिया कि अब इस जीवन का एक भी अमूल्य क्षण भोगों में व्यय नहीं करना है, अभी तो आत्म-कल्याण करना है और जीवन क्षण पल बनकर छीजता जा रहा है। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर उनके सद्विचारों का समर्थन किया और जगत्कल्याण के लिए तीर्थ-प्रवर्तन का अनुरोध करके वे अपने स्वर्ग को लौट गये। भगवान् ने फिर जरा भी विलम्ब नहीं लगाया। उन्होंने अपने पुत्र अरविन्द कुमार को राज्य सौंप दिया और देवों द्वारा उठायी हुई वैजयन्ती नामक पालकी में बैठकर सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ बेला का नियम लेकर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में सन्ध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा धारण करते ही वे चार ज्ञान के धारी हो गये। देवों ने भगवान् का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया।

भगवान् पारणा के लिए चक्रपुर नगर में पधारे। वहाँ राजा अपराजित ने भगवान् को प्रासुक आहार देकर अक्षय पुण्य सचय किया। देवों ने पचाश्चर्य किये। आहार लेकर भगवान् विहार कर गये और तपस्या करने लगे।

भगवान् नाना प्रकार के कठिन तप करते हुए विहार करते हुए दीक्षा वन में पधारे और एक आश्रवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर पद्मासन मुद्रा में ध्यानारूढ हो गये। वे शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मों का उन्मूलन करने लगे। वे अग्रमत्त दशा में आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में पहुँचकर क्षपक श्रेणी में केवलज्ञान कल्याणक आरोहण करके बारहवें गुणस्थान में पहुँचे। बारहवें गुणस्थान के प्रारम्भिक भाग में उन्होंने मोहनीय कर्म का नाश कर दिया और उसके उपान्त्य समय में उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश किया। इस प्रकार उन्हें कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र में सायंकाल के समय अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य नामक चार क्षायिक गुण प्रगट हुए। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। तीर्थकर नाम कर्म के उदय से उन्हें अष्ट प्रातिहार्य की प्राप्ति हुई। देवों ने आकर भगवान् के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की और देवों द्वारा निमित्त समवसरण सभा में देवों, मानवों और तिर्यचों को उन्होंने अपना प्रथम उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनेक मनुष्यों ने सकल सयम धारण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यचों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

भगवान् का परिकर—भगवान् ने चतुर्विध सध की पुन स्थापना की। उनके सध में कुम्भार्य आदि तीस गणधर थे, ६१० ग्यारह अ ग चौदह पूर्व के वेत्ता थे, ३५८३५ सूक्ष्म बुद्धि के धारक शिक्षक थे, २८०० अवधिज्ञानी थे, २८०० केवलज्ञानी थे, ४३०० विक्रिया ऋद्धिधारी थे, २०५५ मन पर्ययज्ञानी थे, १६०० श्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की सख्या ५०००० थी, यक्षिला आदि ६०००० अजिकाये थी। १६००० श्रावक और ३०००० श्राविकायें थी। असख्यात देव और सख्यात तिर्यच उनके भक्त थे।

निर्वाण कल्याणक—भगवान बहुत समय तक अनेक देशों में विहार करते हुए घर्मोपदेश द्वारा अनेक जीवों का कल्याण करते रहे। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब उन्होंने सम्मेद शिखर पर जाकर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और योग निरोध करके चंद्र कृष्ण अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्व भाग में अघातिया कर्मों का नाश करके निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय इन्द्रो ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की और स्तुति की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान अरनाथ का सेवक महेन्द्र यक्ष और सेविका विजया यक्षी थी।



सुभौम चक्रवर्ती

भरत क्षेत्र में भूपाल नाम का एक राजा था। एक बार शत्रुओं ने राजा भूपाल के राज्य पर आक्रमण कर दिया। भयानक युद्ध हुआ। युद्ध में भूपाल हार गया। अपनी पराजय से वह इतना खिन्न हुआ कि उसने ससार से विरक्त होकर सम्भूत नामक मुनिराज के समीप मुनि-दीक्षा ले ली और घोर तप करने लगा। किन्तु उसके मन से पराजय की शल्य निकल नहीं सकी और उसने कषायवश यह निदान किया कि अगर मेरे तप का कुछ फल हो तो मैं आगामी भव में चक्रवर्ती बनूँ। मिथ्यात्ववश उसने ऐसा निन्द्य विचार किया। वह तप करता रहा किन्तु उसका यह तप मिथ्या तप था। आयु के अन्त में वह समाधिमरण करके महाशुक्र स्वर्ग में ऋद्धिधारी देव बना। वह सोलह सागर तक स्वर्ग के सुखों का सानन्द भोग करता रहा।

परशुराम का जन्म—कोशल देश की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवशी राजा सहस्रबाहु राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम चित्रमती था। चित्रमती कान्यकुब्ज नरेश पारत की पुत्री थी। रानी के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कूलवीर रखा गया।

राजा सहस्रबाहु के काका शतविन्दु की स्त्री का नाम श्रीमती था। श्रीमती राजा पारत की बहन थी। उनके जमदग्नि नामक एक पुत्र था। पुत्र उत्पन्न होने के कुछ समय बाद ही श्रीमती का देहान्त हो गया। जमदग्नि जब बड़ा हुआ तो उसे माँ का अभाव खटकने लगा। वह बहुत दुखी रहने लगा। इसलिये विरक्त होकर वह तापस बन गया और तप करने लगा। उसके सिर पर जटाओं का गुल्म बन गया और मुख दाढ़ी मूँछ से भर गया।

दो देव, जिनमें एक सम्यग्दृष्टि था और दूसरा मिथ्यादृष्टि, तापस जनो की परीक्षा लेने के लिये चिडा-चिडिया का रूप बना कर आये। जमदग्नि ऋषि समाधि में लीन थे। अवसर देखकर चिडा-चिडिया ने ऋषि की दाढ़ी से ही बसेरा कर लिया। कुछ समय बाद चिडा बना हुआ सम्यग्दृष्टि देव चिडिया से बोला—'प्रिये! मैं दूसरे वन में जाता हूँ। जब तक मैं वापिस न आऊँ, तब तक तुम यही पर रहना।' चिडिया बोली—'मुझे तेरा विश्वास नहीं है। यदि तुझे जाना है तो सौगन्ध देजा।' चिडा बोला—'अच्छी बात है। लेकिन क्या सौगन्ध दूँ?' चिडिया बोली—'तू यह सौगन्ध दे कि यदि मैं न आऊँ तो इस तापस की गति को प्राप्त होऊँ।'

ऋषि इस वार्तालाप को सुन कर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होंने चिडा-चिडिया को हाथों में पकड़ लिया और बोले—'घोर तप के फलस्वरूप मुझे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने वाली है, तुमने उस लोक का तिरस्कार क्यों किया?' चिडा बोला—'हम क्षुद्र प्राणी हैं, आप हम पर क्रोध न करें। किन्तु आपने क्या कभी यह विचार भी किया है कि इतनी घोर तपस्या के पश्चात् भी आपको अच्छी गति मिलने वाली नहीं है। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' यह ऋषि-वाक्य है अर्थात् पुत्रहीन को सद्गति नहीं मिलती। आप तो जन्म से ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहे हैं। आपके कोई सन्तान तो होगी नहीं, फिर आप सद्गति की आशा कैसे कर रहे हैं?'

चिडा के वचन सुनकर जमदग्नि ऋषि सोच में पड़ गये—'निश्चय ही ये पक्षी ठीक कहते हैं। ये तो मेरे उपकारी हैं। मुझे विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिये।' यह विचार कर उन्होंने पक्षियों को मुक्त कर दिया और वे कान्यकुब्ज नरेश पारत के यहाँ पहुँचे। पारत ने अपने भानजे के लक्षण देखे तो उसे सन्देह हुआ। उसने ऋषि से आने का प्रयोजन पूछा। ऋषि ने स्पष्ट वता दिया कि मैं विवाह करना चाहता हूँ। राजा पारत बोले—मेरे सौ पुत्रियाँ हैं। उनमें से तुम्हें जो स्वीकार करे, उसका विवाह तुम्हारे साथ कर दूँगा। जमदग्नि कन्याओं के पास गया। किन्तु उसकी तपोदग्ध भयकर आकृति को देखकर कन्याएँ या तो भाग गई या फिर भय के मारे सज्ञाहीन हो गईं। केवल एक छोटी कन्या कुतूहलवश खड़ी देखती रही। जमदग्नि राजा की आज्ञा से उसे लेकर चल दिये और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। उस कन्या का नाम रेणुका था।

यथासमय उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए—इन्द्र और श्वेतराम। दोनों ही सुलक्षण, रूपवान् और वीर थे।

एक दिन जमदग्नि के आश्रम में अरिंजय नामक मुनि आये। वे रेणुका के बड़े भाई थे। रेणुका ने मुनि की वन्दना की। मुनि ने उसे उपदेश दिया, जिससे रेणुका ने सम्यग्दर्शन धारण किया। मुनि ने चलते समय कामधेनु नामक विद्या और मन्त्रपूत फरशा दिया और वहाँ से चले गये।

कुछ दिन पश्चात् अपने पुत्र कृतवीर के साथ राजा सहस्रबाहु जमदग्नि के आश्रम में आया। जमदग्नि ने अपने चचेरे भाई से भोजन का आग्रह किया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। जमदग्नि ने अभ्यागतों को सुस्वादु भोजन कराया। भोजन करके कृतवीर ने अपनी मौसी रेणुका से पूछा—'ऐसा सुस्वादु षट्स व्यजन तो राजाओं को भी दुर्लभ है। फिर वन में रहने वाले आप लोगो ने ऐसी दुर्लभ सामग्री कहाँ से प्राप्त की।' रेणुका ने सरलता-वश कामधेनु विद्या की प्राप्ति की सब बात उसे बता दी। सुनकर कृतवीर बोला—'ससार में श्रेष्ठ वस्तु राजा की होती है।' यह कहकर वह जबर्दस्ती कामधेनु लेकर जाने लगा। तब जमदग्नि ऋषि उसे रोकने के लिये रास्ता रोक कर खड़े हो गये। कृतवीर ने क्रोध में भरकर जमदग्नि को मार दिया और अपने नगर की ओर चला गया।

पति की मृत्यु से रेणुका शोकाकुल होकर विलाप करने लगी।

परशुराम द्वारा सहस्रबाहु का सहार—जब दोनों पुत्र वन से कन्दमूल फल लेकर लौटे तो माता का रुदन सुनकर वे बड़े दुःखित हुए। पूछने पर उन्हें सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ। सब बात सुनकर उन्हें भयकर क्रोध आया। माता को सान्त्वना देकर फरशा लेकर दोनों भाई मुनिकुमारों को साथ लेकर वहाँ से चल दिये और वे अयोध्या नगरी में पहुँचे। वहाँ उनका राजा के साथ भयानक युद्ध हुआ। युद्ध में इन्द्र राम ने फरशे के प्रहार से सहस्रबाहु का वध कर दिया तथा वह सहस्रबाहु की शेष सन्तानों को मारने में जुट गया।

चित्रमती महारानी के बड़े भाई शाण्डिल्य तापस को पता चल गया कि इन्द्र राम, जिन्हें परशु के कारण लोग परशुराम कहने लगे थे, सहस्रबाहु के वध का उच्छेद करने के लिये दृढप्रतिज्ञ है। शाण्डिल्य राजप्रासाद में पहुँचा और रानी चित्रमती को लेकर गुप्तमार्ग से निकल गया और वन में सुवन्धु मुनिराज के समीप छिड़ आया।

रानी चित्रमती उस समय गर्भवती थी। गर्भ-काल पूरा होने पर वन में उसने तेज से देदीप्यमान पुत्र को जन्म दिया। वह भूमि का आश्लेषण करता हुआ उत्पन्न हुआ था। बालक महान पुण्यवान था। वन देवता उसकी

रक्षा करते और लालन-पालन करते थे। एक दिन रानी ने मुनिराज से बालक का भविष्य पूछा। भविष्यज्ञानी मुनि बोले—'पुत्री! तेरा यह पुत्र समस्त भरत क्षेत्र का अधिपति चक्रवर्ती बनेगा। चक्रवर्ती होने की पहचान यह है कि यह सोलहवें वर्ष में जब कड़ाई में उबलते हुए धी में सिकते हुए गरम पुत्रों को निकाल कर खा लेगा, तब समझना कि उसके चक्रवर्ती बनने का काल आ गया है। मुनि महाराज की यह भविष्यवाणी सुनकर माता को बड़ी सान्त्वना और शान्ति प्राप्त हुई।

सुभौम को चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति—कुछ काल पश्चात् शाण्डिल्य तापस आकर अपनी वहन चित्रमती और बालक को अपने घर ले गया। चूँकि बालक पृथ्वी का आलिंगन करता हुआ उत्पन्न हुआ था, इसलिये उसका नाम सुभौम रक्खा गया। बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा। जब वह विद्या ग्रहण करने योग्य हुआ तो उसे शास्त्रों और शास्त्रों की शिक्षा देने की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार बालक ने क्रमशः सोलहवें वर्ष में पदार्पण किया।

पिता के सहार से क्रुद्ध हुए रेणुका-पुत्रों ने प्रतिज्ञा की कि हम इस पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर देंगे और उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों का समूल नाश किया। उन्होंने अपने हाथों से मारे हुए राजाओं के सिर काटकर खम्भों में लटका रखे थे। इस प्रकार दोनों भाई क्षत्रियों का विनाश करके राज्यलक्ष्मी का निर्विघ्न भोग कर रहे थे। एक दिन निमित्तज्ञानी ने परशुराम से कहा—आपका शत्रु उत्पन्न हो गया है, इसका प्रतीकार कीजिये। शत्रु के पहचानने का उपाय यह है कि आपने मारे हुए राजाओं के जो दाँत इकट्ठे किये हैं, वे जिसके लिये भोजन रूप परिणत हो जायेंगे, समझ लीजिये, वही आपका शत्रु है।

निमित्तज्ञानी के वचन सुनकर परशुराम को बड़ी चिन्ता उत्पन्न हो गई। उन्होंने अविलम्ब भोजनशाला खुलवा दी और घोषणा करवा दी कि कोई भी व्यक्ति इस भोजनशाला में निःशुल्क भोजन कर सकता है। तथा कर्मचारियों को आदेश दे दिया कि जो भोजन का इच्छुक आवे, उसे पात्र में रखे हुए दाँत दिखा कर भोजन कराया जाय। इस प्रकार प्रति दिन अनेक लोग भोजन के लिये आने लगे।

एक दिन सुभौम ने अपनी माता से अपने पिता के बारे में पूछा। माता ने बड़े दुःख के साथ उसके पिता के साथ परशुराम ने जो व्यवहार किया था, वह विस्तारपूर्वक सुना दिया तथा यह भी बता दिया कि हम लोग अज्ञात-वास कर रहे हैं। सुनकर सुभौम ने अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने का संकल्प किया और तत्काल कुछ राज-कुमारों के साथ परिव्राजक वेश धारण करके अयोध्या की ओर चल दिया। अयोध्या में उसके पहुँचने से पहले ही नगर में नाना प्रकार के अपशकुन और अमंगल सूचक चिन्ह प्रगट होने लगे। नगर रक्षक देवता रुदन करने लगे, पृथ्वी काप उठी, दिन में तारे दिखाई देने लगे। नगरवासी ही नहीं, परशुराम भी इन अमंगल चिन्हों के कारण चिन्ता में पड़ गये।

सुभौम कुमार जब परशुराम की दानशाला में पहुँचे तो कर्मचारियों ने उन्हें उच्च आसन पर बैठाया और नियमानुसार मृत राजाओं के दाँत उन्हें दिखाये। सुभौम के पुण्य-प्रभाव से वे दाँत शालि चावलों के भात बन गये। सेवकों ने तत्काल इस घटना की सूचना राजा परशुराम को दी। राजा ने कुछ हृष्ट-पुष्ट सैनिकों को उस व्यक्ति को गिरफ्तार करके लाने के लिये भेजा। सैनिकों ने भोजनशाला में पहुँचकर सुभौम से कहा—‘तुम्हें राजा ने बुलाया है, तुम हमारे साथ चलो। अगर तुम नहीं चलोगे तो हम तुम्हें बलात् ले जायेंगे।’ सुभौम ने उन क्षुद्र सैनिकों से विवाद करना उचित नहीं समझा, किन्तु उन्हें जोर से डपट दिया। इतने मात्र से ही वे सैनिक भय के मारे आतंकित हो गये और वापिस चले गये। यह वृत्तान्त सुनकर परशुराम को बहुत क्रोध आया और सेना लेकर भोजनशाला को घेर लिया। सुभौम यह देखकर बाहर निकल आये और परशुराम के सामने आ डटे। परशुराम ने सेना को सुभौम का वध करने का आदेश दिया। किन्तु सुभौम के प्रबल पुण्य का उदय था, उनके चक्रवर्ती बनने का योग आ पहुँचा था। फिर उनका कोई क्या बिगाड़ सकता था। सेना उनके सामने अधिक समय तक नहीं ठहर सकी। यह देखकर परशुराम ने अपना हाथी सुभौम की ओर बढ़ाया। सुभौम के पुण्य माहात्म्य से एक गन्धराज मदोन्मत्त हाथी आ गया। वे उस हाथी पर आरोहण हो गये। इतना ही नहीं, एक हजार देवों से रक्षित चक्ररत्न भी उनके पास स्वतः आ गया। वे चक्ररत्न से सुशोभित होकर आगे बढ़े। परशुराम ने सुभौम का वध करने के लिये अपना अमोघ परशु फेंका। किन्तु उनका पुण्य क्षीण हो चुका था। उनके तो मृत्यु का योग था। सुभौम उस वार को बचा गये और उन्होंने चक्र द्वारा परशुराम का वध कर दिया। इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन करने वाले परशुराम काल कवलित हो गये।

सुभौम भगवान् अरनाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुआ था। वह आठवाँ चक्रवर्ती था। उसकी आयु साठ हजार वर्ष की थी। उसकी अवगाहना अट्ठाईस धनुष थी। सुवर्ण के समान उसके शरीर की कान्ति थी।

परशुराम की मृत्यु के बाद सेना ने युद्ध बन्द कर दिया। सुभौम ने सबको अभय दान दिया। तभी उनके शेष तेरह रत्न और नौ निधियाँ प्रगट हो गईं। वे छह खण्ड का अधिपत्य पाकर चक्रवर्ती बन गये और चिरकाल तक दस प्रकार के भोग भोगते रहे। उनके पास चक्रवर्ती पद की सम्पूर्ण विभूति थी।

सुभौम का एक रसोइया था अमृत रसायन। एक दिन रसोइया ने चक्रवर्ती को रसायना नामक स्वादिष्ट कढ़ी परोसी। किन्तु चक्रवर्ती यह नाम सुनते ही रसोइया से क्रुपित हो गया। उसके आदेश से रसोइया को कठीर दण्ड

दिया गया, जिससे वह अग्रधरा हो गया। उसने भी क्रोध में निदान किया कि मैं इसे बदला लूंगा। वह मरकर अल्प पुण्य के कारण ज्योतिष्क देव बना। उसे अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव के वैर का स्मरण हो आया। वह बदला लेने की इच्छा से व्यापारी का वेष धारण कर आया और बड़े स्वादिष्ट फल सम्राट् को भेंट किये। इस प्रकार वह प्रतिदिन आता और राजा को वे ही फल भेंट करता। राजा को वे फल बड़े स्वादिष्ट लगते थे। एक दिन वह फल नहीं लाया। राजा ने इसका कारण पूछा तो उस देव ने उत्तर दिया—‘महाराज ! वे फल तो समाप्त हो गये। अब वे मिल भी नहीं सकते। जिस वन से मैं वे फल लाया था, उनकी रक्षा एक वनदेवी करती है। उसे प्रसन्न करके ही वे फल प्राप्त हो सकते हैं। यदि आपको वे फल प्रिय हैं तो आप मेरे साथ उस वन में चलिये और इच्छानुसार फल खाइये।’

चक्रवर्ती ने उसके साथ चलना स्वीकार कर लिया। मंत्रियों ने चक्रवर्ती को रोकना भी चाहा, किन्तु वह नहीं माना और उस छद्मवेषी देव के साथ जहाज द्वारा चल दिया। वास्तव में चक्रवर्ती का पुण्य समाप्त हो गया था। महलो से निकलते ही चक्रवर्ती के चक्र आदि रत्न भी चले गये। वह देव चक्रवर्ती के जहाज को गहरे समुद्र में ले गया। वहाँ उस देव ने पूर्वभव के रसोइया का रूप बनाकर चक्रवर्ती को अपने प्रतिशोध की योजना बताई और फिर चक्रवर्ती को भयकर पीडा देकर मार डाला। चक्रवर्ती भयकर रौद्र ध्यान के कारण नरक में गया।

सुभौम चक्रवर्ती आठवाँ चक्रवर्ती था।

पुण्डरीक नारायण, निशुम्भ प्रतिनारायण

पूर्व भव—भगवान् अरनाथ के तीर्थ में नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ प्रतिनारायण हुए। ये छठे नारायण, प्रतिनारायण थे।

पुण्डरीक का जीव पहले तीसरे भव में राजकुमार था। सुकेतु नामक राजा से अपमानित होकर उसने अपने अपमान का बदला लेने का निदान बन्ध किया। अपने अपमान से दुखी होकर उसने दीक्षा ले ली। वह घोर तप करने लगा, किन्तु वह तपस्या करके भी मन से अपमान की शल्य दूर नहीं कर सका। वह मरकर पहले स्वर्ग में देव हुआ।

भरत क्षेत्र में चक्रपुर नामक नगर था। उस नगर का स्वामी इक्ष्वाकुवशी राजा वरसेन था। उसकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उस देव का जीव आयु के अन्त में लक्ष्मीमती रानी के गर्भ में आया और उत्पन्न होने पर उसका नाम पुण्डरीक रखा गया। इसी राजा की वैजयन्ती रानी से नन्दिषेण नामक पुत्र हुआ। इन दोनों की आयु छप्पन हजार वर्ष की थी, शरीर छब्बीस धनुष ऊँचा था। दोनों भाइयों में स्वभावतः बड़ा प्रेम था।

सुकेतु का जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ निशुम्भ नाम का राजा बना। वह महा अभिमानी और बड़ी क्रूर प्रकृति का था। सम्पूर्ण राजाओं को उसने वश में कर लिया था और राजा लोग उसके नाम से ही कापते थे। उन दिनों राजकुमार पुण्डरीक और नन्दिषेण का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा था। इससे निशुम्भ पुण्डरीक का अकारण शत्रु बन गया और उसे दण्ड देने के लिये उचित अवसर की प्रतीक्षा में था। तभी एक घटना घटित हो गई। इन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन ने अपनी पुत्री पद्मावती का विवाह पुण्डरीक के साथ कर दिया। निशुम्भ तो कोई बहाना चाहता था। उसने एक चतुर दूत पुण्डरीक के पास भेजा और उससे पद्मावती को देने का आदेश दिया। दोनों भाइयों ने दूत का अपमान करके निकाल दिया। निशुम्भ ने जब यह सुना तो वह मारे क्रोध के आग बबूला हो गया और विशाल सेना सजाकर पुण्डरीक के साथ युद्ध करने चल दिया। दोनों भाई भी सेना लेकर रणभूमि में आ डटे। दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। निशुम्भ की सेनायें दोनों भाइयों की मार के आगे नहीं ठहर सकी। तब निशुम्भ स्वयं पुण्डरीक के साथ युद्ध करने आगे आया। दोनों वीरों में लोमहर्षक युद्ध होने लगा। तब क्रोध में

भरकर निशुम्भ ने पुण्डरीक के ऊपर देवाधिष्ठित चक्र फेंका । किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर पुण्डरीक की दाईं भुजा पर आकर ठहर गया । तब पुण्डरीक ने चक्र लिया और उसे निशुम्भ के ऊपर चला दिया । निमिषमात्र में चक्र ने निशुम्भ का सिर उड़ा दिया ।

उसी चक्र से पुण्डरीक ने अपने भाई नन्दिषेण के साथ भरत क्षेत्र के तीनों खडों पर विजय प्राप्त की और नारायण कहलाया । नन्दिषेण बलभद्र कहलाया । दोनों भाइयों ने प्रमपूर्वक चिरकाल तक प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मी का भोग किया । पुण्डरीक अत्यन्त आरम्भ पारग्रह का धारक और रौद्र परिणामी था । उसने नरकायु का बन्ध किया और मरकर वह नरक में गया ।

नन्दिषेण को भ्रातृ-वियोग का गहरा शोक हुआ । इससे उन्हें ससार से वैराग्य हो गया । उन्होंने शिवघोष नामक मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ले ली और तपश्चरण करने लगे । उनके परिणामों में निर्मलता और विशुद्धता आती गई । उन्होंने कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों का नाश करके परम पद मोक्ष प्राप्त किया ।

बलभद्र नन्दिषेण, नारायण पुण्डरीक और प्रतिनारायण निशुम्भ नारायण-प्रतिनारायण परम्परा में छठे थे ।



विंश परिच्छेद

भगवान् मल्लिनाथ

मेरु पर्वत के पूर्व मे कच्छकावती नामक देश मे वीतशोक नगर था । वैश्रवण वहाँ का राजा था । एक दिन वह राजा वन का सौंदर्य देखने एव वन-विहार के लिए गया । वन मे एक विशाल वटवृक्ष था, जिसकी शाखाय प्रशाखायें विस्तृत भूमिखण्ड के ऊपर फैली हुई थी । राजा ने उस वटवृक्ष की विशालता की वड़ी प्रशंसा की । राजा प्रशंसा करता हुआ आगे बढ़ गया । लौटते समय वह फिर उसी मार्ग से वापिस आया । किन्तु महान् आश्चर्य की बात थी कि उस विशाल वटवृक्ष का कहीं पता भी न था । वल्कि उसके स्थान पर एक जला हुआ ढूँठ खड़ा था । इतने ही काल मे वज्र गिरने से वह वटवृक्ष जड़ तक जल गया था । उस दृश्य को देखकर राजा विचार करने लगा—जब इतने विशाल, उन्नत और बहुमूल्य वटवृक्ष की ऐसी दशा हो गई है तो इस निर्मूल मनुष्य-जीवन पर क्या विश्वास किया जा सकता है । उसे इस क्षणभंगुर जीवन से विराग हो गया । उसने अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया और श्रीनाग नामक मुनिराज के निकट प्रब्रज्या धारण कर ली । उसने नाना प्रकार के तपो द्वारा आत्मा को निर्मल किया, ग्यारह अगो का अध्ययन किया तथा निरन्तर सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन किया, जिससे तीर्थकर नामकर्म का वन्ध किया । अन्त मे समाधि-मरण करके चौथे अपराजित नामक अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र बना ।

मिथिला नगरी के अधिपति इक्ष्वाकुवशी, काश्यप गोत्री महाराज कुम्भ की महारानी का नाम प्रजावती था । जब उस अहमिन्द्र की आयु मे छह माह गेष रह गये, तब देवो ने रत्नवृष्टि आदि द्वारा महाराज के नगर मे अर्चित्य वैभव प्रगट किया । जब उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, उस दिन चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को अश्विनी नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे शुभफल को सूचित करने वाले महारानी ने सोलह स्वप्न देखे । बन्दीजनो के मगल गान से महारानी की निद्रा भग हुई । वे शय्या त्यागकर उठी और नित्य कर्म से निवृत्त होकर मांगलिक वस्त्रालकार धारण करके महाराज के पास पहुँची । महाराज से स्वप्नो का फल सुनकर वे बड़ी हर्षित हुई । अहमिन्द्र का जीव महारानी के गर्भ मे अवतरित हुआ । देवो ने आकर भगवान् के गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की तथा गर्भस्थ भगवान् को नमस्कार किया ।

माता गर्भ मे भगवान् को धारण करके अत्यन्त सुशोभित हो रही थी । उनका सौन्दर्य, कान्ति और लावण्य दिनो-दिन बढ़ता जा रहा था । गर्भ के कारण उन्हें कोई कष्ट या असुविधा का अनुभव नहीं होता था । इस प्रकार सुख से नौ मास वीतने पर महारानी प्रजावती ने मगसिर सुदी एकादशी को अश्विनी नक्षत्र मे पूर्ण चन्द्र के समान देदीप्यमान तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । यह दिव्य बालक एक हजार आठ शुभ लक्षणो से युक्त था, तीन ज्ञान का धारक था । उसी समय समस्त देव और इन्द्रो ने आकर बाल भगवान् को ऐरावत हाथी पर विराजमान किया और सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के पवित्र जल से उसका अभिषेक किया । इन्द्राणी ने उसे वस्त्राभूषण पहनाये । सौधर्मन्द्र ने बालक को नाम मल्लिनाथ रक्खा ।

भगवान सुवर्ण वर्ण के थे, उनका शरीर पच्चीस घनुष ऊँचा था, पचपन हजार वर्ष की उनकी आयु थी, दाहिने पैर में कलश का चिह्न था।

भगवान जब यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने उनके विवाह का आयोजन किया। विवाह के हर्ष में पुरजनों ने सारा नगर सजाया। सफेद पताकाओं और वन्दनमालाओं में नगर दुलहिन की तरह मजाया गया।

राजपथों और वीथिकाओं में मुगन्धित जल का सिंचन किया गया। किन्तु जिनके लिए यह सब दीक्षा कल्याणक आयोजन हो रहा था, वे इस सबसे निलिप्त थे। वे जीवन भर भोगों से उदारमान रहे। वह जीवनव्यापी साधना उन राग के क्षणों में भी चन रही थी। वे सोच रहे थे—वैतरागता का माहात्म्य अचिन्त्य है, राग में वह सुगम कहाँ है। तभी उन्हें जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया और पूर्व जन्म में अपराजित विमान में भोगे हुए सुखों के बारे में सोचने लगे—जब स्वर्ग के वे भोग ही नहीं रहे तो उन नश्वर भोगों के सुख के लिए जीवन के अमूल्य समय का अपव्यय करने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। इस प्रकार भोगों में विरक्त होकर उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह के त्याग का मकल्प किया। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान को नमस्कार कर उनके सकल्प की सराहना की तथा उनमें प्रार्थना की—‘भगवन् ! ससार के जीवों का कल्याण करने के लिए धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन का अत्र काल आ पहुँचा है। भगवान दुर्गी प्राणियों पर कृपा करें।’ इस प्रकार कहकर वे देव अपने स्वर्ग में वापिस चले गये।

इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान का दीक्षा कल्याणक महाभिषेक किया। फिर भगवान जयन्त नामक देवोपनीत पालकी में आरूढ होकर श्वेत वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मिद्ध भगवान को नमस्कार किया और केश लुचन करके प्रयोजित हो गए। उनके साथ में तीन सौ राजाओं ने भी सकल समय धारण कर लिया। उस दिन अग्रहण सुदी एकादशी थी, अश्विनी नक्षत्र था और सायंकाल का समय था। यह संयोग की ही बात थी कि भगवान ने अपने जन्म दिन, मास, नक्षत्र और पक्ष को दीक्षा भी ग्रहण की थी। समय के कारण भगवान को मन पर्यय ज्ञान की भी प्राप्ति हो गई।

भगवान तीसरे दिन पारणा के लिये मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए। वहाँ नन्दिषेण नामक राजा ने भगवान को प्रासुक आहार देकर अक्षय पुण्य का सचय किया। देवों ने पचाञ्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—दीक्षा लेने के पश्चात् भगवान मल्लिनाथ छद्मस्थ दशा में केवल छह दिन रहे। उन्होंने यह समय तपस्या में बिताया। फिर वे दीक्षा वन में पहुँचे और दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ हो गए। वही पर उन्हें पीप कृष्णा द्वितीया को पुनर्वसु नक्षत्र में लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों और इन्द्रो ने आकर भगवान के केवलज्ञान का उत्सव मनाया, समवसरण की रचना की। उसमें बैठकर भगवान ने दिव्यध्वनि के द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। अनेक मनुष्यों, देवों और तिर्यञ्चो ने भगवान का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यञ्चो ने मुनि और श्रावकों के योग्य समय धारण किया।

भगवान का सघ—भगवान के मुनि-सघ में विशाख आदि २८ गणधर थे। इनके अतिरिक्त ५५० पूर्वधारी २६००० महाविद्वान् शिक्षक, २२०० अवधिज्ञानी, २२०० केवलज्ञानी, १४०० वादी, २६०० विक्रिया ऋद्धिधारी, और १७५० मन पर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार उनके मुनियों की कुल संख्या ४०००० थी। वन्धुषेणा आदि ५५००० अजिकायें थी। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थी। असख्यात देव और सख्यात तिर्यञ्च उनके भक्त थे।

निर्वाण कल्याणक—भगवान अनेक देशों में विहार कर अपने उपदेश से भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदाचल पर पहुँचे। वहाँ पाच हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमा योग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला पचमी को भरणी नक्षत्र में सध्या के समय निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—इनके सेवक कुबेर यक्ष और अपराजिता यक्षिणी थे।

भगवान मल्लिनाथ की जन्म नगरी मिथिला—मिथिला नगरी उन्नीसवे तीर्थकर मल्लिनाथ और इक्कीसवें तीर्थकर नमिनाथ की जन्म नगरी है। यहाँ दोनो तीर्थकरो के गर्भ, जन्म, दोक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे। इसलिए यह भूमि तीर्थभूमि है।

यहाँ अनेक सांस्कृतिक और पौराणिक घटनाये घटित हुई हैं।

—मिथिला नरेश पद्मरथ भगवान वासुपूज्य के गणघर सुधर्म का उपदेश सुनकर ससार से विरक्त हो गया। वह वासुपूज्य भगवान के चरणों में पहुँचा। वहाँ मुनि दीक्षा ले ली। मुनि पद्मरथ भगवान के गणघर बने। उन्हें अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान हो गया। पश्चात् उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया और अन्त में वे मुक्त हो गए।

—जब हस्तिनापुर में अकपनाचार्य के सघ पर बलि आदि मंत्रियों ने घोर उपसर्ग किया, उस समय मुनि विष्णुकुमार के गुरु मिथिना में ही विराजमान थे। उन्होंने क्षुल्लक पुष्पदन्त को धरणीधर पर्वत पर मुनि विष्णुकुमार के पास उपसर्ग निवारण के लिए भेजा। गुरु के आदेशानुसार मुनि विष्णुकुमार ने हस्तिनापुर में जाकर मुनि सघ का उपसर्ग दूर किया।

—मिथिला का राजा नमि मुनि बन गया। किन्तु तीन बार भ्रष्ट हुआ। फिर वह शुद्ध मन से मुनि-व्रत पालने लगा। एक बार एक गाँव में तीन अन्य मुनियों के साथ एक अवा के पास ध्यान लगाकर खड़ा था। कुम्हार आया और उसने अवा में आग सुलगाई। आग धू-धू करके जल उठी। चारों मुनि उसी में जल गये। वे शुद्ध भावों से श्रेणी आरोहण करके मुक्त हो गए।

—इसी नगर में राजा जनक हुए। उनकी पुत्री सीता थी जो ससार की सतियों में शिरोमणि मानी जाती हैं। जनक नाम नहीं, वह तो एक पदवी थी। सीता के पिता का नाम सीरध्वज जनक था।

इस वंश का अन्त कराल नामक जनक राजा के काल में हुआ। बौद्ध ग्रंथों और कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार उसने एक ब्राह्मण कन्या के साथ बलात्कार किया था। इससे प्रजा भडक उठी। उसने राजा को मार डाला। उस समय इस राज्य में सोलह हजार गाँव लगते थे। इसके पश्चात् वहाँ राजतन्त्र समाप्त हो गया। जनता ने स्वेच्छा से गणतन्त्र की स्थापना की, जिसे विदेह गणतन्त्र कहा जाता था। इसे बज्जी सघ भी कहा जाता था। कुछ काल के पश्चात् वैशाली का लिच्छवि सघ और मिथिला का बज्जी सघ पारस्परिक सन्धि द्वारा मिल गये और दोनो का सम्मिलित सघ बज्जी सघ कहलाने लगा। तथा बज्जी सघ के अधिपति राजा चेटक को सयुक्त सघ का अधिपति मान लिया। इस सघ की राजधानी मिथिला से उठकर वैशाली में आ गई। यह नया वैशाली गण अत्यन्त शक्तिशाली बन गया। इन्हीं राजा चेटक की पुत्री त्रिशला से भारत की लोकोत्तर विभूति भगवान महावीर का जन्म हुआ। वैशाली गणसघ का धर्म जैन धर्म था। इस सघ का विनाश श्रेणिक विम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने किया। अजातशत्रु महारानी चेलना का पुत्र था। चेलना चेटक की सबसे छोटी पुत्री थी। इस प्रकार वैशाली अजातशत्रु की ननसाल थी।

मिथिला क्षेत्र कहाँ था, आज इसका कोई पता नहीं है। वर्तमान जनकपुर प्राचीन मिथिला की राजधानी का दुर्ग है। पुरनैलिया कोठी से ५ मील दूर पर सिमराओ नामक स्थान पर प्राचीन मिथिला नगरी के चिह्न अब तक मिलते हैं। नन्दनगढ़ के टीले से चाँदी का एक सिक्का मिला था, जो ईसा से १००० वर्ष पूर्व का बताया जाता है। लगता है, मिथिला तीर्थ यही कही आस पास में था।

यहाँ पहुँचने का मार्ग इस प्रकार है—सीतामढी से जनकपुर रोड स्टेशन रेल द्वारा। वहाँ से जनकपुर २४ मील बस द्वारा। सीतामढी या दरभंगा से नेपाल सरकार की रेलवे के जयनगर स्टेशन जा सकते हैं। वहाँ से उक्त रेलवे द्वारा जनकपुर १८ मील है।

पद्म चक्रवर्ती

भगवान मल्लिनाथ के तीर्थ में पद्म नामक नौवा चक्रवर्ती हुआ। चक्रवर्ती पर्याय से पहले तीसरे भव की यह कथा है। सुकच्छ देश के श्रीपुर नगर में प्रजापाल नामक एक राजा था। वह बड़ा वीर और न्यायी था। उसके राज्य में प्रजा बड़े आनन्दपूर्वक रहती थी। एक बार उल्कापात देखकर उसे जीवन की क्षणभंगुरता का ज्ञान हुआ। तत्काल उसने अपने पुत्र को राज्य सौंप दिया और वह शिवगुप्त भगवान के पास जाकर आत्म-कल्याण की अभिलाषा से सम्पूर्ण आभ्यन्तर और बाह्य आरम्भ और परिग्रह का त्याग कर प्रव्रजित हो गया। आठ प्रकार की शुद्धियों से उसका तप देदीप्यमान हो रहा था। अन्त में समाधि द्वारा मरण करके वह अच्युत स्वर्ग का इन्द्र बना।

काशी देश की वाराणसी नगरी में इक्ष्वाकु वंशी महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी से पद्म आदि शुभ लक्षणों से मुशोभित पद्म नामक पुत्र हुआ। उसकी आयु तीस हजार वर्ष की थी। उसका शरीर चाँदनी धनुष उन्नत था। सुवर्ण के समान उसकी कान्ति थी। कुमार काल वीतने पर पिता ने उसे राज्य-भार सौंप दिया। उसके प्रबल पुण्य के योग से उसकी आयुघशाला में चक्र रत्न आदि अस्त्र उत्पन्न हुए। तब वह दिग्विजय के लिए निकला। उसने कुछ ही काल में सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के राजाओं को अपना माण्डलिक बनाकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। साथ ही उसको चाँदनी रत्न और नौ निधियों का लाभ हुआ। उसे दस प्रकार के भोग प्राप्त थे। समस्त सासारिक भोग उसे उपलब्ध थे, किन्तु वह इनमें कभी आसक्त नहीं हुआ। उसके दस पुत्रियाँ थी जो अत्यन्त सुन्दर और शीलवती थी। उसने उन पुत्रियों का विवाह सुकेतु विद्याधर के पुत्रों के साथ कर दिया।

एक बार चक्रवर्ती प्रकृति की शोभा निहार रहा था। आकाश में यत्र तत्र बादल के टुकड़े नदी में तैरते हुए राजहंसों के समान इधर उधर डोल रहे थे। थोड़े समय बाद आकाश निर्मल हो गया, बादल न जाने कहाँ अदृश्य हो गये। इस सहज घटना का चक्रवर्ती के मन पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। उसका चिन्तन एक नई दिशा की ओर मुड़ गया—बादल का कोई शत्रु नहीं, फिर भी वह नष्ट हो गया। फिर जिनके सभी शत्रु हैं, ऐसी सम्पत्तियों में विवेकी मनुष्य की श्रद्धा क्यों कर स्थिर रह सकती है। यह विचार कर चक्रवर्ती ने अनेक राजाओं के साथ जिन-दीक्षा लेली और तप द्वारा समस्त आस्रव का निरोध करके तथा सचित कर्मों की निर्जरा करके घातिया कर्मों का क्षय कर दिया। वे नौ केवल लक्षियों के स्वामी हो गये। अन्त में अघातिया कर्मों का नाश करके अजर, अमर, मुक्त हो गये।

नन्दिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण और बलीन्द्र प्रतिनारायण

पूर्वभवे—भगवान मल्लिनाथ के तीर्थ में सातवे बलभद्र नन्दिमित्र और नारायण दत्त हुए। इससे पूर्वातीसरे भव की यह कथा है—

अयोध्या नगरी में एक राजा राज्य करता था। उसके दो पुत्र थे। किन्तु पिता इन दोनों से ही बहुत असन्तुष्ट था। इसलिए उसने अपने छोटे भाई को युवराज पद दे दिया। दोनों भाइयों को इससे बड़ा परिताप

हुआ। किन्तु उन्होंने समझा कि पिता ने यह कार्य मंत्री के द्वारा बरगलाने के कारण किया है, इसलिए वे मंत्री पर कुपित हुए और अपना सारा क्रोध उसके ऊपर उतारा। तिरस्कृत होकर राज्य में रहना उन्होंने उचित नहीं समझा, अतः उन्होंने शिवगुप्त नामक मुनिराज के पास जाकर मुनि-दीक्षा ले ली। किन्तु छोटे भाई के मन से मंत्री के प्रति द्वेष भाव नहीं निकल सका। उसने मंत्री से बदला लेने का निदान बन्ध किया।

दोनों भाई दुर्धर तश्चरण करने लगे। आयु के अन्त में समाधिमरण किया और सौधर्म स्वर्ग में देव हुए।

वाराणसी के राजा इक्ष्वाकुवशी अग्निशिख थे। वे बड़े धार्मिक विचारों के थे। उनकी दो रानियाँ थी—अपराजिता और केशवती। वे दोनों देव उन रानियों से क्रमशः नन्दिमित्र और दत्त नामक पुत्र हुए। नन्दिमित्र बड़ा था और दत्त छोटा। यद्यपि वे दोनों सौतेली माता के पुत्र थे किन्तु दोनों में प्रगाढ़ स्नेह था।
बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण उनकी आयु बत्तीस हजार वर्ष की थी। उनका शरीर बाईस धनुष ऊँचा था। नन्दिमित्र श्वेत कुन्द के समान श्वेत वर्ण तथा दत्त इन्द्रनील भणिके समान नील वर्ण था। बचपन से ही दोनों बड़े तेजस्वी और साहसी थे। नन्दिमित्र स्वभाव से शान्त और दत्त उद्धत प्रकृति का था।

उपर्युक्त मंत्री ससार भ्रमण करता हुआ विजयार्ध पर्वत के मन्दरपुर नगर के विद्याधरो का स्वामी बलीन्द्र हुआ। बलीन्द्र नाम से ही बलीन्द्र नहीं था, वास्तव में ही वह बलीन्द्र था। सम्पूर्ण राजा उससे भयभीत रहते थे। एक दिन उसने अपना दूत दोनों भाइयों के पास भेजा और कहा—महाराज बलीन्द्र ने आदेश दिया है कि तुम्हारे पास जो भद्रक्षीर गन्धगज है, उसे हमारे पास भेज दो। दोनों भाइयों ने दूत की बात सुनकर परिहास में कहा—अगर बलीन्द्र अपनी पुत्रियों का विवाह हमारे साथ कर दे तो हम उन्हें अपना गजराज दे देंगे। बिना ऐसा किये तो हम नहीं दे सकेंगे। यह बात दूत ने जाकर जब बलीन्द्र से कही तो वह बड़ा कुपित हुआ। वह तो वास्तव में दोनों भाइयों के बढते हुए प्रभाव से सशक्त था, इसलिए उन्हें मारने का काई बहाना ढूँढ रहा था। अपने आदेश का उल्लंघन होता देखकर वह सेना लेकर लड़ने के लिए तैयार हो गया।

तभी दक्षिण श्रेणी के सुरकान्तार नगर के स्वामी केशरीविक्रम नामक विद्याधर राजा ने दोनों कुमारों को सिंहवाहिनी और गरुडवाहिनी नामक दो विद्यायें सम्भेदशिखर पर बुलाकर प्रदान की। यह राजा दत्त का माता केशवती का बड़ा भाई था। इस राजा ने दोनों कुमारों को सब प्रकार की सहायता देने का भी वचन दिया।

दोनों और की सेनायें आमने-सामने आकर डट गईं। दानो सेनाओं में लोमहर्षक युद्ध हुआ। बलीन्द्र का पुत्र शनवलि नन्दिमित्र से जा भिड़ा। किन्तु नन्दिमित्र ने आनन-फानन में शतवलि का बध कर दिया। पुत्र की मृत्यु देखकर बलीन्द्र नेत्रों से अग्नि ज्वाला बरसाता नन्दिमित्र की ओर लपका। बलीन्द्र को बढते देखकर दत्त आगे आ गया। दोनों का उस समय जो भयानक युद्ध हुआ, वह अद्भुत था। बलीन्द्र को अपने बल का बड़ा अभिमान था। आयु में भी वह दत्त से बड़ा था। किन्तु दत्त के समक्ष उसकी एक नहीं चल पा रही थी। तब भयकर क्रोध में भरकर बलीन्द्र ने अमोघ चक्र दत्त के ऊपर फेंका। देवाधिष्ठित चक्र प्रदक्षिणा देकर दत्त की दाहिनी भुजा पर आकर ठहर गया। तब दत्त ने वही चक्र बलीन्द्र के ऊपर चला दिया। मृत्यु को आते हुए देखकर बलीन्द्र भय के मारे घबड़ा गया। उसने प्रतिकार भी करना चाहा किन्तु चक्र के आगे उसकी एक नहीं चली और उसका शिर अलग जा पड़ा।

प्रतिनारायण बलीन्द्र को मारकर बलभद्र नन्दिमित्र और नारायण दत्त ने शत्रु सेना में अभय घोषणा कर दी। फिर बलभद्र, नारायण पुण्य से प्राप्त चक्र आदि की सहायता से भरत क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त कर अर्धचक्री बने। चिरकाल तक राज्य सुख भोगकर एक दिन अचानक नारायण की मृत्यु हो गई। भाई के शोक में नन्दिमित्र को वैराग्य हो गया। वे मुनि बनकर तप करने लगे। अन्त में केवली होकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

एकविंश परिच्छेद

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ

अग्रे के चम्पापुर नगर में हरिवर्मा नामक एक राजा राज्य करते थे। एक दिन नगर के बाह्य उद्यान में अनन्तदीर्घ नामक निर्गन्ध मुनिराज पधारें। उनका आगमन सुनकर राजा अपने परिजनो-पुरजनों के साथ पूजा की नामगी लेकर दर्शनों के लिए गये। नगरी जाकर राजा ने मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा दी, पूर्व भव तीन बार कन्दना की ओर उनको पूजा की। फिर राय जोड़कर विनयपूर्वक मुनिराज से धर्म के स्वरूप की जिज्ञासा की। मुनिराज ने त्रिन्वारपूर्वक धर्म का स्वरूप समझाते हुए कल्याण का मार्ग बताया। उपदेश सुनकर महाराज हरिवर्मा को आत्म-कल्याण की अन्त प्रेरणा हुई। उन्होंने बड़े पुत्र को राज्य नीप पर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करके जैनन्त्री दीक्षा ले ली। उन्होंने गुरु के चरणों में रहकर ग्यारह श्रमों का अध्ययन किया और दर्शन विदुषि आदि मोलह कारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थकर नामकर्म का बन्ध कर लिया। इन प्रवृत्त चिरकाल तक नाना प्रकार के तप करके आत्म-विशुद्धि करते हुए अन्त में समाधिमरण करके प्राणत स्वर्ग के इन्द्र का पद प्राप्त किया।

जब उस इन्द्र की आयु छह माह शेष रह गई, तब राजगृह नगर के स्वामी हरिवर्मा शिरोमणि काव्यपगात्री महाराज सुमित्र के घर में छह माह तक रत्नवर्षा हुई। जब इन्द्र की आयु पूर्ण होने वाली थी, तब महाराज सुमित्र की महारानी सोमा को श्रावण कृष्णा द्वितीया को श्रवण नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में तीर्थकर प्रभु के गर्भाशय के सूक्त मोलह स्वप्न दिखाई दिये। स्वप्नो के अनन्तर उन्हें एक तेजस्वी गजराज मुग्ध में प्रवेश करता हुआ दिखाई दिया। उस इन्द्र का जीव तभी महारानी सोमा के गर्भ में अवतरित हुआ।

प्रातः काल होने पर स्नानादि से निवृत्त होकर महारानी हर्षित होती हुई महाराज के पास पहुँची और उन्हें रात्रि में देखे हुए स्वप्न कह सुनाये तथा उनसे इन स्वप्नो का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से फल जानकर महारानी को बताया—देवी! तुम्हारे तीन जगत के स्वामी तीर्थकर प्रभु जन्म लेंगे। सुनकर महारानी को अपार हर्ष हुआ। तभी देवी ने आकर माता का अभिषेक किया और भगवान् का गर्भकल्याणक मनाया। सौधर्मन्द्र देवियों को माता की सेवा में नियुक्त करके देवों के साथ वापिस चला गया।

यथासमय तीर्थकर प्रभु का जन्म हुआ। चारो जाति के इन्द्र और देव, इन्द्राणी और देवियाँ आई और भगवान् को मुमेश पर्वत पर ले जाकर देवों ने उनका अभिषेक किया। सौधर्मन्द्र ने उस समय जन्म कल्याणक बालक का नाम मुनिसुव्रतनाथ रक्खा। उनका जन्म चिन्ह कछुआ था।

भगवान् की आयु तीस हजार वर्ष थी। शरीर की ऊँचाई बीस धनुष की थी। उनके शरीर का वर्ण मयूर के कण्ठ के समान नील था। वे एक हजार आठ लक्षणों और तीन जानों से युक्त थे।

जब कुमार काल के साठे सात हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब पिता ने उनका विवाह कर दिया तथा राज्याभिषेक करके राज्य-भार सौंप दिया। उन्होंने सुखपूर्वक साठे सात हजार वर्ष तक राज्य किया। एक दिन

आकाश मे घनघोर घटा छाई हुई थी। तभी उनकी गजशाला के अधिपति ने यह समाचार दीक्षा कल्याणक दिया कि प्रसिद्ध यागहस्ती ने आहार छोड़ दिया है। समाचार सुनकर भगवान चिन्तन मे लीन हो गये। किन्तु उपस्थित सभासदो को इस समाचार से बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होने भगवान से इसका कारण जानना चाहा। भगवान बोने—पूर्वभव मे यह हाथी तालपुर नगर का स्वामी नरपति नाम का राजा था। यह बड़ा अभिमानी था। यह पात्र-अपात्र का भेद नहीं जानता था। इसने किमिच्छक दान दिया। इस कुदान के प्रभाव से इसे तिर्यच योनि प्राप्त हुई और यह हाथी बना।

जब भगवान सभासदो को हाथी का पूर्वभव सुना रहे थे, उस समय हाथी वहाँ खड़ा हुआ यह रुन रहा था। सुनकर उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। उसने उसी समय सयमासयम धारण कर लिया अर्थात् श्रावक के व्रत धारण कर लिए। भगवान के मन मे भी ससार से वैराग्य हो गया। उसी समय लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान की वन्दना की और भगवान के विचारो की सराहना की। उन्होने अपने पुत्र युवराज विजय को राज्य सौप दिया। तभी देवो ने आकर भगवान का दीक्षाभिषेक किया। फिर वे मनुष्यो और देवताओ से उठाई हुई अपराजिता नामक पालकी मे बैठकर विपुल नामक उद्यान मे पहुँचे। वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर वैशाख कृष्णा दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र मे सायकाल के समय एक हजार राजाओ के साथ समस्त सावद्य से विरत होकर और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके जिन-दीक्षा धारण करली। भगवान ने जो केशलुचन किया था, उन बालो को रत्न-मजूषा मे रखकर सौधर्म इन्द्र ने क्षीरसागर मे प्रवाहित कर दिया। दीक्षा लेते ही सयम और भाव-विशुद्धि के प्रभाव से भगवान को मन पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। दीक्षा लेकर वे ध्यानमग्न होगये। उपवास समाप्त होने पर वे पारणा के लिए राजगृह नगर मे पधारे और वहाँ वृषभदत्त राजा ने परमान्न भोजन से पारणा कराया। यद्यपि भगवान समभाव से तृप्त थे, उन्हे आहार की कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जिनशासन मे आचार की वृत्ति किस तरह है, यह बतलाने के लिए ही उन्होने आहार ग्रहण किया था। आहार दान के प्रभाव से राजा वृषभदत्त देवकृत पचातिघायो को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार तपश्चरण करते हुए छद्मस्थ अवस्था के जब ग्यारह माह व्यतीत हो गये, तब वे दीक्षा-वन मे पहुँचे और एक चम्पक वृक्ष के नीचे स्थित होकर दो दिन के उपवास का नियम लिया। शुक्ल ध्यान मे विराजमान भगवान को दीक्षा लेने के मास, पक्ष, नक्षत्र और तिथि मे अर्थात् वैशाख कृष्णा नवमी के दिन केवल ज्ञान कल्याणक श्रवण नक्षत्र मे सन्ध्या के समय घातिया कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये। तभी इन्द्रो और देवो ने आकर भगवान के केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव किया और समवसरण की रचना की। उसमे विराजमान होकर भगवान ने गणधरो, देवो, मनुष्यो और तिर्यञ्चो को सागर और अनगर धर्म का उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनेको ने सयम धारण किया, बहुतो ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये और बहुत से भव्य प्राणियो ने सम्यग्दर्शन धारण किया, अनेको ने सम्यग्दर्शन मे निर्मलता प्राप्त की।

भगवान के सघ मे मल्लि आदि अठारह गणधर थे जो अपने अपने गणो की धर्म-रक्षा करते थे। ५०० द्वादशाग के वेत्ता, २१०० शिक्षक, १८०० अवधिज्ञानी, १८०० केवलज्ञानी, २२०० त्रिक्रिया ऋद्धिधारी, १५०० मन पर्ययज्ञानी और १२०० वादी मुनि थे। इस प्रकार सब मिलाकर ३०००० मुनिराज उनके भगवान का चतुर्विध साथ थे। पुष्पदन्ता आदि ५०००० अजिकार्ये थो। १००००० श्रावक और ३००००० सघ श्राविकाये थी। उनके भक्त सख्यात तिर्यञ्च और असख्यात देव थे।

धर्म-देशना देते हुए भगवान मुनि-सघ के साथ विभिन्न देशो मे विहार करते रहे। जब उनकी आयु एक मास शेष रह गई, तब वे सम्मेद शिखर पर पहुँचे और एक हजार मुनियो के साथ प्रतिमा योग धारण कर योग निरोध कर लिया और फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन रात्रि के अन्तिम पहर मे समस्त निर्वाण कल्याणक घातिया कर्मो का क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया, वे सिद्ध मुक्त हो गये।

उसी समय देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक वरुण यक्ष और बहुरूपिणी यक्षिणी थे।

भगवान मुनिमुद्रतनाथ को जन्म-नगरी—राजगृही

जैनधर्म में राजगृही नगरी का एक विशिष्ट स्थान है। वह कल्याणक नगरी है, निर्वाण-भूमि है और भगवान महावीर के धर्म-चक्र-प्रवर्तन की भूमि है। धर्म-भूमि होने के साथ-साथ वह युगों तक राजनीति का केन्द्र भी रही है और भारत के अधिकांश भाग पर उसने प्रभावशाली शासन भी किया है। इसलिये उस नगरी ने इतिहास में निर्णायक भूमिका अदा की है।

— इस नगरी में भगवान मुनिमुद्रतनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे।

— इस नगर के पाँच पर्वतों में वैभाण, ऋषिगिरि, विपुलगिरि और वनाहक ये चार पर्वत सिद्धक्षेत्र रहे हैं। यहाँ से अनेक मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया है, जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने सस्कृत निर्वाण भक्ति में बताया है।

— राजपुर नरेश जीवन्धर कुमार भगवान महावीर ने दीक्षा लेकर मुनि हो गये। वे भगवान के साथ विहार करते हुए विपुलाचल पर पधारे। जब पावा में भगवान महावीर का निर्वाण हो गया, उसके कुछ काल पश्चात् मुनि जीवन्धर कुमार भी विपुलाचल में मुक्त होगये।

— भगवान महावीर के सभी गणधर विपुलाचल से ही मुक्त हुए।

— अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का निर्वाण भी विपुलाचल से ही हुआ, ऐसी भी मान्यता है।

— उज्जयिनी नरेश धृतिपेण (मुनि अरवस्या का नाम काल सन्दीव), पाटलिपुत्र नरेश वंशाख, विद्युच्चर, गन्धमादन आदि अनेक मुनियों ने राजगृह के इन्हीं पर्वतों से मुक्ति प्राप्त की थी।

— भगवान महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर वंशाख पुत्रला दममी को केवलज्ञान हुआ था। देवों ने तत्काल समवसरण की रचना की। किन्तु गणधर न होने के कारण भगवान की दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। तब इन्द्र वेप बदलकर इन्द्रभूति गौतम के पास पहुँचा और किसी उपाय में उन्हें भगवान के समवसरण में ले गया। गौतम भगवान के चरणों में पहुँच कर अभिमान रहित होकर मुनि बन गये। तभी विपुलाचल पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी और धर्म-चक्र-प्रवर्तन हुआ। इस समय अन्तिम तीर्थंकर महावीर का धर्म-शासन प्रवर्त रहा है, इसलिये उनके शासन के अनुयायियों के लिए न केवल इस प्रथम दिव्य ध्वनि का, अपितु विपुलाचल का भी विशेष महत्त्व है। इस बात से विपुलाचल का महत्त्व जैन शासन में कितना हो गया, इसका मूल्याङ्कन करने के लिए यहाँ एक ही बात का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। पौराणिक साहित्य में किसी कथा के प्रारम्भ में कहा जाता है—'विपुलाचल पर भगवान महावीर का समवसरण आया हुआ था। मगध नरेश श्रेणिक विम्बसार भगवान के दर्शनो के लिए पहुँचे। उन्होंने भगवान की वन्दना की और अपने उचित स्थान पर बैठ गये। फिर उन्होंने गौतम गणधर से जिज्ञासा की। तब गौतम गणधर बोले।' इस प्रकार प्रत्येक प्रसंग का प्रारम्भ होता है। गौतम गणधर से प्रश्न अकेले श्रेणिक महाराज ने ही नहीं पूछे थे, और भी अनेक व्यक्तियों ने पूछे थे। उनसे केवल विपुलाचल पर ही प्रश्न नहीं पूछे गये थे, अन्य स्थानों पर भी पूछ गये थे। किन्तु दिगम्बर परम्परा में कथा कहने की एक अपनी शैली रही है और उस शैली में विपुलाचल को विशेष महत्ता दी गई है। संभवतः इसका कारण यही रहा है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे प्रकाण्ड विद्वान् का गर्व यही आकर गलित हुआ, यही उन्होंने मुनि-दीक्षा ली और फिर यही भगवान की प्रथम धर्म-देशना हुई, जिससे धर्म का विच्छिन्न तीर्थ पुन प्रवर्तित हुआ। यह कोई सामान्य घटना नहीं थी। किसी धर्म के इतिहास में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है।

— मुनि सुकौशल और मुनि सिद्धार्थ (सुकौशल के पिता) को राजगृह के पर्वत से पारणा के लिए नगर को जाते हुए मार्ग में व्याघ्री (सुकौशल की पूर्व भव में माता जयावती) ने मार डाला। दोनों मुनि समता भाव से मरे और सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए।

राजगृह पर यद्यपि शताब्दियों तक हरिवंशी नरेशों का शासन रहा, किन्तु उसकी प्रसिद्धि सर्वप्रथम

जरासन्ध के काल में हुई। वह बड़ा प्रतापी नरेश था। उसने बाहुबल द्वारा भरतक्षेत्र के आधे मगध साम्राज्य की भाग पर अधिकार कर लिया था। मथुरा नरेश कस उसका दामाद और माण्डनिक राजा राजधानी के रूप में था। वह बड़ा क्रूर और अहकारी था। श्रीकृष्ण ने उसे मारकर प्रजा को उसके अन्याय-अत्याचारों से मुक्त किया।

किन्तु उससे यादव लोग सम्राट् जरासन्ध के कोप के शिकार हुए। उसने सत्रह बार मथुरा के यादवों पर आक्रमण किये। इन रोज-रोज के आक्रमणों से परेशान होकर और शक्ति संचित करने के लिए श्रीकृष्ण के नेतृत्व में यादवों ने मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुर को छोड़ दिया और पश्चिम में जाकर समुद्र के मध्य में द्वारका बसाकर रहने लगे।

कुछ समय पश्चात् कुरुक्षेत्र के मैदान में जरासन्ध और यादवों का निर्णायक युद्ध हुआ। उसमें श्रीकृष्ण ने जरासन्ध को मार दिया और वे अर्धचक्रो नारायण बने। नारायण श्रीकृष्ण ने अपनी राजधानी द्वारका को ही रखा। इससे राजगृह-जो उस समय गिरिद्वज कहलाती था—का महत्व कम हो गया।

इसके पश्चात् राजगृह का राजनीतिक महत्त्व शिशुनागवशा सम्राट् श्रेणिक विम्बसार के काल में बढ़ा। श्रेणिक ने राजगृह को ही अपनी राजधानी बनाया। उसका शासन-काल ई० पू० ६०१ से ५५२ माना जाता है। श्रेणिक के शासन-काल में मगध साम्राज्य उत्तरी भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य माना जाता था।

श्रेणिक प्रारम्भ में म० बुद्ध का अनुयायी था, किन्तु बाद में वह भगवान महावीर का अनुयायी बन गया।

श्रेणिक के पश्चात् अजातशत्रु राजगृही का शासक बन गया। उसने अपने वृद्ध पिता को कारागार में डालकर बलात् शासन हथिया लिया। उसने अनेक राज्यों को जीतकर उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। वैशाली और मल्ल गणसभों का विनाश उसी ने किया। उसके राज्य-काल के प्रारम्भ के वर्षों में राजगृह मगध साम्राज्य की राजधानी रही। किन्तु बाद में उसने चम्पा को अपनी राजधानी बना लिया। उसके बाद उसके पुत्र उदायि ने पाटलिपुत्र नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। इसके बाद राजगृह कभी अपने पूर्व गौरव को प्राप्त नहीं कर सकी।

आजकल राजगृह नगर एक साधारण कस्बा है। उसका महत्त्व तीर्थ के रूप में है। जैन लोग राजगृह के विपुलाचल, रत्नागिरि, उदयगिरि, श्रवणगिरि और वैभारगिरि को अपना तीर्थ मानते हैं। उन्हें पंचपहाड़ी भी कहा जाता है। बौद्ध लोग गृद्धकूट पर्वत को अपना तीर्थ मानते हैं तथा सप्तपर्णी गुफा में प्रथम वर्तमान राजगृह बौद्ध सगीति हुई थी, ऐसा माना जाता है।

यहाँ सोनभण्डार गुफा, मनियारमठ, विम्बसार बन्दीगृह, जरासन्ध का अखाड़ा और प्राचीन किले के अवशेष दर्शनीय हैं। यहाँ गर्म जल के स्रोत हैं, जिनका जल अत्यन्त स्वास्थ्यकर है।

बलभद्र राम, नारायण लक्ष्मण और प्रतिनारायण रावण—

मगध देश में रत्नपुर नामक नगर था। उसमें प्रजापति राजा राज्य करते थे। उनकी पहिलानी का नाम गुणकान्ता था। उनके चन्द्रचूल नामक एक पुत्र था। महाराज के मन्त्री के पुत्र का नाम विजय था। चन्द्रचूल

पूर्व भव मे
निदान बन्ध

और विजय दोनों में परस्पर में बड़ा प्रेम था। दोनों ही अत्यन्त लाडप्यार में पले थे इसलिये वे दोनों दुराचारी हो गये। उम नगर के सेठ कुबेर ने अपनी कुबेरदत्ता पुत्री को वैश्रवण सेठ की गीतमा स्त्री से उत्पन्न कुमार श्रीदत्त के लिये देने का सकल्प किया। तभी किमी ने जाकर राजकुमार चन्द्रचूल से कुबेरदत्ता के रूप मौन्दर्य की प्रशंसा की। सुनते ही चन्द्रचूल अपने साथी विजय को लेकर सेठ कुबेर के घर जा धमका और कुबेरदत्ता का बलात् अपहरण करने का प्रयत्न करने लगा। यह अनर्थ देखकर वैश्य लोग रोते चिन्ताते हुए महाराज के पास पहुँचे और उनसे जाकर फरियाद की। राजा तो अपने पुत्र के इस अनाचार को देगहर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने नगर रक्षक को बुलाकर उसे राजकुमार का बध करने की आज्ञा दी। नगर-रक्षा कुछ सैनिकों को लेकर राजकुमार को बन्दी बनाने गया और बन्दी दशा में उसे महाराज के समक्ष लाकर गडा कर दिया। उसे देखते ही राजा ने राजकुमार को शूली का दण्ड दे दिया। नगर रक्षक राजकुमार को शूली पर चढ़ाने के लिये ले चला। तभी प्रधान मन्त्री प्रमुख नागरिकों को आगे करके महाराज के निकट आया और हाथ जोड़कर निवेदन करने लगा—'देव ! राजकुमार को कार्य अकार्य का विवेक नहीं है। हम लोगों का प्रमाद रहा कि बाल्यकाल में उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। यह आपका एकमात्र बगधर और राज्य का भावी उत्तराधिकारी है। दण्ड का उद्देश्य तो व्यक्ति का सुधार है। यदि राज्य के इस एकमात्र कुमार को आपने शूली देदी तो उसका सुधार तो होगा नहीं, आपका बग भी निर्मूल हो जायेगा। अतः आप इसे सुधारने का एक अवसर अवश्य दीजिये। किन्तु राजा ने उनकी एक नहीं सुनी। वे अपने निर्णय पर अटल रहे। तब प्रधान मन्त्री ने कहा—'देव को जैमी आज्ञा। किन्तु इसको मैं स्वयं दण्ड दूँगा। राजा ने इस बात की स्वीकृति दे दी।

प्रधानाभात्य अपने पुत्र विजय और राजकुमार चन्द्रचूल को लेकर पर्वत पर पहुँचा और राजकुमार को यहाँ पर्वत पर लाने का उद्देश्य भी बता दिया। राजकुमार बड़ी निर्भयता से मृत्यु दण्ड पाने के लिये तैयार हो गया। तभी मन्त्री को पता चला कि यहाँ निकट ही महावल नामक गणधर विराजमान है। मन्त्री दोनों को लेकर मुनिराज के समीप पहुँचा, उनकी बन्दना की और उन दोनों का भविष्य पूछा। मुनिराज बोले—'ये दोनों ही तासरे भव में इसी भरत क्षेत्र में नारायण और बलभद्र होंगे।' सुनकर मन्त्री बड़ा प्रसन्न हुआ। उन दोनों कुमारों ने भी मुनिराज का उपदेश मुना तो उन्हें अपने कृत्यों पर भारी ग्लानि हुई और उन्होंने मुनि-दीक्षा ले ली।

मन्त्री ने महाराज के पास लौटकर पूरा वृत्तान्त सुना दिया और अन्त में निवेदन किया—'महाराज ! वे दोनों सुधार के भाग पर लग गये हैं। उनके लिये दण्ड का उद्देश्य पूरा हो गया। राजा ने सब बात सुनकर मन्त्री की बड़ी प्रशंसा की। किन्तु इस घटना से उसे भी राज्य से विरक्त हो गई। वह अपने कुल के किसी योग्य पुत्र को राज्य सौंप कर इन्हीं गणधर महाराज के निकट पहुँचा। वहाँ दोनों नवदीक्षित कुमारों को मुनि अवस्था में देखकर उसने दोनों से क्षमा-याचना की। वे दोनों बोले—'आपने हमारा बड़ा हित किया। यह सयम आपकी बदौलत ही हम लोगों ने ग्रहण किया है।

राजा ने भी अनेक व्यक्तियों के साथ सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर सयम अंगीकार कर लिया और कठोर आभ्यन्तर वाह्य तपो का आचरण कर कुछ काल में ही घातिया कर्मों का नाश कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये और अन्त में शेष अघातिया कर्मों का क्षय कर वे सिद्धालय में जा विराजे।

एक समय वे दोनों मुनिराज खडगपुर नगर के बाहर आतापन योग धारण कर ध्यानारूढ थे। उस नगर के राजा सोमप्रभ की सुदर्शना और सीता नाम की दो रानियाँ थी, जिनके क्रमशः सुप्रभ और पुरुषोत्तम नामक पुत्र थे। सुप्रभ बलभद्र थे और पुरुषोत्तम नारायण थे। जिस समय वे दोनों मुनि ध्यान लगाये हुए खडे थे, उस समय पुरुषोत्तम नारायण मधुसूदन प्रतिनारायण का बध करके बड़े वैभव के साथ नगर में प्रवेश कर रहा था। उसकी विभूति को देखकर चन्द्रचूल मुनि ने अज्ञानवश वैसी ही विभूति का निदान कर लिया। अन्त में चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दोनों ने चारों आराधनाओं का सेवन किया। वे मरकर सनत्कुमार स्वर्ग में विजय और र्माणचूल नामक देव हुए।

द्वाविंश परिच्छेद

जैन रामायण

कर्मभूमि के प्रारम्भ मे ससार के आदि महापुरुष, आदि ब्रह्मा, आदि तीर्थकर, आदिनाथ, आद्य भगवान ऋषभदेव हुए। उनके पिता का नाम नाभिराय था, जो चौदहवे कुलकर या मनु थे। माता का नाम मरुदेवी था।

उनके सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। बड़े पुत्र का नाम भरत था, जो भरत क्षेत्र के प्रथम चक्र-इक्ष्वाकु वंश, सूर्यवंश, वर्ती सम्राट् थे। इन्हीं के नाम पर इस देश का नाम भारत पडा। दूसरे पुत्र बाहुवली थे, चन्द्रवंश जो प्रथम कामदेव थे। पुत्रियों के नाम ब्राह्मी और सुन्दरी थे। ब्राह्मी को भगवान ऋषभदेव ने लिपि विद्या सिखाई थी। उसके नाम पर ही आगे लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि पड गया। भगवान ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को अक विद्या सिखाई थी।

भगवान जब गृहस्थाश्रम छोडकर प्रव्रजित हो गये तो उन्होंने छह माह तक घोर तपस्या की। उसके पश्चात् वे नगर मे आहार के लिये निकले। किन्तु उस समय लोग मुनिजनोचित आहार की विधि नहीं जानते थे। अतः भगवान अपने नियमानुसार आहार को निकलते और विधि के अनुकूल आहार न पाकर वन मे लौट जाते। इस प्रकार छह माह बीत गये। तब विहार करते हुए भगवान हस्तिनापुर नगर मे पधारे। वहाँ के राजा सोमप्रभ के लघु भ्राता श्रेयान्स को भगवान का दर्शन करते ही पूर्वजन्म मे मुनि को दिये हुए आहार का स्मरण हो आया। उस समय महल मे शुद्ध इक्षु रस (गन्ने का रस) रक्खा हुआ था। राजकुमार श्रेयान्स ने भगवान को आहार मे वही इक्षु-रस दिया। राजा श्रेयान्स दान-तीर्थ के कर्ता और आद्य प्रवर्तक कहलाये।

यह घटना भगवान के मुनि-जीवन से सम्बन्धित प्रथम महत्त्वपूर्ण घटना थी। अतः भगवान का कुल इक्ष्वाकु वंश कहलाया। इसी वंश को इतिहासकारो ने ककुत्स्थ वंश भी कहा है क्योंकि भगवान ऋषभदेव का ध्वज-चिन्ह ककुत्स्थ (बैल) था।

इसी वंश से सूर्यवंश निकला। चक्रवर्ती भरत के ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति थे। वे अत्यन्त तेजस्वी और प्रभावशाली थे। उनके नाम पर ही सूर्यवंश की उत्पत्ति हुई और उनके वंशजो को सूर्यवंशी कहा जाने लगा। इस वंश मे अनेक प्रतापी सम्राट् हुए। राजकुमार श्रेयान्स के बड़े भ्राता सोमप्रभ से सोमवंश अथवा चन्द्रवंश चला।

इक्ष्वाकु वंश मे अनेक राजा हुए। भगवान मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल मे विजय नाम का एक राजा हुआ। उसके वंश मे सुन्दर, कीर्तिधर, सुकौशल, हिरण्य, रचिनघुष, सौदास सिंहरथ आदि राजा हुए। इसी वंश मे हिरण्य कश्यप हुआ। उसके पुजस्थल, फिर ककुत्स्थ, और उससे रघु हुआ। रघु अत्यन्त प्रतापी रघुवंश सम्राट् था। उससे ही रघुवंश चला।

राजा रघु के अनरण्य नाम का पुत्र हुआ। अनरण्य की पटरानी पृथ्वीमती थी। उनके दो पुत्र हुए—एक राजा दशरथ और का नाम था अनन्तरथ और दूसरे का नाम था दशरथ। अनन्तरथ तो अपने पिता के साथ उनकी रानियाँ यथासमय सन्यास लेकर मुनि हो गया। अतः राज्याधिकार दशरथ को प्राप्त हुआ।

दशरथ अत्यन्त तेजस्वी और नीति परायण नरेश थे। उन्होंने तीन राजकुमारियों के साथ विवाह किये—

एक तो अपराजिता, जिसका दूसरा नाम कीर्णत्या था। यह दशपुर के राजा मुकोशल और उनकी रानी अमृतप्रभा की पुत्री थी। दूसरी मुमिया, जिसके माता-पिता पद्मपत्र नगर के राजा तिलकवन्धु और रानी मित्रा थी। तीसरी राजकुमारी का नाम मुप्रभा था जो रत्नपुर के राजा की पुत्री थी। इसी काल में राजा जनक मिथिलापुर में शासन कर रहे थे। वे हरिवंशी थे। उनके पूर्वजों में विजय, दक्ष, इलावर्धन, श्रीवर्धन, श्रीवृक्ष, सजयन्त, कुणिम, महारथ, पुलोमा आदि अनेक प्रतापी राजा हो चुके थे।

एक बार राजा दशरथ राजदरवार में बैठे हुए थे। तभी आकाशमार्ग में नारद आये। राजा ने उनकी गयोचित अभ्यर्थना की और गृध्राल-मगल पूछने के बाद उनके आने का कारण पूछा। तब नारद ने बताया कि मैं लका गया हुआ था। वहाँ का राजा महाबलवान राक्षसवशी रावण है। उसकी सभा में एक बड़ा दुःखदायक समाचार सुना। किसी ज्योतिषी ने रावण से यह कहा कि सीता के निमित्त मैं दशरथ के पुत्रों द्वारा तुम्हारी मृत्यु होगी। यह सुनकर विभीषण ने रावण से कहा कि दशरथ और जनक के जन्तक सन्तान होगी, उममें परने ही मैं उन दोनों राजाओं को मार डालूँगा। उसने अपने चर छद्मवेश में तुम्हें देखने भेजे थे। वे तुम्हें देख कर वापिस चले गये हैं और तुम्हारे बारे में सारे रामान्तर विभीषण को दिये हैं। अतः विभीषण तुम दोनों को मारने के लिए घोघ्र ही आने वाला है। अतः तुम्हें अपनी रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर लेना चाहिए।

नारद ने यह समाचार सुनकर दशरथ अत्यन्त भयभीत हो गये। नारद वहाँ में राजा जनक के पास गये और उन्हें भी ये समाचार सुनाये। दोनों ने अपने मन्त्रियों में परामर्श किया। मन्त्रियों ने कहा कि जब तक यह विघ्न टल नहीं जाता, आप प्रच्छन्न रूप में किसी दूसरे नगर में रहें। यह सुनकर दोनों राजा देशान्तर को चले गये और उनके स्थान पर दो नकली शरीर बनाये गये। उनमें लाग आदि का रथ भरकर मिहामन पर बैठा दिया। विभीषण ने आकर उन नकली राजाओं को मार डाला। विभीषण प्रसन्न होकर लका वापिस चला गया।

उधर दशरथ जनक के साथ अनेक देशों में भ्रमण करते हुए कौतुकमगल नगर में पहुँचे। उस नगर का राजा शुभमति था। उसकी रानी का नाम पृथ्वीमही था। उसके दो पुत्र-कंकय और द्रोण थे और एक रूपगुणवती कन्या थी, जिसका नाम केकामती (कँकेयी) था। वह कन्या संगीत, दस्य और शास्य में अत्यन्त निपुण थी। राजा ने उसके विवाह के लिए स्वयवर रचा, जिसमें अनेक राजा भाग लेने आये। वहाँ दशरथ और जनक भी बैठ गये। राजकुमारी कँकेयी वरमाला लेकर स्वयवर मण्डप में आई। द्वारपाली सब राजाओं का परिचय देती गई। जब कँकेई दशरथ के सम्मुख पहुँची तो उसने दशरथ के गले में वरमाला डाल दी।

नारद की उत्पत्ति

नारद, जो बड़ा कलहप्रिय कहलाता है, उसका जन्म किन विचित्र परिस्थितियों में हुआ, यह जानना बड़ा रचिकर है।

ब्रह्मरुचि नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी पत्नी कूर्मी थी। दोनों सन्यासी थे। जंगल में एक मठ में रहते थे। एक बार कूर्मी को गर्भ रह गया। वहाँ एक बार एक दिग्म्बर मुनि पधारे। दोनों सन्यासी जाकर बैठ गये। वे मुनि ने पूछा—यह गर्भिणी स्त्री कौन है? ब्राह्मण बोला—यह मेरी पत्नी है। मुनि बड़े आश्चर्य से बोले—तू तो सन्यासी है। तुम्हें स्त्री रखना उचित नहीं है।

ब्राह्मण मुनिराज के उपदेश से मुनि बन गया। ब्राह्मणी को बड़ा दुःख हुआ कि इस अवस्था में वह धीमा नहीं ले सकती। किन्तु जब बालक उत्पन्न हुआ और १६ दिन का हो गया तो ब्राह्मणी उसे एक सुरक्षित स्थान पर रखकर चली गई और तपस्विनी हो गई। बालक चुपचाप पड़ा था। संयोग क्री बात कि आकाश में जाते हुए जूम्भक नामक एक देव ने बालक को देखा और दया-मय उसे उठाकर ले गया। उसका लालन-पालन किया और शारंगों का अभ्यसन कराया।

जब बालक धीवर्ण सम्पन्न हुआ तो उसने आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर ली, क्षुब्धक के व्रत भी के लिए। साथ ही वाद्ययंत्र स्वली, मुकुट भी पहनने लगा। इस तरह वह न गृहस्थ ही रहा, न मुनि ही। वह हास-विलास का प्रेमी था, अत्यन्त वाचाल था, कालह देखने का इच्छुक और संगीत का शौकीन था, वह ब्रह्मचारी था, संन्यासी में उसका बड़ा सम्मान था। देवी ने उसका पालन किया था और देवी के साथ उसकी क्रीडाएँ थीं। इसलिए वह वैश्वि कहलाता था।

राजा लोग एक अज्ञातकुलशील व्यक्ति के गले में वरमाला पड़ी देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और लड़ने के लिए तैयार हो गये। तब राजा शुभमति उनसे लड़ने के लिए तैयार हुआ, किन्तु दशरथ ने उसे रोक दिया और सेना लेकर स्वयं रणक्षेत्र में जा पहुँचा। राजा दशरथ के सारथी का दायित्व कँकेयी ने लिया। कँकेयी रथसंचालन में अत्यन्त निपुण थी। दोनों ओर से भयानक युद्ध हुआ। किन्तु दशरथ की रणचातुरी और कँकेई की रथ-संचालन की चातुरी के कारण विजयश्री दशरथ को मिली। राजा पराजित हो गये। दशरथ का कँकेयी के साथ समारोह-पूर्वक विवाह हो गया और वह अयोध्या लौट आये तथा जनक मिथिला चले गये।

एक दिन दशरथ रानियों के बीच बैठे हुए कँकेयी की प्रशंसा करते हुए बोले—प्रिये! तुमने जिस कौशल से रथ का संचालन किया था, उसी के कारण मेरी विजय संभव हो सकी थी। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम कोई वर मागलो। कँकेयी पहले तो अपनी लघुता बताती हुई टालती रही। किन्तु जब राजा ने बार-बार आग्रह किया तो बोली—‘नाथ! मेरा वर आप धरोहर के रूप में सुरक्षित रखले। जब मुझे आवश्यकता होगी, तब मैं माग लूंगी।’ राजा ने भी कह दिया—तथास्तु।

भरत क्षेत्र के मध्य में विजयार्ध नामक एक विशाल पर्वत था, जिसकी दो श्रेणियाँ थी—उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणी। इन दोनों श्रेणियों की राजधानी क्रमशः अलकावती और रथनूपुर थी। इन श्रेणियों में विद्याधरो का निवास था। वे यद्यपि मनुष्य थे किन्तु वे विद्याओं की सिद्धि किया करते थे, (जिसे आधुनिक राक्षस वंश और बानर वंश भाषा में कह सकते हैं कि वे वैज्ञानिक प्रयोग किया करते थे। इसलिए उनके पास विमान थे तथा अद्भुत शस्त्रास्त्र थे।) इन विद्याधरो में अनेक जातियाँ थी—राक्षस, बानर, ऋक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि। इन्हे जातीय अभिमान था और ये भूमि पर रहने वालों को भूमिगोचरी कहते थे तथा उन्हें हीनदृष्टि से देखते थे। यहाँ तक कि भूमिगोचरों को अपना कन्या देना अपना अपमान समझते थे। यद्यपि भूमिगोचरी राजाओं ने अपने बाहुबल के द्वारा विद्याधरो की कन्याओं के साथ विवाह किया था, किन्तु फिर भी विद्याधरो में जातीय अभिमान बहुत काल तक बना रहा।

द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ के समय मेघवाहन नामक राजा को प्रसन्न होकर राक्षस जाति के देवों के इन्द्र भीम और सुभीम ने समुद्र के मध्य में बसे हुए राक्षस द्वीप की राजधानी लका तथा पाताल लका का राज्य दिया था तथा अद्भुत कान्ति वाला रत्नहार दिया था। फलतः राजा मेघवाहन अपने

राक्षस वंश परिवार सहित राक्षस द्वीप में जा बसा और वहाँ आनन्दपूर्वक राज्य करने लगा।

उसके वंश में आगे चलकर एक महाप्रतापी राजा हुआ, जिसका नाम राक्षस था। उसके नाम पर उस वंश का नाम राक्षस वंश पड़ गया।

विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी के मेघपुर नगर के अधिपति श्रीकण्ठ को लका नरेश कीर्तिशुभ ने, जो श्रीकण्ठ का बहनोई था, शत्रुओं के उत्पात से बचाने के लिए बानर द्वीप दिया था। श्रीकण्ठ ने वहाँ जाकर नगर बसाया और सुखपूर्वक रहने लगा। इस द्वीप में बानर बहुत थे। श्रीकण्ठ तथा उसके नगरवासी उन

बानरों से अपना खूब मनोरंजन किया करते थे तथा उनको पालते भी थे। उसी के वंश में आगे चलकर अमरप्रभ राजा हुआ। उसने अपनी ध्वजा, मुकुट, छत्र, तोरण और द्वारों पर बानरों के चिन्ह खुदवा दिये। तबसे सारे नगरवासी बन्दरों की आदर की दृष्टि से देखने लगे। इसीलिए उनके वंश का नाम बानर वंश पड़ गया।

राक्षस और बानर वंशियों में परस्पर बढ़ा प्रभाव था। एक बार रथनूपुर के राजा अशनिवेश से बानर नरेश और राक्षस नरेश सुकेश का युद्ध हुआ। उक्त युद्ध में दोनों वंश के राजा हार गये और राक्षस कुल में राजा युद्ध छोड़कर भागे तथा पाताल लका में जाकर रहने लगे। अशनिवेश ने लंका की गद्दी पर निवृत्ति नामक राजा को बैठा दिया। कुछ काल पश्चात् बानर वंशी किष्किन्ध ने समुद्र के किनारे किष्किन्ध नामक नगर बसाया और वहीं रहने लगा।

राक्षस वंशी सुकेश के तीन पुत्र हुए—माली, सुमाली और माध्ववान। जब माली को अर्धने माता-पिता

से लका की पराजय का समाचार मालूम हुआ तो उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेना लेकर लका पर आक्रमण कर दिया और निघति को मारकर पुन लका का राज्य प्राप्त कर लिया तथा राक्षसवशी पुन आनन्द से लका में रहने लगे।

उस समय रथनुपुर नगर का राजा सहस्रार था। उसकी रानी मानसमुन्दरी को गर्भ के समय इन्द्र जैसी क्रीडा करने की इच्छा होती थी। अत राजा रानी खूब क्रीडा किया करते थे। जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसका नाम इन्द्र रक्खा। इन्द्र बड़ा बलवान था। युवा होने पर उसने अपने वैभव आदि इन्द्र जैसे ही बनाने शुरू किये। अपने महल का नाम वैजयन्त रक्खा। अपने हाथी का नाम ऐरावत, सभा का नाम सुधर्मा, नर्तकियों का नाम उर्वशी, निलोत्तमा रक्खा। नागरिकों को देव सज्ञा दी। मन्त्री का नाम बृहस्पति, सेनापति का नाम हिरण्यकेश रक्खा। लोकपालों की चारों दिशाओं में नियुक्ति की, जिनके नाम उसने सोम, वरुण, कुबेर और यम रक्खे। अपनी रानी का नाम शची रक्खा। इसने विजयार्थ की दोनो श्रेणियाँ जीत ली।

एक बार लकापति माली विजयार्थ की दोनो श्रेणियों को जीतने के लिए विशाल सेना लेकर चला। उसके साथ में वानरवशी राजा सूर्यरज और यक्षरज भी थे। इन्द्र से उनका भयानक युद्ध हुआ। इस युद्ध में माली मारा गया और राक्षस सेना युद्ध से भाग गई। तब इन्द्र के लोकपाल सोम ने लका और किष्किन्धा पर अधिकार कर लिया। राक्षस और वानरवशी पाताल लका में जाकर रहने लगे।

सुमाली के रत्नश्रव नामक पुत्र हुआ। उसका विवाह केकसी से हो गया। केकसी ने एक रात को तीन स्वप्न देखे—एक तो क्रोध से उद्वत सिंह देखा, दूसरा उगता हुआ सूर्य देखा और तिसरा परिपूर्ण चन्द्रमा देखा। रानी ने अपने स्वप्नों का हाल पति से कहा। राजा ने विचार कर कहा—प्रिये! तुम्हारे तीन पुत्र होंगे—एक तो महान योद्धा और पाप कर्म में समर्थ होगा तथा दो कुटुम्ब को सुख देने वाले पुण्य पुरुष होंगे।

जब रावण गर्भ में आया तो रानी अहंकार में भर उठी। वह बात-बात में सिंहनी की तरह दहाड़ उठती थी। यथासमय रावण का जन्म हुआ। एक दिन बालक इन्द्र द्वारा प्रदत्त उस रत्नहार के पास पहुँच गया, जिसकी रक्षा हजार नागकुमार देव करते थे। उसने वह हार उठा लिया। सब लोग बालक की महान शक्ति पर आश्चर्य करने लगे। उस हार में नौ रत्न लगे थे। उनमें रावण के नौ मुख और दिखाई देने लगे। तब सब लोगो ने प्यार में बालक का नाम दशानन रख दिया।

कुछ समय के पश्चात् केकसी के कुम्भकर्ण नामक दूसरा पुत्र हुआ। बाद में पूर्ण चन्द्रमा के समान चन्द्रनखा नामक पुत्री हुई और फिर विभीषण नाम का पुत्र हुआ।

एक दिन माता केकसी अपने पुत्रों के साथ महल की छत पर बैठी हुई थी। तभी आकाश में पुष्पक विमान जाता दिखाई दिया। उसे देखकर रावण ने माता से पूछा—मा! यह महा विभूति वाला कौन जा रहा है। तब माता बोली—पुत्र! यह तेरी मौसी कौशिकी का पुत्र वैश्रवण (कुबेर) है। यह विजयार्थ के राजा इन्द्र का लोकपाल है। इन्द्र ने तेरे बाबा माली को मारकर लका छीन ली थी और इस कुबेर को वहाँ का लोकपाल बना दिया है। जब से लका गई है, तब से तेरे पिता और मुझे रात में नीद नहीं आती है। माता के वचन सुनकर रावण ने माता को धैर्य बधाया और कहा—मा! मैं जल्दी ही विजयार्थ के विद्याधरो को हराकर लका पर अधिकार करूँगा। तू शोक और चिन्ता छोड़ दे।

इसके पश्चात् तीनो भाई वहाँ से भीम नामक वन में जाकर घोर तपस्या करने लगे। कुछ ही समय में रावण को एक हजार विद्यायें सिद्ध हो गईं, कुम्भकर्ण को पाँच और विभीषण को चार विद्यायें सिद्ध हो गईं। इसके बाद रावण ने पुन तपस्या की और चन्द्रहास नामक तलवार प्राप्त हुई। विद्या-सिद्धि के समाचार जानकर सारे कुटुम्बी वहाँ आ गये और बड़ा हर्ष मनाने लगे।

एक दिन असुरसगीतनगर का दैत्य नरेश मय अपनी पुत्री मन्दोदरी को लेकर वहाँ आया। उसके साथ में मारीच आदि उसके मन्त्री भी थे। मन्दोदरी अत्यन्त सुन्दरी गुणवती कन्या थी। राजा मय ने अपनी उस कन्या का विवाह रावण के साथ धूमधाम से कर दिया।

इसके बाद रावण ने पद्मश्री, अशोकलता, विद्युत्प्रभा आदि अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह किये

मन्दोदरी उन सब रानियो मे मुख्य पटरानी रही । कुम्भकर्ण जिसका दूसरा नाम भानुकर्ण था-का विवाह तडिन्माला के साथ और विभीषण का विवाह राजीव सरसी नामक राजकन्या के साथ हो गया । यथासमय मन्दोदरी के दो पुत्र हुए—इन्द्रजीत और मेघवाहन ।

अब रावण की कुवेर से छेड़खानी शुरू हो गई । कुम्भकर्ण ने कुवेर की प्रजा लूट ली । कुवेर ने सुमाली के पास दूत भेज कर कहलवाया कि पहले तुम्हारा भाई मारा गया था । यदि तुमने अपने नातियो की उद्वण्डता को नहीं रोका तो तुम सबका वध निश्चित है । यह सुनकर रावण ने दूत को फटकार कर और अपराध का इन्द्र के मानित कर निकाल दिया । दूत ने जाकर कुवेर को सारे समाचार बताये । अतः क्रुद्ध होकर साथ युद्ध कुवेर ने अपनी सेवा सजाकर रणभेरी बजा दी । रावण भी राक्षसवशी और वानरवशी सेनाओं को लेकर जा डटा । मुज नामक पर्वत पर दोनों सेनाओं का घोर युद्ध हुआ । इस युद्ध मे रावण ने कुवेर पर वज्रदण्ड का प्रहार किया, जिसमे वह मूर्च्छित हो गया और उसकी सेना भाग खड़ी हुई । रावण ने कुवेर के पुष्पक विमान पर अधिकार कर लिया ।

अब रावण ने दक्षिण के राज्यों को जीतना प्रारम्भ किया । वह रुका नहीं, बढ़ता ही गया । तभी समाचार मिला कि वानरवशी यक्षराज और सूर्यरज ने अपनी किष्कु नगरी लेने के उद्देश्य से वानर द्वीप लूट लिया । यह समाचार सुनकर इन्द्र का भयकर लोकपाल यम उनसे युद्ध करने आया । उसने युद्ध मे यक्षराज को बन्दी बना लिया और सूर्यरज को मूर्च्छित कर दिया है । सारी वानर सेना का यम ने निर्दयतापूर्वक विध्वंस करना प्रारम्भ कर दिया । बहुत से वानरवशी मारे गये और बहुत से वानर बन्दी बना लिये गये ।

‘यम ने अपने यहाँ नरक जैसी व्यवस्था कर रखी है । वहाँ वह बन्दी वानरो को निर्मम पीडा दे रहा है । अब आप की ही शरण है ।’ यह सुनकर रावण सेना सहित किष्कुपुर पहुँचा । वहाँ उसका यम के साथ भयकर युद्ध हुआ । यम पराजित होकर भाग गया और इन्द्र के पास रथनूपुर जा पहुँचा । रावण ने बन्दी वानरो को मुक्त किया और यक्षराज को किष्कुपुर का राज्य दिया तथा सूर्यरज को किष्किन्धापुर का राज्य दिया । अपना गया हुआ राज्य पाकर वानरवशी बहुत प्रसन्न हुए और सुखपूर्वक रहने लगे । रावण तब राक्षसवशियों को लेकर समुद्र तट पर पहुँचा और बड़े उल्लास और समारोह के साथ लका मे प्रवेश किया ।

इसी बीच एक घटना और हो गई । रावण लका से बाहर गया हुआ था । तभी अलकारपुर के राजा खरदूषण ने—जो मेघप्रभ का पुत्र था, लका मे आकर रावण की बहन सुन्दरी चन्द्रनखा को हर लिया । कुम्भकर्ण और विभीषण ने उसका प्रतिरोध भी किया, किन्तु वे उसे छोडा नहीं सके । खरदूषण बडा बलवान था । जब रावण लौटा और उसने यह समाचार सुना तो वह बडा क्रोधित हुआ और खरदूषण से युद्ध करने को तैयार हो गया । तब उसकी पटरानी मन्दोदरी ने उसे समझाया—‘कन्या तो पराये घर की होती है । खरदूषण ने चन्द्रनखा का अपहरण कर लिया तो क्या बात हो गई । अपहृत कन्या को एक तो कोई लेगा नहीं । दूसरे खरदूषण योग्य पात्र है । वह चौदह हजार विद्याधरो का राजा है । अनेक विद्यायें उसे सिद्ध हैं । वह समय पडने पर आपकी सहायता भी कर सकता है । फिर पता नहीं, युद्ध मे किसकी जीत हो ।’ इस प्रकार समझाने से रावण भी युद्ध से विरत हो गया ।

अब उसने इन्द्र को जीतने के लिये कच किया । चक्रवर्त्तन उसके पास था, जिसकी रक्षा एक हजार देव करते थे । अनेक राजा और विशाल फौज उसके साथ थी । चलते चलते विन्ध्याचल पर नर्मदा के तट पर सेना ने पडाव डाला । प्रातः काल नदी की बालू इकट्ठी करके उस पर जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा विराजमान करके रावण भक्ति से पूजा करने लगा । जहाँ रावण पूजा कर रहा था, उससे ऊपर की ओर नदी का जल बाधकर माहिष्मती का राजा सहस्ररश्मि अपनी स्त्रियों के साथ जलक्रीडा कर रहा था । जब क्रीडा कर चुका तो उसने बाँध का पानी छोड दिया । पानी के पूर से रावण की पूजा मे बडा विघ्न पडा । वह क्रोधित होकर बोला कि यह क्या गडबड है । कुछ लोगो ने आगे जाकर पता लगाया और आकर रावण से निवेदन किया—‘महाराज ! माहिष्मती नरेश सहस्ररश्मि अपनी रानियो के साथ जल-क्रीडा कर रहा था । उसने यह पानी छोडा है । यह सुनकर

रावण ने क्रोध में भर कर उस पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया। सहस्ररश्मि भी युद्ध के लिए तैयार हो गया। दोनों ओर से युद्ध हुआ। अन्त में रावण ने उसे कौशान में नागपाश में बांध लिया। जब यह बात सहस्ररश्मि के पिता वाहुरथ को—जो चारण ऋद्धिधारी तपस्वी मुनि थे—जात हुई तो उन्होंने रावण को समझाया। फलतः रावण ने सहस्ररश्मि को सम्मानपूर्वक छोड़ दिया और उसके साथ बन्धुत्व भाव प्रगट किया। किन्तु सहस्ररश्मि अपमान से दुःखित होकर दिगम्बर मुनि बन गया।

तत्पश्चात् रावण आगे बढ़ा। मार्ग में उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया, पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। मार्ग में जो राजा पड़े, उन्हें जीतता हुआ उत्तर दिशा की ओर बढ़ा।

रावण अब इन्द्र के नगर की ओर बढ़ने लगा। किन्तु मार्ग में दुर्गध्यपुर नगर ने उसका अवरोध किया। इन्द्र ने विजयार्थ के मार्ग में रक्षा के लिए उस नगर में नलकुबेर को नियुक्त कर रखा था। नलकुबेर ने नगर के चारों ओर अभेद्य कोट बना रखा था तथा उसके द्वारों का पता नहीं चलता था। गुप्त द्वार बनाये हुए थे। कोट पर किसी शस्त्र का प्रभाव नहीं पड़ता था। रावण यह देखकर अत्यन्त चिन्तित हो गया। किन्तु नलकुबेर की स्त्री रम्भा ने ही कामासक्त होकर कोट को विजय करने की विद्या रावण को बता दी और रावण ने उसे सहज ही जीत लिया।

जब इन्द्र को जात हुआ कि रावण अत्यन्त निकट आ गया तो वह देव सेना लेकर मोर्चे पर आ डटा। दोनों ओर से भयानक युद्ध हुआ। वीर प्राणों का मोह छोड़कर युद्ध करने लगे। इस युद्ध में इन्द्र के पुत्र जयन्त ने राक्षसवशी माल्यवान के पुत्र श्रीमाली को मार डाला। इन्द्र के लोकपालों को कुम्भकर्णादि वीरों ने नागपाश से बांध लिया। तब इन्द्र और रावण में शस्त्रास्त्रों और विद्याओं से भयानक युद्ध हुआ। दोनों ही वीर थे। दोनों ने एक दूसरे के शस्त्रास्त्र और विद्याये बेकार कर दिये। एक दिन युद्ध करते हुए रावण बड़ी फुर्ती से अपने त्रैलोक्य-मण्डन हाथी से उछलकर इन्द्र के ऐरावत हाथी पर पहुँच गया और इन्द्र जब तक सम्हले, तब तक रावण ने उसे नागपाश में बांध लिया। देव सेना पराजित होकर भाग गई। रावण की जय-जयकार होने लगी। रावण ने माली और श्रीमाली की मृत्यु का बदला चुका दिया।

रावण विजयार्थ की दोनों श्रेणियों को जीत कर मार्ग के सारे राजाओं को जीतता हुआ लका लौटा। वहाँ आकर उसने इन्द्र, सोम, यम आदि को कारागार में डाल दिया। तब इन्द्र का पिता राजा सहस्रार प्रजा के अनुरोध को मानकर रावण के पास आया और इन्द्र को छोड़ देने का आग्रह किया। रावण ने सहस्रार का यथोचित सम्मान किया और हाथ जोड़कर बोला—आप जो आज्ञा देंगे वही होगा। और लोकपालों से विनोद में हँसते हुए बोला—इन्द्र जब मेरा दास बनकर गाँव के गधों की रखवाली करेगा, तब मैं उसे छोड़ दूँगा। इसके प्रतिरिक्त वायु मेरे यहाँ झाड़ू दे, यम पानी भरे, कुबेर मेरे हार की रक्षा करे, अग्नि रसोई बनावे तथा देवगण घड़ों में पानी भरकर लका के बाजारों में छिड़काव करें तो मैं सबको छोड़ दूँगा, अन्यथा नहीं।

यह विनोद बड़ा मर्मभेदी था। लोकपाल सुनकर लज्जा से अवनत मुख हो गये। तब रावण ने सबको मुक्त कर दिया और स्नान भोजन कराके इन्द्र से बोला—आज से तुम मेरे चौथे भाई हो। तुम यहाँ लका में रहकर राज्य करो और मैं रथनूपुर चला जाऊँगा। फिर सहस्रार से बोले—आप हमारे पिता तुल्य हैं। इन्द्र मेरा चौथा भाई है। इसका इन्द्र पद और लोकपालों का पद यथापूर्व रहेगा। दोनों श्रेणियों पर इसका ही अधिकार रहेगा। यदि यह और भी राज्य चाहे तो ले ले। आप चाहे यहाँ बिराजें या रथनूपुर, दोनों आपकी ही हैं।

इन बचनों से सहस्रार अत्यन्त सन्तुष्ट हो इन्द्र आदि सहित वहाँ से चलकर रथनूपुर आये। किन्तु मान भंग के कारण इन्द्र और लोकपालों का मन इयथा से भर गया था। उनका मन किसी काम में न लगता था। इन्द्र निरस्त संसार के स्वरूप और संवत्स की क्षणभंगुरता के विमूढन में डूबा रहता। अन्त में एक दिन वह पुत्र की राक्षस-भार बिकार लोकपालों और अनेक राजाओं के साथ विगम्बर धुनि बन गया और वीर तपस्या करके संसार से मुक्त हो गया।

रावण को चक्ररत्न तो पहले ही प्राप्त हो चुका था। अब उसने दिग्विजय करना प्रारम्भ किया। वह प्रभजन के वेग से चला। राजा लोग उपहार देकर उसका स्वागत करते और उसकी आधीनता स्वीकार कर लेते थे। किन्तु जो उसकी आधीनता स्वीकार नहीं करते थे, उनको वह पराजित करके कठोर दण्ड देता था। इस प्रकार अठारह वर्ष में उसने भरत-क्षेत्र के तीनों खण्डों को जीत लिया और अर्धचक्री बनकर वह लका में रहकर शासन करने लगा।

रावण चरित्रनिष्ठ धार्मिक व्यक्ति था। वह परस्त्री की मन में भी कभी वांछा नहीं करता था। जब वह इन्द्र को जीतने चला और इन्द्र द्वारा नियुक्त राजा नलकुवेर के नगर दुर्लघ्यपुर एक उज्ज्वल पहलू पहुँचा तो वहाँ मायामय कोट को नहीं जीत पाया। उसने अनेक प्रयत्न किये, नाना उपाय किये। किन्तु नाम के अनुष्ण दुर्लघ्यपुर दुर्लघ्य ही रहा। इस प्रकार उसे वहाँ पड़े पड़े छ माह हो गये। वह बड़ा चिन्तातुर हो गया—यो कब तक यहाँ पड़ा रहा जा सकता है और बिना इसे जीते आगे भी कैसे बढ़ा जा सकता है। पीछे लौटना रावण के स्वभाव के विरुद्ध था।

रावण की कीर्ति का सौरभ नलकुवेर की पटरानी रम्भा के कानों में भी पड़ा। वह अपने स्वयंवर के समय से ही रावण में अनुरक्त थी, किन्तु स्वयंवर के समय रावण पहुँच नहीं पाया था, अतः मजदूरन रम्भा ने नलकुवेर के गले में वरमाला डाल दी थी। किन्तु अब रावण को अपने निकट आया जानकर उसका सुप्त प्रेम पुनः जाग उठा। उसने अपने मन की बात अपनी सखी और दासी चित्रला से कही और उससे यह भी कह दिया कि अगर तू मुझे जीवित देखना चाहती है तो कोई उपाय कर, जिससे मैं रावण से मिल सकूँ। चित्रला उसे आश्वासन देकर गुप्त मार्ग से रावण के कटक में पहुँची और रावण से मिलकर उसने अपनी स्वामिनी का अभिप्राय निवेदन किया। रावण ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—'भद्र'। मैं परस्त्री से कभी समागम नहीं करता। यह बड़ा निन्द्य कर्म है। चित्रला निराश होकर वापिस जाने लगी तो रावण के लघु भ्राता विभीषण ने जो उसका मन्त्री भी था, रावण को समझाया—'आर्य'। आपको थोड़ा असत्य बोलकर भी इस समय दासी की बात स्वीकार कर लेनी चाहिये। इससे रम्भा आपको कोट की चावी दे देगी। रावण ने बड़े अनमन्य भाव से दासी को बुलाकर कह दिया—तू अपनी स्वामिनी से जाकर कह देना कि मैं उनसे अवश्य मिलूँगा, किन्तु चोरी की तरह नहीं। जब मैं नगर में पहुँचूँगा, तब मिलूँगा।

दासी प्रसन्न होकर लौट गई और जाकर रम्भा को सब बातें बता दी। रम्भा अत्यन्त कामासक्त हो उठी और उसने शालिका नाम की विद्या रावण के पास भेज दी, जिसके द्वारा रावण नगर के भीतर पहुँच गया और नलकुवेर को बन्दी बना लिया।

जब नलकुवेर को राजसभा में रावण के समक्ष उपस्थित किया गया तो रावण ने रम्भा को भी बुलाया। रम्भा पुलकित होकर आशा सजीये रावण के निकट पहुँची तो रावण ने कहा—'माता'। उस अप्रत्याशित संबोधन पर रम्भा चौंकी तो रावण बोला—तुमने मुझे विद्या दी है, अतः तुम मेरी गुरुआणी हो। और गुरुआणी माता के समान होती है। पर पुरुष की वामना करना महापाप है। तुम अपने पति नलकुवेर में अनुरक्त रहो। तुमने मुझे विद्या दी है, अतः मैं तुम्हारे लिये तुम्हारे पति को मुक्त करता हूँ।' यो कहकर उसने नलकुवेर को मुक्त कर दिया। रम्भा बड़ी लज्जित हुई।

यह रावण के महान् चरित्र का एक उज्ज्वल पक्ष है, जिसको लोगो ने समझा नहीं या उद्देश्य की है।

किष्किंधा नगर के दानरवशी राजा सूर्यरज और उसकी रानी चन्द्रमालिनी के बाली नामक पुत्र हुआ। वह महा बलवान, धार्मिक था। उसके कुछ समय पश्चात् सुग्रीव नामक पुत्र रावण का पराभव और श्रीप्रभा नाम की कन्या उत्पन्न हुई। इसी प्रकार किष्कुपुर नगर के राजा यक्षरज और उसकी रानी हरिकान्ता के नल और नील नामक दो पुत्र हुए। सूर्यरज के पश्चात् बाली अपनी स्त्री ध्रुवा के साथ राज्य शासन करने लगा।

बाली सम्यग्दृष्टि था। उसकी प्रतिज्ञा थी कि देव, गुरु और शास्त्र के अतिरिक्त किसी को नमस्कार नहीं

करूँगा। यह अभिमान की बात नहीं थी, बल्कि यह तो उसके धर्म का एक अनिवार्य अंग था। अतः वह रावण के राज्य दरवार में नहीं जाता था। क्योंकि वहाँ जाने पर रावण को नमस्कार करना पड़ता, न करता तो व्यर्थ में युद्ध होता। रावण ने समझा कि वाली मुझमें विमुख हो गया है। अतः उसने वाली के पास दूत भेजा। दूत ने आकर वाली से कहा—मेरे स्वामी रावण ने आपसे कहलवाया है कि हमने तुम्हारे पिता सूर्यरज को यम से छुड़ाकर किष्किंधा का राज्य दिया था। तबसे हम दोनों में प्रेम चला आ रहा है। किन्तु तुम मुझमें विमुख हो गये हो। अतः तुम आकर मुझे नमस्कार करो और अपनी बहन श्रीप्रभा का विवाह मेरे साथ कर दो, जिससे हमारा प्रेम बना रहे, अन्यथा तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

वाली ने दूत की बात स्वीकार नहीं की और युद्ध के लिए तैयार हो गया। किन्तु मंत्रियों ने उसे समझाया—‘महाराज! व्यर्थ युद्ध करके यों हिंसा का पाप मोल लेते हैं और फिर रावण बड़ा बलवान् है। वह अर्धचक्रो है। उससे जीत पाना कठिन है।’ किन्तु वाली बोला—‘मैं रावण को चूर-चूर कर सकता हूँ।’ फिर उसने सोचा—वास्तव में इस क्षणभंगुर राज्य के लिए युद्ध करना बुद्धिमानी नहीं है। और यों सोचकर वह राजपाट छोड़कर दिगम्बर मुनि हो गया और वनों में जाकर तपस्या करने लगा।

रावण को जब दूत ने आकर भव नमानार बनाये तो वह क्रुद्ध हो उठा और चतुरगिणी मेना सजाकर वाली का मानगदंन करने किष्किंधापुर आ पहुँचा। गुप्तीव ने—जो वाली के पदचात् राजा हो गया था—रावण की अगवानी की और अपनी बहन श्रीप्रभा का विवाह रावण के साथ कर दिया तथा उगकी अनुमति ने राज्य करने लगा।

एक बार रावण पुष्पक विमान में नित्यालोकपुर में लीटता हुआ लका जा रहा था कि उसका विमान एकाएक रुक गया। तब उसने मारीच से कहा—‘देखो तो, मेरा विमान किसने रोक लिया है। मारीच ने नीचे जाकर देखा कि एक तपस्वी मुनिराज कैलाश पर्वत पर तपस्या कर रहे हैं। उन्हीं के प्रभाव में विमान रुक गया है। उसने यह बात रावण से जाकर कही। रावण मुनिराज के दर्शन करने नीचे उतरा किन्तु वहाँ वाली मुनि को तपस्या करते हुए देखकर उसका पुराना क्रोध उमड़ पड़ा और बोला—‘अरे मुनि! तूने अब भी वर नहीं छोड़ा जो मेरा विमान रोक लिया है। मैं तुझे अभी इसका दण्ड देता हूँ।’ यों कहकर वह विद्या के बल से पर्वत के नीचे धुस गया और पर्वत को उठाने लगा। पर्वत पर रहने वाले पशु भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। वृक्ष टूट-टूट कर गिरने लगे। देवपूजित जिन मन्दिर हिल उठे। तब मुनिराज ने अर्धध्यान से जाना कि यह कुकृत्य दशानन का है। उसके इस कृत्य से भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित विनाल मन्दिर भी नष्ट हो जायेंगे। मैं पुण्योपाजन के कारणभूत इन मन्दिरों की रक्षा करूँगा।

यों सोचकर वाली मुनिराज ने पैर के अंगूठे से पर्वत को दबाया। उसके भार से दशानन पिचने लगा। उसके सारे अंग पीड़ा से सिकुड़ गये। वह भयानक पीड़ा के कारण इतना जोर से रोने लगा कि जगत में तबसे उसका नाम रावण विख्यात हो गया। उसके रोने का शब्द सुनकर उसकी रानियाँ आईं और मुनिराज के चरणों में गिरकर पति की प्राण-भिक्षा मागने लगी। तब मुनिराज ने दया करके अपना अंगूठा ढीला कर दिया। देवी ने पचाश्चर्य की वर्षा की। रावण को भी बुद्धि आ गई और वह वाली के चरणों में गिर कर स्तुति करने लगा और क्षमा मागने लगा।

इस काण्ड से लज्जित होकर रावण निकट के चैत्यालय में गया और भगवान की पूजा करने लगा। वह भगवान की भक्ति में इतना वेसुध हो गया कि अपनी भुजाओं से उसने आते निकाली और उन्हें वीणा की तरह बजाकर भगवान की स्तुति पढ़ने लगा। रानियाँ नृत्य करने लगीं।

उसकी भक्ति से प्रभावित होकर नागकुमार देवों का इन्द्र धरणेन्द्र वहाँ आया और बोला—‘मैं तेरी भक्ति से बड़ा प्रसन्न हूँ। तू कोई वर माग।’ रावण बोला—‘नागेन्द्र! भगवान की भक्ति से बढ़कर और क्या चीज तुम्हारे पास है जो मैं मागूँ।’ किन्तु धरणेन्द्र ने कहा—‘मेरे दर्शन निष्फल न हो अतः मैं तुम्हें यह शक्ति देता हूँ। इससे देव और दानव तक पराजित हो जाते हैं।’ यों कहकर उसने रावण को शक्ति प्रदान की। रावण एक महीने तक कैलाश पर्वत पर रहा। उसने अपने कृत्य का वहाँ रहकर प्रायश्चित्त किया और फिर लका को लौट गया।

बाली मुनि ने कर्मों का नाश कर मुक्ति प्राप्त की।

ज्योतिपुर नरेश बल्लिशिख की पुत्री सुतारा थी। वह बड़ी रूपवती थी। उसकी याचना चक्रपुर के राज-कुमार साहसगति और सुग्रीव दोनों ने की थी। किन्तु बल्लिशिख ने साहसगति को अल्पायु जानकर अपनी पुत्री का विवाह सुग्रीव के साथ कर दिया। उससे दो पुत्र उत्पन्न हुए—अग और अगद। किन्तु साहसगति के मन से सुतारा निकल नहीं सकी। वह उसे प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा करता रहा। इसके लिए वह रूप-परिवर्तिनी शेषुषी विद्या का साधन करने लगा।

एक बार रावण अपने परिवार के साथ सुमेरु पर्वत पर जिन मन्दिरों के दर्शनो के लिए गया हुआ था। वहाँ से लौटते हुए विभक्त पर्वत पर उसने अपार भीड़ देखी। पूछने पर मारीच से ज्ञात हुआ कि पर्वत पर अनन्त-वीर्य मुनि को आज ही केवलज्ञान हुआ है। यह सुनकर रावण बड़े भक्ति भाव से विमान से उतरा और केवली भगवान के दर्शन किये। भगवान का उपदेश सुनकर अनेक लोगो ने नियम व्रत लिए। उस समय किसी ने रावण से भी कहा कि आप भी इस समय कुछ व्रत लीजिये। रावण बोला—‘मेरा मन सदा पापी रहता है अतः मैं कोई व्रत नहीं ले सकता। फिर भी मैं एक व्रत लेना चाहता हूँ कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी, मैं उसके साथ बलात्कार नहीं करूँगा।’ यह कह कर उसने गुरु से यह व्रत ले लिया। कुम्भकर्ण और विभीषण ने गृहस्थ के व्रत लिए।

रावण द्वारा
व्रत-ग्रहण

विजयार्थ की दक्षिण श्रेणी में आदित्यपुर नाम का एक नगर था। वहाँ के राजा प्रह्लाद और रानी केतुमती थी। उनके पवनकुमार नाम का एक पुत्र था। एक बार राजा प्रह्लाद अपने परिवार सहित कैलाश पर्वत पर तीर्थ-वन्दना को गये। उसी समय महेन्द्रपुर के राजा महेन्द्र अपनी रानी मनोवेगा के साथ हनुमान का जन्म तीर्थयात्रा को आये। दोनों राजाओं में परस्पर परिचय और मित्रता हो गई। राजा महेन्द्र ने प्रह्लाद से निवेदन किया कि मेरे अजना नाम की एक कन्या है। मेरा विचार आपके पुत्र पवनकुमार के साथ उसका सम्बन्ध करने का है। राजा प्रह्लाद ने भी प्रसन्नतापूर्वक इस सम्बन्ध की स्वीकृति दे दी और सम्बन्ध पक्का कर दिया। दोनों ओर से विवाह की तैयारियाँ होने लगी।

इसी बीच पवनकुमार ने भी अजना के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा सुनी। वह उसे देखने को व्याकुल हो गया और अपने मित्र प्रहस्त से बोला—मित्र! यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहते हो तो मुझे अजना को एक बार दिखा दो। प्रहस्त ने वाद-विवाद के बाद अजना को उसी रात को दिखाना स्वीकार कर लिया।

रात्रि को विमान में बैठकर दोनों मित्र महेन्द्रपुर नगर में अजना के महल पर उतरे और सातवीं मजिल पर झरोखे में से उन्होंने अजना को देखा। उसके अनिष्ट सौंदर्य को देखकर पवनकुमार प्रसन्न हो गया। उस समय अजना सखियों से घिरी बैठी थी और सखियाँ उससे विनोद कर रही थी। कोई पवनकुमार के रूप-गुणों की प्रशंसा कर रही थी, तभी मिश्रकेशी नाम की सखी ने पवनकुमार की निन्दा की। अजना लज्जावश मौन बैठी रही। पवन कुमार ने अपनी निन्दा सुनी तो वह बड़ा क्रोधित होकर अजना को मारने उठा—क्यों उसने मेरी निन्दा सुन ली। वह अवश्य पर पुरुष में आसक्त है। किन्तु प्रहस्त ने उसे समझा बुझाकर शान्त किया। किन्तु अजना के प्रति दुर्भाव लेकर पवनकुमार प्रहस्त के साथ लौट आया। उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ। उसने दूसरे दिन महेन्द्रपुर पर चढ़ाई करने के उद्देश्य से रणभेरी बजा दी और महेन्द्रपुर की ओर सेना लेकर चल दिया। महेन्द्र ने आकर कुमार के पैर पकड़ लिए। उसके पिता ने भी समझा-बुझाकर शान्त किया। पवनकुमार ने मन में सोचा कि इस समय तो इनकी बात मान लेनी चाहिए। विवाह के बाद उस दुष्टा को जन्म भर के लिए मैं छोड़ दूँगा। इस तरह सोचकर वह युद्ध से निवृत्त हो गया। यथासमय दोनों का विवाह हो गया और विदा होकर आदित्यपुर आ गये।

नगर में कापिस आने पर कुमार ने अजना को महल के एक एकान्त कक्ष में रख दिया। वह उससे न बात करता, न उसकी ओर देखता ही था। अजना पति के इस अकारण क्रोध से बड़ी दुखी रहती थी और दिन-रात विलाप किया करती थी। घर के सभी लोग भी अजना के दुःख से दुखी रहते थे।

इसी बीच राजा वरुण से रावण का युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में वरुण के पुत्रों ने खरदूषण को पकड़

लिया। तब रावण ने सब आधीन राजाओं को सेना लेकर आने का निमन्त्रण भेजा। प्रह्लाद के पास भी निमन्त्रण-पत्र आया। वह जब सेना लेकर जाने लगा तो पवनकुमार अपने पिता को रोककर बोला—युवक पुत्र के होते हुए वृद्ध पिता का युद्ध के लिए जाना उचित नहीं है। और सेना लेकर चल दिया। चलते समय अजना द्वार पर खभे के सहारे खड़ी थी। किन्तु पवनकुमार ने उसकी ओर देखा तक नहीं और वहाँ से चल दिया।

वहाँ से चल कर वह मानसरोवर पहुँचा और उसके तट पर ही पडाव डाल दिया। सन्ध्या के समय वह अपने मित्र के साथ तट पर बैठा हुआ था। उसने देखा कि एक चकवी अत्यन्त दुखी हो रही है। उसने मित्र से इसका कारण पूछा। मित्र बोला—यह रात्रि में पति-वियोग के कारण दुखी है। यह सुनते ही पवनकुमार सोचने लगा—एक पक्षी केवल रात्रि भर के लिए अपने पति के वियोग में इतनी दुखी है, तो अजना मेरे वियोग में कितनी दुखी होगी जिसे मैंने बाईस वर्ष से त्याग दिया है।

यह विचार आते ही मित्र से बोला—मित्र! मैं अजना के वियोग को अब एक पल भर के लिए भी सह नहीं सकता। यदि तुम मेरा जीवन चाहते हो तो मुझे अजना से मिला दो। मित्र ने उसे बहुत समझाया कि इस समय जाने से लोक में बड़ी हँसी होगी। किन्तु वह अपने आतुर स्वभाव के कारण जिद पर अड गया। आखिर प्रहस्त रात्रि होने पर गुप्त रूप से उसे विमान पर लेचला और वे शीघ्र ही अजना के महल पर जा उतरे। प्रहस्त ने अन्दर जाकर अजना को पवनकुमार के आने की सूचना दी। अजना और पवनकुमार बड़े प्रेम से मिले। और पवनकुमार रातभर उनके पास रहे। प्रातः जब पवनकुमार जाने लगे तो अजना हाथ जोड़ कर बोली—नाथ! मैं अभी ऋतुमती होकर चुकी हूँ। संभव है, मुझे गर्भ रह जाय। अब तक आप मुझसे बोलते नहीं थे। ऐसी दशा में लोग मेरा अपवाद करेगे। पवनकुमार बोला—‘देवि! चिन्ता मत करो। तुम्हारे गर्भ प्रकट होने से पहले ही मैं यहाँ लौट आऊँगा। फिर भी मैं अपने नाम की यह मुद्रिका दिये जाता हूँ। उससे अपवाद का अवसर नहीं आयेगा।’ यो कहकर और मुद्रिका देकर वह अपने मित्र के साथ वहाँ से जैसे गुप्त रूप से आया था, वैसे ही गुप्त रूप से चला गया।

कुछ दिनों में अजना के गर्भ प्रकट होने लगा। उधर युद्ध लम्बा खिंच जाने से पवनकुमार जल्दी नहीं लौट सका। अजना के यह गर्भ देखकर उसकी सास केतुमती को सदेह हुआ। उसने अजना से पूछा तो अजना ने रात में पवनकुमार के आने की सारी घटना बतादी और उसके प्रमाण में उसने अपने पति द्वारा दी हुई मुद्रिका भी दिखाई। किन्तु केतुमती को विश्वास नहीं हुआ कि उसका पुत्र जिससे बाईस वर्षों तक बोला तक नहीं, उससे मिलने वह चोरी से रात में छिपकर बयो आवेगा। अवश्य यह इस दुश्चरित्र स्त्री का पापाचार है। अजना ने अपनी दासी वसन्तमाला की भी साक्षी दिलाई। किन्तु केतुमती का सदेह बढ़ता ही गया। उसने क्रोध में भर कर गर्भवती अजना को कमर

बाईस घड़ी की भूल

बाईस वर्ष का दुःख

राजा सुकठ के दो रानियाँ थी—हेमोदरी और लक्ष्मी। लक्ष्मी भगवान की पूजा-उपासना में लगी रहती। एक दिन सौतिया डाह से हेमोदरी ने भगवान की प्रतिमा छुपा दी। लक्ष्मी दूसरे दिन प्रतिमा को न देखकर बड़ी दुखी हुई। उसने आहार-जल का त्याग कर दिया। सयोगवश सयमश्री नामक एक आर्यिका महल में पधारी और लक्ष्मी के मुख से भगवान की प्रतिमा की चोरी की बात सुनकर वे सीधी हेमोदरी के पास पहुँची। हेमोदरी ने आर्यिका को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और उत्तम आसन पर बैठाया। तब आर्यिका बोली—पूर्व पुण्य से तुम्हें राजसपदा और वैभव मिला। तू इस जन्म में भी धर्म कर। तूने द्वेषवश भगवान की प्रतिमा छुपा दी है, वह दे दे। प्रतिमा चुराने जैसा पाप ससार में दूसरा नहीं है। इससे नरक गति में जाना पडता है। हेमोदरी यह सुनकर भयभीत हो गई और उसने प्रतिमा लाकर दे दी, बड़ा प्रायश्चित्त किया, पूजा और प्रभावना की।

हेमोदरी ने केवल बाईस घड़ी तक भगवान की प्रतिमा को छिपाये रखा था। उसका यह फल भोगना पडा कि उसे अजना के जन्म में बाईस वर्ष तक पति का वियोग सहना पडा।

मे जोर से लात मारी और क्रोध मे भर कर उसे आदेश दिया कि तू इसी वक्त मेरे घर से निकल जा और अपना मुह कहीं जाकर काला कर । राजा प्रह्लाद ने अपनी स्त्री की इस राय से सहमति दिखाई । वेतुमती ने अजना के साथ वसन्तमाला को भी घर से निकाल दिया ।

वहाँ से निकल कर दोनो निरपराधिनी श्रवलाये अपने कर्मों को दोष देती हुई और लोकनिन्दा और लोक-उपहास का भार ढोती हुई चल दी । चलते-चलते उनकी दशा बुरी हो गई । वे अन्त मे अपने पिता महेन्द्र के महलों पर पहुँची । द्वारपाल ने उनसे सारा समाचार ज्ञात कर महाराज को समाचार दिया । किन्तु जब राजा को यह ज्ञात हुआ कि युक्तमं के कारण अजना को उसके घर से निकाल दिया है तो उन्होंने भी अपने घर मे स्थान देने से इनकार कर दिया । वहाँ से निराश होकर अजना अपने परिवारी और सम्बन्धियों के द्वार पर भी गई । किन्तु उसे किसी ने आश्रय नहीं दिया ।

सब ओर मे निराश होकर अजना अपनी सखी के साथ वन को चलदी । राह मे उसे अपार कष्ट हुए । वह दुःख मे बार बार विलाप करने लगती, किन्तु सखी उसे धीरज बधाती । यो चलते चलते वे एक पर्वत की गुफा के निकट पहुँची । वहाँ उन्होंने एक मुनि को ध्यान लगाये बैठे देखा । मुनि को देख कर दोनो को सन्तोष हुआ । उन्होंने मुनि को नमस्कार किया । मुनि महाराज ने उन्हें आशीर्वाद दिया और उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा 'पुत्री ! तू दुःख मत कर । तेरा पुत्र लोकपूज्य होगा और पति से भी शीघ्र ही तेरा मिलन होगा ।'

मुनि वहाँ मे अन्यत्र चले गये और दोनो सखी उस गुफा मे रहने लगी तथा जगल के फलो और भरने वे जल से अपना निर्वाह करने लगी । एक दिन एक भयानक सिंह आया और गुफा के द्वार पर भयकर गर्जना करने लगा । अजना उसे सुनकर अत्यन्त भयभीत हो गई । तब उसके शील और पुण्य के प्रभाव से एक देव ने अष्टापद का रूप धारण कर सिंह को भगा दिया ।

ती मास पूर्ण होने पर अजना के पुत्र हुआ । पुत्र महनीय पुण्य का अधिकारी था । उसके तेज से गुफा मे प्रकाश हो गया । अजना पुत्र का मुख देख कर एक बार तो अपने सारे दुःखो को भूल गई । दोनो सखियाँ बड़े दुलार से उसका पालन करने लगी । धीरे-धीरे वह लोकोत्तर पुत्र चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा ।

एक दिन वसन्तमाला ने आकाश मे एक विमान देखा । उसे देखकर अजना भयभीत हो गई - कही कोई शत्रु मेरे पुत्र को मारने तो नहीं आया । इस आशका से वह विलाप करने लगी । उसके विलाप का स्वर सुन कर विद्याधर ने विमान नीचे उतारा और अपनी स्त्रियों सहित वह दोनो सखियों के पास गया । वहाँ जाकर उसने उनका परिचय पूछा । वसन्तमाला ने सारी घटना सुनाकर परिचय दिया । परिचय सुनकर वह विद्याधर बोला— अरे यह अजना तो मेरी भानजी है । बहुत दिन से इसे नहीं देखा था । अत मैं इसे पहचान नहीं सका । मेरा नाम प्रतिसूर्य है । मैं हनुरूह द्वीप का रहने वाला हूँ । फिर अजना को उसने उसके बचपन की अनेक घटनाएँ सुनाकर सान्त्वना दी । और बालक के लग्न देखकर बोला— बालक का जन्म चैत्र कृष्ण अष्टमी को रात्रि के पिछले प्रहर मे श्रवण नक्षत्र मे हुआ है । अत यह सुखी और पराक्रमी होगा ।' फिर वह विमान मे बैठा कर सबको ले चला ।

विमान मे मोतियों की झालर टगी हुई थी । मामा-भानजी बातो मे निमग्न थे । बालक माता की गोद मे बैठा हुआ हिलती हुई मालाओ को पकड़ने को बार-बार हाथ मारता था । एक बार उसने ज्यो ही माला पकड़ने को जोर मारा तो माता की गोद से खिसक कर विमान मे से नीचे जा गिरा । बालक के गिरते ही अजना जोरो से चीख उठी । सभी लोग इस आकस्मिक मर्यान्तिक विपत्ति से त्रस्त हो उठे । विमान को दुःशका के साथ नीचे उतारा किन्तु वहाँ सवने आश्चर्य के साथ देखा कि बालक जिस शिला पर गिरा था, वह शिला तो छार छार हो गई है । किन्तु बालक के कोई चोट नहीं आई है और वह मजे मे पडा पडा अगुठा चूस रहा है । अजना ने बड़ी पुलक से पुत्र को उठा लिया और छाती से चिपटा कर चूमने लगी । सब लोगो को विश्वास हो गया कि जब बचपन मे इसमे ऐसी दैवी शक्ति है तो यह निश्चय ही चरम शरीरी है ।

सब लोग पुन विमान मे बैठे और आनन्द के साथ हनुरूह द्वीप मे पहुँचे । वहाँ अजना और उसके पुत्र का गाजे वाजे के साथ स्वागत हुआ और पुत्र-जन्मोत्सव बड़े धूमधाम और समारोह के साथ मनाया गया । उसका

नाम हनुमान रक्मा गया। बालक वहाँ रहकर धीरे धीरे बड़ा होने लगा।

उधर रावण के पास पवनकुमार अपनी सेना के साथ पहुँचा और वरुण में भयानक युद्ध हुआ। युद्ध में पवनकुमार ने बड़ी वीरता दिखाई। उसने वरुण को बन्दी कर लिया। वरुण को अन्त में खरदूषण को छोड़कर रावण के साथ सन्धि करनी पड़ी।

युद्ध समाप्त होने पर पशुपति और सम्मान पाकर पवनकुमार अपने नगर की ओर लौटा। अब उसे अपनी प्राणप्रिया की याद सताने लगी। नगर में पहुँचने पर अपने विजयी राजकुमार का नगरवासियों ने हादिक स्वागत किया। उसे तो अजना से मिलने की शीघ्रता थी, वह स्वागत-मत्कार में निवृत्त कर सीधा अजना के महल में पहुँचा। किन्तु महल को सूना पाकर वह व्याकुल हो गया। वह गारे कक्षों में अजना का नाम नेता हुआ फिरने लगा। उसने दास दासियों से अजना के बारे में पूछा, किन्तु सब नीचा मित्र किये चुप हो गये। उनके मित्र प्रहस्त ने अजना के बारे में सब बातें पता लगाकर पवन से कही। तत्काल दोनों मित्र विमान में महेन्द्रपुर आये। वहाँ भी अजना को न पाकर वह वहाँ से उसे ढूँढने चल दिया। प्रहस्त को उगने समाचार देने के लिए आदित्यपुर भेज दिया और स्वयं वनो में ढूँढने लगा। वह अजना के वियोग में बिलकुल विक्षिप्त हो गया, न उसे खाने की सुध रही, न जल की चिन्ता। वह अजना-अजना चिल्लाता फिरता था।

उसके पिता प्रल्हाद पुत्र के समाचार सुनकर अत्यन्त चिन्तित हो गये। उन्होंने चारों ओर अजना और पवनकुमार को ढूँढने अपने आदमी भेज दिये और स्वयं भी महेन्द्रपुर जाकर और महेन्द्र को लेकर ढूँढने चल दिये। जब प्रतिसूर्य के पास पवनकुमार के बारे में समाचार पहुँचे तो अजना अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगी। प्रतिसूर्य ने उसे धैर्य बधाकर कहा—बेटी! चिन्ता मत कर, मैं पवनकुमार को ढूँढकर आज ही यहाँ ले आऊँगा। यो कहकर वह कुमार को ढूँढने चल दिया। वह और राजा प्रल्हाद आदि ढूँढते-ढूँढते उसी वन में पहुँचे और पवनकुमार को पाकर बड़े प्रसन्न हुए। किन्तु पवनकुमार ने किसी से कोई बात नहीं की। वह चुपचाप बैठा रहा। तब प्रतिसूर्य ने उसे अजना के सब समाचार सुनाये। फलतः पवनकुमार अत्यन्त आह्लादित होकर प्रतिसूर्य से गले मिला। सब लोग प्रसन्नतापूर्वक हनुरुह द्वीप आये और अजना को पाकर सब लोग बड़े हर्षित हुए। कुछ समय पश्चात् सब लोग लौट गये किन्तु पवनकुमार वहीं रह गये।

धीरे-धीरे हनुमान यौवनसम्पन्न हुए और उन्होंने अनेक विद्याओं का साधन किया। एक बार पुनः रावण का वरुण के साथ युद्ध हुआ। रावण का निमन्त्रण पाकर सभी राजा अपनी सेनायें लेकर रावण के पास पहुँचे। पवनकुमार और हनुमान भी गये। हनुमान के रूप और यौवन को देखकर रावण बड़ा प्रसन्न हुआ और बड़े प्रेम से हनुमान से मिला।

दोनों पक्षों में भयानक युद्ध हुआ। इस युद्ध में हनुमान ने असाधारण वीरता दिखाई। उन्होंने वरुण के सौ पुत्रों को अपनी लागूल विद्या से बाध लिया और रावण ने वरुण को नागणश से बाध लिया। इस प्रकार हनुमान के असाधारण शौर्य के कारण रावण की विजय हुई।

रावण ने प्रसन्न होकर अपनी बहन चन्द्रनखा की पुत्री अनगकुसुमा का विवाह हनुमान के साथ कर दिया और कुण्डलपुर का राज्य देकर सब विद्याधरों का प्रमुख बना दिया। बाद में सुग्रीव और किन्नरपुर के राजा ने भी अपनी कन्याओं का विवाह हनुमान के साथ कर दिया।

एक दिन राजा दशरथ की रानी अपराजिता (कौशल्या) रात्रि में सुखपूर्वक सो रही थी। श्री रामचन्द्र उसने रात्रि के पिछले पहर में चार स्वप्न देखे। वह उठी और अपने पति के पास जाकर आदि का जन्म और उनके चरणों में नमस्कार करके बोली—नाथ! मैंने आज रात्रि के अन्तिम पहर में स्वप्न में हाथी, सिंह, सूर्य और चन्द्रमा देखे हैं। राजा सुनकर बोले—'देवि! तुम्हारे अत्यन्त प्रभावशाली, सुखी और शत्रुओं का दमन करनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा। उसी रात्रि को ब्रह्म स्वर्ग से चलकर एक जीव रानी के गर्भ में आया। तबसे रानी का मन भगवान की पूजा में अधिक लगने लगा।

कुछ दिनों के बाद सुमित्रा ने भी रात्रि के पिछले प्रहर में पाँच स्वप्न देखे—सिंह, पर्वत पर रक्खा हुआ सिंहासन, गम्भीर समुद्र, उगता हुआ सूर्य और भागलिक चक्ररत्न। रानी ने उठकर पति से स्वप्नों का फल पूछा तो राजा ने बताया—देवि! तुम्हारे गर्भ में चक्ररत्न से त्रिखण्ड को विजय करने वाला यशस्वी पुत्र उत्पन्न होगा। रानी स्वप्न का फल सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई।

नौ माह पूर्ण होने पर अपराजिता के फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को सूर्य के समान कान्ति वाला शुभलक्षण पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र के वक्षस्थल पर पद्म चिन्ह था। अतः बालक का नाम पद्मनाभ (रामचन्द्र) रक्खा गया। सुमित्रा ने भी शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण पुत्र को जन्म दिया। उस समय शत्रुओं के घर में भयकारी अपशकुन हुए। सूर्य-चन्द्रमा के समान दोनों बालक श्रीडा करने लगे।

केकामती ने भरत नाम के पुत्र को जन्म दिया तथा सुप्रभा ने शत्रुघ्न को। चारों पुत्र इतने शोभित होते थे, मानो ससार को सहारा देने वाले चार स्तम्भ हों।

राजा ने ऐहिरूढ नामक एक विद्वान् ब्राह्मण को जो सब शस्त्र-शास्त्रों का ज्ञाता था, चारों राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा के लिये नियुक्त किया और अल्प समय में ही चारों पुत्र शस्त्र-शास्त्रों में निष्णात हो गये।

राजा जनक के भामण्डल और सीता का जन्म—मिथिला के राजा जनक की स्त्री विदेहा गर्भवती हुई। यथासमय विदेहा के युगल सन्तान उत्पन्न हुई—एक पुत्र और दूसरी पुत्री। पुत्र के उत्पन्न होते ही पूर्व जन्म के वैर के कारण एक देव उसे उठाकर ले गया और उसे आभूषण पहना कर तथा कानों में देदीप्यमान कुण्डल पहनाकर पृथ्वी पर लिटा गया।

चन्द्रगति नामक एक विद्याधर अपने विमान में आकाश मार्ग से जा रहा था। उसका दृष्टि देदीप्यमान आभूषण पहने बालक पर पड़ी। वह नीचे उतरा और तेजस्वी बालक को देखकर वह उसे उठाकर अपने महलो में वापिस गया। वहाँ उसकी रानी पुष्पवती अपनी क्षम्या पर सो रही थी। राजा ने उस बालक को रानी की जघाओं के बीच में रखकर रानी को जगाया और रानी से बोला—रानी! उठो, तुम्हारे बालक उत्पन्न हुआ है। रानी ने उठकर उस बालक को देखा तो वह विस्मय में भरकर पूछने लगी—‘यह सुन्दर बालक किसका है। मैं तो बाधू हूँ। आप क्यों मुझसे इस प्रकार हास्य करते हैं।’ राजा बोला—‘रानी! स्त्रियों के प्रच्छन्न गर्भ भी होता है। तुम्हारे भी ऐसा ही गर्भ था।’ रानी को फिर भी पति के वाक्य पर विश्वास नहीं हुआ। वह पुनः पूछने लगी—‘यदि यह बालक मेरे ही गर्भ से हुआ है तो इसके मनोहर कुण्डल कहाँ से आये।’ अब राजा सत्य बात को छुपा नहीं सके और उन्होंने रानी को पुत्र मिलने की सारी घटना सुना दी और कहा—‘तुम अब इसे अपना ही पुत्र मानकर पालन करो और लोगों को भी यही बताना है कि तुम्हारे गूढ गर्भ था। तुमने ही इसको जन्म दिया है।’

राजा की आज्ञा से रानी प्रसूतिगृह में गई। राजा ने सारे रथनूपुर नगर में पुत्र-जन्म के समाचार प्रचारित कर दिये और धूमधाम से पुत्र जन्मोत्सव मनाया। देदीप्यमान कुण्डल धारण करने के कारण बालक का नाम भामण्डल रक्खा गया। बालक धाय को सौंप दिया गया और अपने पुत्र की तरह ही उसका लालन-पालन होने लगा।

उधर मिथिलापुरी में राजकुमार के अपहरण का समाचार जानकर सारी प्रजा में शोक छा गया। रानी विदेहा पुत्र-शोक से विलाप करने लगी। राजा जनक ने रानी को वर्य बघाया—‘तुम चिन्ता क्यों करती हो। तुम्हारा पुत्र किसी से हर लिया है। वह अवश्य जीवित है और एक न एक दिन तुम्हें अवश्य मिलेगा।’ इसके पश्चात् राजा जनक ने अपने मित्र राजा दशरथ को यह समाचार भेज दिया। दोनों ने ढढने का बड़ा प्रयत्न किया किन्तु पुत्र नहीं मिला।

इधर जानकी धीरे धीरे बढ़ने लगी। उसकी ब्राह्मण सुजन्म लीलाओं को देखकर कुटुम्बी जन पुत्र-शोक को धीरे-धीरे भूलने लगे। जानकी के नेत्र कमल सदृश थे। वह अर्निद्य सौन्दर्य को लेकर अवतरित हुई थी। ऐसा लगता था, मामो कोई देवी ही पृथ्वी पर आ गई हो। भ्रातृ के साथ उसके गुण और सौन्दर्य भी बढ़ने लगा। वह अपने वचन से ही पृथ्वी के समान क्षमाप्रारिणी थी। भ्रातृ लोग प्यार में उसे सीता (पृथ्वी) कहने लगे और बाद

मे प्यार का यह नाम ही जगविख्यात हो गया। उसके अग्र-प्रत्यग इतने सुन्दर थे, मानो विधाता ने उसे साचे में ही ढाला हो-चन्द्रमा के समान मुख, पल्लव के समान कोमल आरक्त हस्ततल, हसिनी की सी चाल, मीलश्री के समान भीनी-भीनी मुख की सुगन्धि, कोमल पुष्पमाल सी भुजाये, केहरी के समान कटि, केले के स्तम्भ जैसी जघाये, शची, रति और चक्रवर्ती की पटरानी का सौन्दर्य भी उसके समक्ष नगण्य लगता था। धीरे-धीरे वह सभी कलाओं और विद्याओं में पारगत हो गई।

एक बार बर्बर देश के एक म्लेच्छ राजा ने राजा जनक के राज्य पर चढ़ाई कर दी। अपने राज्य को नष्ट-भ्रष्ट होते देखकर जनक ने दशरथ के पास एक दूत भेजकर महायता मागी। दशरथ ने राम और लक्ष्मण को चतुरगिणी के साथ मिथिला भेज दिया। म्लेच्छों ने जनक और जनक दोनों भाइयों को बन्दी बनाया ही था कि दोनों राजकुमार मिथिला में पहुँच गये और म्लेच्छों से युद्ध करके दोनों भाइयों को मुक्त किया तथा म्लेच्छों को मार भगाया। तथा जनक को राज्य सौंप कर दोनों भाई वापिस अयोध्या आगये। राजा जनक राम की वीरता, मुन्दरता और गुणों से बड़े प्रभावित हुए। साथ ही उनके द्वारा किये गए उपकार को चुकाने की भावना भी उनके मन में बनी रहती थी। अतः उन्होंने निश्चय किया कि मैं अपनी पुत्री सीता का विवाह राम के साथ कर दूँगा।

राम को सीता प्रदान करने का जनक का सकल्प नारद ने भी सुना। वे उत्तुकतावग सीता को देखने मिथिलापुरी आये और जनक की आज्ञा लेकर अन्त पुर में पहुँचे। उस समय सीता दर्पण में अपना मुख देख रही थी। दर्पण में नारद की दाढ़ी जटाओं वाली भयानक आकृति के पडते ही सीता डरकर भीतर भाग गई। नारद भी उसके पीछे-पीछे जाने लगे। द्वारपाल नारद को जानते नहीं थे। उन्होंने नारद को रोका। दोनों और से कलह होने लगी। एक अपरिचित व्यक्ति को अन्त पुर में प्रवेश करने से रोकने के लिये शोर मचाने और सिपाही एकत्रित हो गये और नारद को मारने दीडे। नारद गस्त्रधारी सिपाहियों को देखकर भयभीत हो गये और आकाश मार्ग से उड़कर कैलाशपर्वत पर ही दम ली। जरा आश्वस्त हुए तो उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं सीता को देखने गया था। वहाँ मेरी यह दुर्गति हुई है। सीता ने ही मुझे पिटवाया है। इसके बदले में अगर सीता को दुःख न दिया तो मैं नारद ही काहेका।

मन में इस प्रकार सोचकर उन्होंने सीता का एक चित्रपट बनाया और रथनूपुर नगर में जाकर कुमार भामण्डल को वह चित्र दिखाया। चित्र देखते ही भामण्डल कामवाण से विद्ध हो गया। उसकी दशा खराब हो गई। यह बात उसके पिता को ज्ञात हुई। पिता ने नारद से पूछा तो नारद ने कहा—'मिथिला के राजा जनक की सीता नाम की पुत्री है। वह अत्यन्त गुणवती, रूपवती और अनेक कलाओं में पारगत है। वह तुम्हारे पुत्र के सर्वथा उपयुक्त है' राजा ने रानी से परामर्श किया और निश्चय किया कि यदि कन्या के पिता से कन्या की याचना करेंगे तो सम्भव है, वे न माने। अतः किसी उपाय से जनक को यहाँ ले आना चाहिये। फलतः चन्द्रगति की आज्ञानुसार एक विद्याधर मिथिला गया और विद्या के बल से घोड़े का रूप धारण कर नगर में उपद्रव मचाने लगा। जब वह किसी प्रकार वश में नहीं आया तो राजा जनक स्वयं पहुँचे और घोड़े को वश में करके उस पर सवार हो गये घोड़ा जनक को लेउडा और रथनूपुर में आकर भूमि पर उतारा। वहाँ घोड़े से उतरकर जनक एक मन्दिर में जाकर बैठ गये।

विद्याधर ने राजा चन्द्रगति को समाचार दिया। चन्द्रगति वहाँ से सीधा मन्दिर में पहुँचा और जाकर जनक से परिचय किया और आदर सहित अपने महलों में ले आया। वहाँ आकर दोनों में बातचीत होने लगी। चन्द्रगति बोला—सुना है, आपके कोई कन्या है। मैं चाहता हूँ, आप उसका विवाह मेरे पुत्र के साथ कर दें। जनक बोले—मैंने अपनी कन्या तो अयोध्यापति दशरथ के पुत्र राम को देने का सकल्प कर लिया है। यों कह कर वे राम के गुणों और उनकी योग्यता की प्रशंसा करने लगे। इस पर चन्द्रगति जनक का हाथ पकड़ कर आयुषशाला में ले गया और बोला—आप राम की वीरता की बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं। तो सुनिये। मेरे पूर्वज नमि विद्याधर को किसी समय धरणेन्द्र ने दो धनुष दिये थे—एक का नाम वज्रावर्त है और दूसरे का नाम सागरावर्त है। यदि राम

वज्रावर्त धनुष को ही चढा दे तो आप प्रसन्नतापूर्वक राम को अपनी कन्या दे दे। मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। यदि न चढा सके तो मैं आपकी कन्या को बलात् लाकर उसका अपने पुत्र के साथ विवाह कर दूँगा। जनक ने उसकी यह शर्त स्वीकार कर ली। विद्याधर योद्धा धनुष और जनक को लेकर मिथिलापुरी आये। विद्याधर धनुष की रक्षा करते हुए बाहर ठहर गये।

जनक के आने से नगर में हर्ष छा गया। तब जनक ने मंत्रियों से परामर्श किया और बताया कि चन्द्रगति ने स्वयंवर के लिये केवल बीस दिन का समय दिया है। मंत्रियों ने कहा-महाराज! राम लक्ष्मण की शक्ति का परिचय धनुष के चढाने से ही हो जायगा। मंत्रियों के परामर्श से जनक ने सब राजाओं को निमन्त्रण भेज दिये। अयोध्या को भी दूत भेजा। वे स्वयंवर की तैयारी करने लगे। यथासमय सब आये। राम, लक्ष्मण भी अपने माता-पिता के साथ-साथ आये। सीता ने स्वयंवर मण्डप में माला लिये हुए प्रवेश किया। कचुकी ने सब राजाओं का यथाक्रम परिचय दिया और राजा एव राजकुमार वारी-वारी से धनुष के पास आने लगे। किन्तु वे देखते कि धनुष से विजली के समान लाल-लाल आग निकल रही है। बड़े-बड़े भयानक सर्प फुंकार रहे हैं। उन्हें देखते ही भय के मारे वे आँखे बन्द कर लेते थे। कोई भय के मारे कहीं गिर पड़ा, किसी को मूर्छा आ गई। सबका बुरा हाल था। अन्त में रामचन्द्र जी उठे। उन्होंने सूर्य की ज्योति के समान उस धनुष को उठाया। उस पर प्रत्यचा चढाई और टकार करने लगे। उसकी टकार से पृथ्वी गूज उठी। उस समय देवों ने पचाश्चर्य किये। सब लोग जय-जयकार करने लगे। सीता ने आगे बढ़कर लज्जामिश्रित हर्ष के साथ रामचन्द्र जी के गले में वरमाला डाल दी और रामचन्द्र जी के पास बैठ गई। वह रामचन्द्र जी के पाम बँठो हुई इन्द्र के पास बैठे इन्द्राणी जैसी सुशोभित हो रही थी।

इसके बाद लक्ष्मण उठे और उन्होंने सागरावर्त धनुष को उठाकर उसकी प्रत्यचा चढा दी और उसपर सन्धान के लिए बाण की ओर देखने लगे। तब विद्याधर ने बड़ी विनय से कहा—वस रहने दीजिये। लक्ष्मण अत्यन्त विनय से रामचन्द्र जी के समीप आकर बैठ गये।

विद्याधर धनुष छोड़कर अपने नगर को लौट गये और जाकर राम-लक्ष्मण के पराक्रम का वर्णन करने लगे। चन्द्रगति यह सुनकर अत्यन्त चिन्तित हो गया। उधर राम और सीता का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ हुआ। जनक ने विपुल परिमाण में दहेज दिया। उसी समय जनक के भाई जनक ने अपनी कन्या लोकसुन्दरी का विवाह भरत के साथ कर दिया। राजा दशरथ अपने पुत्रों के साथ अयोध्या वापिस लौट आये।

भामण्डल को सीता के बिना कुछ भी न सुहाता था। यहाँ तक कि उसने खाना-पीना तक बन्द कर दिया। यह बात उसके पिता को पता चली तो उन्होंने उसे समझाया-बेटा! अब सीता की तू आशा छोड़ दे। अयोध्या के राजकुमार राम के साथ सीता का तो विवाह हो गया। यह सुनकर भामण्डल को बड़ा क्रोध आया और बोला—विद्याधर से रहित भूमिगोचरियों में कितना बल है, मैं उन्हें देखता हूँ। और वह सेना लेकर अयोध्या की ओर चल दिया। चलते-चलते वह विदग्धपुर पहुँचा। उस नगर को देखते ही उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो गया और शोक करते हुए मूर्च्छित हो गया कि मैंने क्या अनर्थ किया। मैंने/अपनी बहन के साथ सम्बन्ध करना चाहा। तब लोग उसे उठाकर पुनः अपने नगर वापिस ले गये। मूर्छा दूर होने पर उसके पिता ने पूछा—क्या बात है, कौन तुम्हारी बहन है। तब भामण्डल ने अपने पूर्व-जन्म का सारा वृत्तान्त सुनाकर बताया कि मैं राजा जनक का पुत्र हूँ, सीता मेरी सगी बहन है।

चन्द्रगति यह सुनकर सपरिवार अयोध्या आया। एक मुनि से उपदेश सुनकर चन्द्रगति को वैराग्य हो गया और भामण्डल को राज्य देकर स्वयं मुनि बन गया। दूसरे दिन राजा दशरथ आदि मुनि वन्दना को आये। वहाँ भामण्डल का परिचय पाकर वे उससे बड़े प्रेम से मिले। सीता भी भाई से मिलकर बड़ी प्रसन्न हुईं। यह समाचार राजा जनक को भेजा गया। वे सपरिवार अयोध्या आये और अपने पुत्र से मिलकर माता-पिता के हर्ष का प्रकटन नहीं रहा।

ससार की दशा और विभिन्न घटनाओं के कारण दशरथ के मन में ससार से वैराग्य हो गया। वे सोचने

लगे कि राज्य-भार पुत्र को सौंपकर अब मुझे मुनि बन जाना चाहिये। एक दिन भद्रियों को बुलाकर दशरथ ने कहा—
 मैं राम का राज्याभिषेक करके मुनि-दीक्षा लेना चाहता हूँ। अतः तुम लोग राज्याभिषेक
 राम का वनवास की तैयारियाँ करो।' रानियों ने बहुत समझाया किन्तु दशरथ अपने निश्चय पर अडिग रहे।
 राज्याभिषेक की तैयारियाँ होने लगी।

भरत का मन भी भोगों में नहीं लगता था। वह विरक्त रहता था। कभी-कभी वह मुनि-दीक्षा लेने की
 बात भी करता था। उसकी यह प्रवृत्ति देखकर उसकी माता कंकेयो को चिन्ता रहती कि पति तो मुनि बन ही
 रहे हैं, पुत्र भी यदि मुनि बन गया तो मैं कैसे जीवित रहूँगी। किस प्रकार भरत को दीक्षा लेने में रोकूँ। तभी उसे
 अपने वर का स्मरण हो आया। वह शीघ्र ही राजा के पास पहुँची और बोली—'महाराज ! आपने रानियों के
 समक्ष प्रसन्न होकर मुझे वर देने को कहा था, अब आप मेरा वर मुझे दे दीजिये।' दशरथ बोले—'देवि ! बोलो,
 क्या मागती हो। जो मागोगी, वही दूँगा।' रानी अपना वर पहले ही निश्चित कर चुकी थी। वह बोली—'नाथ !
 आप दीक्षा लेने से पहले मेरे पुत्र को अयोध्या का राज्य दे दीजिये।' दशरथ चिन्ता में पड़ गये। फिर कुछ देर
 सोचकर बोले—ठीक है, यही होगा। तुमने अपना वर मांगकर मुझे उन्मत्त कर दिया।

इसके पश्चात् दशरथ ने राम को बुलाकर उनसे कहा—'बेटा ! पहले एक युद्ध में तुम्हारी माता कंकेई
 ने बड़ी कुशलतापूर्वक मेरा रथ चलाया था। उसके कारण मुझे युद्ध में विजय मिली थी। उसके उपलक्ष्य में
 प्रसन्न होकर मैंने अन्य रानियों के समक्ष इन्हे इच्छित वर मांगने को कहा था। उस समय तो वह वर इन्होंने मेरे
 पास धरोहर रख दिया। अब ये अपना वर मागकर अपने पुत्र भरत के लिए अयोध्या का राज्य माग रही हैं।
 प्रतिज्ञा के अनुसार मुझे उनकी माग पूरी करनी चाहिये। अन्यथा भरत दीक्षा ले लेगा और उसके वियोग में यह
 पुत्र-वियोग में प्राण दे देगी।

रामचन्द्र सुनकर बड़े विनय से बोले—'देव ! अपने वचनों का पालन करें। अन्यथा आपका लोक में
 अपयश होगा। आपके अपयश के साथ तो मुझे इन्द्र की सम्पदा भी नहीं चाहिये।

दशरथ ने भरत को समझाया और राज्य स्वीकार करने का आग्रह किया—'पुत्र ! तुमने मेरी आज्ञा का
 कभी उलंघन नहीं किया। अब तुम्हें दीक्षा का विचार छोड़कर राज्य स्वीकार करना चाहिये।' किन्तु भरत
 बोले—'पिता जी ! यदि ससार में ही सुख होता तो आप ही राज्य त्याग कर क्यों दीक्षा लेने का विचार करते।
 दशरथ इस उत्तर से निरुत्तर हो गये।

तब राम ने बड़े स्नेह से हाथ पकड़कर कहा—'भाई ! तुमने जो बात कही है, वह तुम्हारे ही अनुरूप है।
 समुद्र में उत्पन्न होने वाला रत्न तालाब में नहीं होता। किन्तु अभी तुम्हारी वय तप करने की नहीं है। अतः पिता
 की निर्मल कीर्ति फैलाने के लिये तुम्हें राज्य स्वीकार कर लेना चाहिये।

इस प्रकार भरत को समझाकर राम अपनी माता के पास आज्ञा लेने पहुँचे। उनके जाते ही दशरथ
 वियोग विह्वल होकर मूर्च्छित हो गये। जब माता कौशल्या ने सुना तो वे भी मूर्च्छित हो गईं। जब मूर्च्छा भग हो गई
 तो वे शोक करने लगीं। तब राम ने पिता द्वारा दिये हुए वचन की बात बताकर कहा कि माता के वरदान के
 कारण पिता ने भरत को राज्य दे दिया है। अतः मुझे यहाँ से जाना ही होगा। मेरे यहाँ रहने से भरत की आज्ञा का
 विस्तार नहीं होगा। इस तरह माता को धान्वना देकर पुनः पिता के पास आज्ञा लेने पहुँचे और आज्ञा लेकर अन्य
 माताओं के पास गये और उन्हें समझा बुझाकर नमस्कार कर उनसे आज्ञा मागी।

फिर वे सीता के पास गये और बोले—'प्रिये ! मैं पिता की आज्ञा से अन्यत्र जा रहा हूँ। तुम यही रहना।
 सीता बोली—'नाथ ! स्त्री पति की छाया होती है। जहाँ आप जायेंगे, मैं भी वही रहूँगी। राम ने उसे वन के कष्टों
 का भयानक वर्णन करके विरक्त करना चाहा, किन्तु सीता ने कहा—'पति चरणों में ही सारे सुख हैं। वन के शूल भी
 आपके साथ रहकर मेरे लिये फूल हो जायेंगे।

जब सबसे विदा लेकर राम और सीता लक्ष्मण के पास पहुँचे तो उसे चलने को तैयार पाया। राम को
 बड़ा आश्चर्य हुआ और बोले—'भाई ! तुम यहाँ रहकर माता-पिता की सेवा करते रहना।' किन्तु लक्ष्मण बोले—

‘सात ! यहाँ तो मेरे दो भाई हैं सेवा करने को, किन्तु आपकी और माता सीता की सेवा करने को कौन है । इसलिए आपकी सेवा करने को मैं आपके साथ चलूँगा ।’ राम ने निरुपाय होकर लक्ष्मण को भी साथ चलने की अनुमति दे दी । जब माताओं और पिता से आज्ञा लेकर लक्ष्मण सुमित्रा माता के पास पहुँचे और आज्ञा मागी तो सुमित्रा ने आशीर्वाद देते हुए कहा—‘पुत्र ! तुम अवश्य जाओ । तुम राम को अपना पिता दशरथ मानना और सीता को अपनी सुमित्रा माता मानना, और उन दोनों की हमारी ही तरह सेवा करना ।’

जब राम-सीता और लक्ष्मण चले तो परिजन-पुरजनो की आँखों से सावन-भादो की तरह आसुओं की वर्षा हो रही थी । राम के मना करने पर भी पुरवासी उनके पीछे-पीछे चले । जब सरयू का तट आ गया तो राम ने सबको समझाया—‘पिता ने भरत को राज्य दिया है । आप लोग उनकी आज्ञा मानकर सुखपूर्वक रहें और अब आप लोग वापिस लौट जाँय ।

सबको विदाकर वे तीनों चल दिये । आगे राम थे, बीच में सीता और उनके पीछे लक्ष्मण । उन्होंने सरयू नदी पार कर गहन वन में प्रवेश किया ।

दूधर भरत का राज्याभिषेक करके दशरथ ने मुनि-दीक्षा लेली । उनके वियोग में कौशल्या और सुमित्रा शोकसतप्त रहने लगी । उनके शोक को देखकर भरत का राज्य विष जसा प्रतीत होता था । कँकेयी ने जब दोनों को निरन्तर विलाप करते दुखी देखा तो एक दिन वह भरत से बाला—‘बेटा ! मुझ राज्य तो मिल गया, किन्तु राम और लक्ष्मण के बिना यह राज्य सूना लगता है । वे और जनकानन्दना राजवभव में पले हैं । वे पाव प्यादे पथरों लो जमीन पर कैसे चलते होंगे । अतः तू शीघ्र जाकर उन्हें लौटा ला । मैं भी तेरे पीछे-पीछे आ रही हूँ ।

यह सुनकर शीघ्रगामी घोड़े पर सवार होकर साथ में एक हजार घोड़े लेकर भरत वहाँ से रवाना हुआ । वह नदी नाली को पार करता हुआ लोगों से पूछता हुआ एक भयानक वन में पहुँचा । वहाँ एक सरोवर के किनारे राम लक्ष्मण और सीता को बँठे हुए देखा । वह दूर से ही घोड़े से उतर पड़ा और पैदल जाकर राम के चरणों में जाकर मूर्च्छित हो गिर पड़ा । राम ने उसे सचेत किया और परस्पर कुशल क्षेम पूछी । तब भरत हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर बोला—‘नाथ ! आप विद्वान् हैं । राज्य के कारण मेरी यह विडम्बना हो रही है । आपके बिना वह राज्य तो दूर रहा, मुझे अपना जीवन भी अभीष्ट नहीं है । आप अयोध्या चले और राज्य सभाले । मैं आपके सिर पर छत्र लगाये खड़ा रहूँगा, शत्रुघ्न चमर ढोरेगा और लक्ष्मण आप का मंत्रीपद सभालेगा । मेरी मा पश्चात्ताप की अग्नि से जल रही है और आपकी और लक्ष्मण की माताय भी शोक से विह्वल है ।’

भरत इस प्रकार कह ही रहा था कि इतने में कँकेयी रथ पर सवार होकर सी सामन्तों के साथ वहाँ आ पहुँची । पुत्रों को देख कर शोक से वह हाहाकार करने लगी । दोनों को उसने कठ में लगाया और बोली-बेटा ! उठो, अपनी राजधानी चले और वहाँ चलकर राज्य करना । तुम्हारे बिना सब सुनसान मालूम देता है । स्त्री होने के कारण मुझे नष्टबुद्धि से जो अनुचित कार्य बन पड़ा है, उसके लिए तुम मुझे क्षमा करो ।’ यह सुन कर रामचन्द्रजी बोले-मा ! क्या तुम नहीं जानती, क्षत्रियों के वचन अन्यथा नहीं होते । पिताजी ने जो कहा है, उसका मुझे और तुम्हें भी पालन करना चाहिए, जिससे भरत की ससार में अपकीर्ति न हो ।’ फिर भरत को भी समझाया और सबके सामने उन्होंने भरत का राजतिलक किया और कँकेयी को प्रणाम करके तथा भरत को पुन छाती से लगाकर दोनों को कठिनता से विदा किया ।

भरत जाकर न्यायपूर्वक राज्य-शासन करने लगा । उसका मन राज्य में नहीं लगता था । उसने प्रतिज्ञा की कि राम के जब दर्शन होंगे, तभी मैं मुनि-व्रत धारण कर लूँगा । और वह घर में ही योगी की तरह रहने लगा ।

भ्रमण करते-करते रामचन्द्र चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे । वहाँ कुछ दिन रहे । सुन्दर मिष्ट फल, भरनो का शीतल जल, सुरागाय का दूध और जगलो चावल, कोई कष्ट नहीं था । फिर वहाँ से मालव देश में दशपुर के निकट आये । वहाँ देखा कि ईश के खेत खडे हैं, घान्य के ढेर लगे हैं । गगन-चुम्बी जिनालय वने हैं, किन्तु मनुष्य एक भी नहीं दीख पड़ता । एक दरिद्र मनुष्य आता हुआ दिखाई दिया । उससे पूछा—यहाँ के सब मनुष्य कहाँ चले गये ? वह बोला—दशपुर नगर में वज्रकर्ण

वज्रकर्ण का कष्ट
निवारण

नामक एक पापी राजा रहता था। उसे एक दिन एक मुनिराज मिले। उनके उपदेश को सुनकर राजा ने उनसे श्रावक के व्रत गृहण किये और प्रतिज्ञा की कि मैं देव, गुरु और शारत्र के सिवाय किसी को नमस्कार नहीं करूँगा।

प्रतिज्ञा करके वह अपने नगर को लौट गया। उसने अपनी अगूठी में जिन-प्रतिविम्ब जडवा रक्खा है। उसकी वह प्रतिदिन पूजा करता है। एक दिन वह उज्जयिनी गया। वहाँ के राजा सिहोदर को नमस्कार करने के वहाने मुद्रिका स्थित जिन-विम्ब को ही नमस्कार किया। यह बात किरी दुष्ट पुरुष ने भापली और बाद में सिहोदर से शिकायत कर दो। सिहोदर को बड़ा क्रोध आया और उसने दशपुर से वज्रकर्ण को बुलवाया। जब वह उज्जयिनी जाने को तैयार हुआ तो एक द्यवित ने उगे सिहोदर का दुरभिप्राय समझाया, जो उसने सिहोदर के महलों में चोरी के लिये जाने पर सिहोदर के मुख से ही सुना था। वज्रकर्ण उसकी बात पर विश्वास करके किले में लौट गया। कुछ समय पश्चात् सिहोदर अपनी सेना लेकर उमें मारने आया। किन्तु किले को दुर्भेद्य और अजेय जानकर उसने वज्रकर्ण के पास दूत भेजा। दूत ने जाकर कहा—'महाराज! सिहोदर ने कहा है कि मेरे दिये हुए राज्य का तू उपभोग करता है और मुझे नमस्कार न करके अपने भगवान को नमस्कार करता है। अतः तू आकर मुझे प्रणाम कर अन्यथा तुझे मार डारा जाएगा।' वज्रकर्ण ने दूत में स्पष्ट कह दिया—'मैं धर्म नहीं छोड़ सकता हूँ, राज्य छोड़ सकता हूँ। यदि चाहे तो सिहोदर अपना राज्य वापिस ले ले। दूत ने यह बात सिहोदर से जाकर कह दी। इससे वह और भी जल भुन गया और क्रोध में आकर उसने सारा नगर उजाड़ दिया, घरों में आग लगवादी, मनुष्यों को मार दिया। इस नगर के सुनसान होने का यह कारण है। रामचन्द्रजी ने उस दरिद्र को अपना रत्नहार दे दिया, जिसे लेकर वह प्रसन्नतापूर्वक वहाँ में चला गया।

रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा—लक्ष्मण! वज्रकर्ण धर्मात्मा है। उसकी रक्षा करनी चाहिये। रामचन्द्र जी की आज्ञा पाकर लक्ष्मण धनुष-बाण लेकर सिहोदर के दरवार में पहुँचे। सिहोदर ने पूछा—'तू कौन है? लक्ष्मण बोले—'मैं भरत का दूत हूँ। तुम्हें समझाने आया हूँ। तूने धर्मात्मा वज्रकर्ण को क्यों कष्ट दे रक्खा है। सिहोदर क्रोध में बोला—कौन भरत, कहाँ का भरत! वज्रकर्ण मेरा शत्रु है। वह मुझे नमस्कार नहीं करता, अपने भगवान को नमस्कार करता है। इसे मैं बिना मारे छोड़ूँगा नहीं। अगर भरत या तूने नीच में टांग अड़ाई तो तुम्हें भी मारूँगा।' लक्ष्मण को यह सुनकर क्रोध आ गया। दोनों ओर से युद्ध होने लगा। लक्ष्मण ने आनन-फानन में सिहोदर को जीत लिया और उसके बाधकर रामचन्द्र जी के पास ले आये। सिहोदर रामचन्द्र जी के पैरों में गिर पड़ा। उसकी रानियाँ भी पति के प्राणों की भिक्षा मागने लगी। तब रामचन्द्र जी ने कहा—'तुम वज्रकर्ण की आज्ञा में रहो।' सिहोदर ने यह बात स्वीकार कर ली। तब रामचन्द्र जी ने वज्रकर्ण को बुलाने एक आदमी भेजा। वज्रकर्ण भगवान के मन्दिर में जाकर और उनको नमस्कार करके रामचन्द्र जी के पास आया। दोनों में कुशल-क्षेम हुई। फिर रामचन्द्र जी और लक्ष्मणजी ने वज्रकर्ण की खूब प्रशंसा की और उससे कुछ इच्छा प्रगट करने के लिये कहा। वज्रकर्ण ने कहा—आप सिहोदर को मुक्त कर दीजिये। लक्ष्मण ने तुरन्त उसे मुक्त कर दिया। तब वज्रकर्ण और सिहोदर दोनों गले से मिले और सिहोदर ने उज्जयिनी का आधा राज्य वज्रकर्ण को दे दिया और दोनों सुखपूर्वक रहने लगे।

इसके कुछ दिन पश्चात् राम वहाँ से नलकच्छपुर में पहुँचे। वहाँ की राजकुमारी कल्याणमाला जो सदा पुरुषवेष में रहती थी, वह जंगल में लक्ष्मण को देखकर मोहित हो गई। वह राम के निकट आई। उसने बताया कि

लक्ष्मण को कामासक्त हो गये। उन्होंने उसके पिता को म्लेच्छों से छुड़ाने का वचन दिया। कुछ दिन बाद वे लोग चलकर विन्ध्याटवी पहुँचे और म्लेच्छों से युद्ध कर लक्ष्मण ने म्लेच्छराज रीद्रभूति के कारागार से बालखिल्य को मुक्त किया और रीद्रभूति को उसका मंत्री बनाया।

फिर वे खानदेश में पहुँचे। वहाँ जंगल में वे लोग ठहरे हुए थे। उन्हें देखकर यक्षाधिपति ने उनके लिए सभी सुविधाओं से युक्त रामपुर नामक नगर बनाया। वे वहाँ रहने लगे। एक दिन दरिद्र कपिल ब्राह्मण वहाँ आया। उसने एक बार सीता का अपमान किया था, जब वे लोग उसकी यज्ञशाला में ठहरे थे। किन्तु रामचन्द्र जी ने उसे विपुल द्रव्य देकर विदा किया।

चातुर्मास के पश्चात् जब वे लोग रामपुर से चलने लगे तो यक्ष ने क्षमा-याचना करते हुए राम को स्वयंप्रभ नामक एक सुन्दर हार दिया। लक्ष्मण को कानो के देदीप्यमान कुण्डल दिये और सीता को सुकल्याण नाम का एक चूडामणि रत्न दिया और एक सुन्दर वीणा दी। वहाँ से विदा होकर वे भयानक वनों में से होते हुए विजयपुर नगर के बाहर उद्यान में ठहरे।

उस नगर के राजा पृथ्वीधर की सुन्दरी कन्या वनमाला वचपन में लक्ष्मण की प्रशंसा सुनकर उनके प्रति अनुरक्त हो गई थी और उन्हें मन में पति मान लिया था। जब राजा पृथ्वीधर ने सुना कि राजा दशरथ के दोक्षा लेने पर राम-लक्ष्मण और सीता कहीं वन में चले गये हैं तो उसने वनमाला का विवाह इन्द्रनगर के राजकुमार बालमित्र के साथ कर देना चाहा। जब वनमाला को यह ज्ञात हुआ तो उसने किसी परपुरुष के साथ विवाह न करने और पेड़ से लटककर गले में फासी लगाकर मर जाने का निश्चय कर लिया। सूर्यास्त होने पर वह माता पिता से आज्ञा लेकर सखियों के साथ रथ में बैठकर वनदेवा का पूजा करने के लिये वन में चल दी। दैवयोग से जिस वन में जिस रात को राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उसी रात को उसी वन में वह पहुँची। उसने वनदेवी की पूजा की और सखियों से आज्ञा वचाकर चुपचाप वहाँ से चल दी। आहट पाते ही लक्ष्मण उठ बैठे और किसी अनिष्ट की आज्ञा से वे उसका अनुसरण करने लगे कि देखो, यह क्या करती है। वे एक वृक्ष की ओट में खड हो गये। वनमाला चलती-चलती उसी वृक्ष के पास पहुँची और एक कपडा वृक्ष से बाँध कर बोली—इस वृक्ष पर रहने वाले हे देवताओं। यदि कभी इस वन में घूमते हुए कुमार लक्ष्मण आवें तो तुम उनसे कह देना कि वनमाला तुम्हारे विरह में मर गई। इस जन्म में तो तुम नहीं मिल पाये किन्तु अगले जन्म में तुम्हीं मेरे पति होना।' यों कहकर वह अपने गले में फन्दा बाँधने को तैयार हुई त्योंही लक्ष्मण ने उसे रोककर कहा—'सुन्दरि। जिस गले में मेरी बाहे पडनी चाहिये, उसमें तुम फाँसी क्यों डाल रही हो। मैं ही वह लक्ष्मण हूँ।' यह कहकर लक्ष्मण ने उसके हाथ से फाँसी छीन ली और उसे आलिंगन में भर लिया।

प्रभात होने पर जब रामचन्द्र जी उठे और लक्ष्मण को वहाँ नहीं देखा तो वे अंधोर हो उठे और लक्ष्मण को आवाज देने लगे। लक्ष्मण फौरन वनमाला के साथ वहाँ आया। उन्हें नमस्कार दिया और रात की सारी घटना कह सुनाई।

उधर जब सखियों ने वनमाला को न देखा तो वहाँ कोहराम मच गया। राजा के पास समाचार पहुँचा। राजा और रानी वहाँ आये जहाँ श्रीराम बैठे हुए थे। उन्हें नमस्कार कर वह बैठ गया। राजा ने उनसे राजमहलो में पधारने की प्रार्थना की। सब लोग हाथी पर आरूढ होकर राजप्रासाद पहुँचे। वहाँ धूमधाम के साथ वनमाला का विवाह लक्ष्मण के साथ कर दिया।

एक दिन राजा पृथ्वीधर राम-लक्ष्मण के साथ राजदरबार में बैठा हुआ था, तभी एक दूत वहाँ आया और राजा से निवेदन किया—'महाराज। नन्दावर्त के राजा अतिवीर्य ने सेना सहित आपको बुलाया है।' राजा ने उससे बुलाने का कारण पूछा तो दूत बोला—'महाराज अतिवीर्य ने अयोध्या के राजा भरत को सन्देश भेजा था कि या तो तुम मेरी आघोषता स्वीकार करो अन्यथा युद्ध के लिये तैयार रहो। शत्रुघ्न ने दूत को अपमानित करके निकाल दिया। जब राजा अतिवीर्य ने यह सुना तो वे अग, बग, तिलग देश के म्लेच्छ राजाओं को लेकर अयोध्या पर आक्रमण करने चल दिये। राजा भरत भी अवन्ती और मिथिला के राजाओं के साथ चलकर नर्मदा के तट पर आ डटा। रात में शत्रुघ्न ने हमारे चौंसठ हजार घोड़े चुपचाप खोल दिये। इस पर अतिवीर्य महाराज ने विभिन्न देशों के राजाओं को बुलाने के लिये दूत भेजे हैं। अतः आप भी वहाँ शीघ्र पहुँचे।

रामचन्द्र जी को यह सुनकर बड़ी चिन्ता हुई। वे लक्ष्मण से बोले—'वत्स। अतिवीर्य बड़ा बलवान और असख्य सेना का अधिपति है। भरत के पास सेना कम है। अतः भरत हार जायगा। हमें भरत की सहायता करनी है किन्तु छद्मवेश में रहकर जिससे किसी को हमारा पता न चले।' उन्होंने राजा पृथ्वीधर से भी अपना अभिप्राय प्रगट किया। पृथ्वीधर, राम-लक्ष्मण और सीता सहित अपनी सेना लेकर चल दिया और जाकर अतिवीर्य से मिले। सीता को तो राम ने एक जिन मन्दिर में श्वेत वस्त्र पहनाकर आर्थिका के निकट ठहरा दिया और भगवान के दर्शन कर अतिवीर्य के पास पहुँचे। वहाँ कौशल से लक्ष्मण ने अतिवीर्य को बन्दी बना लिया। सब राजा भयभीत हो गये।

यह देखकर राम और सीता को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने मुनि महाराज से इसका कारण पूछा तो अग्रविज्ञानी मुनि बोले—पहले इस वन के स्थान पर एक सुन्दर नगर था। उसका नाम था कार्यकुण्डल। वहाँ का राजा दण्डक था, उसकी रानी मस्करी थी। दोनों विषयलम्पटी और सद्धर्म के विरुद्ध थे। एक दिन राजा ने बन में एक मुनि को ध्यान करते हुए देखा। उसने उनके गले में एक मरा हुआ सर्प डाल दिया। कुछ दिनों के बाद एक मनुष्य उधर से निकला। उसने मुनि के गले से वह सर्प हटा दिया। सर्प के विष के कारण मुनि का शरीर काला और चिपचिपा हो गया था। तभी वहाँ वह राजा आ निकला। उसने देखा कि मैंने मुनि के गले में जो सर्प डाला था, उसको मुनि ने स्वयं नहीं हटाया है। यह देखकर वह मुनिभक्त बन गया और उसने जैन धर्म अंगीकार कर लिया। इससे रानी को बड़ा बुरा लगा। वह राजा को जैन धर्म से हटाने का उपाय सोचने लगी। एक दिन एक मुनि आहार के निमित्त राजद्वार पर आये। रानी ने उनके ऊपर झूठा अपवाद लगाकर राजा से शिकायत कर दी। राजा को बड़ा क्रोध आया। उसने सारे दिगम्बर मुनियों को घानी में पेरने की आज्ञा दे दी। राजाज्ञा से सारे दिगम्बर मुनि जो वहाँ थे, घानी में पेर दिये गये। एक मुनि बाहर गये हुए थे। जब वे नगर की ओर आ रहे थे तो मार्ग में एक व्यक्ति ने उनसे मुनियों के घानी में पेरने का समाचार सुनाया। सुनकर उन मुनि को बड़ा दुःख हुआ और अत्यन्त क्रोध भी आया। भयकर क्रोध के कारण उनकी बाईं भुजा से कालाग्नि के समान एक अशुभ तजस पुतला निकला। उसने सारे नगर को भस्म कर दिया। उससे कोई मनुष्य-पशु-पक्षी तक नहीं बचा। राजा भी उसी में भस्म हो गया। राजा नरक में गया, मुनि भी चिरकाल से उपाजित धर्म को नष्ट करने के कारण नरक में गये। राजा अनेक योनियों में भ्रमण करते-करते अन्त में यह गृद्ध पक्षी बना है। इसे हमें देख कर अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया है और वह अपने किये हुए पापों का प्रायश्चित्त कर रहा है। धीरे-धीरे नगर के भस्म के स्थान पर यह वन लग गया। उस दण्डक राजा के नाम पर ही इस वन का नाम दण्डक-वन या दण्डकारण्य पड़ गया है।

इसके पश्चात् मुनिराज ने उस गृद्ध पक्षी को उपदेश दिया। फलतः उस पक्षी ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, जीव हिंसा का त्याग कर दिया। तब मुनियों ने उस पक्षी को सीता के हाथ में पालन-पोषण के लिये सौंप दिया और वे विहार कर गये।

तभी हाथी पर सवार होकर लक्ष्मण आये। उन्होंने पक्षी को देख कर उसके बारे में पूछा। राम ने मुनि के आह्वार-दान और पक्षी के बारे में सारी बातें बताईं। सबने बैठकर फिर भोजन किया और तीनों ने मिलकर उस पक्षी का नाम 'जटायु' रक्खा। वे लोग उस वन की शोभा देखकर वही कुटिया बनाकर रहने लगे।

अब रामचन्द्र जी विचार करने लगे कि यहाँ एक सुन्दर नगर बसा कर यही पर निवास किया जाय तथा माताओं को भी यही बुला लिया जाए। एक दिन वे लक्ष्मण से बोले—'वत्स! देखो तो यहाँ नगर बसाने के लिये कौन-सा स्थान उपयुक्त रहेगा। लक्ष्मण धनुष-बाण लेकर स्थान की खोज में चल दिये। कुछ दूर जाने पर उन्हें सुगन्ध आई। आगे बढ़े तो बासों के झुरमुट में एक लटकती हुई तलवार दिखाई दी। उन्होंने बड़े उत्साह से वह तलवार हाथ में ले ली और उसकी तीक्ष्णता की परीक्षा करने के लिये उन्होंने वह तलवार उसी बासों के झुरमुट पर फिराकर मारी। बासों के झुरमुट के साथ वहाँ किसी का सिर भी कट गया। उसे देखकर लक्ष्मण को बड़ा दुःख हुआ। वे तलवार हाथ में लेकर रामचन्द्र जी के पास गये और बड़े दुःख भरे शब्दों में उनसे सारा वृत्तान्त निवेदन कर दिया। राम विचार कर बोले—यह किसी विद्याधर का सिर तूने काट दिया है। अतः यहाँ कुछ अनर्थ होने की संभावना है। अब सावधान रहना चाहिये।

अलकारपुर के राजा खरदूषण और (रावण की बहन) चन्द्रनखा के दो पुत्र थे—सवूक और सुन्दर। एक दिन सवूक ने पिता के मना करने पर भी सूर्यहास तलवार सिद्ध करने के लिये दण्डक-वन में प्रवेश किया और बासों के झुरमुट में बैठ कर ब्रह्मचर्य व्रत लेकर दिन में केवल एक बार भोजन और एक वस्त्र पहनकर धूप-दीप आदि से अर्चना करता हुआ सूर्यहास तलवार की सिद्धि के लिये बैठ गया। उसकी माता चन्द्रनखा प्रति दिन दोपहर को पुत्र

को भात दे जाती और उसे देख जाती। बारह वर्ष बाद एक दिन उसने खड्ग को देखा। वह बड़ी प्रसन्न हुई। उसने अपने पति से जाकर यह बात बताई कि आज से तीसरे दिन हमारा पुत्र खड्ग सिद्ध करके यहाँ आ जायगा। अतः उसके स्वागत की तैयारी करनी चाहिये।

जब अगले दिन चन्द्रनखा अपने पुत्र को देखने आई तो पुत्र का मस्तक कटा हुआ देखकर दुःख से रोने लगी। वह बार-बार मूर्च्छित हो जाती और होश में आने पर विलाप करने लगती। वह सोचने लगी कि जिसने मेरे पुत्र का बध करके खड्ग को चुराया है, उस पापी को अपने पति और भाई द्वारा मरवा डालूँगी। यो सोचकर वह अपने पुत्र के हत्यारे को खोजने लगी। उसे कुछ दूर आगे जाने पर कामदेव जैसे दो देवकुमार दिखाई दिये। उन्हें देखते ही वह पुत्र-शोक भूल गई और काम से पीड़ित हो गई। वह विद्या से वनलक्ष्मी के समान सुन्दर कन्या का रूप बनाकर एक वृक्ष के नीचे बैठ कर रोने लगी। उसका करुण रुदन सुनकर सीता उसके पास आई और उसे सान्त्वना देती हुई रामचन्द्रजी के पास ले आई। राम ने उससे रुदन का कारण पूछा तो वह बोली—'नाथ! बचपन में ही मेरे माता-पिता मर गये। मैं अनाथ होकर इस जंगल में भारी-मारी फिर रही हूँ। यदि आप दोनों में से मुझे कोई अपना ले तो मैं उसी की शरण में पड़ी रहूँगी, अन्यथा मेरा मरण निश्चित है।' उसकी बात सुनकर समयज्ञ रामचन्द्रजी बोले—'बाले! हम दोनों में से तो तुम्हें कोई नहीं चाहता। अन्यत्र तुम चली जाओ। यो कहकर उसे वहाँ से निकाल दिया। वह क्रुद्ध होकर अपने नगर में लौट आई और बाल बखेर कर शरीर में खरोचकर बुरी तरह रोने लगी। उसका रुदन सुनकर खरदूषण आया और उसमें रोने का कारण पूछने लगा। उसने रो रो कर बताया—'नाथ! हमारा पुत्र सधूक सूर्यहास तलवार को दण्डक-वन में साधन कर रहा था। कहीं से स्त्री सहित दो पुरुषों ने आकर हमारे पुत्र का बध कर दिया और तलवार छीन ली। मैं पुत्र को देखने गई तो वे दुष्ट मेरे साथ कुचेष्टा करने लगे। यही अच्छा हुआ कि मेरा शील खण्डित नहीं हुआ। मैं बड़ी कठिनाई से उनसे बच कर यहाँ आ सकी हूँ। आप उन पुत्रघातियों से अवश्य बदला लें।'

पुत्र-मरण का समाचार सुनकर खरदूषण मूर्च्छित-हो गया और विलाप करने लगा। फिर उसे क्रोध आया—'मैं अभी जाकर उन दुष्टों का सिर काट कर लाता हूँ।' जब वह चलने लगा तो मंत्रियों ने समझाया—'जिन्होंने सूर्य-हास खड्ग छीन लिया और सधूक कुमार का बध किया है, वे अवश्य ही कोई वीर पुरुष होंगे। अतः महाराज रावण को समाचार भेजना ठीक होगा। मंत्रियों की बात सुनकर उसने एक दूत रावण के पास भेजा। दूत ने जाकर रावण को सब समाचार बताये। सुनकर रावण को बड़ा क्रोध आया और युद्ध की तैयारी करने लगा।

इधर खरदूषण पुत्र-शोक और क्रोध से अधीर हो रहा था। वह अपनी सेना लेकर दण्डक वन पहुँचा। जब सेना रामचन्द्र जी के निकट आगई, तब लक्ष्मण बोले—'देव! यह तो उस मरे हुए मनुष्य के पक्ष के लोग मालूम पड़ते हैं। उस कुलटा स्त्री ने ही ये भेजे मालूम पड़ते हैं।' रामचन्द्र जी बोले—'लक्ष्मण! तू सीता की रक्षा कर, मैं इन्हें मारता हूँ।' किन्तु लक्ष्मण ने आप्रह किया—'देव! मेरे रहते आपको युद्ध करना उचित नहीं है। आप राजपुत्री की रक्षा करें। मैं युद्ध के लिये जाता हूँ। यदि मुझ पर कोई विपत्ति आई तो मैं सिंहनाद कर आपको सूचना दूँगा।

यह कहकर सागरावर्त घनुष और सूर्यहास तलवार लेकर लक्ष्मण युद्ध के लिए शत्रु के सम्मुख आ डटे। दोनों ओर से युद्ध होने लगा। अकेले लक्ष्मण ने वाणों की वर्षा कर शत्रु-पक्ष को व्याकुल कर दिया। इसी बीच रावण भी सेना सहित दण्डक वन में आगया। वह 'सधूक को मारने वाला वह नराधम कहाँ है' इस प्रकार कहता हुआ सम्मुख आया और रूपलावण्यवती सीता को देख कर काम से पीड़ित हो गया। वह सोचने लगा—'मैं इस रूप सुन्दरी को कैसे प्राप्त करूँ। बलपूर्वक इसका अपहरण करूँ तो व्यर्थ युद्ध होगा और अपयश भी होगा। अतः इसके हरने का कोई ऐसा उपाय करूँ कि कोई जान न पाये।

इस प्रकार सोचकर उसने कर्ण पिशाचिनी विद्या को बुलाकर उस स्त्री का परिचय पूछा और उपाय भी पूछा। उसने सीता का परिचय देकर कहा कि लक्ष्मण जब सिंहनाद का शब्द करेगा तो राम भी युद्ध के लिए जायेगा। विद्या के वचन सुनकर उस परस्त्री लम्पट ने सिंहनी विद्या को बुलाया और उसे सिखा-पढा कर युद्ध में भेजा। उसने जाकर दोनों ओर की सेना में घोर अंधकार कर दिया और लक्ष्मण की आवाज में 'राम-राम' इस

प्रकार सिंहनाद किया। रामचन्द्र जी इस सिंहनाद को लक्ष्मण का समझ कर सीता को समझा-बुझा कर और जटायु से उसकी रक्षा करने को कहकर युद्ध के लिये चल दिये। रावण तो इस अवसर की ताक में ही था। उसने आकर सीता को उठाकर पुष्पक विमान में बैठा लिया। यह देखकर जटायु बड़ी जोर से रावण पर झपटा। उसने अपनी चोंच और नखों से रावण को क्षत-विक्षत कर दिया। रावण ने विघ्न आया देख कर जटायु पर प्रहार किया। बेचारा पक्षी उस प्रहार से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। रावण पुष्पक विमान को लेकर अपने स्थान को चला गया।

सीता अपना अपहरण जानकर जोर-जोर से राम-राम चिल्लाती हुई विलाप करने लगी। रावण मन में विचार करता जा रहा था—'अभी यह अपने पति के लिये विलाप कर रही है। जब मेरे ठाठ-बाट देखेगी तो यह अपने पति को भूल जायगी और मुझसे प्रेम करने लगेगी। किन्तु मैंने तो गुरु से व्रत लिया है कि किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के बिना मैं बलात्कार नहीं करूँगा। अतः इसे एकान्त उद्यान में रखकर युक्ति से बश में करना ठीक होगा।' इस प्रकार सोचता हुआ वह लका जा पहुँचा।

उधर रण-भूमि में राम को आया देखकर लक्ष्मण बोला 'देव! आप भयानक वन में सीता को अकेली छोड़ कर क्यों चले आये?' राम बोले—'तुम्हारा सिंहनाद सुनकर ही मैं यहाँ चला आया।' लक्ष्मण बड़े आश्चर्य में भरकर बोले—'मैंने तो कोई सिंहनाद नहीं किया था। आप शीघ्र चले जाइये।' राम लक्ष्मण को आशीर्वाद देकर शीघ्र वहाँ से अपने स्थान पर वापिस आये। वहाँ सीता को न पाकर 'सीता, सीता' पुकारने लगे और मूर्च्छित होकर गिर पड़े। जब सचेत हुए तो वे फिर विलाप करने लगे—'देवि! तुम क्यों हँसी कर रही हो। तुम जरूर वृक्षों के पीछे कहीं छिपी हुई हो, जल्द निकल आओ। क्या तुम मुझे अपने वियोग से मरा हुआ देखना चाहती हो।' इस तरह विलाप करते हुए वे इधर-उधर घूमकर सीता को देखने लगे। तब उन्हें मरणासन्न जटायु धीरे-धीरे कराहता हुआ दिखाई दिया। रामचन्द्र एक क्षण को सीता का वियोग भूल गये और जटायु के कान में धीरे-धीरे णमोकार मन्त्र सुनाने लगे। मरते समय जटायु के भाव शुभ हो गये और वह मर कर देवयोनि में उत्पन्न हुआ। जटायु के मर जाने से उनका शोक और प्रदल हो गया। वे फिर मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। चेत आने पर वे फिर विलाप करने लगे—हे वन्य पशुओ! यदि तुमने कहीं मेरी सीता को देखा हो तो तुम मुझे बता दो। हे वृक्षो! यदि तुम्हें सीता का कुछ पता हो तो तुम्हीं बता दो।' जब कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला तो वे निरुद्देश्य ही वज्रावर्त धनुष को टकारने लगे। वे बार-बार मूर्च्छित होते और पुनः चेत आने पर निरर्थक प्रलाप करने लगते।

इधर रामचन्द्र जी की यह दशा थी, उधर लक्ष्मण खरदूषण के सैनिकों से अकेले युद्ध कर रहे थे। इतने में चन्द्रोदर का पुत्र विराधित वहाँ आया और लक्ष्मण से कहने लगा—'देव! हमारा अलकारपुर नगर हमसे खरदूषण ने छीन लिया है। आपकी कृपा से अब वह हमें मिल जायगा। आप खरदूषण से युद्ध करें और मैं उसके दुष्ट सैनिकों से लड़ता हूँ। यों कह कर विराधित तो सैनिकों से युद्ध करने लगा और लक्ष्मण खरदूषण से युद्ध करने लगे। लक्ष्मण ने उसे सात बार रथविहन कर दिया। वह हाथी पर चढ़ कर युद्ध करने लगा तो लक्ष्मण के बाण से उसका हाथी भी मारा गया। तब दोनों में आमने सामने पैदल ही युद्ध होने लगा। लक्ष्मण ने सूर्यहास तलवार से उसका सिर काट दिया। उधर खरदूषण का सेनापति सुभग दूषण विराधित से जूझ रहा था। लक्ष्मण ने उसके वक्षस्थल पर भिन्दमाल का करारा प्रहार किया और वह भी निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़ा। सेनापति के मरते ही सेना भाग खड़ी हुई। लक्ष्मण ने सबको अभयदान दिया और शत्रु सेना की सामग्री विराधित को सौंप कर लक्ष्मण शीघ्रता से राम के पास पहुँचे। वहाँ सीता के बिना राम को मूर्च्छित देखकर लक्ष्मण ने उन्हें सचेत किया और पूछा—'देव! सीता कहाँ है?' राम ने लक्ष्मण को बिना घाव के देखा तो वे प्रसन्न हुए। किन्तु फिर शोक की घटा उमड़ पड़ी और विह्वल होकर बोले—पता नहीं, सीता को कोई दुष्ट हर ले गया या पाताल खा गया या उसे आकाश निगल गया।' लक्ष्मण ने उन्हें बड़ी सान्त्वना दी—'देव! इस प्रकार शोक करने से क्या मिलेगा।' और उनके हाथ-मुँह धोए।

कुछ देर पश्चात् विराधित अपनी सेना सहित आकाश-मार्ग से वहाँ आया। लक्ष्मण ने राम से कहा—

यह राजा चन्द्रोदर का पुत्र विराधित है। इसने युद्ध में मेरी बड़ी सहायता की है।' विराधित ने राम को नमस्कार किया और कहने लगा—'महाराज ! आप जैसे पुरुषोत्तम को पाकर मैं कृतार्थ हुआ। मुझे कुछ आज्ञा दीजिये।' यह सुनकर लक्ष्मण बोले—'मित्र ! किसी ने मेरे भाई की पत्नी हर ली है। यदि वह न मिली तो भाई उसके वियोग में प्राण दे देंगे और इनके बिना मैं भी जीवित नहीं रहूँगा। इनके प्राणों के आधार पर ही मेरे प्राण हैं। अतः तुम कुछ प्रयत्न करो।' विराधित सान्त्वना भरे शब्दों में बोला—'देव ! आप कुछ चिन्ता न करें। मैं आपकी पत्नी को अवश्य खोज लाऊँगा।'

उसने तत्काल अपने योद्धाओं को सीता की खोजके लिए दसों दिशाओं में भेज दिया। उन्होंने सब कहीं छान मारा किन्तु सीता का कुछ पता न चला। वे कुछ काल के बाद लौट आये। तब राम निराश होकर बोले—'मेरे भाग्य में दुःख ही लिखे हैं। माता-पिता से विछुड़ कर मैं इस जंगल में आया, किन्तु दुर्भाग्य ने यहाँ भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा। सीता के बिना मैं अब एक पल भी जीवित नहीं रहूँगा। आप लोग घर जाइये और सुखपूर्वक रहिये।' इस प्रकार राम को विलाप करते देखकर लक्ष्मण भी रोने लगे।

तब विराधित ने उन्हें आश्वासन दिया—'देव ! इस तरह शोक करने से तो सीता मिलेगी नहीं। आप धैर्य रख कर कुछ उपाय कीजिये। जीवन रहेगा तो सीता भी मिल जायगी। खरदूषण मारा गया है, अतः उसके पक्ष के रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण, मेघनाद, इन्द्रजीत आदि अभी चढकर आवेंगे। अतः आप अलंकारपुर चलिये। वहाँ मैं शीघ्र अपने योद्धाओं को सीता का पता लगाने भेजूँगा और भामण्डल के साथ मिल कर मैं और वे दोनों पता लगायेंगे। यदि मैं सीता का पता न लगा पाया तो अपने प्राण त्याग दूँगा।' इस प्रकार उसके वचनों से आश्वस्त होकर सब लोग अलंकारपुर चले। वहाँ जाकर नगर को घेर लिया और उस पर अधिकार कर लिया। चन्द्रनखा पश्चिम द्वार से अपने पुत्र के साथ निकल भागी। विराधित ने राम और लक्ष्मण को एक सुन्दर महल में ठहरा दिया। पुरजन अपने राजा को पुनः पाकर बड़े हर्षित हुए। सब लोग बैठकर सीता की खोज का उपाय सोचने लगे। किन्तु उस महल में भी राम को सीता के बिना सब कुछ सूना-सूना लगता था। उन्हें कुछ देर भगवान की पूजा करने से शान्ति मिलती थी।

रावण विमान में ले जाते हुए सीता को समझाने लगा—'सुन्दरी ! तुम क्यों शोक करती हो। कहीं वह दरिद्री राम और कहीं त्रिखण्डपति में। मेरे पास ससार की सारी सपदायें हैं। तू राम को ध्यान छोड़कर मेरे साथ भोग कर और आनन्दपूर्वक शेष जीवन बिता। मैं तुझे अपनी अठारह हजार रानियों में लंका के उद्यान में सीता के पटरानी का पद दूँगा।' यह कहकर उसने सीता की ओर ज्योही हाथ बढ़ाया, सीता बड़े क्रोध में बोली—'पापी ! खरदर जो मुझे स्पर्श किया। परस्त्री गमन से तू नरक में पड़ेगा। यदि तूने मुझे स्पर्श करने का प्रयत्न किया तो सती के शील से तू अभी भस्म हो जायगा।' रावण भयभीत होकर पीछे हट गया और लंका में जाकर अपने महलों के पीछे अशोक उद्यान में सीता को ठहरा दिया।

तभी चन्द्रनखा अपने पुत्र संहित बाल विखेर कर विलाप करती हुई वहाँ आई। उसने अपने पुत्र और पति के वध का समाचार रावण को सुनाया। रावण के घर में हाहाकार मच गया। तब रावण ने उसे समझाते हुए कहा—'बहिन ! तू शोक मत कर। मैं शीघ्र तेरे पति के हत्यारे का वध करके बदला लूँगा। तू यहाँ आनन्दपूर्वक रह।' इस प्रकार चन्द्रनखा को सान्त्वना देकर रावण अन्त पुर में जाकर खेदखिन्न होकर शय्या पर पड गया। तब उसकी रानी मन्दोदरी आकर कहने लगी—'नाथ ! आप इतने शोकग्रस्त क्यों हैं। खरदूषण मारा गया तो क्या हुआ।' तब रावण कहने लगा—'देवि ! तुम शपथ खाओ कि मेरी बात सुनकर तुम क्रोध नहीं करोगी।' तब मन्दोदरी ने शपथ खाई। तब रावण बोला—'एक भूमिगोचरी की स्त्री सीता को लाकर मैंने उद्यान में रक्खा है। अनेक उपाय करने पर भी वह मेरे अनुकूल नहीं होती। यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो तो तुम आकर उसे अनुकूल करने का प्रयत्न करो।' मन्दोदरी यह सुनकर बोली—'अच्छी बात है। मैं उसे वश में करके तुमसे मिलाऊँगी।'

यह कहकर मन्दोदरी अशोक उद्यान में सीता के पास पहुँची और समझाने लगी—'लड़की ! तू यहाँ

आकर उदास क्यों है। जिसे रावण जैसा बली त्रिखण्डाधिपति पति प्राप्त हो रहा हो, उसे शोक करना उचित नहीं है। तेरे राम-लक्ष्मण रावण की तुलना में अति तुच्छ हैं। यदि तू महाराज रावण की बात स्वीकार नहीं करेगी तो रावण कुपित होकर क्षणभर में राम और लक्ष्मण को मार डालेंगे। यदि तूने समझ से काम लिया तो तू पटरानी बनकर जीवन का आनन्द उठावेगी।'

यह सुनकर अश्रुपूरित नयनों से मन्दोदरी को देखती हुई सीता बोली—'माता! सतियों के मुख से ऐसे वचन नहीं निकलने चाहिये। मेरा शरीर टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाय, तब भी मैं राम को छोड़ अन्य पुरुष की इच्छा नहीं कर सकती। पर-पुरुष चाहे इन्द्र चक्रवर्ती ही क्यों न हो।'

इधर ये बातें हो रही थी कि काम से व्याकुल रावण वहाँ आया और मुस्कराता हुआ सीता को समझाने लगा। किन्तु सीता ने फटकारते हुए करारा उत्तर दिया। तब रावण ने क्रोधित होकर विद्यात्रय से वहाँ घोर अशक्त कर दिया। नाना प्रकार के फुकारते हुए विषघर और भयानक जन्तु सीता को डराने के लिये भेजे। किन्तु सीता राम के ध्यान में निमग्न रही, वह भयभीत नहीं हुई।

तब रावण वहाँ पर ही पर्दा डालकर मंत्रियों से मन्त्रणा करने लगा। वहाँ सीता के रुदन के शब्द विभीषण के कानों में पड़े। वह पर्दा उठाकर सीता के पास पहुँचा और पूछने लगा—'बहिन! तू किसकी पुत्री है और यहाँ बैठी क्यों रुदन कर रही है।' तब सीता ने उत्तर दिया—'भाई! मैं मिथिलापति जनक की पुत्री और अयोध्यापति दशरथ की पुत्र-वधू हूँ। वन में जब मेरे पति राम और देवर लक्ष्मण युद्ध को गये थे तो मुझे अकेली पाकर पापी रावण मुझे हर लाया है। अतः आप मुझे यहाँ से छोड़कर मेरे पति राम के पास पहुँचाने का कोई उपाय करो।'

सीता के मुख से ये वचन सुनकर विभीषण को बड़ा क्रोध आया। वह रावण के पास आकर कहने लगा—'देव! आप ज्ञानवान हैं, फिर भी आपने परस्त्री हरण जैसा अपवादकारी निन्द्य पाप क्यों किया? आप यह तो जानते ही हैं कि परस्त्री समागम से कुल की अपकीर्ति और नाश हो जाता है। अतः आप दया करके सीता को उसके पति के पास पहुँचा दें।' किन्तु यह सुनकर निर्लज्ज रावण बड़ी घृष्टता से बोला—'त्रिखण्ड में जितनी भी सुन्दर वस्तुयें हैं, सब मेरी हैं।' यह कहकर वह मारीच आदि से बात करने लगा। तब मारीच कहने लगा—'नाथ! राजाओं को सदा न्याय-मार्ग पर चलना चाहिये। लोकनिन्द्य काम करने से वश का नाश हो जाता है।'

रावण को मारीच का उपदेश रुचिकर नहीं लगा और वह वहाँ से उठकर चल दिया। उसने अपना सारा वैभव सीता के आगे से निकाला, जिससे सीता प्रभावित हो किन्तु सीता पर इसका कुछ प्रभाव नहीं पडा। वह तो सदा राम के ही चरणों का ध्यान करती थी। उसने मन में सकल्प कर लिया कि जब तक पुनः पति से समागम न होगा तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी। रावण ने सीता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अनेक चतुर स्त्रियाँ सीता के पास रख दी, जो रत्न, मुक्ताक आदि के अनेक आभूषण और शृंगार की सामग्री सीता के पास लाकर रखती, उसे प्रेमभरी रसीली बातें सुनाती, कोई उसे भयभीत करती, किन्तु सीता उनको न कुछ उत्तर देती और न ही बोलती। वे जाकर रावण को रिपोर्ट देती कि सीता पर हमारी बातों का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता। रावण काम विमूढ हुआ सीता का ही दिनरात ध्यान करता।

तब एक दिन विभीषण ने मन्त्रि-परिषद बुलाई और कहने लगा—'देखो, रावण सीता को ले आया है। इससे बड़ा अनर्थ होगा। न्याय मार्ग पर चलने वाले हनुमान आदि राजा विरुद्ध हो जायेंगे। रावण का दाहिना हाथ खरदूषण मारा ही गया है। राम की सहायता पाकर विराघित बलवान हो गया है। वानरवशी अपनी ही समस्याओं में उलझे हुए हैं। भगवान के मुख से आप लोग सुन ही चुके हैं कि दशरथ के पुत्रों के हाथ से रावण की मृत्यु होगी। अतः आप लोग कुछ उपाय करें कि यह अनर्थ टल सके।' तब मंत्रियों ने निश्चय किया कि लका की सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करना चाहिये। प्रभावशाली पुरुषों को मधुर वाक्यों से अपने पक्ष में कर लेना चाहिये और दुष्ट जनों को घनादि से परितृप्त कर अपने अनुकूल करना चाहिये। रावण का जिसमें हित हो, हमें वही कार्य

करना चाहिये। सीता के बिना राम जीवित नहीं रहेगा और राम के मरने पर लक्ष्मण स्वयं मर जायगा। अतः हमें तब तक धैर्य रखना चाहिये।

इस निर्णय के अनुसार विभीषण ने लका के चारों ओर यंत्रों का एक दूसरा परकोट बनवाया, खाई खुदवादी। चारों ओर रक्षा के लिए सुभट और दिक्पाल नियुक्त कर दिये और युद्ध की सी तैयारी होने लगी।

सुग्रीव की स्त्री सुतारा के प्रति आसक्त विद्याधर साहसगति पर्वत पर जाकर कामरूपिणी विद्या सिद्ध कर किष्किंधापुरी आया। उस समय सुग्रीव कहीं बाहर गया हुआ था। अतः साहसगति सुग्रीव का रूप बनाकर

महलो में गया और सुतारा को पकड़ने लगा। किन्तु रूप बना लेने पर भी साहसगति को सुग्रीव से सुग्रीव के समान बातें नहीं आती थी, न वह वहाँ के शयनासन, द्वारपालों आदि से ही राम की मित्रता परिचित था। अतः सुतारा को सन्देह हो गया और वह उससे बचकर दूसरे कक्ष में चली गई। तभी असली सुग्रीव नगर में आया। उसे देखकर लोग आश्चर्य करने लगे—एक तो

सुग्रीव पहले आया ही था, यह दूसरा कौन आ गया। लोगों के आश्चर्य को देखता हुआ असली सुग्रीव महलो में पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही छद्मवेशी साहसगति उसमें लड़ने आया। दोनों ओर की सेनायें भी आडटी। तब मंत्रियों ने सोचा—'असली सुग्रीव कौन सा है, यह निर्णय करना कठिन है। फिर व्यर्थ ही इन गरीब सैनिकों का अकारण वध क्यों कराया जाय।' यह सोचकर उन्होंने दोनों सुग्रीवों को उत्तर और दक्षिण दिशा में ठहरा दिया। सुतारा ने बताया कि जो पहले आया था, वह नकली सुग्रीव है। जामवन्त ने भी उसका समर्थन किया। किन्तु मंत्रियों ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। वहाँ का शासन-सूत्र वाली के पुत्र चन्द्ररश्मि ने सभाल लिया तथा प्रतिज्ञा की कि जो भी सुग्रीव महलो में आवेगा, उसका ही वध कर दूँगा।

असली सुग्रीव बेचारा बड़ा दुखी हुआ। उसने रावण तथा अपने मित्र हनुमान से सहायता माँगी। हनुमान सेना लेकर आया तो नकली सुग्रीव ने उसका बड़ा स्वागत किया। तब हनुमान भी असली और नकली सुग्रीव की पहचान नहीं कर पाया और वह वापिस चला गया। तब सुग्रीव खरदूषण से सहायता लेने के लिए दण्डकारण्य पहुँचा। वहाँ हाथी, घोड़े और मनुष्यों की लाशों को देखकर सोचने लगा कि यहाँ युद्ध किसका हुआ है। उसने एक मनुष्य से इस बारे में पूछा तो उसने खरदूषण की मृत्यु, सीता हरण आदि वृत्तान्त कह दिया। तब सुग्रीव ने सोचा कि जिन्होंने खरदूषण जैसे वीर को मार दिया, वे अवश्य लोकोत्तर वीर पुरुष हैं। उन्हीं से सहायता लेनी चाहिए। अतः उसने एक दूत राजा विराधित के पास दोस्ती के उद्देश्य से अलकारपुर भेजा। दूत ने जाकर विराधित से सब बातें कही। विराधित सोचने लगा—राम के ससर्ग से न जाने क्या-क्या लाभ होंगे। देखो, सुग्रीव भी मेरी शरण में आ रहा है। यह विचार कर उसने दूत से कह दिया—सुग्रीव से कहना, वह राम की शरण में आ जाय। वे ही उसका दुःख दूर कर सकेंगे।

दूत ने सुग्रीव से जाकर सब बातें कह दी। सुग्रीव अपनी सेना के साथ अलकारपुर जिसे पाताल लका भी कहते थे—आया। सेना का कोलाहल सुनकर लक्ष्मण ने विराधित से पूछा—'यह किसकी सेना आ रही है।' तब विराधित ने सुग्रीव का परिचय देते हुए कहा—वह वानर वंशी राजा राम की सहायता करने के लिए आ रहा है। तभी सुग्रीव अपने मंत्रियों सहित वहाँ आया। राम और लक्ष्मण उससे प्रेम से मिले। तब राम ने सुग्रीव के मंत्री जामवन्त से उसके आने का कारण पूछा। जामवन्त बोला—'देव! यह चौदह अक्षौहिणी सेना का अधिपति वानर वंशी राजा सुग्रीव है। जब यह तीर्थ यात्रा को गया हुआ था तो कोई मायावी पुरुष सुग्रीव का रूप बनाकर किष्किंधापुरी में आ गया और वहाँ रहने लगा। सुग्रीव इससे बड़ा दुखी है। इन्होंने हनुमान से सहायता माँगी, किन्तु उन्होंने इनकी कोई सहायता नहीं की। अतः ये आपकी शरण में आये हैं। आप ही इनका दुःख दूर कर सकते हैं।'

राम ने सोचा—यह भी मेरी तरह ही पत्नी-वियोग से दुखी है। यह मेरा कार्य अवश्य करेगा। यह सोचकर वे सुग्रीव से बोले—'यदि तू मेरी पत्नी सीता का पता लगाकर लावेगा तो मैं नकली सुग्रीव को निकाल कर तम्हें तेरी सुतारा और तेरा राज्य दिला दूँगा।' यह सुनकर सुग्रीव बोला—'महाराज! मैं वचन देता हूँ कि यदि

सात दिन के भीतर मैं सीता का पता लगाकर न लाऊँगा तो अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा ।' राम उसकी बातों से बड़े प्रसन्न हुए और दोनों ने प्रतिज्ञा की—हम परस्पर विश्वासघात नहीं करेंगे ।

सुग्रीव राम और लक्ष्मण को रथ में बँठाकर सेना सहित किष्किन्वापुरी आया और उसने एक दूत नकली सुग्रीव के पास भेजा । दूत ने उससे जाकर कहा—तुम या तो राजा सुग्रीव की शरण में जाओ या युद्ध के लिए तैयार हो जाओ ।' नकली सुग्रीव युद्ध के लिए तैयार हो गया और मेना लेकर आ डटा । दोनों पक्षों में जोरदार युद्ध हुआ । विषयलस्पटी साहसगति ने सुग्रीव पर प्रहार किया । इससे सुग्रीव मूर्च्छित हो गया । उसे मरा हुआ जानकर साहसगति आनन्दपूर्वक नगर में चला गया । ह्योग आने पर सुग्रीव राम से बोला—प्रभो ! हाय-मे आया हुआ चोर निकल गया । आपने मेरी सहायता नहीं की ।' तब रामचन्द्र जी बोले—'मैं युद्ध के समय तुम दोनों के रूप रंग में अन्तर नहीं जान पाया । अतः मैंने मारना उचित नहीं समझा ।'

इसके बाद राम ने साहसगति को पुनः युद्ध के लिए ललकारा और युद्ध के लिए उसके सम्मुख आये । उन्होंने वज्रावर्त धनुष पर डोरी चढ़ाई और उसे टकारने लगे । उसकी टकार सुनकर साहसगति की कामरूपिणी विद्या भय के मारे भाग गई । अतः सुग्रीव का रूप हटकर वह पुनः साहसगति के रूप में आ गया । उसकी ओर की सारी सेना उसका असली रूप देखकर सुग्रीव की ओर आ गई । तभी राम ने तलवार से उसका सिर काट दिया । मेना में जय-जयकार होने लगा । सुग्रीव ने राम-लक्ष्मण का खूब आदर किया । दोनों भाई नगर के बाहर एक मनोरम उद्यान में ठहर गये । सुग्रीव बहुत दिनों बाद सुतारा से मिला और वह विषय-भोगों में इतना निमग्न हो गया कि राम से की हुई प्रतिज्ञा भी भूल गया ।

जब राम ने देखा कि सुग्रीव अपनी प्रतिज्ञा को पूरा नहीं कर रहा है तो उन्हें बड़ा क्रोध आया । वे लक्ष्मण के साथ एक दिन सुग्रीव के महलों में पहुँचे और उससे कहा—'रे दुष्ट ! सुतारा को पाकर तू सुख से घर में बैठ गया है ।' इस प्रकार कह कर राम उसे मारने को तैयार हुए तो लक्ष्मण ने बीच में पड़कर राम से कहा—देव ! इस पापी को क्षमा करे । यह अपने कार्य को भूल गया है ।' फिर भय से काँपते हुए सुग्रीव से बोले—'राजन् ! महान पुरुषों को उपकार नहीं भूलना चाहिये ।' तब सुग्रीव राम के पैरों में पड़ कर क्षमा मागने लगा और बोला—'प्रभो ! आप मेरी शक्ति देखिये । मैं अभी सीता का पता लगा कर लाता हूँ ।' यों कहकर उसने अपने सुभटों को आवश्यक निर्देश देकर चारों ओर भेज दिया और स्वयं भी विमान में बैठकर वहाँ से चल दिया ।

सुग्रीव अनेक नगरों, वनों और पर्वतों पर सीता को खोजता हुआ जा रहा था । तभी उसे कवुद्वीप के शिखर पर एक वृक्ष के नीचे एक व्यक्ति बैठा दिखाई दिया । सुग्रीव उसके पास पहुँचा । वह व्यक्ति भय से कांपने और रोने लगा । उसने समझा कि सुग्रीव को रावण ने मेरा वध करने भेजा है । सुग्रीव ने लक्ष्मण द्वारा उसके पास जाकर अभय देते हुए कहा—तू कौन है, काँपता क्यों है, भय मत कर ।' तब उस फोटिशिला उठाना व्यक्ति ने कहा—'राजन् ! मैं जटी का पुत्र रत्नजटी हूँ । मैं जब धातकीखण्ड के चैत्यालयों की वन्दना करके आकाश मार्ग से लौट रहा था तो मेरे कानों में सीता के रोने की आवाज आई । वह विलाप करती हुई 'हाय राम हाय लक्ष्मण, हाय भाई भामण्डल कह रही थी । मैंने उसे पहचान लिया । मैं तुरन्त रावण के पास गया और उसे ललकारते हुए कहा—'रे पापी ! यह राम की पत्नी और मेरे स्वामी भामण्डल की वहन है । इसे तू कहाँ लिये जा रहा है ।' यह कह कर मैं उससे लड़ने लगा । तब रावण ने क्रोध में आकर मेरी सारा विचारों नष्ट कर दी और मैं इस कवुवन में आकर गिरा । मैं वहाँ से उठकर पर्वत पर आ गया ।'

सुग्रीव यह सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने कहा—'तुम चिन्ता मत करो कि तुम्हारी विद्यायें नष्ट हो गई हैं । तुम हमारे भाई हो । आओ, हम राम के पास चले ।' यों कह कर सुग्रीव रत्नजटी को राम के पास लिया लाया और राम से बोला—'प्रभो ! सीता का पता लग गया है, विस्तृत समाचार इससे पूछिये ।' राम ने रत्नजटी से सारा समाचार ज्ञात किया और बार बार पूछने लगे—भाई ! सत्य कहना, तुमने मेरी सीता देखी है ? रत्नजटी बोला—प्रभो ! सचमुच मैंने आपके वियोग से दुखी सीता को देखा है । लका का राजा पापी रावण उसे हर कर ले गया

है ।' तब राम ने प्रसन्न होकर विद्याधर को सुन्दर मणियों का हार और वस्त्र पुरस्कार में दिये और कहा कि तेरा राज्य भी तुझे वापिस दिलाऊँगा ।

इसके बाद राम ने क्रोध में भरकर विद्याधर से पूछा कि लका यहाँ से कितनी दूर है और दुष्ट रावण कौन है ? यह सुनकर विद्याधर डर गये । कोई रावण के बारे में बताने का साहस नहीं कर सका । बड़ो कठिनाई से जामवत ने रावण के पराक्रम का परिचय दिया और कहा—उससे लड़ने की सामर्थ्य सप्ताह में किसी की नहीं है । आप सीता का विचार छोड़ दें ।

तब लक्ष्मण बोले—'उस अधम रावण को हम देखेंगे । वह शक्तिशाली होता तो यो चोरो की तरह सीता को चुरा कर न ले जाता । आप लोग लका का मार्ग बता दीजिये ।' तब जामवन्त बोला—'पुरोत्तम राम ! आप यह हठ छोड़ दीजिये । एक बार रावण ने भगवान् अनन्तवीर्य से पूछा था कि मेरी मृत्यु किमके हाथ से होगी । उस समय भगवान् ने उत्तर दिया था कि जो अपने पराक्रम से कोटिशिला उठा लेगा, वही चक्र द्वारा तेरा वध करेगा ।

यह सुनकर लक्ष्मण बोले—'उस शिला को मैं उठाऊँगा ।' लक्ष्मण की यह बात सुनकर सुग्रीव, नल, नील, विराधित राम-लक्ष्मण को विमान में बैठाकर कोटिशिला के निकट गये । यह शिला नाभिगिरि के ऊपर स्थित है । यहाँ से अनेक मुनि सिद्ध हुए हैं । उन्होंने जाकर सुर-असुरों में पूजित उस शिला को अक्षत-पुष्पादि से पूजा की । बाद में लक्ष्मण ने सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर अपने पराक्रम से उस कोटिशिला को उठाया । लक्ष्मण ने उस शिला को जाँघों तक उठाया । राम आदि सभी यह देखते रहे । देवों ने पचाश्चर्य किये । सब उपस्थित लोगों को विश्वास हो गया कि सचमुच में लक्ष्मण नारायण है । सब लोग उसी दिन विमान में अपने-अपने नगर में वापिस आ गये ।

किष्किंधापुरी वापिस आने पर राम ने कहा—विद्याधर ! आप लोग अब देर न कीजिये और लका पर जल्दी चढ़ाई करके दुखी सीता को छुड़ाइये ।' तब विराधित बोला—'देव ! आप युद्ध चाहते हैं या सीता ? यदि विना युद्ध के सीता मिल जाय तो यह श्रेष्ठ मार्ग रहेगा । हम पहले किसी नीतिज्ञ चतुर हनुमान का व्यक्ति को रावण के पास भेजते हैं । शायद वह समझाने-बुझाने से सीता को वापिस करने पर लका-गमन सहमत हो जाय ।

राम ने भी इस उपाय को स्वीकार कर लिया । सबने परामर्श किया कि किस व्यक्ति को भोजना उचित रहेगा । सबने एक मत से कहा—हनुमान ही उपयुक्त व्यक्ति है । वही इस कार्य को कर सकता है और रावण को समझा भी सकता है । अतः एक दूत को तत्काल विमान द्वारा हनुमान के पास भेजा गया । उसने जाकर हनुमान से खरदूषण और शम्बूक की मृत्यु, और सुतारा की प्राप्ति आदि के सब समाचार सुनाये । अपने पिता खरदूषण और भाई शम्बूक की मृत्यु के समाचार सुन कर हनुमान की पत्नी अनगकुसुमा विलाप करने लगी और हनुमान की दूसरी पत्नी पद्मरागा अपने पिता सुग्रीव के कुशल समाचार सुनकर हर्ष करने लगी और जिनालय में जाकर नृत्य गान करने लगी । हनुमान ने तब अनगकुसुमा को धैर्य बघाया । बाद में सेना लेकर वह किष्किंधापुर चला । सुग्रीव आदि राजाओं ने हनुमान का प्रेम से स्वागत किया । सुग्रीव ने सुतारा की प्राप्ति और रामचन्द्र जी के शौर्य आदि के बारे में विस्तारपूर्वक सब समाचार बताये । तब सब लोग रामचन्द्र जी के पास गये । हनुमान ने राम से कहा—'देव ! मैं रावण को समझा कर अवश्य सीता को वापिस लाऊँगा । आप निश्चिन्त रहे ।'

जब हनुमान चलने लगा तो जामवत ने उसे समझाया—बानरवशियों को एकमात्र तुम्हारा ही सहारा है । अतः तुम लका में सावधानी से जाना और किसी के साथ विरोध मत करना ।' हनुमान ने उसकी बात मान ली और वहाँ से चलने लगा । तब रामचन्द्र जी ने हनुमान को छाती से लगा कर कहा—'तुम सीता से जाकर कहना कि राम तुम्हारे वियोग में न सोते हैं, न खाते हैं, न बैठते हैं । वे पागलों की तरह इधर-उधर घूमते रहते हैं । वे जानते हैं कि तुम शीलवती हो । उनके वियोग में तुम प्राण त्याग देने पर तुली हो । किन्तु मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है । अतः प्राणों की रक्षा का यत्न करो । शीघ्र ही तुम्हारा और उनका मिलाप होगा । तुम उनकी आशा रक्खो और भोजन करो ।' इस प्रकार कहकर रामचन्द्र जी ने निशानी के लिए अगूठी दी और कहा—'वीर ! तुम सीता को मेरी यह निशानी दे देना और उसे और भी विश्वास दिलाने के लिये उससे कहना कि रामचन्द्र जी ने कहा है

कि हम तुम दोनों ने दण्डक वन में चारण मुनि को आहार दान दिया था, वशगिरि पर्वत पर हम लोगों ने मुनियों का उत्सर्ग दूर किया था और जब उस दुष्ट कपिल ब्राह्मण ने तुम्हें जल नहीं दिया था, तब मैंने तुम्हें रामगिरि में जल पिलाया था। जब तुम लौटो तो सीता का चूड़ारत्न ले आना।'

हनुमान ने कहा—'देव ! ऐसा ही करूँगा।' और राम के चरणों में नमस्कार कर सब विद्याधरों में कहा—जब तक मैं लौट कर वापिस न आऊँ, तब तक आप लोग यहीं रहना और इन दोनों महापुरुषों की मेवा करना !'

यह कह कर हनुमान वहाँ से सेना सहित सानन्द विदा हुआ। मार्ग में उसे महेन्द्रपुर नगर दिखाई दिया जो उसकी ननिहाल थी। उसे देख कर हनुमान को बड़ा क्रोध आया कि जब मैं पेट में था, तब मेरे नाना ने मेरी माँ को बड़ा दुःख दिया था। अतः क्रोध में भर कर हनुमान ने रणभेरी बजा दी। दोनों ओर की सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। अन्त में हनुमान ने अपनी लागूल विद्या में महेन्द्र को बाध लिया। तब मंत्रियों ने उन्हें छोड़ा। नाना और धंवता तब प्रेम से मिले। राजा महेन्द्र ने अपने धंवते का बड़ा सम्मान किया। चलते समय हनुमान ने कहा—आप अपने पुत्रों और मेना को लेकर शीघ्र रामचन्द्र जी के पास पहुँच जायें।

इसके पश्चात् हनुमान मार्ग में अपनी माता में मिला। आगे बढ़ने पर हनुमान ने देखा कि उदधिनामक द्वीप पर दधिमुख नगर के पास वन जल रहा है और उसमें दो चारण मुनि तपस्या कर रहे हैं। हनुमान ने बड़ी भक्ति और करुणा से अपनी विद्या द्वारा वहाँ जल बरसा कर अग्नि को घान्त किया और मुनि-चरणों की पूजा की। उपसर्ग दूर होते ही तीन कन्याओं को विद्या सिद्ध हो गई। वे तीनों दधिमुख नगर के गधर्व राजा की पुत्रियाँ थीं। जिनके नाम चन्द्ररेखा, विद्युत्प्रभा और हरगमाला थे। उन्होंने आकर पहले तो मुनियों की वन्दना की, फिर हनुमान का नमस्कार किया। हनुमान के पूछने पर उन कन्याओं ने बताया कि हमारे पिता ने एक अवधिज्ञानी मुनि में पूछा था कि हमारा पति कौन होगा। तब उन्होंने कहा था कि जो साहसगति को मारेगा, वही इनका पति होगा। उधर अगारकेतु विद्याधर हमें चाहता था। हम मुनि के वचनों पर विश्वास करके मनोनुगामिनी विद्या सिद्ध करने वारह दिन पहले इस वन में तपस्या करने आई थी और ये मुनि आठ दिन पहले आये थे। तब अगारकेतु ने बड़े उपसर्ग किये और उसी ने वन में आग लगा दी। उपसर्ग के कारण हमें वारह वर्ष में सिद्ध होने वाली विद्याएँ वारह दिन में सिद्ध हो गईं। आपने आग बुझाकर मुनिराज और हमें जलने से बचा लिया।'

हनुमान ने कन्याओं की प्रशंसा करते हुए रामचन्द्र जी का सारा वृत्तान्त सुनाया। यह समाचार गन्धर्वराज के पास पहुँचा तो वह नगरवासियों के साथ वहाँ आया और हनुमान से मिलकर कन्याओं को लेकर सेना सहित रामचन्द्र जी के पास चल दिया और वहाँ जाकर कन्याओं का विवाह रामचन्द्र जी के साथ कर दिया।

हनुमान जिला जा रहा था कि उसकी सेना एक मयामई यन्त्रनिर्मित परकोटे से रुक गई। जब हनुमान को यह ज्ञात हुआ कि यह सब रावण की सुरक्षा के लिये भारी तैयारी है तो हनुमान ने कुछ देर में ही उस परकोटे के खण्ड-खण्ड कर दिये [और शालिविद्या का हृदय भेद दिया। जब इस कोट के रक्षक वज्रमुख को, जिसने रावण की आज्ञा से इस कोट का निर्माण किया था—पता चला कि कोट ध्वस्त कर दिया है, वह हनुमान से सेना सहित लड़ने आया। दोनों में युद्ध हुआ। अन्त में हनुमान ने उसे मार दिया। तब उसकी पुत्री लकासुन्दरी युद्ध के लिये आई। किन्तु हनुमान का मोहन रूप देखकर उस पर मोहित हो गई और सन्धि कर ली।

वहाँ से चलकर हनुमान सर्वप्रथम न्यायशील विभीषण के घर पर गया। दोनों परस्पर गले मिले। फिर हनुमान ने विभीषण से कहा—'राजन् ! आपके भाई ने परस्त्री हरण करके बड़ा लोक निन्द्य कार्य किया है। आप उन्हें इस काम से रोकिये, नहीं तो व्यर्थ जन-धन हानि होगी।' विभीषण बोला—'मैंने उन्हें बहुत समझाया बुझाया है, किन्तु वे मेरी एक नहीं सुनते। सीता को ग्यारह दिन भोजन छोड़े हुए हो गये हैं किन्तु उन्हें दया नहीं आती। आप जाकर सीता को समझा कर भोजन कराइये। मैं तब तक रावण को समझाता हूँ।'

हनुमान यह सुनकर अशोक उद्यान में पहुँचा और अशोक वृक्ष के नीचे जहाँ सीता बैठी हुई थी, वहाँ पहुँचा। उसने देखा—सीता अपने हाथ की बायीं हथेली पर गाल टेके हुए है, आँखों से आसूँ भर रहे हैं। गर्म गर्म श्वास निकल रहे हैं, बाल बिखरे हुए हैं और राम का ध्यान कर रही है। हनुमान ने समझ लिया कि राम क्यों इसके गुणों

का स्मरण कर न्याकुन हो रहे है। तब हनुमान अपनी विद्या में वृक्ष पर रूप बदल कर जा बैठे और राम की दी हुई अगूठी सीता की गोद में डाल दी। अगूठी राम नामान्वित थी। अगूठी को देग कर सीता बड़ी हर्षित हुई, मानो साक्षात् राम के ही दर्शन हो गये हों। सीता को प्रसन्न देगकर विद्याधरियों ने जाकर रावण को समाचार दिया। रावण ने रामभक्त—मेरा कार्य सिद्ध हो गया। उगने उन विद्याधरियों को मूव पुरस्कार दिया और मन्दोदरी ने कहा—तुम अन्य रानियों के साथ जाकर सीता को प्रसन्न करो। मन्दोदरी अन्य रानियों को लेकर सीता के पास पहुँची और उगने कहा—'तुम्हें प्रसन्न देगकर हमें भी प्रसन्नना है। अब तुम मनार विजयी रावण के साथ आनन्द के साथ भोग करो।' सीता मुनकर बड़ी कुपित होकर बोली—'विद्याधरी! मुझे मेरे पति के समाचार मिल गये हैं इसलिये मैं प्रसन्न हूँ। अब यदि मेरे पति ने यह मन्त्र मुन लिया तो रावण जीवित नहीं बचेगा।' फिर सीता कहने लगी—'यहाँ ऐसा मेरा कौन भाई है, जिनने जाकर मुझे राम की अगूठी दी है।'

हनुमान यह सुनकर वृक्ष में नीचे उतरे और उन विद्याधरियों ने मगध ही सीता के सामने जा पहुँचे और चरणों में नमस्कार कर कहा—'माता! रामचन्द्र जी की यह अगूठी मैं लाया हूँ।' सीता द्वारा परिचय पूछने पर हनुमान ने अपना परिचय देते हुए कहा—रामचन्द्र जी आपके वियोग में बड़े दुखी है, न खाते हैं, न सोते हैं। दिन-रात श्रापका ही ध्यान करते रहते हैं। अपने पति के ममानार पा कर सीता बड़ी प्रसन्न हुई। फिर वह कहने लगी—'हाय! मैं पापिनी तुम्हें इस समय इस मन्त्री के ममानारों ने बदले कुछ भी नहीं दे सकती।' हनुमान बोला—, 'माता! आपके दर्शनो में ही मेरा पुण्य-वृक्ष फल गया।' तब सीता बार-बार राम-लक्ष्मण की कुशलता के ममानार पूछने लगी और कहने लगी—'हनुमान! मन्त्र कहना, कही उनकी अगुनी में गिर जाने के कारण यह अगूठी तुम उठा तो नहीं लाये। वे इस समय कहाँ है। लक्ष्मण मरदूषण में युद्ध करने गये थे। उनके वियोग में कही राम ने प्राण तो नहीं त्याग दिये।' तब हनुमान ने कहा—'माता वे इस समय किर्तिधरपुर में है। बहुत मे विद्याधर उनके साथ हैं। उन्होंने ही मुझे आपके पास भेजा है।'

तब मन्दोदरी हनुमान में बोली—'अरे कृतघ्न! अब रावण की सेवा छोडकर विद्याधर होकर भी तूने भूमि गोचरियों की सेवा अगीकार करली है। अब तेरी कृतघ्नता का फल तुम्हें शीघ्र मिलेगा। रावण राम-लक्ष्मण सहित तुम्हें भी शीघ्र मार डालेंगे।' तब हनुमान ने उसे करारा उत्तर देते हुए कहा—'भूमिगोचरी तो तीर्थकर भी होते है। तू राम-लक्ष्मण के पराश्रम को नहीं जानती। इसीलिए तू पटरानी होकर यह दूती का निघ कार्य कर रही है। तू देखेगी कि राम-लक्ष्मण के हाथों तेरा पति रावण अब शीघ्र ही मारा जायगा।'

तब मन्दोदरी आदि सीता को मारने भगटी किन्तु हनुमान की एक ही हुकार से वे भयभीत होकर वहाँ से भाग गईं। तब हनुमान ने सीता से कहा—'माता! आप भोजन कर लीजिये। रामचन्द्र जी ने यह आज्ञा दी है। विभीषण की रानियों ने भी सीता से भोजन करने का बहुत आग्रह किया। बड़ी कठिनाई से सीता ने थोडा सा भोजन किया। हनुमान ने फिर निवेदन किया—'माता! आप मेरे कन्धे पर बैठ जाइये। मैं अभी आपको रामचन्द्र जी के पास पहुँचाये देता हूँ।' किन्तु सीता ने कहा—'बिना प्रभु रामचन्द्र जी की आज्ञा के मैं वहाँ नहीं जा सकती। दुनियाँ मेरा अपवाद करेगी। तू विश्वास के लिए यह चूडामणि रत्न लेजा और प्रभु से कहना—सीता आपके दर्शनो की लालसा से ही प्राण धारण किये हुए है।' इस प्रकार कह कर सीता ने हनुमान से शीघ्र चले जाने को कहा।

सीता की आज्ञानुसार हनुमान वहाँ से चल दिया। रानियों ने जाकर रावण से शिकायत की। रावण ने नौकरो को आज्ञा दी कि जाकर विद्याधर को पकड लाओ। नौकरो को आते देखकर हनुमान ने विद्या से वानर का रूप रख लिया और एक वृक्ष की शाखा में छिप गया। जब हनुमान को कही नहीं देखा तो वे इधर-उधर दूढ़ने लगे। तब हनुमान ने वृक्ष उखाड-उखाड उन्हे मारना शुरू कर दिया। उसने उस उद्यान को तहस-नहस कर दिया। घुडशालाये नष्ट कर दी, गजशालाओ में आग लगा दी। अनेक लोगो को मार डाला। तब कुछ लोगो ने जाकर रावण से फरयाद की—'महाराज! कोई भारी दैत्य आया है। उसने अनेक घर ढा दिये, वृक्ष उखाड फेंके, अनेक लोगो को मार डाला।' यह सुनकर रावण ने अपने पुत्र मेघनाद से कहा—'पुत्र! तू जा, देख तो यह कौन पापी आया है।'

मेघनाद हाथी पर चढ़कर राक्षसों के साथ वहाँ आया। उसे देखकर हनुमान ने विद्या से वानर सेना तैयार करी। हनुमान और मेघनाद में युद्ध हुआ। आखिर हनुमान ने मेघनाद को मार भगाया। तब इन्द्रजीत लड़ने आया। दोनों में भयानक युद्ध हुआ। अन्त में इन्द्रजीत ने हनुमान को नागपाश में बाँध लिया और ले जाकर रावण के सामने खड़ा कर दिया।

रावण उसे देखकर अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोला—अरे दुष्ट! तूने लका में यह ध्वंस क्यों किया, मेरा उद्यान क्यों नष्ट कर दिया। मैंने तुझे प्रभुत्व दिया था और तू राम ने जा मिला, जिसकी रत्नी को मैंने आया हूँ और अब तू उस राम का दूत बन कर आया है। मैं तुझे अभी मारता हूँ।' यो कह कर रावण ने हनुमान को मारने के लिए तलवार उठाई, किन्तु मंत्रियों ने उसे यह कह कर रोक लिया कि दूत अव्यय होते हैं। तब हनुमान ने निर्भय होकर कहा—मैंने तो अभी क्या नाश किया है, किन्तु क्रुद्ध राम शीघ्र ही तेरा नाश करेंगे। परस्त्री चोर रावण तो नरक जायगा ही, किन्तु आप लोग भी इस पाप में साथ देने के कारण नरक में जायेंगे। समझलो, अब राक्षसवशियों का विनाश-काल आ गया है।

तब रावण ने क्रोध में भर कर आज्ञा दी—'इस दुष्ट को नगर के बाहर ले जाकर शूली पर चढ़ा दो।' अनेक सुभट हनुमान को लोहे की साकिलों में बाँध कर लका के बाजारों में होकर ले चले। लोग हनुमान का उपहास उड़ाने लगे—रावण से विमुख होने का यही फल मिलता है। यह सुनकर हनुमान को क्रोध आ गया। उसने लौह शृङ्खलायें तोड़दी और आकाश में उड़ गया। उसने नगर का स्वर्णमयी कोट ढा दिया, फाटक तोड़ दिये। सारी लका में आग लगा दी। रावण का घर, ध्वज, तोरण नष्ट कर दिये। इस प्रकार लका-दहन कर हनुमान किष्किंधापुरी की ओर चल दिया। वह वहाँ पहुँच कर राम के पास पहुँचा और उन्हें प्रणाम कर खड़ा हो गया। राम ने उसे छाती से लगाकर पूछा—सीता कुशलपूर्वक तो है। तुमने उसे कहाँ देखा।' तब हनुमान ने चूडामणि रत्न निकाल कर उनके सामने रख दिया और सीता का कहा हुआ सन्देश सुना दिया। उसे सुनकर राम दुःख में अधीर होकर रोने लगे। तब लक्ष्मण ने उन्हें धैर्य देते हुए कहा—'देव! दुःख करने से क्या होगा। मैं आज ही लका में जाकर रावण को मारकर सीता को ढाऊँगा।' तब राम को कुछ सात्वना मिली और अपने शरीर से आभरण उतार कर प्रेम पूर्वक हनुमान को दे दिये।

लक्ष्मण ने सब विद्याधरों को एकत्रित किया और उनसे कहा—'अब लका पर चढ़ाई करने का समय आ गया है। अब देर नहीं करनी चाहिये। सब विद्याधर लका पर घातमण करने के लिए तैयार हो गये और सब विमानों में बैठ कर चल दिये। उस दिन प्रभात के समय मार्गशीर्ष कृष्णा पक्षमी थी। चलते-चलते राम का लका पर आक्रमण समय अनेक शुभ शकुन हुए। राम की मेवा में बड़े-बड़े योद्धा थे—नल, नील, सुग्रीव, अग, पर आक्रमण अगद, हनुमान, विराधित, महेन्द्र, प्रश्नकीर्ति, धनगति, भूतनाद, गजस्वन, ब्रजमुख आदि। वे चलते-चलते देलघर द्वीप पहुँचे। वहाँ पर नगर के राजा समुद्र से युद्ध हुआ। नल ने उसे जीता हुआ पकड़ लिया। जब उसने रामचन्द्रजीका आधिपत्य स्वीकार कर लिया तो उसे उसका राज्य दे दिया। वहाँ से चल कर सुवेलपुर पहुँचे और वहाँ के राजा सुवेल को जीता। वहाँ से लका को चले। विमानों से सवने देखा—सोने का कोट, सोने के महल, अत्यन्त वैभवपूर्ण लका नगरी। सब लोग हंसद्वीप में उतर गये। वहाँ के राजा को जीता और भामण्डल की प्रतीक्षा करने लगे। तब तक लका में एक दूत भेज दिया।

राम का आगमन सुनकर लका में कोलाहल मच गया। रावण ने रणभेरी बजा दी। सभी सुभट एकत्रित होकर रावण के पास पहुँचे। रावण को युद्ध के लिये उद्यत देखकर विभीषण उसे समझाने लगा—'देव! कृपा कर मेरी विनय सुनिये। आप न्याय मार्ग पर चलने वाले हैं। अतः आप राम को सीता सौंप दीजिये। व्यर्थ ही इस अन्याय युद्ध से लाभ नहीं होगा। हमारे वश का नाश हो जायगा।' यह सुन कर इन्द्रजीत बोला—'अगर आपको भय लगता है तो आप घर में बैठिये। स्त्रीरत्न को पाकर कहीं छोड़ा जाता है। रावण के आगे राम बेचारा तुच्छ है।' तब विभीषण पुनः समझाते हुए बोला—'इन्द्रजीत! ऐसा मत कहो। पाप से राजा भी रक हो जाते हैं। तुम्हारे पिता सीता नहीं लाये, बल्कि विष लाये हैं। हनुमान आदि अनेक राजा-गण राम के पक्ष में मिल गये हैं।'

विभीषण के यह वचन सुन कर रावण क्रोध में अघ्रा होकर विभीषण को मारने दीडा, तब विभीषण भी युद्ध के लिये तैयार हो गया। तब मंत्रियों ने ममम्भा-दुम्भाकर दोनों को रोका। किन्तु रावण क्रोध में भर कर बोला—'दुष्ट! तू शत्रु से मिल गया है। अतः तू इसी समय लका से निकल जा।' विभीषण बोला—'अच्छी बात है। मैं अभी यहाँ से जाता हूँ। यदि मैंने लका नष्ट न की तो मैं रत्नश्रवा का पुत्र नहीं। इस प्रकार कह कर विभीषण तीस अक्षौहिणी सेना लेकर राम से मिलने चल दिया।

विभीषण की सेना का कोलाहल सुनकर वानरवशी सेना भी युद्ध के लिए तैयार हो गई। राम और लक्ष्मण ने वज्रावर्त और सागरावर्त धनुष उठाये और नगर से बाहर युद्ध के लिये चल दिये। वानरवशी सेना भी उनके पीछे चल दी। तब विभीषण ने राम के पास दूत भेजा। दूत ने आकर राम से कहा—'देव! विभीषण अपने भाई रावण से शत्रुता कर आपकी शरण में आये है।' राम ने यह सुनकर जाबुनद आदि मंत्रियों को बुला कर मंत्रणा की और यह निर्णय किया कि विभीषण धर्मात्मा है। रावण से सीता को लेकर उसका प्रारम्भ से ही विरोध रहा है। अतः दोनों में मतभेद और शत्रुता होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसलिये विभीषण को अवश्य बुलाना चाहिये। फलतः विभीषण को भेजने के लिये दूत से कह दिया। विभीषण ने आकर राम को नमस्कार किया और बोला—'प्रभो! इस जन्म में आप और दूसरे जन्म में भगवान् जिनेंद्र मेरे शरण हैं।' राम ने बड़े प्रेम से विभीषण से कहा—'विभीषण! मैं विजय कर राक्षस द्वीप सहित लका तुम्हें दूंगा, मेरी यह प्रतिज्ञा है।'

इधर यह बात हो रही थी, तब तक अनेक विद्याओं का अधिपति भामण्डल आ पहुँचा। उसे देखकर वानर वशियों को बड़ी प्रमन्नता हुई। उसके साथ एक हजार अक्षौहिणी सेना थी।

अब सेना को लेकर राम ने लका की ओर प्रयाण किया और लका के बाहर सेना का पड़ाव डाल दिया। उसी के सामने रावण की सेना भी आ डटी। रावण की सेना में चार हजार अक्षौहिणी थी और राम की सेना में दो हजार अक्षौहिणी थी।

सबसे प्रथम रावण की ओर से हस्त और प्रहस्त नामक सुभट अपनी सेना लेकर युद्ध के लिए आये। इधर राम, लक्ष्मण और नल-नील भी आगे बढ़े। उनके पीछे उनकी सेना थी। युद्ध प्रारम्भ हो गया। रक्त की कीचड़ मच गई। हाथी, घोड़े, मनुष्य कट कट कर गिरने लगे। लाशों पर लाश पड़ने लगी। तब नल, नील ने भयकर युद्ध कर भिण्डमाल के प्रहार से हस्त-प्रहस्त को मार दिया।

दूसरे दिन रावण पक्ष के मारीच आदि राजा युद्ध के लिये आये। उन्होंने भयकर युद्ध किया। वानर वशियों में भगदड़ मच गई। तब हनुमान आगे बढ़ा। उसके प्रहार से राक्षसवशियों की सेना तितर-वितर होने लगी। उसे रोकने के लिए राक्षसों का सेनापति माली आगे आया। हनुमान और माली का घोर युद्ध हुआ। हनुमान ने माली के हृदय पर भयानक वेग से शक्ति का प्रहार किया। वह मूर्च्छित हो गया। उसके सैनिक उसे युद्धस्थल से उठा ले गये। तब वज्रोदर माली के स्थान पर लडने लगा। हनुमान ने उसे अल्पकाल में ही मार डाला। फिर रावण का पुत्र जबुमाली लडने आया। दोनों वीरों में बड़ी देर तक युद्ध हुआ। हनुमान ने जबुमाली के सीने पर वज्रदण्ड का कठोर प्रहार किया, जिससे वह मूर्च्छित हो गया। उसकी सेना उसे लेकर भाग निकली। हनुमान ने भागती हुई सेना का पीछा किया और जहाँ रावण खड़ा था, जहाँ हीनिर्भय होकर युद्ध करने लगा। उसे देखकर रावण आगे बढ़ा, किन्तु उसे रोक कर अन्य योद्धा युद्ध करने लगे और हनुमान को घेर लिया। तब नल, नील, सुग्रीव, सुषण, विराधित, प्रीतिकर, भामण्डल, समुद्र, हंस आदि राजा मिलकर राक्षस-सेना पर टूट पड़े। राक्षस घबड़ा गये। तब वीर कुम्भकर्ण लडने उठा। उसने वानरवशियों को दबाना शुरू किया। तब उससे लडने के लिए हनुमान, अगद, भामण्डल, शशी इन्द्र, आय। कुम्भकर्ण ने माया से सबको सुला दिया। सबके हाथ से शस्त्र गिर गये। तब सुग्रीव ने प्रबोधिनी विद्या द्वारा सबको सचेत किया। वे पुनः सचेत हो गये और उससे युद्ध करने लगे। उनके प्रहारों से कुम्भकर्ण घबड़ा गया। तब रावण स्वयं युद्ध करने आया। किन्तु इन्द्रजीत ने उसे रोक कर स्वयं युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। उसने वाणों की वर्षा से सबको क्षत-विक्षत कर दिया। अपनी सेना का यह किनाश देखकर सुग्रीव, भामण्डल आदि उससे युद्ध करने लगे। सुग्रीव इन्द्रजीत से भिड गया, भामण्डल मेघनाद से जा जूभा।

हनुमान ने कुम्भकर्ण को जा दवाया। अद्भुत युद्ध हुआ। इन्द्रजीत ने मेघ वाण छोड़ा तो भयकर वर्षा होने लगी। सारा कटक मछली की तरह तैरने लगा। तब सुग्रीव ने पवन वाण में मेघों को छिन्न विच्छिन्न कर दिया। तब इन्द्रजीत ने अग्नि वाण छोड़ा। चारों ओर आग लग गई। उसे सुग्रीव ने मेघ वाण छोड़ कर बुझा दिया। अन्त में इन्द्रजीत ने मायामय अस्रों से सुग्रीव को व्याकुल कर दिया और फिर नागपाश में बाँध लिया। उधर मेघनाद ने भामण्डल को उसी अस्त्र से बाँध लिया।

यह देखकर विभीषण ने राम और लक्ष्मण से कहा—‘प्रभो! देखिये, सुग्रीव और भामण्डल को नागपाश में बाँध लिया है और हनुमान को घायल कर कुम्भकर्ण ने भुजाओं में जकड़ लिया है। इनके मर जाने पर हम सबका मरण निश्चित है। आप इनकी रक्षा कीजिये। मैं तब तक इन्द्रजीत और मेघनाद को रोकना हूँ।’ यह कह कर विभीषण इन्द्रजीत और मेघनाद से युद्ध करने पहुँचा। दोनों भाई अपने चाचा में सकोच के साथ युद्ध में हट गये। तब तक अगद ने कुम्भकर्ण से हनुमान को छुड़ा लिया। सुग्रीव और भामण्डल को मरा जानकर राक्षस वापिस चने गये। तब सब लोग उनके पास आये। उस समय राम ने गरुणेन्द्र को स्मरण किया और उसमें उन दोनों का जिलाने के लिये कहा। तब प्रसन्न होकर गरुणेन्द्र ने राम को हल, मूसल, छत्र, चमर, और सिंहवाहिनी विद्या दो और लक्ष्मण को गदा, खड्ग और गरुडवाहिनी विद्या दो। दोनों भाई अन्य राजाओं के साथ सुग्रीव और भामण्डल के पास आये। गरुडों की हवा लगने से सर्पों के बन्धन ढीले पड़ने लगे, विष दूर हो गया और दोनों वीर मूर्च्छा से उठकर बैठ गये। सब लोग बड़े हर्षित हुए।

अगले दिन भारीच आदि सेनानायक युद्ध के लिए आगे आये और उन्होंने वानरवशी मेना पर भारी दबाव डालना प्रारम्भ किया। उनका प्रतिरोध करने के लिये भामण्डल आगे बढ़ा। उसने राक्षस सेना को दवाया।

तब रावण युद्ध के लिये स्वयं आया। उसने वाण-वर्षा करके वानर-मेना को तितर बितर कर दिया। यह देखकर विभीषण उसमें युद्ध करने आ गया। उसे देखकर रावण बोला—‘तू व्यर्थ लक्ष्मण के शक्ति का लगना मे क्यों मरने आ गया। मैं तो शत्रुओं को मारने आया हूँ। अतः तू लौट जा।’ तब विभीषण बोला—‘तुम सीता राम को मीप दो, अन्यथा तुम मारे जाओगे।’ दोनों भाई युद्ध करने लगे। रावण ने विभीषण का छत्र उड़ा दिया। विभीषण ने उसकी ध्वजा उड़ा दी। लक्ष्मण इन्द्रजीत से और राम कुम्भकर्ण से युद्ध करने लगे।

इन्द्रजीत ने लक्ष्मण पर अन्धकार वाण छोड़ा। लक्ष्मण ने सूर्य वाण छोड़कर अन्धकार का नाश कर दिया। इन्द्रजीत ने नागवाण छोड़ा तो लक्ष्मण ने गरुड वाण छोड़कर नागों को भगा दिया। इसके बाद लक्ष्मण ने नागवाण छोड़ कर इन्द्रजीत को बाध लिया। इन्द्रजीत नागपाश में बंधकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। राम ने भी कुम्भकर्ण को नागपाश में बाँध लिया। राम-लक्ष्मण का सवेत पाते ही भामण्डल ने दोनों वीरों को अपने रथ में डाल लिया। विराधित ने मेघनाद को नागपाश में बाँध लिया। रावण ने विभीषण पर त्रिशूल छोड़ा, लक्ष्मण ने आकर उसे बीच में ही रोक लिया। तब रावण ने घरणेन्द्र द्वारा दी हुई शक्ति को हाथ में लेकर लक्ष्मण से कहा ‘अरे बालक! तू क्यों व्यर्थ में युद्ध करने आया है। अब तू वज्र प्रहार से मेरे हाथों मारा जायगा। लक्ष्मण ने क्रोध में उत्तर दिया—‘अरे दुष्ट! तू परस्त्रीलम्पट है। आज तेरी मृत्यु निश्चित है।’ यो कह कर दोनों महावीर परस्पर भिड़ गये। रावण ने ताक कर वह शक्ति लक्ष्मण के वक्षस्थल पर फेंक कर मारी। शक्ति लगते ही लक्ष्मण मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। तब राम रावण से युद्ध करने लगे। उन्होंने रावण को छह बार स्थावरहित कर दिया और वाण-वर्षा से उसे ढक दिया। रावण व्याकुल होकर युद्ध बन्द कर लौट गया।

रावण को सन्तोष था कि चलो आज एक वीर तो मारा गया। किन्तु जब उसे कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघनाद के समाचार मिले तो वह विलाप करने लगा। उधर सीता को लक्ष्मण के समाचार मिले तो विलाप करने लगी।

रावण के चले जाने पर राम लक्ष्मण के पास पहुँचे और उन्हें मरा हुआ जानकर वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। जब उन्हें होश आया तो वे विलाप करने लगे—वत्स! तू मुझे विदेश में अकेला छोड़ कर कहाँ चला गया।

अब मुझे सीता, माता और भाइयों से क्या काम है। हे विद्याधरो ! तुम शीघ्र चिता तैयार करो। मैं उसमें जलकर मर जाऊंगा, अब तुम लोग भी अग्ने घर वापिस जाओ और मेरे अपराध क्षमा करो। तब जावुनद ने उन्हें रामभाया—‘देव ! आप व्यर्थ ही शोक क्यों करते हैं। लक्ष्मण शक्तिवाण से मूर्च्छित है। वे सुबह तक अवश्य होश में आ जायेंगे।

सब लोग लक्ष्मण को होश में लाने का उपाय करने लगे। वहाँ की युद्ध भूमि साफ करके वही डेरे तम्बू डाल दिये और कनात लगाकर सात दरवाजों पर सात वार पहरा देने लगे। इतने में आकाश-मार्ग से एक मनुष्य आया और भामण्डल से बोला—‘देव ! आप मुझे इसी समय राम के दर्शन करा दीजिए। मैं लक्ष्मण को जीवित करने का उपाय बताता हूँ। तब भामण्डल उसे राम के निकट ले गये। राम को नमस्कार कर वह बैठ गया। तब राम ने उसका परिचय और आने का प्रयोजन पूछा। तो उग व्यक्त ने कहा—‘देव ! मैं देवगीन नगर के राजा शशिमडल का पुत्र शशिप्रभ हूँ। एक बार मेघ के पुत्र चिनय ने मुझ पर शक्ति का प्रहार किया था। उसमें मैं मूर्च्छित हो गया था। मैं अयोध्या के बाहर मूर्च्छित पड़ा हुआ था। तब अयोध्या के राजा भरत ने मेरे ऊपर जल छिड़का, उससे मैं ठीक हो गया था। एक बार अयोध्या में बौभारी फैल गई थी। तब लोगों के कहने में राजा भरत ने राजा द्रोण को बुलाया। द्रोण ने सबके ऊपर जल छिड़क दिया तो मनुष्य और पशु ठीक हो गये। तब राजा भरत ने द्रोण से उस जल के बारे में पूछा तो उसने बताया कि मेरी पुत्री विशल्या को एक दिन उमकी धाय चन्द्रावती ने स्नान कराया था। उस जल के लगत ही एक कुतिया—जा गड रही थी—ठीक हो गई। तबमे चन्द्रावती ने उम जल के प्रभाव से अनेक रोगियों को ठीक किया है। अतः विशल्या के जल के प्रभाव में लक्ष्मण की मूर्च्छा अवश्य दूर हो जायगी।’

तब राम ने विद्याधरो का आज्ञा दी कि तुम लोग शीघ्र जाकर विशल्या का जल ले आइये। तब उसी समय हनुमान, भामण्डल और अगद वहाँ से विमान में चलकर अयोध्या आये और राजा भरत से मिले। हनुमान ने सीता हरण और रावण से युद्ध की बात बताई। यह सुनकर भरत को बड़ा क्रोध आया। उसने रणभेरी बजादी। भेरी का शब्द सुनकर अयोध्यावासी जाग गये और धीरे-धीरे सब लोग वहाँ एकत्रित होने लगे। शत्रुघ्न मंत्रियों सहित वहाँ पहुँचा। उससे भरत ने कहा—शत्रुघ्न युद्ध की तैयारी करो। अभी लका पर आक्रमण करना है।’ किन्तु हनुमान बोले—विद्याधरो के इस युद्ध में आपको चलने की आवश्यकता नहीं है। लक्ष्मण शक्ति-वाण के कारण मूर्च्छित पड़े हैं। आप तो विशल्या का स्नान-जल दे दीजिये।’ भरत लक्ष्मण की मूर्च्छा की बात सुनकर रोने लगा। फिर बोला—जल से तो थोडा ही लाभ होगा। अच्छा यही होगा कि आप लोग विशल्या को ही अपने साथ लेते जाइये। उसके पिता द्रोण ने विशल्या का विवाह लक्ष्मण के साथ करने का निश्चय कर रखा है।’ इस प्रकार कह कर भामण्डल, हनुमान, अगद और कँकेई को लेकर भरत कौतुक मगल नगर पहुँचा और वहाँ राजा द्रोण से मिल कर सब समाचार बताये तथा उनसे विशल्या की याचना की। द्रोण ने बड़ी प्रसन्नता के साथ विशल्या को उनके साथ कर दिया। वे लोग विशल्या को लेकर लका पहुँचे और, भरत कँकेयी अयोध्या लौट गये। अयोध्यावासी राम की चिन्ता करने लगे।

हनुमान आदि ने युद्ध स्थल पर पहुँच कर राम को विशल्या के आने का वृत्तान्त बताया। सबने विशल्या का सत्कार किया। ज्यों ही विशल्या ने लक्ष्मण के ऊपर जल छिड़का तो लक्ष्मण यह कहते हुए उठ बैठे—‘कहाँ गया पापी रावण। राम ने गद्गद होकर उसका आलिंगन किया और सबने लक्ष्मण को नमस्कार किया। राम की आज्ञा से कुम्भकर्ण आदि पर भी वह जल छिड़का गया, जिससे सब लोग निर्विष हो गये। धायल लोग स्वस्थ हो गये।

मारीच आदि मंत्रियों ने जब सुना कि लक्ष्मण पुन जीवित हो उठे है तो उन्हें अपने पक्ष की निर्बलता का अनुभव हुआ। उन्होंने रावण से विनयपूर्वक कहा—‘देव ! लक्ष्मण शक्ति से मरकर भी पुन जीवित हो उठा है,

उनके पक्ष के सभी वीर स्वरथ हो गये हैं। जबकि कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघवाहन अभी तक शत्रु के कारागार में हैं। हमारी बहुत सी सेना मारी जा चुकी है। उधर देवर को जीवित हुआ जानकर सीता भी प्रसन्न है। वह राम के गुणों में अनुरागी है। वह आपको कभी स्वीकार नहीं करेगी। अतः इस कुल-विनाशक व्यर्थ युद्ध करने से क्या लाभ है। हमारे लिये अब उचित यही होगा कि सीता राम को वापिस दे दे और उनसे सन्धि कर ले।’

रावण द्वारा
बहुरूपिणी
विद्या सिद्ध करना

रावण ने कहा—‘अच्छी बात है ।’ उसने एक दूत को समझा बुझा कर राम के पास भेजा । दूत ने जाकर राम को नमस्कार किया और कहने लगा—‘महाराज ! त्रिखण्डाधिपति रावण ने यह कहा है कि आप मेरे भाई और पुत्रों को छोड़ दे तथा मुझसे सन्धि कर ले । आप सीता की याद भूल जायें । उसके बदले मे आपको तीन सौ कन्याये और आधा राज्य दे दूंगा ।’ रामचन्द्रजी यह सुनकर बोले— भाई ! मुझे अन्य स्त्रियों से कोई प्रयोजन नहीं है । तुम रावण से कह देना कि वह मुझे मेरी सीता वापिस कर दे, मैं उसके भाई और पुत्रों को वापिस कर दूंगा ।’ फिर भी दूत बोला—‘देव ! आप समझदार है । आप त्रिखण्डी राजा रावण के साथ दुराग्रह न करें । आपके पक्ष के बहुत से राजा उनके हाथ से मारे जा चुके हैं, आप भी उसी प्रकार व्यर्थ मारे जायेंगे ।’ दूत के ये उद्दण्ड वचन सुनकर भामण्डल को भारी क्रोध आया और उसने दूत को अपमानित करके निकाल दिया ।

दूत ने जाकर रावण को सारी बातें बताई । रावण सोचने लगा— यदि मैं युद्ध में बानरो को जीतकर भाई और पुत्रों को छुड़ाने का प्रयत्न करूँ तो वे उन्हे पहले ही मार डालेंगे । यदि मैं गुप्त रूप से जाकर रात में उन्हे छुड़ाता हूँ तो मेरी अपकीर्ति होगी । अत उचित होगा कि मैं पहले बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करूँ । उसके सिद्ध हो जाने पर सब काम सिद्ध हो जायेंगे ।’ यो निश्चय करके उसने मंत्रियों को आदेश दिया कि मैं जब तक विद्या सिद्ध करता हूँ, तब तक भरत क्षेत्र के सभी मंदिरों में तीनों काल पूजन, कीर्तन, सामायिक होनी चाहिये, लका में हिंसा बन्द रहे, युद्ध बन्द रहे । मेरी सेवा में केवल मन्दोदरी आदि रानियाँ रहेगी ।’ इस प्रकार आदेश देकर वह शान्तिनाथ जिनालय में फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को शुद्ध वस्त्र पहन कर और सामग्री लेकर जा बैठा और नियम कर लिया कि जब तक कामरूपिणी विद्या सिद्ध न हो जायगी, तब तक के लिए उपवास है । इस प्रकार नियम करके वह ध्यान लगाकर बैठ गया ।

जब विभीषण को यह ज्ञात हुआ तो उसने बानरवशियों को एकत्र कर कहा—‘रावण विद्या सिद्ध कर रहा है । यदि उसे वह विद्या सिद्ध हो गई तो हमारा जीतना कठिन हो जायगा । अत उसकी विद्या-सिद्धि में विघ्न डालना चाहिये ।’ यह सुनकर अनेक विद्याधर लका में जा पहुँचे । उन्होंने नगर को लूटना, नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया । अनेक लकावासियों को मार दिया । नगर में त्राहि त्राहि मच गई । उन्होंने राजमहल में भी जाकर बड़े उत्पात किये । यह देखकर मय नामक दैत्य विद्याधरों से लड़ने को तैयार हुआ, किन्तु मन्दोदरी ने उसे रोक दिया कि महाराज रावण की ऐसी आज्ञा नहीं है । तब बानरवशी शान्तिनाथ जिनालय जा पहुँचे । वहाँ जाकर उन्होंने भगवान के दर्शन किये । उसके पश्चात् वे वहाँ पहुँचे जहाँ रावण बैठा हुआ था । वहाँ जाकर उन्होंने रावण के समक्ष ही रावण की रानियों की दुर्दशा करना प्रारम्भ कर दिया । किन्तु रावण अविचल भाव से विद्या-साधन करता रहा । अन्त में उसे वह विद्या सिद्ध हो गई । विद्या सिद्ध कर रावण भगवान शान्तिनाथ को नमस्कार कर सिद्ध की तरह उठा । उसे उठते देखकर सब बानर सेना वहाँ से भाग खड़ी हुई । रानियों ने रावण से शिकायत की कि इन बानरों ने हमारी बड़ी दुर्गति की है । रावण बोला—‘अब सब बानरवशी सेना मेरे हाथों से मारी जायगी । तुम लोग निश्चित रहो ।’ यह कह कर वह प्रासाद में पहुँचा और वहाँ स्नान कर पुन जिनालय में गया । वहाँ उसने भगवान की पूजा की । फिर भोजन आदि से निवृत्त होकर मण्डप में आया और विद्या की परीक्षा की, इसके अनेक रूप बनते गये । अब सबको विश्वास हो गया कि रावण अवश्य विजयी होगा ।

इसके पश्चात् रावण शृंगार करके सीता के पास पहुँचा । उस समय एक दासी सीता को रावण की बहुरूपिणी विद्या की सिद्धि की प्रशंसा कर रही थी । तभी रावण वहाँ पहुँचा और बोला —‘देवी ! मुझे बहुरूपिणी विद्या सिद्ध हो गई है । मैंने भगवान अनन्तवीर्य के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी, उसके साथ मैं बलात्कार नहीं करूँगा । अत मैंने तुझे आज तक स्पर्श नहीं किया । अब मैं तेरे राम और लक्ष्मण को इस विद्या के बल से निष्प्राण करूँगा । फिर तू मेरे साथ पुष्पक विमान में विहार करना और जीवन के आनन्द उठाना । तब सीता रावण को धिक्कारती हुई कहने लगी—‘हे दशानन ! तुम उच्च कुल में पैदा होकर ऐसे अधम विचार करते हो, तुम्हें धिक्कार है । मैं तुमसे एक बात कहती हूँ । जब तुम्हें मेरे राम मिलें तो उनसे कहना कि सीता के प्राण केवल तुम्हारे दर्शन के लिए अटके हुए हैं ।’ यो कह कर सीता मूर्च्छित हो गई ।

यह देखकर रावण को पश्चाताप हुआ और वह मन में अपने को धिक्कारता हुआ कहने लगा—मुझ पापी ने व्यर्थ ही इस शीलशिरोमणि सीता का अपहरण करके लोकनिन्द्य काम किया और अपने पवित्र वश में अकीर्ति-कालिमा लगाई। मैंने अपने बुद्धिमान भाई विभीषण की बात नहीं मानी। यदि उसकी बात मान कर मैं सीता को वापिस कर देता तो लोक में मेरी प्रशंसा होती। किन्तु अब तो वह अवसर जाता रहा। यदि इस समय मैं सीता को वापिस करूँगा तो लोग मुझे कायर कहेंगे। अब तो मेरे लिए एक ही मार्ग है। मैं युद्ध करूँ और राम लक्ष्मण को जीवित पकड़ कर सीता के निकट लाऊँ और उन्हें सीता को सौंप कर वस्त्राभूषण से उनका सम्मान करूँ। इससे लोक में मेरी प्रशंसा होगी तथा मैं पाप से भी बच जाऊँगा। किन्तु इन वानरवशी विद्याधरो को नहीं छोड़ूँगा। उस अगद का तो मैं अवश्य बध करूँगा, जिसने मेरी रानियों का अपमान किया है और वह सुग्रीव, भामण्डल, हनुमान इनको भी मारूँगा। इन्होंने मुझसे विद्रोह किया है।

इस प्रकार विचार कर वह वापिस महलो में पहुँचा। तभी अनेक प्रकार के अपशकुन होने आरम्भ हो गए—आसन हिलने लगा, दसो दिशाये कपायमान होने लगी, उल्कापात हुआ, गीदडियाँ रुदन करने लगी। यक्षों की मूर्ति से अश्रुपात होने लगे। रुधिर की भी वर्षा हुई। और भी इसी प्रकार के अनेक अपशकुन हुए।

प्रातः काल होने पर रावण राज दरबार में गया। अनेक वीर राजा भी बैठे हुए थे। किन्तु वहाँ कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघनाद को न देखकर रावण बड़ा दुःखी हो गया। उसका मुख-कमल मुर्झा गया। फिर उसे क्रोध आया, नेत्र लाल हो गए, नथुने फड़कने लगे। वह वहाँ से उठ कर अपनी

रावण की
मृत्यु

आयुधशाला में गया। उसी समय पूर्व दिशा में छीक हुई, आगे बढ़ा तो भयकर कालनाग मार्ग रोके खड़ा दिखाई दिया। हवा से छत्र का वैदूर्यमणि का दण्ड भग्न हो गया और उत्तरासन गिर

पड़ा। दाहिने हाथ पर कौआ बोला। इन अपशकुनों से सबको अनिष्ट की आशंका हो गई। तब मन्दोदरी ने चिन्तित होकर मांत्रियों से कहा—तुम लोग महाराज के हित की बात उनसे स्पष्ट क्यों नहीं कहते। कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघनाद बन्धन में पड़े हुए हैं। तुम उन्हें युद्ध से रोको। तब मन्त्री बोले—‘स्वामिनी! हमने सब प्रयत्न करके देख लिए। किन्तु महाराज हमारी एक नहीं सुनते। शायद आपकी बात मान ले।’ तब मन्दोदरी रावण के पास पहुँची और बड़ी विनय से बोली—नाथ! युद्ध में जाते समय अनेक अपशकुन हो रहे हैं। अतः आप युद्ध का विचार छोड़ दीजिये और सीता राम को देकर शान्ति के साथ रहिए। साथ ही राम से कह कर कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मेघनाद आदि को बन्धन से छुड़ाइये। राम और लक्ष्मण बलभद्र नारायण के रूप में पैदा हुए हैं और आप प्रतिनारायण हैं। मन्दोदरी की बातें सुनकर रावण को क्रोध आ गया। बोला—तुम क्यों डरती हो। उन भिखारियों को बलभद्र-नारायण बता रही हो। वे तो पेट भरने के लिए फिर रहे हैं। तुम कैसी क्षत्रिय कन्या हो, जो मृत्यु से डरती हो।

युद्ध के लिये चलते समय रावण ने अपने कुटुम्बी जनो से क्षमा माँगी तथा अपनी रानियों से भी कहा—‘देवियों! मैं युद्ध के लिये जा रहा हूँ। पता नहीं फिर आप मिलें या नहीं। मैंने हँसी में या क्रोध में यदि कोई अपशब्द कह दिया हो तो उसे मेरा प्रेमोपहार समझना।’ रावण ने पुनः पुनः सबका प्रेमालिङ्गन किया। फिर रण-मेसी बजवाई। रणभेरी की आवाज सुनते ही सब भट अपने परिवार से विदा होकर रावण के पास आ गये। रावण ने बहुरूपिणी विद्या के द्वारा इक्कीस खण्ड का एक रथ बनाया। उसमें एक हजार हाथी जुते हुए थे। वह उस रथ में मय, मारीच, सार, सुक आदि मन्त्रियों के साथ बैठकर चला। उसके पीछे अगणित योद्धा विविध शस्त्रास्त्र लेकर विविध वाहनो में चल रहे थे। चलते समय घुएँ वाली अग्नि, कीचड़ में सना हुआ तेल का चर्तन, बिखरे हुए बालों वाले मनुष्य इत्यादि अनेक शोकसूचक अपशकुन हुए। इन्हें देखकर भी वह अभिमानी लौटा नहीं।

शत्रु सैन्य को देखकर राम भी सिंहस्थ में आरूढ़ होकर चल दिये। उसके पीछे लक्ष्मण, भामण्डल, नल, नील, सुग्रीव, हनुमान आदि भी चले। रावण को हजार हाथियों वाले रथ पर आना देख कर लक्ष्मण भी गारुडी रथ पर शस्त्रास्त्रों से सजकर बैठ चले। दोनों सेनाओं में भयकर युद्ध छिड़ गया। मारीच आदि राक्षसों द्वारा बानर सेना का विनाश होता हुआ देखकर हनुमान और नील राक्षसों पर भ्रष्ट। तब मय दैत्य हनुमान के सामने आया। हनुमान ने उसे छह बार रथरहित कर दिया। तब रावण ने अपनी विद्या द्वारा रथ बना कर मय को दिया।

मय ने तब हनुमान का रथ तोड़ दिया। इसके बाद भामण्डल, सुग्रीव, विभीषण मय से लड़ने आये। मय ने अपने वाणो से सबको व्याकुल कर दिया। तब राम युद्ध में कूद पड़े। दोनों में घोर युद्ध हुआ। आकाश वाणो से आच्छादित हो गया। असख्य योद्धा कट-कट कर मरने लगे। हाथी और घोडो की चीत्कारो से कान के पर्दे फटने लगे। लाशो के अम्बार लग गये। मय ने अनेक मायामयी वाण राम के ऊपर चलाये, किन्तु राम ने उन सबको बीच में ही प्रभावहीन कर दिया। उल्टे राम ने मय को अपने वाणो से जर्जरित कर दिया। मय की यह दशा देखकर रावण युद्ध करने आया। उसे ललकारते हुए लक्ष्मण ने कहा—‘अरे पापो ! तू प्राण लेकर मेरे आगे से कहाँ जाता है। आज धर्मबुद्धि रामचन्द्रजी ने मुझे आज्ञा दी है कि तुझ परस्त्री चोर का आज शिरच्छेद कर दूँ। रावण बोला—‘अरे! क्यो व्यर्थ बकवास कर रहा है। सिंह के आगे कुत्ते का इतना साहस !’ यो कहकर रावण ने लक्ष्मण को वाणो से ढक दिया। बदले में लक्ष्मण ने भी वाणो से रावण को व्याकुल कर दिया। तब रावण मायामयी शस्त्रो से युद्ध करने लगा। लक्ष्मण ने उसका उसी प्रकार उत्तर दिया। दोनों ओर से जलवाण, पवनवाण, अग्निवाण, नागवाण, गरुणा-स्त्र, अन्धकार-वाण, प्रकाशवाण, निद्रावाण, प्रबोधवाण आदि मायामय अस्त्रो से बडी देर तक युद्ध होता रहा।

इसी समय आकाश में आठ विद्याधर कुमारियाँ आईं। वे लक्ष्मण की मंगल-कामना करने लगीं। जब लक्ष्मण ने ऊपर की ओर देखा तो उन कुमारियो ने लक्ष्मण को सिद्धार्थ नामक महाविद्या दी। लक्ष्मण ने इससे रावण की सम्पूर्ण विद्याओ का प्रभाव नष्ट कर दिया। अब रावण, बहुरूपिणी विद्या द्वारा अनेक रूप बनाकर युद्ध करने लगा। लक्ष्मण उसका एक सिर काटते, उसकी जगह सौ सिर बन जाते। रावण अनेक सिर और भुजायें बनाता और लक्ष्मण उन्हें काटता जाता। इस प्रकार दोनों में ग्यारह दिन तक भयकर युद्ध होता रहा। लक्ष्मण के वाणो से बहुरूपिणी विद्या का शरीर भी जर्जर हो गया। अतः वह भी रावण के शरीर से निकल भागी। विद्या के निकल जाने पर रावण अपने असली रूप में आ गया। तब उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर हजार आरो वाले चक्ररत्न को स्मरण किया। स्मरण करते ही सुदर्शनचक्र उसके हाथ में आ गया। तब रावण लक्ष्मण से बोला—‘अब भी तू आकर मुझे नमस्कार कर, अन्यथा मारा जायेगा।’ लक्ष्मण हसकर बोला—‘इस कुम्हार के चाक पर तुझे इतना अभिमान है !’ यह सुनते ही रावण ने चक्ररत्न की पूजा कर उसे लक्ष्मण पर फेंका। इसी बीच राम ने मय को बाँध कर रथ में डाल लिया और वे लक्ष्मण की ओर आये। सबने आग की ज्वालाओ के समान आते हुए चक्र को देखा। लक्ष्मण ने वज्रमयी वाणो से चक्र को रोकने का प्रयत्न किया, राम बज्रावर्त घनुष और हल लेकर, सुग्रीव गदा से, भामण्डल तलवार से, विभीषण त्रिशूल से, हनुमान मुद्गर से, नील वज्रदण्ड लेकर और अग अगद कुठार लेकर उसे रोकने लगे। किन्तु वह देवाधिष्ठित चक्र किसी के रोके न रुका। वह आया और लक्ष्मण की तीन प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण की अगुली पर ठहर गया।

लक्ष्मण की अगुली पर टिके हुए चक्ररत्न को देखकर वानरवशी विद्याधर हर्ष से नाचने लगे और कहने लगे—वास्तव में ही ये दोनों भाई बलभद्र और नारायण हैं। रावण चक्र को लक्ष्मण के पास देखकर मन में कहने लगा—‘इस क्षणस्थायी लक्ष्मी को धिक्कार है। वे भरत आदि महापुरुष धन्य हैं, जो इस लक्ष्मी को त्याग कर मोक्ष को प्राप्त हुए। मैं जीवन भर विषयो में ही लिप्त रहा। रावण यह सोच ही रहा था कि लक्ष्मण ने गरज कर रावण से कहा—‘रावण ! तू समझदार है। अब भी सीता राम को सौंप दे। सीता राम को देकर उनके चरणो में प्रणाम कर और आनन्दपूर्वक राज्य कर।’ यह सुनकर रावण क्रोध से बोला—‘यह चक्र चला गया तो क्या हुआ, अभी मेरी शक्ति सुरक्षित है। देखता क्या है, चक्र चला।’ रावण की यह दर्पोक्ति सुनकर लक्ष्मण ने बड़े जोर से धुमाकर चक्र रावण को मारा। रावण ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु अब उसका पुण्य क्षीण हो गया था। चक्र ने रावण के वक्षस्थल को चीर डाला। हृदय के भिदते ही रावण पृथ्वी पर गिर पडा। रावण के मरते ही उसकी सेना भाग खडी हुई। उसे भागते देखकर हनुमान ने अभयघोषणा करते हुए कहा—‘आप लोग डरें नहीं, राम की आज्ञा शिरोधार्य कर सुख से रहें।’

रावण को मरा हुआ देखकर विभीषण आत्महत्या के लिए तैयार हो गया, किन्तु राम ने उसे रोक़ा। वह मूर्छित हो गया। होश में आने पर वह रावण की लाश के पास बैठकर विलाप करने लगा। जब यह समाचार लक्षा में

पहुँचा तो मन्दोदरी आदि रानियाँ आकर वहाँ विलाप करने लगी, वे अपना सिर धुने लगी, कोई छाती कूटने लगी। उसकी लाश के चारो ओर बैठकर उसकी अठारह हजार रानियाँ रावण का सिर गोद में रखकर जोर-जोर से विलाप करने लगी। तब राम, लक्ष्मण आदि वहाँ आये और विभीषणादि को देखकर कहने लगे—रावण धन्य है जो युद्ध में वीरतापूर्वक मारा गया। इसमें शोक मनाने की क्या आवश्यकता है।' फिर राम ने मन्दोदरी आदि रानियों को भी समझाया। बाद में वानरवशियों और राक्षस-वशियों ने मिलकर पद्म सरोवर के तट पर चदन कपूर आदि से चित्ता बनाई और रावण का दाह-संस्कार किया। फिर राम की आज्ञा से कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मेघनाद, मय आदि को सुभट बन्धनो में बाँधकर लाये। राम ने उन्हें बन्धनमुक्त करते हुए कहा—'श्रव आप लोग स्वतन्त्र हैं, प्रसन्नतापूर्वक अपना राज्य सभाले। मैं तो सीता को लेकर यहाँ से चला जाऊँगा।' तब उन सबने उत्तर दिया—'श्रव हमें इस राज्य से कोई प्रयोजन नहीं है।' राम बोले—'आप धन्य हैं, जो आत्म-कल्याण का आपने विचार किया।

उसी दिन कुसुम नामक वन में मुनिराज को केवलज्ञान हुआ। देवों ने उनका ज्ञान महोत्सव मनाया। यह सुनकर वानरवशियों और राक्षसवशियों के साथ राम समवसरण में पहुँचे और केवली भगवान की स्तुति, वन्दना और पूजा कर समवसरण में बैठ गये। भगवान का उपदेश हुआ। भगवान का उपदेश सुनकर इन्द्रजीत, मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि ने मुनिदीक्षा लेली तथा मन्दोदरी आदि रानियाँ आश्रित्य वन गईं। इन्द्रजीत, और मेघवाहन तपस्या करके चूलगिरि (वडवानी) से मुक्त हुए। रेवा नदी के किनारे विध्य पर्वत पर इन्द्रजीत के साथ मेघवाहन मुनि ने तपस्या की थी। अतः वह मेघतीर्थ कहलाने लगा। कुम्भकर्ण रेवा के किनारे मुक्त हुए।

श्री रामचन्द्र जी ने त्रैलोक्य अम्बर हाथी पर आरूढ होकर विद्याधरो के साथ गाजे वाजे के साथ लका में प्रवेश किया। लका की विशेष शोभा की गई थी। रामचन्द्र जी राजमार्ग पर होकर निकले। वे अशोक उद्यान में पहुँचे, जहाँ सीता दासियों के बीच में बैठी हुई थी। राम को देखकर सीता बड़ी पुलक के साथ उठी। राम धूलधूसरित सीता को देखकर हाथी से उतर पडे। सीता ने आगे बढ़कर राम के पैर छुए, राम ने बड़े हर्ष से उसे छाती से लगा लिया। फिर सीता राम के आगे हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। तभी लक्ष्मण ने आगे बढ़कर सीता को प्रणाम किया। सीता ने उसे आशीर्वाद दिया। इसके बाद भामण्डल ने सीता को सब विद्याधरो का परिचय कराया।

सीता ने सबको आशीर्वाद दिया। उसके बाद रामचन्द्र जी सीता के साथ हाथी पर सवार होकर तथा अन्य विद्याधर अपनी-अपनी सवारियों पर आरूढ होकर रावण के स्वर्ण प्रासाद में आये। वहाँ शान्तिनाथ जिनालय को देखकर सब लोग उतर पडे और सबने भगवान के दर्शन किये। फिर पूजन किया। रामचन्द्र जी ने वीणा बजाई, सीता नृत्य करने लगी। वहाँ से सब लोग सभा मण्डप में आये। विभीषण महल में जाकर सुमाली, माल्यवान, रत्नश्रवा आदि को राम के पास ले आया। राम ने सबको बराबर आसन पर बैठाकर सबका समुचित सम्मान किया और सान्त्वना दी। फिर विभीषण ने राम को भोजन का निमन्त्रण दिया। सब लोग उठकर विभीषण के महलो में भोजन के लिए गये। राम, सीता आदि को तैलादि मर्दन कर स्नान कराया, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कराये और स्वादिष्ट भोजन कराया। फिर सबको यथायोग्य स्थानों पर ठहराया। राम सीता के साथ तथा लक्ष्मण विशल्या के साथ सुन्दर प्रासादों में ठहरे।

एक दिन विद्याधरो ने तीन खण्ड के राजसिंहासन पर राम-लक्ष्मण का अभिषेक करने की अनुमति मांगी। किन्तु राम ने कहा—हमारे पिता ने राजसिंहासन हमारे भाई भरत को दिया है, अतः राजा वही है। हम उन्हीं की आज्ञा का पालन करेंगे। वे ही हम सबके मालिक हैं। फिर भी विद्याधरो ने 'त्रिखण्डाधिपति राम-लक्ष्मण की जय' बोलकर उनके ऊपर छत्र लगा दिया। राम-लक्ष्मण दोनों भाई छह वर्ष तक लका में रहे।

एक दिन नारद अयोध्या गये। वहाँ अपराजिता (कौशल्या) से उन्हें राम का निर्वासन, राम-रावणयुद्ध आदि के बारे में समाचार ज्ञात हुए। वे तेतीस वर्ष बाद इधर आये थे। अतः उन्हें इधर के कोई समाचार ज्ञात नहीं थे। रानी नारद को समाचार सुनाते सुनाते फूट-फूट कर रोने लगी। नारद को रानी के इस दुःख से बड़ा दुःख

हुआ। वे बोले—माता! शोक मत करो। मैं जाकर राम के कुशल समाचार लाता हूँ। यह कहकर नारद लका पहुँचे और राम से मिलकर उन्हें बताया कि आपकी माता आप लोगों के वियोग से बहुत दुखी है। आप यहाँ सुख में ऐसे मग्न हैं कि आपने उनकी बात तक भुलादी है। वे आप लोगों के दुख से प्राण त्याग देगी। यह सुनकर रामचन्द्र जी बड़े व्याकुल हुए। उन्होंने उसी समय विभीषण को बुलाया और कहा—तुम्हारे यहाँ हम लोग इतने दिन बड़े सुख से रहे। अब हमारी इच्छा अयोध्या जाने की है। आप सवारियों का प्रबन्ध कर दीजिये।' विभीषण ने राम से सोलह दिन और ठहरने का आग्रह किया। राम ने यह स्वीकार कर लिया। विभीषण ने शीघ्र ही एक दूत अयोध्या को भेजा और भरत को समाचार दिया कि रामचन्द्र जी १६ दिन बाद लका से अयोध्या को प्रस्थान करेंगे। यह सुनकर भरत आदि को बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर विभीषण ने बहुत से राक्षस विद्याधरो को अयोध्या की सजावट करने के लिए भेजा।

राम लक्ष्मण ने सोलह दिन बाद अनेक विद्याधरो के साथ गाजे वाजे के साथ लका से प्रस्थान किया। राम सीता के साथ पुष्पक विमान में बैठे। लक्ष्मण, हनुमान आदि अन्य सवारियों में बैठे। मार्ग में राम सीता को सारे स्थान बताते जाते थे। दण्डक वन, वनशगिरि, क्षेमनगर, बालखिल्य नगर, उज्जयिनी, चित्रकूट सभी प्रवास-स्थानों को उन्होंने बताया। इस तरह वे अयोध्या के बाहर आ पहुँचे। भरत भी शत्रुघ्न के साथ सेना लेकर राम की अग्रवानी को आया। भरत को देखकर राम आदि सभी विमान से उतरे। राम-भरत-लक्ष्मण और शत्रुघ्न परस्पर गले मिले और दोनों भाईयों ने सीता को प्रणाम किया। फिर सब अयोध्या की ओर चल दिये। मार्ग जन सकुल था। हर्ष से अयोध्या भूम उठा। सड़के और गलियाँ नया शृंगार करके अपने विछुड़े राम का स्वागत करने को मचल रही थी। सारा नगर सुसज्जित किया गया था। सड़कों पर गुलाबजल का छिड़काव किया गया था। तोरण और वन्दनवारों से अयोध्या पटी बड़ी थी। आज्ञा उसके नाथ जों आये थे। बन्दीजन विरुदावलियाँ गाते जा रहे थे, नर्तकियाँ नृत्य कर रही थी। अपूर्व शोभा थी अयोध्या की।

चारों भाई सीता को बीच में करके राजद्वार पर पहुँचे। मातायें बाहर दरवाजे पर आ गईं। दोनों भाइयों ने माताओं के चरण छुए। माताओं ने उन्हें हृदय से लगा लिया और आनन्दाश्रु बहाने लगी। उसके पश्चात् सीता, विशल्या आदि ने सासुओं के पैर छुए। माताओं ने सबको आशीर्वाद दिया। सब लोग राजमहल में गये।

रावण को विजय करने पर बलभद्र राम और नारायण लक्ष्मण स्वयमेव तीन खण्ड के अधिपति बन गये। उनके वैभव का वर्णन क्या किया जा सकता है। उनके पास ४२ लाख हाथी, ४२ लाख रथ, ६ करोड़ प्यादे, और तीन खण्ड के देव और विद्याधर उनके सेवक थे। राम के पास चार रत्न थे—हल, मूशल, रत्नमाला बलभद्र-नारायण और गदा। लक्ष्मण के पास सात रत्न थे—शख, चक्र, गदा, खड्ग, दण्ड, नागनाय्या और कौस्तुभ की विभूति मणि। उनका घर इन्द्र के आवास जैसा लक्ष्मी का आगार था। ऊँचे दरवाजों वाला चतु शाल कोट था। उनकी सभा का नाम वैजयन्ती था। प्रासाद कूट नामक उनका महल था। बर्ध नाम का नृत्य घर था। शीत ऋतु का महल कुकडे के अण्डे जैसा था। ग्रीष्म ऋतु का धारा मण्डप गृह था। उनके सोने की शैय्या में सिंह के आकार के पाये थे। वह पद्मरागमणि की थी। अम्भोदकाण्ड नामक वर्षा ऋतु का महल था। सिंहासन उगते सूर्य के समान था, चन्द्रमा के समान उज्वल उनके चमर और छत्र थे। अमूल्य वस्त्र और दिव्य आभरण थे। उनका कवच अमेघ था। मनोहर मणियों के कुण्डल थे। अमोघ गदा, खड्ग, स्वर्णवाण थे। ५० लाख हल, एक करोड़ से अधिक गाय, और अक्षय भण्डार था। मनोहर उद्यान थे, जिनमें रत्नमई सीढियों वाली वावडी बनी हुई थी। उनके राज्य में सारी प्रजा पूर्ण सुखी थी। किसानों के पास गाय भैंस और बैलों की अधिकता थी। राम के आठ हजार रानियाँ थी तथा लक्ष्मण के सोलह हजार रानियाँ थी। राम ने भगवान के हजारों जिनालय बनवाये। लोग सदा धर्म-कथा किया करते थे। राम के पधारने से अयोध्या की शोभा असख्य गुनी-बढ़ गई। जन-जन में राम के यश का वर्णन होता रहता था। किन्तु कुछ दुष्ट लोग सीता के सम्बन्ध में कभी कभी दवी चर्चा किया करते थे कि रावण सीता को हर लेगा था और वह उसके घर में भी रही थी। फिर भी, इतने विवेकी और न्यायवान होते हुए भी राम सीता को अपने घर ले आये।

भरत के मन में तो प्रारम्भ से ही राजपाट और गृहस्थी की ओर से विरक्ति थी। उनका मन विषय वासनाओं की ओर जाता ही नहीं था। जब राम अयोध्या लौटे नहीं थे, तब तक तो उन पर राज्य का भार था। अतः वे चाहते हुए भी मुनि-दीक्षा नहीं ले सके। किन्तु राम के वापिस आने पर उन्होंने मुनि बनने की मन में ठानली। एक दिन उन्होंने रामचन्द्र जी से अपने मन की बात कही और उनसे आज्ञा माँगी। यह जानकर माता कँकेयी विलाप करने लगी। राम और लक्ष्मण ने उसे समझाया—

भरत घर
में बैरागी

भैया! अभी तुम्हारा आयु मुनि के कठोर व्रत पालने की नहीं है। अतः तुम घर में रहकर राज्य शासन करो और धर्म का पालन करो। भरत उनकी आज्ञा उल्लंघन नहीं कर सके। किन्तु फिर भी घर में रह कर मुनियों के उपयुक्त व्रतों का पालन करने लगे। एक दिन सीता, विशल्या, उर्वशी, करयाणमाला, जितपद्मा, वसुन्धरा आदि दोनों भाइयों की रानियाँ भरत का मन विराग से हटाने के उद्देश्य से भरत के पास आकर बड़े प्रेम से बोली—देवर! चलो, हम सब मिल कर जलक्रीड़ा करें। भरत उनके प्यार भरे आग्रह को टाल न सके और न चाहते हुए भी वे उनके साथ चल दिये। सबने सरोवर पर जाकर जल क्रीड़ा की। परस्पर विनोद करते हुए सबने जल में स्नान किया। पश्चात् भरत उठकर निकट के चैत्यालय में जाकर भगवान की पूजा करने लगे। स्त्रियों में से कोई वीणा बजाने लगी, कोई नृत्य करने लगी।

इतने में त्रैलोक्य मण्डन हाथी वन्धन तुड़ाकर इधर-उधर भागने लगा। चिंघाड़ता हुआ वह अनेक वाग बगीचों को उजाड़ने लगा, उसने अनेक घर ढा दिये। उसकी चिंघाड़ सुनकर अनेक हाथी भी वन्धन तुड़ाकर भागने लगे। घोड़े हिनहिनाने लगे। सारी अयोध्या में आतक छा गया। राम-लक्ष्मण, हनुमान आदि सभी हाथी को पकड़ने आये, किन्तु वह किसी के वश में नहीं आया। वह काल के समान सीधे उस तालाब की ओर भागा, जहाँ रानियाँ जल-क्रीड़ा कर रही थी। हाथी को आता हुआ देख कर रानियाँ भय के मारे भरत के पीछे छिप गईं। हाथी को भरत की ओर जाते देख कर सब हाहाकार करने लगे। किन्तु भरत को देखते ही हाथी को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया और सूँड नीची करके शान्त भाव से खड़ा हो गया। भरत ने बड़े प्रेम से उसे कहा—'गजेन्द्र! तुम इस प्रकार क्रुद्ध कैसे हो गये? भरत का प्रश्न सुनकर हाथी रोने लगा। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ।

भरत सीता और विशल्या के साथ उसी हाथी पर बैठ कर घर आया। भोजन आदि से निवृत्त होने पर राज सभा में उसी हाथी की चर्चा थी। इतना क्रुद्ध होने पर भी यकायक भरत को देखकर वह शान्त कैसे हो गया तथा खुशामद करने पर भी चार दिन से आहार क्यों नहीं ले रहा।

उसी समय अयोध्या के बाहर उद्यान में देशभूषण-कुलभूषण केवली भगवान का आगमन हुआ। समवसरण की रचना देख कर वनमाली ने उनके आगमन की सूचना राम को दी। यह समाचार सुन कर राम ने अपने आभूषण उतार कर माली को दे दिये और नगर में ड्योढी पिटवा कर राम लक्ष्मण आदि के साथ केवली भगवान के दर्शनों को गये। साथ में सभी विद्याधर, राज परिवार, पुरजन थे। सबने नहीं पहुँच कर भगवान की वन्दना-पूजा की और भगवान का उपदेश सुना। भगवान से हाथी के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान ने बताया कि भरत और इम हाथी के जीव इस जन्म से पहले ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव थे। अभिराम का जीव तो स्वर्ग से चलकर यह भरत हुआ है तथा मृदुमति का जीव मायाचारपूर्वक तप करने के कारण स्वर्ग से चलकर यह हाथी हुआ है। भरत को देखने से उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो आया, इसलिए वह शान्त हो गया।

अपने जन्मान्तर का हाल जानकर भरत ने केवली भगवान से दीक्षा देने की प्रार्थना की। तो राम कातर होकर कहने लगे—'भाई! पिता ने तुम्हें राज्य दिया था। अब इसे किसे दोगे। हमने तो तुम्हारे लिए ही विजय की है। यह चक्रवर्त्त भी तुम्हारा ही है। तुम इसे सम्भालो। यदि तुम हमसे विरक्त हो तो हम बाहर चले जायेंगे। पिता गये, अब तुम भी चले जाओगे। पति और पुत्र के वियोग में माता कँकेई रो रोकर जान दे देगी।' तब भरत बोले—'अब तक तो पिता की आज्ञा से मैंने राज्य किया। अब तुम करना।' यह कहकर भरत ने मुनिदीक्षा लेली। उसके साथ कँकेयी आदि ने भी आर्यिका दीक्षा ग्रहण करली। हाथी ने श्रावक के व्रत ले लिए और चार वर्ष तक घोर तपश्चरण कर वह छोटे स्वर्ग में देव हुआ। भरत भी तपस्या करके कर्मों का नाश कर मुक्त हो गये।

राम-लक्ष्मण का राज्याभिषेक—भरत के दीक्षा लेने पर लक्ष्मण को बड़ा शोक हुआ। वह भरत के गुणों का बार-बार बखान करता। राम भी भरत के गुणों की चर्चा करते रहे। सारे नगर में भरत की ही प्रशंसा के गीत गाये जाने लगे। घर-घर उन्हीं की चर्चा थी।

अगले दिन सब राजा मिलकर राम के पास आए और हाथ जोड़कर निवेदन करने लगे - देव ! हम सब भूमिगोचरी और विद्याधर राजा आपसे एक निवेदन करने आये हैं। हम सब आपका राज्याभिषेक करना चाहते हैं। राम यह सुनकर बोले—‘तुम सब लक्ष्मण का राज्याभिषेक करो। वह नारायण है। वह सदा मेरे चरणों में नमस्कार करता है। फिर मुझे राज्य की क्या आवश्यकता है।’ सब राजा तब लक्ष्मण के पास गये और उनसे राम का सन्देश कह कर राज्याभिषेक की अनुमति मागने लगे। लक्ष्मण सबको अपने साथ लेकर राम के पास आए और बोले—‘देव ! इस राज्य के स्वामी तो आप ही हैं। मैं तो आपका सेवक हूँ।’ तब राम ने बड़े स्नेह से कहा—‘वत्स ! तुम चक्र के धारी नारायण हो, इसलिए राज्याभिषेक तुम्हारा ही होना उचित है।’ तब अन्त में सबने यह निश्चय किया कि राज्याभिषेक दोनों का होना चाहिए।

नाना प्रकार के बाजे बजने लगे। याचकों को मगोवाञ्छित दान दिया गया। कमल पत्रों से ढके हुए स्वर्ण बलशो में पवित्र जल भर कर उससे दोनों का एक ही आसन पर अभिषेक किया गया। दोनों भाइयों को मुकुट, भुजबन्ध, हार, केयूर, कुण्डलादि आभरण और कौशेय वस्त्र धारण कराये। तीनों खण्डों के आए हुए विद्याधर और भूमिगोचरी राजाओं ने दोनों का जय-जयकार किया। राम और लक्ष्मण का अभिषेक करने के बाद विद्याधर भूमिगोचरी रानियों ने सीता और विशल्या का अभिषेक किया। सीता राम की और विशल्या लक्ष्मण की पटरानी बनी।

अभिषेक के बाद राम ने लका विभीषण को दी, किष्किंधापुर सुग्रीव को, श्रीनगर और हनुव्हे द्वीप का राज्य हनुमान को, अलंकारपुर विराधित को, वैताद्वय की दक्षिण श्रेणी का रथनूपुर भामण्डल को दिया और उसे समस्त विद्याधरों का अधिपति बनाया। रत्नजटी को देवोपुनीत नगरी का राज्य दिया। अन्य लोगों का भी यथायोग्य सम्मान किया।

सबसे निवृत्त होकर राम शत्रुघ्न से बोले - भाई ! तुम्हें जो पसन्द हो, वहाँ का राज्य ले ले, चाहे तू आधी अयोध्या ले ले, चाहे पौदनपुर, हस्तिनापुर, बनारस, कौशाम्बी, शिवपुर इनमें से किसी को चुन ले।’ शत्रुघ्न बोला—‘मुझे तो मथुरा का राज्य चाहिए।’ राम ने कहा—‘वहाँ हरिवंशी राजा मधु राज्य कर रहा है और वह रावण का दामाद है। उसके पास नागेन्द्र का दिया हुआ त्रिशूल है। उसके कारण उससे कोई युद्ध नहीं कर सकता। लक्ष्मण भी उससे शक्ति रहता है। तब तू उसे कैसे जीत सकता है।’ शत्रुघ्न बोला—‘आप तो मुझे मथुरा का ही राज्य दे दीजिए। उसका अभिमान मैं चूर करूँगा। राम ने उसका आग्रह देखकर मथुरा का राज्य दे दिया। शत्रुघ्न सबको प्रणाम कर चतुरगिणी सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण करने चल दिया। लक्ष्मण ने उसे अपना सागरावर्त धनुष और कृतान्त-चक्र सेनापति भी दे दिया।

शत्रुघ्न ने यमुना तट पर अपना पड़ाव डल दिया। उसने एक गुप्तचर को मथुरा भेजा। उसने आकर समाचार दिए कि आज छह दिन हुए, मधु नन्दन वन में क्रीडा करने गया है। सारा परिवार और अनेक सामन्त उसके साथ हैं। वह यहाँ से तीन योजन दूर है। शत्रुघ्न ने मथुरा में जाकर रातों रात उस घन-जन से परिपूर्ण नगरी पर अधिकार कर लिया। शस्त्रालय, कोष और राजमहल पर फौजी पहरा बैठा दिया। शासन सूत्र अपने हाथ में लेकर मथुरा पर रघुवशियों के शासन की ड्योढी पिटवा दी।

प्रातः काल होते ही किसी ने वन में जाकर राजा मधु से यह समाचार कहा। मधु मथुरा पर शत्रुघ्न का अधिकार सुनकर क्रोध से जलता हुआ मथुरा आया। मधु के पास इस समय त्रिशूलरत्न नहीं था, फिर भी उसने नगर को घेरकर युद्ध की घोषणा कर दी। शत्रुघ्न की कुछ सेना युद्ध के लिए बाहर आई। जब मधु की सेना दबने लगी तब उसका पुत्र लवणार्णव युद्ध के लिए आया और उसने शत्रुघ्न की सेना तितर-बितर कर दी। यह देखकर

कृतान्तवक्त्र सेनापति युद्ध के लिए आया। दोनों में घोर युद्ध हुआ। कृतान्तवक्त्र ने उसकी छाती पर गदा का प्रहार किया, जिससे वह तत्काल मर गया। पुत्र को मृत जानकर मधु स्वयं युद्ध के लिए आया। कृतान्तवक्त्र पीछे हटने लगा। यह देख शत्रुघ्न मैदान में कूद पड़ा। दोनों में घोर युद्ध हुआ। अन्त में मधु मारा गया। शत्रुघ्न ने उसका राजसी ठाठ से दाह मस्कार कराया।

स्वामी के न रहने पर त्रिशूलरत्न को देव उठा कर ले गये और गरुण इन्द्र को दे दिया। इन्द्र ने पूछा—इसे तुम क्यों ले आए। तब देवों ने कहा—शत्रुघ्न ने मधु का वध कर दिया है। यह सुनकर गरुणेन्द्र शत्रुघ्न को मारने आया। और जब उसने मथुरा की प्रजा को मधु की मृत्यु पर खुशियाँ मनाते देखा तो वह और भी क्रुद्ध हो गया और उसने मथुरा में मरी रोग फैला दिया। प्रजा घडाघड मरने लगी। शत्रुघ्न प्रजा के इस विनाश से दुखी होकर अयोध्या चला गया।

एक बार नागपुर के राजा श्रीनन्दन के सुरमन्यु, श्रीमन्यु, श्रीनिलय, सर्वसुन्दर, जय, विनय, लालस और जयमित्र ये सात पुत्र मुनि हो गये और तपस्या करके उन्हें ऋद्धि प्राप्त हो गई। वे विहार करते हुए मथुरा पधारे और एक बड के नीचे चातुर्मास किया। चारण ऋद्धि के कारण वे चार अंगुल जमीन से ऊपर चलकर दूसरे नगरो में आहार कर शाम को मथुरा वापिस आ जाते थे। मथुरा की सारी प्रजा नगर से भाग गई थी। उन ऋषियों के तप के प्रभाव से धीरे-धीरे मरी रोग शान्त हो गया और प्रजा पुन नगर में आ गई। शत्रुघ्न भी मथुरा से लौट आया। तब शत्रुघ्न ने सप्तर्षियों से निवेदन किया—‘प्रभो! आप इसी नगर में विराजे, जिससे पुन मरी रोग न हो।’ मुनि बाले—‘तुम यहाँ जिनालयों का निर्माण कराओ, उनकी प्रतिष्ठा करो। उससे पुन मरी रोग का भय नहीं रहेगा।’ शत्रुघ्न ने महर्षियों की आज्ञा से अनेक जिनमंदिर बनवाये। तबसे मथुरा में खूब आनन्द मगल होने लगे और प्रजा सुख से रहने लगी।

अब राम-लक्ष्मण ने त्रिखण्ड विजय के लिए प्रयाण किया। जो राजा स्वेच्छा से उपहार लेकर आये, उन्हें आदर-सत्कार करके सन्तुष्ट किया। किन्तु जिन्होंने उनकी आधीनता स्वीकार नहीं की, उनको दण्डित किया।

इस प्रकार अल्पकाल में ही भरत क्षेत्र के तीन खण्डों के समस्त राजाओं को, विद्याधरो और सीता का भूमिगोचरो को जीतकर नारायण लक्ष्मण त्रिखण्डाधिपति बन गये। उनके सोलह हजार परित्याग रानियाँ थी जिनमें आठ मुख्य थी—विशल्या, रूपवती, वनमाला, कल्याणमाला, रतिमाला, जितपद्मा, भगवती और मनोरमा। राम की रानियों में मुख्य चार पटरानी थी—सीता, प्रभावती, रतिप्रभा, और श्रीदामा।

अब राम-लक्ष्मण आनन्दपूर्वक तीनों खण्डों पर शासन कर रहे थे। सोलह हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा में रहते थे। धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थ उनके अनुकूल थे। एक बार सीता अपने महलो में सो रही थी। उसने रात्रि के पिछले प्रहर में दो सुन्दर स्वप्न देखे। वह शय्या से उठ कर राम के पास गई और निवेदन किया—नाथ! मैंने आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में दो स्वप्न देखे हैं। एक में तो दो पूर्ण चन्द्र देखे हैं। उसके बाद दो सिंह मुह में प्रवेश करते देखे हैं। इन दोनों स्वप्नों का फल आप बतावे।’ राम बोले—‘देवि! तुम्हारे सिंह के समान दो पराक्रमी पुत्र उत्पन्न होंगे। वे दोनों ही भोगी, त्यागी और मोक्ष मार्ग के प्रवर्तक होंगे अर अन्त में कर्म शत्रुओं को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करेंगे।’ सीता स्वप्नों का फल सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई और अपने महलो में चली गई।

स्वप्न वाले दिन पुष्पोत्तर विमान से चलकर दो देव सीता के गर्भ में आए। धीरे-धीरे गर्भ बढ़ने लगा। उससे सीता कृश हो गई, मुह पीला पड गया। स्तनों का अन्न भाग काला पड गया। सीता की ऐसी हालत देख कर राम ने कहा—‘तुम्हें जो दोहला हो, वह कहो, मैं उसे पूरा करूँगा।’ सीता ने कहा—‘नाथ! मैं सब जगह जाकर भगवान की प्रतिमाओं का पूजन करना चाहती हूँ।’ राम सीता को लेकर मंदिरों में गये और आनन्दपूर्वक पूजा की। पूजा करते समय सीता की दाईं आख फडकी। सीता यह देखकर किसी अनिष्ट की आशंका से चिन्तित हो गई। विघ्न शांति के लिए उसने यथेच्छ दान दिया और महलो को लौट आई।

रामचन्द्र जी बही प्रासाद मण्डप में अनेक लोगों के साथ बैठे रहे। तभी द्वारपाल ने आकर निवेदन

किया—'नहाराज ! बहुत प्रजाजन आपके दर्जनो के लिए आना चाहते है।' राम ने सबको अन्दर ले आने की आज्ञा दी। प्रजाजन आकर नमस्कार कर यथास्थान बैठ गये। राम ने पूछा—'कहिए, आप लोग कैसे आए। मेरे राज्य मे आपको कोई कष्ट तो नही है?' यह सुनकर सब चुप रह गये। राम ने फिर कहा—'आप लोग भय मत करिए, जो कुछ मन मे हो, निस्सकोच कहिए।' अभय पाकर एक लोकचतुर विजय नाम का प्रजाजन हाथ जोड़कर बोला—'प्रभो ! निवेदन यह है कि आजकल देश मे बडा अनाचार फैल रहा है। एक की स्त्री दूसरा भगा ले जाता है और वह दो तीन महीने उसके घर रहकर वापिस आ जाती है। यदि कोई पूछता है कि उस व्यभिचारिणी स्त्री को तुमने क्यों रख लिया। तो जवाब मिलता है कि रामचन्द्र जी भी तो सीता को रावण के घर से छह महीने के बाद ले आये है। जब छह महीने रावण के सपर्क मे रहने वाली सीता को राम जैसे धर्म धुरन्धर मर्यादा पुरुषोत्तम राजा भी पुन अगीकार कर सकते है, तब वे हमे अपनी अपहृत स्त्रियो को रखने से कैसे रोक सकते है। इस तरह दुष्ट लोग दिनदहाडे आपका उदाहरण देकर यह अनाचार कर रहे है। अत जिस प्रकार यह अनाचार रुके वह उपाय आपको करना चाहिए।

प्रजाजनों की यह बात सुनकर क्षण भर को राम गम्भीर हो गये, फिर बोले—अच्छा, आप लोग जाइये, मैं इसका कुछ उचित उपाय करूँगा। प्रजाजन लौट गये।

रामचन्द्र जी सोचने लगे—हाय ! जिसके बिना मैं व्याकुल रहा, जिसके लिए रावण को मारने समुद्र पार कर गया, उसके बिना तो मेरा जीना ही व्यर्थ हो जायेगा। हाय ! सुशील गुणवती सीता मुझसे कैसे छोडी जाएगी। उसके बिना तो मैं एक घडी भर भी स्थिर नही रह सकता, उसके बिना मैं जीवन भर उसका दुःख कैसे सहूँगा। यदि उसे न छोडा तो सदा के लिये मेरे कुल मे कलक लग जायेगा।' इस प्रकार सोचकर उन्होने लक्ष्मण को बुलाया और बोले—'वत्स ! सीता के बारे मे बडा लोकापवाद फैल रहा है। अत मैं उसे जगल मे छोड देना चाहता हूँ।' लक्ष्मण यह सुनकर बडा क्रुद्ध होकर बोला—'कौन दुष्ट सीता को लेकर अपवाद फैला रहा है। मैं उसका अभी तलवार से सिर उतारता हूँ। सीता के समान आज भी कोई पतिव्रता नही दीखती। उसमे जो दोष बतलाता है, मैं उसकी जीभ काट लूँगा। समझ मे नही आता, दुष्ट लोगो के कहने से आप सीता को कैसे छोड रहे है। राम ने समझाया—'लक्ष्मण ! ऐसा मत कहो। सीता को रखने से हमारे वश मे हमेशा के लिए कलक लग जाएगा। अत. मैं सीता का अवश्य परित्याग करूँगा। तुम्हे अगर मुझसे स्नेह है तो इस विषय मे मीन ही रहना। हे लक्ष्मण ! जैसे सूखे ईंधन मे लगी अग्नि जल से बुझाये बिना वृद्धि को प्राप्त होती है, उसी प्रकार अपकीर्ति रूपी अग्नि पृथ्वी पर फैलती है। उसका निवारण किए बिना मिटती नही। यह तीर्थकरो का समुज्वल कुल प्रकाश रूप है। इसको कलक न लगे, वह उपाय करना चाहिए। यद्यपि सीता महा निर्दोष है, शीलवती है फिर भी मैं उसका परित्याग करूँगा, मैं अपनी कीर्ति मलिन नही करूँगा।' किन्तु लक्ष्मण को इन बातो से सन्तोष नही हुआ। वे उद्वेग से बोले—'देव ! लोग तो मुनियो की भी निन्दा करते हैं, धर्म की भी निन्दा करते हैं तो क्या लोगो के अपवाद के डर से मुनियो को छोड दें, धर्म को छोड दें। इसी तरह कुछ दुष्ट लोगो के अपवाद के भय से जानकी को कैसे छोड दे।' तब रामचन्द्र जी समझाने लगे—'लक्ष्मण ! जो शुद्ध न्यायमार्गी मनुष्य हैं, वे लोक विरुद्ध कार्य छोड देते हैं। जिसकी दसो दिशाओ मे अकीर्ति फैल रही हो, उसे संसार मे क्या सुख है।'

यह कहकर राम ने कृतान्तवक्त्र सेनापति को बुलाया। और उससे कहा कि 'तुम तीर्थ यात्रा कराकर सीता को किसी वियावान जगल मे ले जाओ और वहाँ छोडकर शीघ्र लौट आओ।' 'जो आज्ञा' कहकर सेनापति रथ लेकर सीता के महल पर गया और कहा 'भाता ! उठो। रामचन्द्र की आज्ञानुसार तुम्हे तीर्थ यात्रा के लिए चलना है।' सीता बडी प्रसन्नता से उठी, तैयार हो सबसे मिलकर यात्रा को चली। विशल्या आदि रानियो ने सीता के पंर छुए। सीता ने अपनी सासुओ के पंर छुए और देवरानियो से बोली—'तीर्थयात्रा कर शीघ्र ही लौटकर सबसे मिलूगी। वैसे तो इस हालत मे न जानी परन्तु सौभाग्य से मुझे दोहला ही ऐसा हुआ है कि मैं तीर्थ वन्दना करू और दान पुण्य करूँ। अगर सकुशल लौट आई तो फिर सबके दर्शन करूँगी। आप सब मेरे अपराधो को क्षमा करना।' इस तरह कहकर सीता रथ मे बैठकर राम के पास गई और उनसे आज्ञा लेकर यात्रा को विदा हुई।

चलते समय अपशकुन हुए। नदी, पर्वतादिको को लाघता हुआ रथ यात्रा कराता हुआ आगे बढ़ा और सिहाटवी में पहुँचा। सिंह व्याघ्रादि से भरे हुए उस वन में सेनापति ने रथ रोक दिया। सेनापति कुछ कहना ही चाहता था कि उसकी आँखों से अश्रुधारा वह निकली। सीता ने पूछा—'भाई! हम लोग तीर्थयात्रा को निकते हैं। ऐसे हर्षपूर्ण प्रसंग में तुम्हारे दुःख का अभिप्राय मैं नहीं समझी।' सेनापति ने कहा—'माता! बड़े पाप के फल से कुत्ते के समान यह दास का जीवन मिलता है। दास बड़े पाप के फल से नरको में जाता है और वहाँ से निकल कर चाण्डालादि योनियों में जन्म लेता है।' सीता बोली—'वत्स! तुम ऐसा क्यों कहते हो?' सेनापति ने कहा—'माता! महाराज रामचन्द्र जी की आज्ञा है कि मैं तुम्हें यही जगल में छोड़ दूँ। उनका कहना है कि यद्यपि सीता निर्दोष है, फिर भी लोकापवाद के कारण मैं उसे रखने को तैयार नहीं हूँ। किन्तु तुम्हें एकाकी इस वन में किस प्रकार छोड़ूँ। और यदि नहीं छोड़ता हूँ तो महाराज रामचन्द्र नाराज होंगे। मेरे रोने का यही कारण है।'

सेनापति के वचन सुनते ही सीता को मूर्च्छा आ गई। जब उसे होश आया तो बोली—'हे वीर! मुझे एक बार अयोध्या ले चलो। रामचन्द्र जी के चरणों के दर्शन करके और उनसे अपने मन की बात कह कर मैं पुन वन में चली आऊँगी।' किन्तु सेनापति बोला—'देवि! इस समय रामचन्द्र जी क्रोध और कठोरता की मूर्ति हो रहे हैं। अतः उनके दर्शन करना भी बेकार है।' सीता ने कहा—'हे सेनापति! तुम मेरे वचन राम से कहना कि मेरे त्याग का विषाद आप न करना, परम धैर्य धारण कर प्रजा की रक्षा करना, जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है। राजा को प्रजा ही आनन्द का कारण है। आप मुक्ति के कारण सम्यग्दर्शन की आराधना करना और राज्य से सम्यग्दर्शन को श्रेष्ठ मानना। अभव्य जनो की निन्दा के भय से सम्यग्दर्शन को मत छोड़ना। आप शस्त्रों के ज्ञाता हो, अतः मैं आपको कोई उपदेश देने में समर्थ नहीं हूँ। यदि मैंने कभी परिहास में अविनयपूर्ण वचन कहे हों तो आप क्षमा करना।' इस प्रकार कहकर रथ से उतर कर वह मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी, मानी रत्नो की राशि ही पड़ी हो।

कृतान्तवक्त्र सीता को चेष्टारहित मूर्च्छित देख कर बड़ा दुखी हुआ और मन में विचारने लगा—'धिक्कार है इस पराधीनता को, जिसके कारण मुझे महासती सीता को निर्देय जीवों से भरे हुए इस वन में अकेला छोड़कर जाना पड़ रहा है। पराधीन जीवन बड़े पाप का फल है। स्वामी की आज्ञा के अनुसार ही चलना सेवक का एकमात्र काम है। यह पराधीनता कभी किसी को प्राप्त न हो।' यो सोचकर अत्यन्त दुखी और लज्जित होता हुआ वह वहाँ पर ही सीता को अकेली छोड़कर अयोध्या को चल दिया।

इधर सीता को जब होश आया तो वह विलाप करने लगी—'आर्यपुत्र! आप सब की रक्षा करते थे, किन्तु मेरे लिए इतने कठोर कैसे बन गये। देवर लक्ष्मण! भाई भामण्डल! तुम मुझे कैसे भूल गये। भरत! शत्रुघ्न! तुम्हीं आकर मुझे इस वन में ढाँस बधाओ। क्या तुम सबने मुझे छोड़ दिया। विद्याधरो! तुम मेरी रक्षा करने को लका गये थे, अब तुम मेरी रक्षा क्यों नहीं करते। इस प्रकार विलाप करके वह बार-बार मूर्च्छित होने लगी। सीता का विलाप सुनकर जगल के पशु भी स्तब्ध रह गये। सीता पुन मन को सान्त्वना देने लगी—'इसमें राम या किसी अन्य का क्या दोष है। मैंने जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनका फल मुझे भोगना ही होगा। शायद मैंने किसी जन्म में मुनि-निन्दा की हो, सतियों को दोष लगाया हो या कोई ऐसा ही पाप किया हो। इस प्रकार सीता कभी विलाप करती, कभी आत्म निन्दा करती हुई हिरणी की भाँति इधर उधर फिरने लगी।

सीता करुण क्रन्दन करती हुई वन में फिर रही थी तभी पुण्डरीकपुर का हरिवंशी राजा बज्रजघ सेना सहित हाथी पकड़ने इसी जगल में आ निकला। हाथी पकड़कर लौटते हुए उसने सीता का विलाप सुना। वह शीघ्र सीता के पास आया। सेना को देखकर सीता और भी भयभीत होकर विलाप करने लगी। वन देवी की तरह सीता को बैठी देखकर सेना कौतुक से और भी समीप आई। सीता डरकर उन्हें अपने गहने देने लगी। तब बज्रजघ हाथी से उतर कर सीता के समीप आया और बोला—'पुत्री! तू इस वन में अकेली क्यों है। तेरे पिता, पति और स्वसुर कौन हैं? सीता ने रोते हुए कहा—'भाई! मैं दशरथ की पुत्र वधू, और जनक की पुत्री हूँ। रामचन्द्र मेरे पति हैं। और भामण्डल मेरा भाई है। भरत को राज्य सौंपकर मेरे पति वन को गये थे। उनके साथ मैं भी गई

थी। वहाँ दण्डक-वन में पापी रावण ने मुझे हर लिया। इसके लिए राम ने रावण पर आक्रमण कर दिया। उस युद्ध में रावण मारा गया। हम लोग प्रेमपूर्वक अयोध्या वापिस गये। वहाँ समयानुसार मैं गर्भवती हुई। इसके बाद जनता ने इसका अपवाद करके रामचन्द्र से शिकायत की। उन्होंने उस लोकापवाद के कारण मेरा परित्याग कर दिया। इस तरह अपना सारा वृत्तान्त कह कर वह पुन रोने लगी। सीता का कष्ट आक्रन्दन सुनकर वज्रजघ और उसके सैनिकों के भी आसू निकलने लगे। वज्रजघ ने कहा—तू मेरी वहन है। मैं तेरा भाई हूँ। चलो, हम लोग घर चले। वहाँ रहने से फिर रामचन्द्र जी के दर्शन होंगे। इस तरह सीता को समझा बुझा कर वह पालकी में बैठकर अपने घर ले गयी। मार्ग में सीता का परिचय पाकर जगह जगह लोगों ने उसका सम्मान सत्कार किया। नगर प्रवेश करते ही जनता ने बड़े समारोह से उसकी अगवानी की। राजद्वार पर आकर वज्रजघ की रानियाँ बड़े आदर और सम्मान के साथ सीता को अन्दर ले गईं। वज्रजघ ने आदेश कर दिया कि सीता मेरी वहन है अतः सब काम उसकी आज्ञानुसार होने चाहिए। सब रानियों ने राजाज्ञा शिरोधार्य की। सीता वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगी तो भी रामचन्द्र जी के बिना उसे सूना सूना लगता था।

उधर कृतान्तवक्त्र वापिस अयोध्या लौटा और रामचन्द्र जी के निकट पहुँचा और नमस्कार कर बोला—‘पभो! आपकी आज्ञानुसार मैं सीता को भयानक वन में छोड़ आया हूँ।’ राम बोले—‘सीता ने मेरे लिए कुछ कहा तो नहीं।’ तब सेनापति ने सीता का दिया हुआ सन्देश रामचन्द्र जी को वह सुनाया। सेनापति के मुख से सीता का सन्देश सुनते ही राम मूर्च्छा को प्राप्त हो गये। जब चेत आया तो वे विलाप करने लगे। फिर कृतान्तवक्त्र से पुन पुन पूछने लगे—‘कृतान्तवक्त्र! कह, क्या तूने सीता को वन में छोड़ दिया? यदि तूने किसी शुभ स्थान में छोड़ा हो तो तेरे मुखचन्द्र से अमृत रूप वचन विखरे। यह सुनकर सेनापति ने लज्जा से नीचा मुख कर लिया। तब राम ने समझ लिया कि यह निश्चय ही सीता को भयानक वन में छोड़ आया है। यह समझ कर राम पुन मूर्च्छित हो गये। तब लक्ष्मण आये और मन में दुःखित होते हुए कहने लगे—‘देव! क्यों व्याकुल होते हो। धैर्य धारण कीजिए। पूर्वोपाजित अशुभ कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा। केवल सीता को ही दुःख नहीं हुआ। सारी प्रजा ही दुःखी है। यह कहते ही लक्ष्मण का भी धैर्य जाता रहा और वे भी रुदन करने लगे। ‘हाय माता! तू कहाँ गई। जैसे सूर्य बिना आकाश की शोभा नहीं है, इसी प्रकार तेरे बिना अयोध्या की शोभा नहीं रही। फिर राम से कहने लगे, ‘हे देव! सारे नगर में गीत सगीत की ध्वनि बन्द हो गई और रुदन की ध्वनि आती रहती है। घर घर में सब लोग रुदन करते हैं और सीता के अखण्ड सतीत्व और गुणों की ही चर्चा करते रहते हैं। अतः आप शोक छोड़िये आपका चित्त प्रसन्न है तो सीता को फिर बुला लेंगे। इस तरह समझाने बुझाने से राम का शोक कुछ क्षणों के लिए कम हो गया। किन्तु वे सीता को भुला नहीं सके। उनका मन एक क्षण के लिए भी सीता के बिना नहीं लगता था।

लव-कुश का जन्म और दिग्विजय—नी मास वीतने पर श्रावण शुक्ला पूर्णिमा मंगलवार के दिन श्रावण, नक्षत्र में सीता ने दो पुत्रों को जन्म दिया। दोनों पुत्र सूर्य और चन्द्र की तरह कातिमान थे। उनका मुख देखकर सीता के साथ साथ सब जनो को परम सन्तोष हुआ। वज्रजघ ने खूब उत्सव मनाया, जिनेन्द्र देव की पूजा की और याचको को यथेच्छ दान दिया। बड़े पुत्र का नाम अनगलवण और छोटे का नाम मदनाकुश रखा गया।

धीरे-धीरे दोनों बालक बढने लगे। उनका मुख देखकर सीता अपना शोक भूल गई। जब वे कुछ बड़े हुए तो सीता को चिन्ता हुई कि इन्हे किस गुरु के पास पढने भेजा जाय। इतने में सिद्धार्थ नामक एक क्षुल्लक भिक्षा के लिए सीता के घर पधारे। वे महाज्ञानी, शील सम्पन्न, तथा कला-विज्ञान के पारगामी थे। शरीर पर केवल एक वस्त्र रखते थे, केशलोच करते थे, अपने पात्र में ही भोजन करते थे और सदा ज्ञान ध्यान में लीन रहते थे। सीता ने उन्हें आहार कराया। आहार करने के पश्चात् वे एक आसन पर बैठ गये। सीता भी इन्हे नमस्कार करके पास ही बैठ गई। इतने में दोनों कुमार भी आ गये। उन्हें देखकर क्षुल्लक ने पूछा—‘ये दोनों सुन्दर कुमार किसके हैं?’ क्षुल्लक का प्रश्न सुनकर सीता ने आखों में आसू भरकर उन्हें सब वृत्तान्त सुनाया। सुनकर क्षुल्लक बोले—‘दुःख मत करो पुत्री! तुम्हारे दोनों पुत्र राजा होकर मुक्ति प्राप्त करेंगे। मैं इन्हे सब विद्याओं में निपुण

कर दूँगा।' यह सुनकर सीता बड़ी प्रसन्न हुई। क्षुल्लक वही एकान्त स्थान में रहने लगे और बालको को पढ़ाने लगे। थोड़े ही समय में दोनों बालक शस्त्र विद्या और शास्त्रविद्या में निपुण हो गये।

अब वे हाथी पर सवार होकर नगर में क्रीडा करते घूमते थे। वज्रजघ ने बड़े पुत्र अनगलवण के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। अब उसे दूसरे पुत्र के विवाह की चिन्ता हुई। तब उसने पृथ्वीपुर के राजा पृथु के पास उनकी कन्या कनकावली को अपने दूसरे पुत्र के लिए माँगने के लिए अपने मंत्री को भेजा। किन्तु राजा पृथु ने बड़ा कटु उत्तर दिया कि जिसके कुल गोत्र का ठिकाना नहीं, उसके लिये मैं अपनी पुत्री को कैसे दे सकता हूँ। वज्रजघ ने जब मंत्री से पृथु का यह अभद्रतापूर्ण उत्तर सुना तो उसे बड़ा क्रोध आया। वह सेना लेकर पृथु का मान-मर्दन करने चल दिया। मार्ग में वंशपुर का राजा व्याघ्ररथ जो पृथु के पक्ष का था—युद्ध करने आया। उसे पराजित कर वज्रजघ ने पृथ्वीपुर को घेर लिया। राजा पृथु ने अपने मित्र पोदनपुर के राजा को बुलाया। वह सेना लेकर मैदान में आडटा। दोनों ओर से भीषण सग्राम हुआ किन्तु दोनों की सम्मिलित शक्ति के मुकाबले वज्रजघ ठहर नहीं सका। तब उसने दोनों कुमारों को बुला भेजा। दोनों पुत्र और वज्रजघ के पुत्र फौरन युद्ध-स्थल में आये। दोनों कुमारों ने थोड़ी ही देर में पृथु को पकड़ लिया। साथ ही पोदनपुर के राजा को भी उसके रथ में ही धर दवाया और उसे पकड़ लिया। दोनों राजकुमारों को प्रणाम कर पृथु बोला—आप दोनों भाई उच्च कुलीन और ज्ञानवान हैं। मैंने अज्ञानता में जो अपराध किया, उसे आप क्षमा कर दें।' इस तरह विनयपूर्वक निवेदन करके उसने अपनी पुत्री कनकमाला का विवाह मदनाकुश के साथ कर दिया। कुमारों ने दोनों राजाओं को बंधन मुक्त कर दिया और एक महीने पृथ्वीपुर में ठहर कर दिग्विजय करने निकले। उनके साथ राजा पृथु, पोदनपुर के राजा और वज्रजघ भी चले। वे लोकाक्ष, मालवा, अवन्ति, तिलिग आदि दक्षिण देशों को जीतते हुए कैलाश पर्वत की ओर पूर्व दिशा में गये। उधर के अनेक राजाओं को जीतते हुए पश्चिम के राजाओं को जीता। पश्चात् विजयार्थ के समीप सिन्धु के किनारे के राजाओं को जीता। इस तरह तमाम पृथ्वी को जीतते हुए वे अपने नगर को लौट आये। प्रजा ने कुमारों का खूब स्वागत किया। वज्रजघ के साथ कुमार राजद्वार पर पहुँचे। रानियों ने तीनों की आरती उतारी। सीता भाई से मिली और कुमारों ने सीता के पैर छुए। सीता ने दोनों को आशीर्वाद दिया।

एक दिन देवर्षि नारद अयोध्या गये। नारद ने वहाँ सीता को न देखकर राम से पूछा—'यहाँ सीता कहीं दिखाई नहीं देती।' नारद का प्रश्न सुनकर कृतान्तवक्त्र ने सारा समाचार सुनाया। उसे सुनकर नारद को बड़ा दुःख हुआ और वे सीता को खोजने चल दिये। घूमते हुए वे पुण्डरीकपुर पहुँचे और वज्रजघ की आज्ञा लेकर अन्त-पुर में गये। सीता ने उन्हें प्रणाम किया और बैठने को उच्च आमन दिया। नारद सीता को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। नारद ने सीता से कुशल समाचार पूछे तो सीता ने आपबीती सारी घटना कह सुनाई। इतने में वही पर दोनों कुमार आ गये और नारद के पैर छूकर खड़े हो गये। नारद ने उन्हें आशीर्वाद दिया—'राम-लक्ष्मण के समान तुम्हारे भी खूब विभूति हो।' कुमारों ने नारद से पूछा—'ये राम-लक्ष्मण कौन हैं।' नारद बोले—'क्या तुमने नारायण और बलभद्र लक्ष्मण राम का नाम नहीं सुना जिन्होंने सीता को हरने वाले महा बलवान रावण को मारा है और जो तीन खण्ड के अधिपति बन कर अयोध्या में शासन कर रहे हैं। उन्हीं में से बलभद्र के तुम दोनों पुत्र हो।' तब कुमारों ने सीता से पूछा कि नारद जी जो कुछ कह रहे हैं, क्या वह सत्य है? तब सीता ने सब आप बीती सुना दी। माता का वृत्तान्त सुनकर दोनों पुत्र क्रुद्ध होकर राम लक्ष्मण को मारने के लिए तैयार हुए। नारद जी ने मना किया तो लवणांकुश तेजी में बोला—'लोगों के कहने में आकर पिता ने क्यों हमारी माँ को छोड़ दिया। क्या उस समय अयोध्या में न्याय की बात कहने वाला कोई नहीं था कि एक स्त्री को भयानक वन में अकेली क्यों छोड़ा जाता है। अगर मामा ने माँ को न रखा होता तो अब तक माँ को शेर चीते खा जाते। आप बताइये, अयोध्या यहाँ से कितनी दूर है। हम भी तो देखें, पिता कितने पानी में है।' नारद ने कहा—'अयोध्या यहाँ से एक सी साठ योजन है।' लवणांकुश ने मामा से कहा—'हम राम लक्ष्मण पर चढाई करेंगे, आप सेना सजवाइये।' सीता ने पुत्रों से मना किया—'वेटा! तुम राम लक्ष्मण के साथ लडाई मत ठानो। वे बड़े बलवान हैं। उन्होंने तीन खण्ड के अधिपति और अनेक विद्याओं के स्वामी रावण को भी मार दिया।' लवणांकुश बोला—'मा! हम लोग रावण की तरह

परस्त्री लपट नहीं है। हम तुम्हारे चरणों की सौगन्ध खाते हैं कि हम उन्हें पीठ दिखाकर नहीं आवेंगे।' इस तरह कहकर दोनों कुमार चतुरंग सेना सजाकर युद्ध के लिए चल दिये।

अनेक देशों को जीतते हुए वे अयोध्या पहुँचे। किसी शत्रु-सैन्य का आगमन सुनकर राम लक्ष्मण से बोले—सेना तैयार करो। वज्रजघ को मारने हमें जाना ही था, किन्तु वह स्वयं मरने के लिए यहाँ आ गया है।' लक्ष्मण ने दूत भेजकर हनुमान, विराधित, विभीषण आदि को भी बुला लिया। युद्ध भेरी बजाई गई। राम सिंहरथ पर सवार होकर सबसे आगे चले। उनके पीछे गरुड रथ पर चक्र हाथ में लेकर लक्ष्मण चले। उनके पीछे असह्य राजा और सैन्य चली। दोनों सेनाएँ एक दूसरे के सम्मुख आ डटी।

सीता, सिद्धार्थ क्षुल्लक और नारद मुनि के साथ ऊपर विमान में बैठी हुई थी। दोनों ओर से युद्ध की तैयारी देखकर सीता चिंतित होकर नारद से बोली—यह आपने क्या किया? कुमार अभी बालक हैं। वे बलभद्र और नारायण से कैसे लड़ेंगे। दोनों ओर से कोई अनिष्ट हुआ तो मैं कहीं की नहीं रहूँगी।' नारद ने कहा—'पुत्री! डरो मत। ये दोनों कुमार चरमशरीरी और वज्रमयी शरीरधारी हैं। इस प्रकार सीता को समझा कर नारद भामण्डल के पास पहुँचे और उसे कुमारों का परिचय दिया। भामण्डल हनुमान को लेकर सीता के पास पहुँचा। दोनों कुमार भी वहाँ आकर भामण्डल और हनुमान से मिले। युद्ध शुरू होने से पहले ही भामण्डल और हनुमान राम का पक्ष छोड़कर लवणांकुश की ओर आ मिले। यह देखकर अन्य विद्याधर भी युद्ध से तटस्थ हो गये। युद्ध प्रारम्भ हो गया। लवण के योद्धाओं ने राम की सेना को छिन्न भिन्न कर दिया। यह देखकर शत्रुघ्न युद्ध करने आया। उसे देखकर लव और कुश युद्ध करने आये और शत्रुघ्न को वाणों से आच्छादित कर रथ से नीचे गिरा दिया। यह देखकर क्रुद्ध होकर राम और लक्ष्मण शत्रु सेना का सहार करते हुए इन दोनों कुमारों के सामने आ डटे। लवणांकुश के साथ राम और मदनाकुश के साथ लक्ष्मण युद्ध करने लगे तथा वज्रजघ शत्रुघ्न से युद्ध करने लगा। भयकर युद्ध हुआ। अनेक हाथी, घोड़े, सैनिक मारे गये। रथों का चूरा हो गया। खून की नदी बहने लगी। खून की कीचड़ मच गई। राम ने हल उठाकर मारा, किन्तु लव ने उसे व्यर्थ कर दिया। राम ने दिव्य अस्त्र चलाये, किन्तु लव पर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ। बाद में लवण ने राम का रथ तोड़ दिया। राम बार-बार रथ बदलते और लवण उसे तोड़ देता। राम व्याकुल हो गये। राम सोचने लगे—मेरे सारे अस्त्र व्यर्थ हो गये, सारे विद्याधर धोखा दे गये। दिव्यास्त्रों का इस पर कोई प्रभाव नहीं पडा। भूमिगोचरी राजा इसने मार दिये। मेरे भी तीन बार इसने रथ तोड़ दिये। राम इस प्रकार सोच ही रहे थे कि लवण ने उनके वक्षस्थल पर प्रहार किया। वे सूँछित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। राजाओं ने उठाकर राम को कठिनाई से सचेत किया।

उधर लक्ष्मण सागरावर्त धनुष लेकर क्रोध से मदनाकुश पर झपटे। उन्होंने अनेक वाण छोड़े किन्तु कुश ने उन सबको व्यर्थ कर दिया। लक्ष्मण ने तब गदा उठाकर मारी किन्तु कुश ने उसे धनुर्दण्ड से रोक दिया। फिर कुश ने लक्ष्मण पर वज्र का प्रहार किया। लक्ष्मण वज्र की चोट से बेहोश हो गये। विराधित रथ लौटाने लगा किन्तु लक्ष्मण ने उसे डाट दिया। तब कुश ने लक्ष्मण को वाणों से ढक दिया और सात बार लक्ष्मण का रथ तोड़ दिया। तब क्रुद्ध होकर लक्ष्मण ने कुश पर चक्र फेंका, किन्तु चक्र कुश की प्रदक्षिणा देकर लौट आया। इस प्रकार लक्ष्मण ने सात बार चक्र मारा, किन्तु हर बार वह लौट आया। तब कुश ने लक्ष्मण पर धनुर्दण्ड घुमाया। सब लोग आश्चर्य से सोचने लगे—यह कोई नया नारायण पैदा हुआ है या कोई चक्रवर्ती आ गया है। लक्ष्मण सोचने लगे—मेरा पुण्य ही क्षीण हो गया है। इस प्रकार लक्ष्मण सोचते हुए खड़े रह गये।

तब नारद और सिद्धार्थ लक्ष्मण के पास आये और बोले—ये दोनों प्रतिद्वन्द्वी राम के पुत्र लवण और अक्रुश हैं। जिस सीता को आप लोगों ने भयानक वन में ले जाकर छोड़ दिया था, उसे वज्रजघ अपनी बहिन बना कर ले गया था। उसी के ये दोनों पुत्र माता के दुःख से क्रोधित होकर आपसे लड़ने आये हैं। लक्ष्मण रथ से उतर पश्चाताप करता हुआ राम के पास गया और जाकर दोनों पुत्रों का वृत्तान्त बताया।

इसके बाद दोनों कुमारों ने आकर राम लक्ष्मण के पैर छुए। उन्होंने उन दोनों कुमारों को छाती से लगा रिया। राम सीता-त्याग की घटना याद करके विलाप करने लगे। उन्हें विलाप करते देखकर अन्य लोगों के

भी आसू आ गये। विद्याधर और भूमिगोचरी राजा मिलकर राम के निकट आये। युद्ध बन्द हुआ। सब लोग परस्पर गने मिले। अपने पुत्रों का माहात्म्य देखकर सीता पुण्डरीकपुर लौट गई। भामण्डल की रानियाँ भी सीता के साथ गईं। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भामण्डल, सुग्रीव, विभीषण, नल, नील, अग, अगद हनुमान तथा अन्य विद्याधर सीता को देखने पुण्डरीकपुर गये। सबने सीता को प्रणाम किया, सीता ने उन्हें आशीर्वाद दिया। फिर सब लोग अयोध्या वापिस आ गये। पुत्रों के समागम की खुशी में अयोध्यावासियों ने बड़ा हर्ष मनाया। नगर खूब सजाया गया। रामचन्द्र जी दोनों पुत्रों के साथ हाथी पर बैठकर नगर में आये। स्त्रियों ने कुमारों की आरती उतारी। राम लक्ष्मण ने वज्रजघ का खूब सत्कार किया।

एक दिन विभीषण, हनुमान आदि विद्याधरों ने हाथ जोड़कर रामचन्द्र जी से निवेदन किया—‘प्रभो! सीता पुण्डरीकपुर में जाने कैसे अपना समय व्यतीत करती होगी। अगर आप आज्ञा दे तो उन्हें जाकर ले आवें। यह सुनकर रामचन्द्र जी आखों में आसू भर कर बोले—‘मैं जानता हूँ कि सीता निर्दोष है। सीता जी की अग्नि परीक्षा परन्तु उसे ले आने से लोग फिर अपवाद करेंगे। अगर सीता अग्नि में प्रवेश करके अपनी निर्दोषता की परीक्षा दे तो मैं उसे रख सकता हूँ।’ ‘अच्छा’ कहकर विद्याधर लोग पुण्डरीकपुर पहुँचे और सीता से जन समुदाय के सामने अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने की प्रार्थना की। सीता ने कहा—‘मैं अब ससार के सुखों में पुनः प्रवेश नहीं करना चाहती। यदि मेरे भाग्य में सुख ही होते तो ये दुःख ही क्यों आते। जब मुझे कलक लग चुका तो क्या लेकर उन्हें अपना मुह दिखाऊँ।’ विभीषण बोला—‘दुःख करने से क्या लाभ है। जो कुछ होता है, सब अपने भाग्य से होता है। अतः आप ऐसा कीजिये कि सब लोगों पर आपका विश्वास जम जाय। ऐसा करने से आपकी भी कीर्ति होगी।’ सीता ने अपनी निर्दोषता प्रमाणित करना स्वीकार किया और प्रसन्नता से विमान में बैठ गई।

सीता अयोध्या आई। वह महेन्द्र उद्यान में ठहराई गई। देश-विदेश के लोगों को निमन्त्रण-पत्रिका भेजी गई। देश-विदेश के लोग आकर एकत्रित होने लगे। रामचन्द्र जी महल के समीप ही एक मंच पर बैठ गये। राजा लोग भी यथास्थान बैठ गये। आज्ञा पाकर विद्याधर लोग सीता को हाथी पर बैठाकर सभा-मण्डप में ले आये। सीता को आते देखकर लोग हर्षित हो उठे। जब सीता निकट आ गई तो राजा गण खड़े हो गये। लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि ने उनके पैर छेए। सीता राम के निकट आई। रामचन्द्र जी की उदासीनता देखकर सीता मन में अत्यन्त व्याकुल हुई किन्तु फिर उनके पैर छू कर सामने खड़ी हो गई और लज्जा से निगाह नीची करके पैर के अग्रगुठे से जमीन कुरेदने लगी। उसे ख्याल आने लगा कि मैं यहाँ क्यों आई। इतने में रामचन्द्र जी बोले—‘सीता! सामने से दूर हो। तू यहाँ क्यों आई। छह महीने तू रावण के यहाँ रही है। अब किस मुँह से मैं तुझे अपने यहाँ रखूँ। मैं जानता हूँ कि तू निर्दोष है। परन्तु जब तक लोग तुझे निर्दोष न मान ले, तब तक मेरे यहाँ तुम्हारी गुजायश नहीं है।’ यह सुनकर सीता ने कहा—‘मुझे सब स्वीकार है। अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने के लिये आप कहे तो मैं साप के मुँह में अपना हाथ दे दूँ, आप कहें तो हलाहल विष पी लूँ, आप कहे तो तपे हुए लोहे के गोले हाथ में ले लूँ, आप कहे तो आग में कूद पड़ूँ। आप जो कुछ कहे, वह सब मैं करने को तैयार हूँ। राम क्षण भर सोचकर बोले—‘आग में प्रवेश कर अग्नि-परीक्षा दो।’ यह सुनकर नारद सोचने लगे—‘अग्नि का क्या विश्वास, न जाने क्या अनर्थ हो जाय। विभीषण हनुमान आदि भी इस आज्ञा से व्याकुल हो गये। लक्ष्मण, शत्रुघ्न, लवण और अकुश भी बड़े दुःखी हुए। क्षुल्लक सिद्धार्थ ने खड़े होकर कहा—‘महाराज! मैं विद्या के बल से सर्वत्र चैत्यालयों की वदना के लिये जाता रहता हूँ। मैंने मुनियों के मुख से भी सब जगह सीता के सतीत्व की प्रशंसा सुनी है। अतः आप सीता को अग्नि-प्रवेश की आज्ञा मत दीजिये।’ विद्याधर और भूमिगोचरी लोग भी एक स्वर से कहने लगे—‘प्रभो! सीता सती है, वह निर्दोष है, उन्हें अग्नि प्रवेश की आज्ञा मत दीजिये। राम क्रुद्ध होकर बोले—‘इतनी दया अब दिखा रहे हो तो पहले सीता का अपवाद क्यों किया था।’

राम की आज्ञा से फौरन दो पुरुष गहरा और तीन सौ हाथ लम्बा चौड़ा गड्ढा खोदा गया और सूखे ईंधन से भरकर अग्नि प्रज्वलित की गई। असख्य जनता सीता की अग्नि-परीक्षा देखने वहाँ एकत्रित हो गई।

उसी रात को महेन्द्र उद्यान में सकलभूषण मुनि को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने आकर ज्ञानोत्सव मनाया। चारों निकाय के देवता वहाँ आये। मेघकेतु नामक एक देव सीता की परीक्षा के लिए वनाये गये अग्नि-कुण्ड को देखकर इन्द्र से कहने लगा—‘प्रभो! सीता पर घोर उपसर्ग आ पडा है। वह महासती शीलवती है। उसे दुःख क्यों हो।’ तब इन्द्र ने आज्ञा दी—‘मैं तो केवली भगवान का ज्ञानोत्सव मनाने जाता हूँ। तुम महासती का उपसर्ग दूर करना।’ मेघकेतु देव अपने विमान में आकाश में ठहर गया।

जब अग्नि-कुण्ड की लपटें आकाश को छूने लगी तो राम सोचने लगे—कैसे सीता को इस भयंकर आग में कूदने दूँ। सीता जैसी स्त्री इस लोक में नहीं है। यदि मैं इसे अग्नि-प्रवेश से रोकता हूँ तो सदा के लिए मेरे कुल में कलक लग जायगा। यदि सीता आग में जल कर मर गई तो और भी अनर्थ होगा।’ रामचन्द्र जी इधर-उधर सोच रहे थे, उधर सीता धीरे-धीरे अग्नि-कुण्ड के समीप आई। एकाग्र चित्त होकर उसने ऋषभदेव भगवान से लेकर मुनि-सुव्रतनाथ पर्यन्त तीर्थंकरों की स्तुति की। वाद में बोली—‘हे अग्नि! मन से, वचन से, काय से, स्वप्न में या जागृत अवस्था में राम के सिवाय मैंने कभी पर पुरुष की इच्छा नहीं की है। यदि शील में कोई दूषण लगा हो अथवा मैं व्यभिचारिणी हूँ तो हे अग्नि! तू मुझे भस्म कर देना। यदि मैं सती हूँ तो मुझे मत जलाना।’ यों कहकर सीता ने णमोकार मंत्र का स्मरण किया और जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर गई। लोग भयभीत होकर, आश्चर्यमय मन से उसका परिणाम देखने लगे।

अचानक आग बुझ गई। उसके शील के प्रभाव से अग्नि के स्थान पर निर्मल शीतल जल हो गया, मानो धरती को भेदकर ही यह वापिका पाताल से निकली हो। जल में कमल खिल रहे हैं। वहाँ न अग्नि रही, न ईधन। वहाँ तो जल में भाग उठने लगे, भवर पडने लगे। जैसे समुद्र में गर्जन होता है, इस प्रकार उस वापी में घोर शब्द होने लगा, जल उछल कर बढ़ने लगा। पहले घुटने तक आया, फिर छाती तक आया। फिर सिर के ऊपर होकर पानी चलने लगा। लोग डूबने लगे। तब सब आर्तवाणी में पुकारने लगे—‘हे माता! हे महासाध्वी! हमारी रक्षा करो, हमें बचाओ।’ जनता की इस विह्वल पुकार पर धीरे-धीरे जल रुका, फिर कम होता गया और सिमट कर तालाव बन गया। उसके मध्य में एक सहस्र दल कमल खिल रहा था। उस कमल के बीच में रत्नमयी सिंहासन पर सीता विराजमान थी। देवागनाये सेवा कर रही थी। अनेक देवों ने आकर सीता के चरणों पर पुष्प चढाये। आकाश से सीता के ऊपर पुष्पवर्षा होने लगी। देव और विद्याधर ‘सीता सती हैं’ इस प्रकार चिल्लाने लगे, विद्याधर आकाश में नाचने लगे। लवण और अक्रुश जल पारकर सीता के पास गये और उसके आजू-बाजू बैठ गये। राम भी विद्याधरों के साथ सीता के निकट पहुँच कर कहने लगे—देवी! उठो, चलो घर चले। मेरे अपराधों को तुम क्षमा करो। सारे ससार में तुम सती ही नहीं, सतियों में भी प्रधान हो। मेरे प्राणों की रक्षा तुम्हारे ही आधीन है। आठ हजार रानियों में तुम अपना पूर्व का प्रमुख पद सभालो।’ सीता ने उत्तर दिया—मुझे अब भोगों से प्रयोजन नहीं है। अब तो मैं ऐसा उपाय करूँगी, जिससे मेरा नारी-जन्म सफल हो। नाथ! आपके साथ मैंने अनेक सुख भोगे, अब उनसे मेरा जी ऊब गया है।’ इस प्रकार कहकर सीता ने अपने हाथों से अपने बाल उपाड़ लिये और उन्हें राम के हाथों पर रख दिया। राम उन सुकोमल सुगन्धित बालों को देखकर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। लोग जब तक उन्हें होश में लाने की चेष्टा करते रहे, तब तक सीता ने पृथ्वीमती आर्यिका के पास दीक्षा लेली और आर्यिकान्न धारण कर महेन्द्र उद्यान में केवली भगवान के निकट पहुँची।

राम को होश आया तो सीता को न देखकर उन्हें बड़ा शोक हुआ और सीता को देखते हुए वे सकलभूषण केवली भगवान की सभा में जा पहुँचे। भगवान अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर विराजमान थे, दिव्य छत्र उन पर लगे हुए थे। चमर दुर रहे थे। आठ प्रातिहार्य से सम्पन्न थे। चारों ओर देव, मनुष्य और तिर्यच बैठे हुए थे। रामचन्द्र जी ने वहाँ पहुँचकर अष्ट द्रव्य से भगवान की पूजा की और मनुष्यों के भाग में बैठ गये। लक्ष्मण आदि अन्य लोग भी उसी प्रकार भगवान की स्तुति पूजा कर राम के साथ ही बैठ गये। सबने भगवान का कल्याणकारी उपदेश सुना।

केवली भगवान का उपदेश सुनकर अनेक लोगो ने ससार विरक्त होकर मुनि दीक्षा लेली। सेनापति कृतान्तवक्त्र भी मुनि बन गया और तपस्या करके स्वर्ग में देव हुआ।

सीता ने वासठ वर्ष तक घोर तप किया और अन्त में सन्यासपूर्वक मरण करके सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई।

अपनी स्त्रियो के प्रति भामण्डल की आसक्ति बहुत बढ गई। वह निरन्तर स्त्रियो के साथ क्रीडा और भोग किया करता था। राम-लक्ष्मण का राज्य निष्कटक हो गया था। इसलिए उनकी ओर से भी अब युद्ध का निमन्त्रण नहीं आता था। उसके भी शत्रु नहीं रहे थे। इसलिये वह आनन्द के साथ अपना दीर्घसूत्री भाभण्डल का काल-यापन कर रहा था। एक दिन अपनी पुष्पवाटिका में वज्राक मुनि को आहार-दान देकर वह महल के ऊपर बैठा विचार कर रहा था—ये भोग क्षणभंगुर हैं, इसलिये इनका भोग अधिक से अधिक कर लेना चाहिये। न जाने कब बुढापा आ जाय और ये भोग भोगने योग्य अवस्था न रहे। अब मैं भोग भी भोगूंगा और शत्रुओ को परास्त कर उत्तर और दक्षिण दोनो श्रेणियो का राज्य करूंगा। भोगो में पाप तो है, किन्तु क्या हुआ। जब बुढापा आयेगा और भोग भोगने योग्य नहीं रहूंगा, तब मैं मुनि-दीक्षा ले लूंगा और उन पापो का भी नाश कर डालूंगा।

वह इस प्रकार बैठा-बैठा न जाने कितने मन के कुलावे बाध रहा था। तभी अकस्मात् विजली गिरी और भामण्डल उसी में मर गया। इसलिये तो आचार्यों ने कहा है—दीर्घसूत्री विनश्यति।

लक्ष्मण के पुत्र, राम के पुत्र लव और अकुश का उत्कर्ष सहन नहीं कर सके। फलत उन्होंने मुनि बनना ही उचित समझा। हनुमान भी एक दिन आकाश में तारे को टूटता हुआ देखकर विचार करने लगे कि ससार के भोग, यह देह और जीवन भी इसी प्रकार अस्थिर है, क्षणभंगुर है। इन पर क्या विश्वास किया जाय और क्या इतराना। यो सोचकर वे भी मुनि बन गये और तपस्या करके अन्त में राम का वैराग्य और मोक्ष-गमन तूँ गीगिरि से मोक्ष चले गये।

एक दिन सौधर्म स्वर्ग में इन्द्र देवो की सभा में शास्त्र चर्चा करते हुए कहने लगे—तुम्हें देव पर्याय पुण्यो से प्राप्त हुई है। इसको भोगो में नहीं गवा देना चाहिये। यदि यहाँ भगवान की भक्ति और धर्म की आराधना में मन लगाओगे तो इसके बाद तुम्हें मनुष्य जन्म प्राप्त हो सकता है। तब वहाँ मुक्ति की साधना की जा सकती है।

तब एक देव बोला—देवराज! स्वर्ग में आकर सब ऐसा ही कहते हैं, किन्तु जब मनुष्य-जन्म मिल जाता है तो सब भूल जाते हैं। देखिये न, राम का जीव पूर्व जन्म में जब ब्रह्म स्वर्ग का इन्द्र था, तब वह भी ऐसी ही वैराग्यभरी चर्चा किया करता था, किन्तु अब राम लक्ष्मण के माँह में कैसे फँस रहे हैं। तब देवराज इन्द्र बोले—अनुराग का बन्धन होता ही ऐसा है। राम और लक्ष्मण का भ्रातृ-स्नेह अन्यत्र मिलना कठिन है। इन्द्र सभा समाप्त कर उठ गये।

तब दो देवो ने सोचा—चलकर देखे तो सही, दोनो भाइयो में कैसा स्नेह है। देव अयोध्या में लक्ष्मण के महल में पहुँचे। उस समय वे बैठे हुये मुँह धो रहे थे। देवो ने राम के महल में जाकर रुदन का कुहराम मचा दिया और ऐसी माया फँलाई कि मन्त्री, द्वारपाल आदि लक्ष्मण के पास आकर कहने लगे—‘देव! अनर्थ हो गया।’ लक्ष्मण बोले—‘क्या हुआ?’ किन्तु किसी के मुख से वचन नहीं निकला, आँखो से आसुओ की धार बहती रही। बड़ी कठिनाई से इतना ही निकल पाया—‘देव! राम हमको अनाथ कर गये।’ लक्ष्मण ने ये शब्द क्या सुने, मानो वज्रपात हो गया। एकदम उनके मुख से ‘हाय’ निकला और वे निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़े। देवो को अपने अविवेकपूर्ण कृत्य पर बडा पश्चाताप हुआ और दुखित मन से वे वहाँ से चले गये।

लक्ष्मण को मृत्यु होते ही महल में भयानक क्रन्दन शुरु हो गया। लक्ष्मण की रानियाँ लक्ष्मण की मृत देह को घेरकर विलाप करने लगी। तब किसी ने जाकर रामचन्द्र जी को दुःसवाद दिया। राम दौड़े आये। रानियाँ उनके आते ही एक ओर हट गईं। राम ने आते ही लक्ष्मण को गोद में उठा लिया और प्रलाप करने लगे—कौन कहता है, मेरा भाई मर गया है, वह तो सो रहा है। फिर लक्ष्मण से कहने लगे—वत्स! तू तो कभी ऐसा सोता नहीं था।

आज तू ऐसा क्यों सो गया है कि जगाने पर भी नहीं जागता। अच्छा, अब समझा, तू मुझसे रूठ गया है किन्तु वता तो सही, क्यों रूठ गया है। इस प्रकार कहकर वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। वे बार-बार होश में आते और लक्ष्मण से नाना प्रकार की बातें करने लगते, कभी उसके मुख में भोजन देते, कभी दूध पिलाते और फिर बार-बार वेहोश हो जाते। किन्तु लक्ष्मण को एक क्षण को भी दूसरे को नहीं छूने देते। उन्हें किसी पर भी विश्वास नहीं था, न जाने ये लोग मेरे लक्ष्मण को क्या कर दें। वह रूठ गया है मुझसे, उसे मैं ही मनाऊँगा।

रुदन सुनकर सारा परिवार वहाँ एकत्रित हो गया। 'लवण और अकुश भी आये। उन्होंने मृत लक्ष्मण को देखा और मन में सोचने लगे—ये लक्ष्मण नारायण थे, तीन खण्ड के अधिपति थे, कोई इनको जीतने में समर्थ नहीं था। किन्तु जब ऐसे महापुरुषों की भी मृत्यु होती है तो हम जैसों की तो बात ही क्या है। इस प्रकार विचार कर वे ससार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गये और पिता की आज्ञा लेकर महेन्द्र वन में पहुँचे और वहाँ अमृतस्वर मुनि के पास दीक्षा लेकर मुनि वन गये तथा घोर तपस्या करके पावागिरि से मुक्त हो गये।

लक्ष्मण की मृत्यु का समाचार पाकर विभीषण, सुग्रीव आदि सभी राजा आये। जब लक्ष्मण की लाश को छाती से चिपटाये हुये तथा निरर्थक प्रलाप करते हुए राम को देखा तो सभी बहुत दुःखित हुए। तब विभीषण ने राम को समझाया—देव ! यह रोना छोड़िये। ससार का स्वभाव ही ऐसा है। जो यहाँ जन्म लेता है, वह मरता अवश्य है। अतः वीर लक्ष्मण की मृत देह का सस्कार करिये।' राम यह सुनकर क्रुद्ध होकर बोले—'आप लोग अपने पिता पुत्र का सस्कार करिये। मेरा भाई लक्ष्मण तो मुझसे रूठकर सो गया है। क्रोध कम होने पर वह अपने आप उठ बैठेगा।' इस तरह कहकर वे लक्ष्मण से कहने लगे—'भैया लक्ष्मण, उठ। इन दुष्टों के बीच से हम कहीं अन्यत्र चले चलेंगे। ये दुष्ट विद्याधर हमारा अनिष्ट करने पर उतारूँ है।' इस तरह कहकर लक्ष्मण की लाश को लेकर रामचन्द्र जी चल दिये और इधर-उधर घूमने लगे। उनकी रक्षा के लिये विद्याधर लोग भी उनके पीछे घूमने लगे।

इस तरह कुछ दिन बीत गये। तो शत्रुओं ने देखा—इस समय लक्ष्मण मर गया है, राम भाई के शोक में पागल हो रहे हैं, लव और कुश दीक्षा ले गये हैं। अतः अपने पिताओं का बदला लेने का बड़ा अच्छा अवसर है। यो सोचकर इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, खरदूषण आदि के पुत्रों ने सेना सजाकर अयोध्या पर चढ़ाई कर दी। शत्रु का आक्रमण सुनकर राम लक्ष्मण की लाश को कंधे से चिपटा कर धनुष उठा कर चल दिये। शोकसतप्त राजा भी उनकी सहायता करने लगे। बलभद्र राम पर चारों ओर से आई हुई विपत्ति देखकर जटायु और कृतान्तवक्त्र के जीव—जो चौथे स्वर्ग में देव हुए थे—उन्होंने आपस में परामर्श किया। कृतान्तवक्त्र के जीव ने जटायु के जीव से कहा—लक्ष्मण की मृत्यु हो गई है। हमारे पूर्वजन्म के स्वामी राम शोक में पागल हो गये हैं। शत्रु नगर पर अधिकार करने चले हैं। ऐसे समय में हमें उनकी सहायता करनी चाहिए। तुम जटायु पक्षी थे और तुम्हें उन्होंने ही मरते समय णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से तुम देव बने हो। मैं उनका कृतान्तवक्त्र सेनापति था। इस तरह कहकर कृतान्तवक्त्र का जीव देव दैत्य का रूप धारण कर शत्रुओं से युद्ध करने लगा। वह पर्वतों को उखाड़ कर शत्रुओं पर फेंकने लगा। शत्रु सेना डरकर भाग गई।

शत्रुओं को परास्त कर उन दोनों ने राम को प्रतिबोध देने का निश्चय किया। कृतान्तवक्त्र का जीव राम के सामने वृक्ष का सूखा ठूँठ बनकर खड़ा हो गया और जटायु का जीव उसे पानी से सींचने लगा। यह देखकर राम ने कहा—'अरे मूर्ख ! इस सूखे ठूँठ को तू क्यों सींच रहा है। इससे क्या तुझे फल मिल जायेगा।' उत्तर में जटायु के जीव ने कहा—'दूसरों को उपदेश देने वाले तो बहुत हैं, किन्तु खुद अपनी ओर कोई नहीं देखता। आप ही बताइये, आप मुर्दों को छह माह से ढोते फिर रहे हैं, वह क्या जी जायगा।' यह सुनकर राम बोले—'मूर्ख और दुष्ट आदमियों के हित की बात कहो, तो वह भी उन्हें बुरी लगती है। शत चुप रहना ही ठीक है।

इस तरह कहकर राम आगे बढ़े तो देखा—एक आदमी पत्थर पर बीज बो रहा है और दूसरा आदमी घी के वास्ते जल और बालू मथ रहा है। राम ने उन दोनों से कहा—'पागलो ! कहीं पत्थर से अकुर निकलते हैं और जल या बालू से घी निकलती है ? व्यर्थ क्यों महनत करते हो।' तब कृतान्तवक्त्र के जीव ने कहा—'तब आप ही बताइये आप क्यों मतक शरीर को लिये फिर रहे हैं, क्या वह उससे जीवित हो जायगा ?'

वे दोनों उधर बान कर ही रहे थे, तब तब जटायु का जीव किसी लाश की कन्धे पर रखे उभरे वातचीत करता हुआ राम के आगे में निकला। राम ने उसमें पूछा—'तू मुर्द को क्यों लादे हुए है और उभरे मुम-दुम में बान करने में तुझे क्या लाभ होगा?' तब जटायु के जीव ने उनमें कहा—'तब आपने भी तो अपने भाई की लाश को लाद रखा है। आपको ही उसमें वातचीत करने में क्या मिल जायगा?' राम ने जब यह सुना तो उन्हें होश आया। वे बार-बार लक्ष्मण के मुँह की ओर ताकते लगे। जब देखा कि लक्ष्मण का शरीर प्राणरहित है तो उन्हें ससार की अनित्यता समझ कर वैराग्य हो गया। वे गाँवों लगे—'मगर में कौन किमती माना और कौन भाई है। यह जीवन मरदा किमती रहा है? अब कुछ बिनाशोक्त है। इन सबमें सम्बन्ध तोड़ लेना ही श्रेयस्कर है। राम को विरक्त जानकर दोनों देव प्रगट हुए और अपना परिणाम देकर बोल—'हम दोनों चौथे स्वर्ग में देव हुए हैं। आपको दुर्गो जानकर समझाने आये थे।' राम के कहने में मुर्गावादि ने निता बनाकर लक्ष्मण की देह का दाह-संस्कार किया। स्नानादि में पवित्र होकर राम ने जटायु का राज्याभिषेक करना चाहा, किन्तु उमने राजीकारन करके दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की। तब राम ने रावणाकुश के पुत्र अनमलवण को राज्य का अधिपति बनाया और दीक्षा लेने बान को चल दिये।

बान में जाकर चारण-हृद्दिभारो अवधिज्ञानी मुनिमुग्रन में राम ने मनुष्यन सहित मुनिदीक्षा ले ना। भूपण वस्त्र और सिर के केश उगाड़ कर फेंक दिये। राम को यह दशा देगकर गड़े हुए लोगों की आँवों से आँसुओं की धारा बह निकली। राम के साथ विभीषण, मुर्गोव, नल, नील, क्रत्य, विराधिन आदि प्रनेक लोगों ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। अनेक रातियां गृह त्याग कर आर्यिका हो गईं।

कुछ दिनों पश्चात् राम गुरु में आज्ञा लेकर एकलविहारी हो गये। वे पाँच दिनों तक उग्रवाम करने के बाद एक नगर में पहुँचे तो उनके सुन्दर रूप को देकर अनेक स्त्रियाँ काम से व्याकुल होकर नाना चेष्टायें करने लगीं। राम अन्तराय समझकर लौट आये और निष्चय कर लिया कि अब मैं आहार के लिये नगर में नहीं जाया करूँगा। इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए वे अनेक देशों में विहार करते हुए कोटिशिला पहुँचे और नासाय दृष्टि में ध्यान करने बैठ गये।

स्वर्ग में सीता के जीव ने अवधिज्ञान से राम का मुनि होना देकर विचार किया कि राम को किस प्रकार तपस्या से विचलित करूँ जिससे वे इसी स्वर्ग में आवे और हम दोनों साथ-साथ रहे। इस तरह विचार कर वह प्रतीन्द्र राम के पास गया और सीता का रूप बनाकर अनेक हाव-भाव करके नाना प्रकार की चेष्टायें करने लगा। किन्तु रामचन्द्रजी ध्यान में विचलित नहीं हुए। क्षयक श्रेणी आरोहण करके उन्होंने उनी समय घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। माघ शुक्ला द्वादशी को रात्रि के पिछले पहर में वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अर्हन्त भगवान बन गये। चारों प्रकार के देवों और इन्द्रो ने मिलकर भगवान राम का ज्ञानोत्सव मनाया और भगवान का उपदेश हुआ।

भगवान राम अनेक देशों में विहार करने हुए तु गीगिरि पहुँचे और योगनिरोध कर शेष अघातिया कर्मों का भी नाश करके परम पद मोक्ष को प्राप्त किया। राम सिद्ध भगवान बन गये। अब उनका ससार-भ्रमण, जन्म-जरा-मृत्यु सब छूट गये। वे कृत-कृत्य हो गये। ससार के सम्पूर्ण दुखों से वे परे हो गये।

भगवान राम के इस पावन जीवन-चरित को जो भव्यजन भक्ति भाव से पढते हैं और उन जैसा ही आदर्श जीवन बनाने का प्रयत्न करते हैं, वे भा एक दिन अवश्य भगवान बनेंगे।
बोली भगवान रामचन्द्र की जय।

त्रयोविंशतितम परिच्छेद

नारद, वसु और पर्वत का सवाद—

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के वाद उनका पुत्र सुव्रत राजसिंहासन का अधिकारी हुआ। यथासमय वह अपने पुत्र दक्ष को राज्य-भार सोप कर अपने पिता भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के पास दीक्षित हो गया और तपस्या द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया। राजा दक्ष की रानी इला से ऐलेय नामक पुत्र हुआ। हरिवंश की परम्परा उसके वाद मनोहरी नामक पुत्री हुई। जब पुत्री यौवन को प्राप्त हुई तो उसका सौन्दर्य और मे वसु भी निखर आया। दक्ष अपनी पुत्री के ऊपर ही मोहित हो गया। एक दिन उसने राज्य-सभा में उपस्थित प्रजाजनो से पूछा—‘यदि राज्य में अश्व, गज, स्त्री आदि कोई वस्तु अनर्घ्य हो और वह प्रजा के योग्य न हो तो राजा उसका अधिकारी हो सकता है या नहीं?’ प्रजाजनो ने उत्तर दिया—‘देव! राजा अवश्य ही ऐसी वस्तु का अधिकारी है।’ राजा बोला—‘मैं आप लोगो की सम्मति के अनुसार ही कर्हूंगा।’

इस प्रकार प्रजाजनो को भ्रमित कर दक्ष ने अपनी पुत्री मनोहरी के साथ विवाह कर लिया। इस अनैतिक कृत्य से रुष्ट होकर रानी इला अपने पुत्र और अनेक सामन्तो के साथ चली गई और इलावर्धन नाम का नगर बसाकर रहने लगी। ऐलेय को वहाँ का राजा बनाया। इलावर्धन नगर अग देश में था। बाद में ऐलेय ने ताम्र-लिप्ति नगर बसाया। फिर वह दिग्विजय करता हुआ नर्मदा तट पर आया। वहाँ उसने माहिष्मती नामक नगर बसाया और वही अपनी राजधानी बना कर राज्य करने लगा।

ऐलेय के बाद उसका पुत्र कुणिम राजगद्दी पर बैठा। उसने विदर्भ देश में वरदा नदी के तट पर कुण्डिन नामक एक सुन्दर नगर बसाया। कुणिम के पश्चात् उसका पुत्र पुलोम राज्य का अधिकारी हुआ। उसने अपने नाम पर पुलोम नगर बसाया। पुलोम के बाद उसके दो पुत्र पौलोम और चरम राजा हुए। उन्होंने रेवा नदी के तट पर इन्द्रपुर नगर बसाया तथा चरम ने जयन्ती और बनवास्य नामक दो नगर बसाये। पौलोम के महीदत्त और चरम के सजय नामक पुत्र हुआ। महीदत्त ने कल्पपुर बसाया। उसके दो पुत्र हुए—अरिष्टनेमि और मत्स्य। मत्स्य दिग्विजय करता हुआ भद्रपुर और हस्तिनापुर को जीतकर हस्तिनापुर को अपनी राजधानी बनाकर रहने लगा। उसके अयोधन आदि सौ प्रतापी पुत्र हुए। फिर अयोधन राजा बना। उसके मूल, मूल के शाल, शाल के सूर्य नामक पुत्र हुआ। सूर्य ने शुभ्रपुर नगर बसाया। सूर्य के अमर नामक पुत्र हुआ। उसने बज्र नामक नगर बसाया। अमर के देवदत्त, देवदत्त के हरिषेण, हरिषेण के नभसेन, नभसेन के शङ्ख, शङ्ख के भद्र और भद्र के अभिचन्द्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अभिचन्द्र ने विन्ध्याघल के ऊपर चेदिराष्ट्र की स्थापना की तथा शुक्तिमती नदी के किनारे शुक्तिमती नामक नगरी बसाई। अभिचन्द्र का विवाह उग्रवश की राजकन्या वसुमती से हुआ। उससे वसु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

हम वसु-नारद और पर्वत के उपाख्यान द्वारा यह बतावेंगे कि किस प्रकार पर्वत ने ‘अर्जैर्यष्टव्य’ इसका अर्थ ‘बकरो के द्वारा यज्ञ करना चाहिये’ किया, जबकि नारद इसका अर्थ यह बताता था कि अज अर्थात् जो पैदा न हो सके ऐसे घान्य से यज्ञ करना चाहिए और इन दोनों के विवाद का फैसला राजा वसु ने प्राचीन काल में यज्ञों पर्वत के पक्ष में दिया, जिससे ससार में यज्ञों में पशुओं का होम होने लगा। इससे पहले हम का रूप यहाँ संक्षेप में वैदिक साहित्य के आधार पर यह बताना आवश्यक समझते हैं कि प्राचीन काल

में यज्ञों का क्या रूप था। इस विवरण से यह भी ज्ञात हो सकेगा कि यज्ञों के रूप का किस प्रकार क्रमिक विकास हुआ।

प्राचीन काल में—संभवतः उग काल में जब वैदिक आर्य भारत में आये थे उससे पूर्व काल में—भारत में ज्ञान यज्ञ का प्रचार था। इस ध्यान का समर्थन वेदों ने भी होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इनके समर्थक अनेक मंत्र आये हैं।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवान्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥

तेहनाकं महिमानं स चन्त यज्ञपूर्वं साध्या सन्ति देवा ॥

—ऋग्वेद म० १ सू० १६४/५०, अथर्ववेद का० ७ सू० ५/१

अर्थात् पूर्व समय में देवों ने ज्ञान में यज्ञ किया क्योंकि प्राचीन समय का यही धर्म था। उस ज्ञान-यज्ञ की महिमा स्वर्ग में जहाँ पहले साधारण देव रहते थे पहुँची।

अथर्ववेद में आगे लिखा है—यह ज्ञान यज्ञ यहाँ (भारत में) उतना उन्नत हुआ कि वह देवताओं का अधिपति बन गया। इसके पश्चात् यहाँ—

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञ देवा अतन्वत ।

अस्तिनु तस्मादो जीयो यद् विदव्येने जिरे ॥ ४ ॥

—जब यहाँ देवों ने हवि रूप द्रव्य यज्ञ फँसाया तो भी यहाँ ज्ञान यज्ञ ही मुख्य था। परन्तु हवि यज्ञ के अर्थ मूल देवों ने कुछ और ही समझ लिये। इग्निये—

मुग्धा देवा उत शुनाथ जन्तोत गोरेऽङ्गं पुरुषायजन्त ।

य इम यज्ञ मनसाचिकेत प्राणो वोचस्तमिहेह धवः ॥ ५ ॥

—उन्होंने पशुओं से यज्ञ करना आरम्भ किया। यहीं तक नहीं, अपितु गौ के अगो में भी यज्ञ करने लगे। यजुर्वेद अ० ३१ म० १४ और १५ तथा उसका महीधर भाष्य भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है—

‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा ॥’

इस मंत्र का भाष्य करते हुए भाष्यकार श्री महीधर लिखते हैं—

‘यज्ञेन मानसेन सकल्पेन यज्ञेन यज्ञं यज्ञस्वरूप प्रजापतिमयजन्त ।’

अर्थात् देवों ने मानस सकल्प रूप यज्ञ से यज्ञस्वरूप प्रजापति की पूजा की।

‘त यज्ञं वहिषि प्रीक्षन्पुरुष जातमग्रत ।

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ यजु० अ० ३१ म० ६ ॥

इसका महीधर भाष्य—यज्ञ यज्ञ साधनभूत त पुरुष वहिषि मानसे यज्ञे (प्रीक्षत्) प्रीक्षितवन्त । तेन पुरुषरूपेण यज्ञेन मानस याग निष्पादितवन्त के ते देवा, ये साध्या सृष्टि साधन योग्या प्रजापति प्रभृतय । ये च तदनुकूला ऋषयः ।

अर्थात् यज्ञ साधनभूत पुरुष रूपी यज्ञ से देवों ने मानस यज्ञ निष्पन्न किया। वे देव प्रजापति आदि तथा उनके अनुकूल ऋषि आदि थे।

गीता में भी ज्ञान योग की प्रशंसा करते हुए कहा है कि ज्ञान योग से सम्पूर्ण कर्मों का विनाश हो जाता है और ज्ञानयोग के समान अन्य कोई योग नहीं है।

ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् फुरुते तथा ॥ ४ ॥ ३७

नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह चित्ते ॥ ४ ॥ ३८

उपर्युक्त विवरण पढ़कर यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक आर्यों से पहले भारत में ज्ञान यज्ञ का प्रचार था। वैदिक आर्यों ने यहाँ आने पर द्रव्य यज्ञ फँसाया। अपने प्रारम्भिक काल में यह द्रव्य यज्ञ हिंसा रहित था। धीरे-धीरे हवि का अर्थ बदल कर उन्होंने पशुओं से यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। फिर तो यज्ञों में हिंसा का विस्तार बाध तोड़कर बढ़ता ही गया और एक समय ऐसा भी आया, जब गोमेघ, अश्वमेघ आदि से बढ़कर नरमेघ

नारद, वसु और पर्वत का सवाद

भी होने लगे ।

यजुर्वेद अ० ३१ और मन्त्र ६, १४ तथा १५ तथा उसके भाष्य से एक बात पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है कि मानस यज्ञ के प्रस्तोता प्रजापति तथा उनके अनुकूल चलने वाले अर्थात् उनके अनुयायी ऋषि थे । तथा देव अर्थात् ऋषि उस मानस यज्ञ से प्रजापति की पूजा करते थे । ये प्रजापति आद्यतीर्थकर ऋषभदेव से अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति नहीं थे । आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भू स्तोत्र में ऋषभदेव का एक नाम प्रजापति भी बतलाया है—'प्रजापतियं प्रथमं जिजीविषु शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा ।

मूर्ख देवो ने हविरूप यज्ञ का अर्थ न समझकर यज्ञो में हिंसा का जो विधान किया, उसका भी इतिहास मिलता है । इस सम्बन्ध में हिन्दू पुराणों जैसे मत्स्य पुराण (मन्वन्तरानुकल्प-देवर्षि-सवाद नामक अध्याय १४६) तथा महाभारत (शान्ति पर्व-अध्याय ३३७ तथा अश्वमेध पर्व अध्याय ६१) तथा जैन शास्त्रों—जैसे हरिवंश पुराण-सर्ग १७, पद्मचरित पर्व ११, उत्तर पुराण पर्व ६७, भाव प्राभृत ४५, त्रिपिठि शलाका पुरुष चरित पर्व ७, सर्ग २७, वसुदेव ह्रिण्डी प्रथम खण्ड पृ० १८६-१६१ तथा द्वितीय खण्ड पृ० ३५७ आदि में पाये समान विवरण उपलब्ध होता है । यदि अन्तर भी है तो साधारण सा ही । जिस प्रकार जैन शास्त्रों में वसु आदि सम्बन्धी उपाख्यान में थोड़ा सा अन्तर है, इसी प्रकार हिन्दू पुराणों के उपाख्यानों में साधारण सा अन्तर है । किन्तु हमें यहाँ अन्तर की चर्चा नहीं करनी है, बल्कि समानता की चर्चा करनी है । अनेकता में एकता का अनुसंधान करना ही हमारा लक्ष्य है ।

जैन शास्त्रों का कथानक इस प्रकार है—

राजा अभिचन्द्र की राजधानी में क्षीरकदम्ब नाम का एक विद्वान् रहता था । उसकी स्त्री का नाम स्वस्ति मती और पुत्र का नाम पर्वत था । क्षीरकदम्ब के पास राजा अभिचन्द्र का पुत्र वसु, नारद और पर्वत पढ़ते थे । एक दिन एक आकाशचारी निमित्तज्ञानी मुनि कहते जा रहे थे कि इन चार व्यक्तियों में पाप के कारण दो तो नरक में जायेंगे और दो ऊर्ध्वगति प्राप्त करेंगे । ये वचन सुनकर उपाध्याय क्षीरकदम्ब को बड़ी चिन्ता हुई । वे समझ गये कि इन तीनों शिष्यों में वसु और पर्वत ये दोनों अवश्य अधोगति को जायेंगे और नारद उच्च गति प्राप्त करेगा ।

एक वर्ष बाद शिष्यों का शिक्षण समाप्त हुआ । तीनों ही शिष्य नाना विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् हो गये । वसु तो राजमहलो में चला गया । उसे जीवनसम्पन्न और योग्य जानकर उसके पिता अभिचन्द्र ने (कही-कही इनका नाम विश्वावसु भी आता है) उसका विवाह कर दिया और उसका राज्याभिषेक करके उन्होंने दीक्षा लेली । वसु राजा हो गया । उसने अपना सिंहासन स्फटिक के स्तम्भों के ऊपर बनवाया । वह सिंहासन ऐसा प्रतीत होता था मानो वह आकाश में अधर रक्खा हो । इससे जनता में यह प्रसिद्ध हो गया कि राजा वसु के सत्य के प्रभाव से उसका सिंहासन आकाश में अधर स्थित रहता है । इसी कारण उसका नाम उपरिचर वसु के रूप में विख्यात हो गया ।

नारद कुछ दिनों तक उपाध्याय के घर ही ठहरा रहा । एक दिन नारद और पर्वत दोनों समिधा और पुष्प लाने वन में गये हुए थे । वहाँ उन्होंने देखा कि कुछ मयूर नदी का जल पीकर गये हैं । उनका मार्ग देखकर नारद ने पर्वत से कहा 'वयस्य ! ये जो मयूर गए हैं उन मयूरों में एक तो मयूर है और सात मयूरी हैं । पर्वत बोला—'गलत बात है । मैं शर्त लगाता हूँ कि तुम्हारा अनुमान मिथ्या है ।' आगे बढ़ने पर मयूरों का झुण्ड मिला । पर्वत को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि नारद ने जो कहा था, वह सत्य निकला । वे लोग कुछ दूर ही गये होंगे कि नारद बोला—'मित्र ! यहाँ से अभी एक हथिनी गई है, वह वाईं आँख से अन्धी है । पर्वत हँस कर बोला—'तुम्हारा एक अनुमान घुणाक्षर न्याय से सत्य निकल गया तो तुम समझते हो तुम्हारे सारे अनुमान सत्य होंगे ।' पर्वत यों कहकर नारद की बात को ईर्ष्यावश मिथ्या सिद्ध करने के लिए उसी मार्ग का अनुसरण करता हुआ आगे बढ़ा तो उसे एक हथिनी वृक्ष की शीतल छाया में बैठी हुई दिखाई पड़ी । उसे देखकर पर्वत को विश्वास करना पड़ा कि नारद ने जो कहा था वह सत्य है ।

इन बातों से पर्वत को बड़ा दुःख हुआ और वह वापिस आने पर अपनी माता से सम्पूर्ण घटना सुना कर बोला—'पिता जी नारद को जो विद्याये सिखाते हैं मुझे नहीं बताते।' ब्राह्मणी ने उपाध्याय के आने पर पुत्र द्वारा कही हुई सारी बातें सुन कर उनसे यही शिकायत की। सुनकर उपाध्याय बोले—'देवी! मैं तो सबको एक ही शिक्षा देता हूँ। किन्तु सबकी बुद्धि भिन्न-भिन्न होती है। नारद कुशाग्र बुद्धि है किन्तु तुम्हारा पुत्र सदा से ही मन्द बुद्धि है। तुम व्यर्थ ही नारद से ईर्ष्या न करो।' यों कहकर उन्होंने नारद को बुलवाया और उससे पूछा—'वत्स! आज तुम्हारा पर्वत से वन में क्या विवाद हो गया था?' नारद विनयपूर्वक बोला—'गुरुदेव! मेरा वयस्य पर्वत से विवाद तो कुछ नहीं हुआ। हाँ, मैं पर्वत से वन में विनोद-वार्ता करता हुआ जा रहा था। उस समय जल पीकर मोरो का भ्रुण्ड लौट रहा था। उस भ्रुण्ड में जो मयूर था, वह पानी में पूँछ के चन्द्रक भीगकर भारी न हो जायँ, इससे पीछे की ओर पैर करके और मुह आगे की ओर करके लौटा था तथा मयूरियों जल से भीग जाने के कारण अपने पख फटकार कर जा रही थी। यह देखकर मैंने अनुमान लगाया कि इनमें एक मयूर होगा तथा शेष सात मयूरी। यही बात मैंने अपने वयस्य पर्वत से कही थी। आगे चलने पर मैंने देखा कि चलते समय हस्तिनी के पैर उसी के मूत्र से भीगे हैं इससे मैंने जाना कि यह हस्तिनी होगी। उसके दाईं ओर के वृक्ष और लताएँ टूटी हुई थी। इससे मैं समझ गया कि वह दाईं आँख से अंधी है। उस पर बँठी हुई स्त्री मार्ग की क्लान्ति के कारण उतर कर शीतल छाया में नदी के किनारे लेटी थी। उसके उदर के स्पर्श से भूमि पर जो चिन्ह बन गये थे, उससे मैंने अनुमान लगाया कि हस्तिनी पर सवार स्त्री थी और वह गर्भिणी है। उसकी साड़ी का एक खण्ड किसी झाड़ी में उलझा रह गया था। इसे देखकर मैंने जाना कि वह श्वेत साड़ी पहने थी। यह बात अनुमान से मैंने पर्वत से कही थी।

उपाध्याय और ब्राह्मणी दोनों नारद की बातें ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। यह सुनकर उपाध्याय बोले—'देवी! इसमें मेरा क्या अपराध है। मैंने दोनों को समान भाव से अध्ययन कराया है।' सब बातें सुनकर ब्राह्मणी नारद से बहुत प्रसन्न हुई।

तब उपाध्याय ने निमित्त ज्ञानी मुनि की कही हुई बात ब्राह्मणी को बताई और दोनों शिष्यों के भावों की परीक्षा करने का निश्चय किया। उपाध्याय ने आटे के दो बकरे बनाकर नारद और पर्वत को सोपते हुए कहा कि ऐसे एकांत स्थान में जाकर जहाँ कोई देखता न हो चन्दन और माला आदि से इसकी पूजा करना और इसे काटकर (कहीं-कहीं कान काटकर) शीघ्र ले आओ। पर्वत एक वन में पहुँचा और एकान्त देखकर वह बकरे को अथवा बकरे के कानों को काटकर वापिस पिता के पास आ गया और अपने पिता से बोला—'तात! आपने जैसा आदेश दिया था, मैंने वैसा ही किया है।' उधर नारद सारे दिन वन में पर्वत पर घूमता फिरा, किन्तु उसे कोई ऐसा स्थान नहीं मिला जहाँ कोई देख न रहा हो। वह सध्या समय घर लौटा और बड़ा म्लान मुख होकर बोला—'गुरुदेव! मुझे कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सका, जहाँ मुझे कोई देख नहो रहा हो। देवता, सिद्ध भगवान, केवली और स्वयं मेरी अन्तरात्मा मेरी हर गति विधि को देख रहे हैं। दूसरी बात यह है कि शास्त्रों में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपों में से किसी के द्वारा अभिहित पदार्थों में हिंसा अथवा पापकारी कार्य करने का निषेध है। इसलिए मैं आटे के इस बकरे के प्रति हिंसा रूप कार्य नहीं कर सका।'

नारद की बात सुनकर उपाध्याय अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने नारद की प्रशंसा करते हुए कहा—'हे पुत्र! तुमने बहुत विवेकपूर्ण कार्य किया है। फिर वे पर्वत से कहने लगे—'पर्वत! तूने बड़ा अविवेकपूर्ण कार्य किया है। तुझे कार्य-अकार्य का भी ज्ञान नहीं है। तू बिलकुल निर्बुद्धि है।

उपाध्याय को निश्चय हो गया कि पर्वत अवश्य ही नरकगामी है और नारद उर्ध्व गति प्राप्त करेगा। उन्होंने पर्वत को बहुत कुछ उपदेश दिया, किन्तु ऊसर भूमि में बीज बोने के समान सब व्यर्थ रहा।

कुछ दिनों पश्चात् नारद अपने नगर को चला गया। उपाध्याय क्षीरकदम्ब ने प्रव्रज्या लेली। उनके स्थान पर पर्वत गुरु-पद पर आसीन हो गया और वह गुरुकुल का संचालन करने लगा।

बहुत दिन बाद नारद अपने वयस्य पर्वत से मिल और गुरुआणी की पाद वन्दना करने के लिए आया। उस समय पर्वत शिष्यों से घिरा हुआ बैठा था और वह शिष्यों को पाठ पढा रहा था। नारद ने पर्वत को अभिवादन

किया, पर्वत ने भी प्रत्यभिवादन करके नारद की अभ्यर्थना की। नारद ने गुरुआणी की पाद-वन्दना की और बैठ गया। पर्वत उस समय 'अर्जैर्यष्टव्य' इस वेद-वाक्य की व्याख्या कर रहा था। वह इसका अर्थ इस प्रकार कर रहा था 'इस मंत्र में अज शब्द पशु परक है। इसलिए स्वर्ग के इच्छुक द्विजों को बकरे में यज्ञ करना चाहिए।' नारद ने इस अर्थ पर आपत्ति करते हुए कहा—'वयस्य पर्वत ! तुम यह निन्दनीय व्याख्या क्यों कर रहे हो ? हम दोनों वर्षों तक एक उपाध्याय से पढ़े हैं। तुम्हें यह सम्प्रदाय कहाँ से प्राप्त हुआ है। एक ही गुरु के शिष्यों में सम्प्रदाय-भेद नहीं होता। क्या तुम्हें स्मरण नहीं है, गुरु जी ने यहाँ अज शब्द का यह अर्थ बताया था कि जिसमें अकुर उत्पन्न होने की शक्ति नष्ट हो गई हो, ऐसा पुराना धान्य अज कहलाता है। ऐसे धान्य से यज्ञ करना चाहिए।' किन्तु पर्वत अपने दुराग्रह का त्याग नहीं कर सका। बल्कि आवेश में आकर कहने लगा—'नारद ! यदि इस विषय में मैं पराजित हो जाऊँ तो अपनी जिम्हा का छेद करवा लूँगा। चलो, कल इसका निर्णय राजा वसु से कराते हैं। वह भी हमारा सहा-ध्यायी रह चुका है।'

नारद तो अपने स्थान पर चला गया। पर्वत अपनी माता के निकट पहुँचा और उसने सारा वृत्तान्त सुना दिया। यह सुनकर माता बड़ी दुखी हुई। वह कहने लगी—'मूर्ख ! यह तूने क्या किया ! नारद का कथन सत्य है। तेरे पिता ने जो अर्थ बताया था, नारद वही कह रहा है। तेरा कहना मिथ्या है।' प्रातः काल होने पर वह राजा वसु के घर गई। वसु ने गुरुआणी की वन्दना की, उच्च आसन दिया और आने का कारण पूछा। स्वस्तिमती ने वसु को सारा वृत्तान्त सुनाकर उसे घरोहर रक्खी हुई गुरु-दक्षिणा का स्मरण दिलाया और याचना की—'पुत्र ! यद्यपि तू तत्त्व और अतत्त्व को भली भाँति जानता है, किन्तु तुझे पर्वत के पक्ष का समर्थन करना है और नारद के पक्ष को दूषित ठहराना है।' गुरु-दक्षिणा का स्मरण दिलाया था, अतः वसु ने गुरुआणी की बात स्वीकार करली। स्वस्तिमती भी निश्चिन्त होकर घर वापिस आ गई।

प्रातः काल राजसभा लगी हुई थी। वसु सिंहासन पर आसीन था, सामन्त गण यथास्थान बैठे हुए थे। तभी अनेक शिष्यों से परिवृत उपाध्याय पर्वत और सर्व शास्त्रों में पारङ्गत नारद ने राज-सभा में प्रवेश किया। उपरिचर वसु को आशीर्वाद देकर नारद और पर्वत अपने पक्षधरो और सहायको के साथ निश्चित स्थान पर बैठ गये। उन दोनों विद्वानों का शास्त्रार्थ सुनने के क्रुतुहलवश अनेक ब्राह्मण विद्वान और वेदपाठी द्विजगण भी सभा में पधारे थे। जब सब यथास्थान बैठ गए, तब ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध जनो ने राजा वसु से निवेदन किया—

राजन् ! ये नारद और पर्वत विद्वान् वेद के किसी विषय में विसवाद होने से आपके पास आये हैं। आप स्वयं विद्वान् हैं, न्यायासन पर विराजमान हैं। आपकी अध्यक्षता में इन विद्वानों के आगे ये दोनों अपने-अपने पक्ष उपस्थित करें और सत्यासत्य एव जय-पराजय का निर्णय आप करें, हमारी यह प्रार्थना है।

वृद्धजनो की प्रार्थना स्वीकार कर राजा वसु ने पर्वत को पूर्व पक्ष उपस्थित करने की घोषणा की। पर्वत ने अत्यन्त गर्व के साथ अपना पक्ष उपस्थित करते हुए कहा—'अर्जैर्यष्टव्य स्वर्गं कामै' इस वेद मंत्र में अज शब्द पशु परक है। अज का प्रसिद्ध अर्थ बकरा होता है। अतः इस मंत्र का अर्थ 'स्वर्ग के इच्छुक द्विजों को बकरे से यज्ञ करना चाहिए' है। घात करते समय पशुओं को दुःख होगा, यह आज्ञा करना ही व्यर्थ है क्यों कि मंत्रों के प्रभाव से वध पशु को वध होने पर स्वर्ग के सुख प्राप्त होते हैं।'

इस पक्ष का निराकरण करने के लिए नारद उठा। वह कहने लगा—'सज्जनो ! पर्वत ने जो पक्ष रक्खा है, वह नितान्त दूषित है। वेदों में शब्दार्थ की व्याख्या अपने अभिप्राय के अनुसार नहीं होती, गुरु आम्नाय से चली आई व्याख्या ही मान्य होती है। अध्ययन के समान अर्थ-ज्ञान भी गुरु-परम्परा की अपेक्षा रखता है। हमारे पूज्य गुरुदेव ने हम तीनों शिष्यों-वसु, पर्वत और मुझको एक ही अर्थ बताया था, तब विभिन्न शिष्यों का सम्प्रदाय भिन्न कैसे हो सकता है। यहाँ 'अर्जैर्यष्टव्य' इस मंत्र में अज शब्द ऐसे धान्य का वाचक है, जिसमें उगने की शक्ति नष्ट हो गई हो ऐसे धान्यों से यज्ञ करना चाहिए।

तब शिष्टजनो ने राजा वसु से निवेदन किया—'राजन् ! आपने गुरु-मुख से जो अर्थ सुना हो, वह अर्थ प्रगट कर इस विवाद का निर्णय कीजिए !'

यद्यपि वसु को गुरु-वचनो का अच्छी तरह स्मरण था और वह जानता था कि नारद का पक्ष सत्य है, किन्तु मोहवश वह इस प्रकार कहने लगा—‘सभाजनो ! नारद ने जो कहा है, वह बहुत युक्तियुक्त है किन्तु पर्वत ने जो कहा है, वह उपाध्याय द्वारा कहा गया है।

इतना कहते ही वसु का स्फटिकासन पृथ्वी में धस गया और पानाल में जा गिरा। वसु की तत्काल मृत्यु हो गई और वह नरक में उत्पन्न हुआ। असत्यवादी वसु को सब लोगो ने निन्दा की, पर्वत को नगर से अपमानित करके निकाल दिया तथा यथार्थवादी नारद को ब्रह्म रथ पर आरूढ करके उसे नगर में निकाला और सार्वजनिक सम्मान किया। वसु और पर्वत को असत्य का फल तत्काल मिल गया।

मत्स्य पुराण में यज्ञो के विकास का इतिहास—हिन्दू धर्म में मान्य ‘मत्स्य पुराण’ में इस सम्बन्ध में जो कथा दी हुई है, उससे वसु के चरित्र, यज्ञो के प्रारम्भिक रूप और परिवर्तित रूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कथा इस प्रकार है—

‘त्रेतायुग के प्रारम्भ में इन्द्र ने विश्व-युग नामक यज्ञ किया। बहुत से महर्षि उसमें आये। किन्तु जब उन्होंने यज्ञ में पशु-बध होते देखा तो उन्होंने उसका घोर विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट कहा—‘नाय धर्मो ह्यधर्मोऽयं, न हिंसा धर्म उच्यते।’ अर्थात् यह धर्म नहीं है, यह तो वास्तव में अधर्म है। हिंसा धर्म नहीं कहलाता। उन्होंने यह भी कहा कि पूर्वकाल में यज्ञ पुराने धानो से किया जाता रहा है। मनु ने भी ऐसा ही विधान किया है। किन्तु इन्द्र नहीं माना। इस पर एक विवाद उठ खड़ा हुआ। अन्त में इस विवाद का निपटारा कराने के लिए वे चेदि नरेश वसु के पास पहुँचे। उसने विना सोचे विचारे कह दिया कि यज्ञ स्थावर और जगम दोनों प्रकार के प्राणियों से हो सकता है। इस पर ऋषियो ने वसु को शाप दे दिया।

महाभारत में वसु का चरित्र—राजा वसु घोर तपस्या में लीन थे। इन्द्र को शका हुई कि यदि यह इसी प्रकार तपस्या करता रहा तो यह एक दिन मेरा इन्द्र पद ले लेगा। यह सोच कर इन्द्र उसे तपस्या से विरत करने के लिये वसु के पास आया और उसे चेदि विषय का राज्य दे दिया तथा उसे स्फटिकमय गगनचारी विमान दिया^१।

वसु उस गगनचारी विमान में आकाश में विहार करने लगा। इस कारण लोक में वह उपरिचर वसु के नाम से विख्यात होगया। एक बार वसु ने अश्वमेध यज्ञ किया। उस यज्ञ में पशु-बध नहीं किया गया। बल्कि वन में उत्पन्न होने वाले फलमूलादि का ही हविष्य दिया गया। इससे देवाधिदेव भगवान उस पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने यज्ञ में प्रगट होकर वसु को साक्षात् दर्शन दिये तथा अपने लिये अर्पित हविष्य ग्रहण किया^२।

एक बार यज्ञ में दिये जाने वाले हविष्य के सम्बन्ध में देवताओ और ऋषियो में विवाद उत्पन्न हो गया। देवगण ऋषियो से कहने लगे—‘अजर्यंष्टव्यम्’ इस श्रुतिवाक्य में अज का अर्थ बकरा है। इसका आशय यह है कि बकरो द्वारा यज्ञ करना चाहिए।’ किन्तु इसका विरोध करते हुए ऋषि बोले—‘देवगण ! वैदिक श्रुति का अर्थ यह नहीं है। इसका अर्थ तो ‘वीजो द्वारा यज्ञ करना चाहिये’ यह है। अज का अर्थ यहाँ बकरा नहीं, किन्तु वीज हैं। अत बकरे का बध करना उचित नहीं है। इस सत्य युग में पशु-बध कैसे किया जा सकता है।’

जिस समय देवताओ और ऋषियो में यह विवाद चल रहा था, तभी आकाश में विचरण करते हुए राजा वसु उस स्थान पर पहुँच गये। उनका सहसा आगमन देखकर वे ऋषि देवताओ से बोले—‘देवताओ ! ये राजा वसु हम लोगो के सशय को दूर कर देगे। ये स्वयं यज्ञ करने वाले हैं, सर्वभूतहित-निरत हैं। ये शास्त्र के विरुद्ध वचन नहीं कहेंगे।’

दोनों ने राजा वसु से अपने पक्ष कह दिये। तब वसु ने देवताओ के पक्ष का समर्थन करते हुए कहा—‘अज का अर्थ बकरा है। अत बकरे के द्वारा ही यज्ञ करना उचित है।’

१ महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३, श्लोक १-१७

२ महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६, श्लोक १-१३

इतना सुनते ही ऋषि क्रुद्ध होकर कहने लगे—‘राजन् ! तुमने यह जानते हुए भी कि यहाँ अज का अर्थ बकरा नहीं , अन्न है, तुमने देवताओं के पक्ष का समर्थन किया है। अतः तुम आकाश में नीचे गिर जाओ। आज से आकाश में विचरण करने की तुम्हारी शक्ति नष्ट होजाय। हमारे शाप से तुम पृथ्वी को भेद करके पाताल में प्रवेश करोगे। राजन् ! यदि तुमने वेद और सूत्रों के विरुद्ध वचन बोले हो तो हमारा शाप तुम पर लगेगा। यदि हमने विरुद्ध वचन बोले हो तो हमारा पतन हो।’

ऋषियों के इस प्रकार कहते ही उपरिचर वसु उसी समय आकाश से नीचे आगिरे और भूमि के विवर में प्रविष्ट होगये।

चतुर्विंशतितम परिच्छेद

भगवान नमिनाथ

भरत क्षेत्र के वत्स देश में कौशाम्बी नगरी का राजा पार्थिव था। वह इक्ष्वाकु वंशी था। उसके शौर्य की पूर्व भव गाथायें सारे देश में विख्यात थीं। शत्रुदल उसके नाम से ही कापता था। उसकी महारानी सुन्दरी से सिद्धार्थ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। एक दिन मनोहर उद्यान में परमावधिज्ञान के धारक मुनिराज मुनिवर पधारे। राजा उनके दर्शनों के लिये गया और उनसे धर्म का स्वरूप पूछा। मुनिराज ने धर्म का यथार्थ स्वरूप बतलाया। उसे सुनकर राजा को समार असार लगने लगा। वह विचार करने लगा—ससार में प्राणी मरण स्पी मूलधन लेकर मृत्यु का कर्जदार हो रहा है और प्रत्येक जन्म में उसका यह कर्ज निरन्तर बढ़ता जा रहा है, जिसके कारण वह नाना प्रकार के कष्ट भोग रहा है। जबतक यह प्राणी रत्नत्रय रूपी धन का उपाजन कर मृत्यु रूपी साहूकार को व्याज सहित ऋण नहीं चुकाता तब तक इसके दुखों का अन्त कैसे हो सकता है। यह विचार करके उसने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर मुनिराज मुनिवर में प्रव्रज्या ग्रहण करली। सिद्धार्थ न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा।

एक दिन राजा सिद्धार्थ ने अपने पिता पार्थिव मुनिराज के समाधिमरण का समाचार सुना। इस समाचार में उसके मन में भारी निर्वेद होगया। उस समय मनोहर उद्यान में महाबल नामक केवली भगवान विराजमान थे। उनका उपदेश सुनकर राजा ने अपने पुत्र श्रीदत्त को राज्य-भार देकर केवली भगवान से दिगम्बर मुनि की दीक्षा लेली। परिणाम विद्युद्धि के कारण उसे तत्काल क्षायिक सम्यग्दर्शन होगया। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन करके सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त में समाधिमरण करके अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अतिशय नृद्धि का धारक अहमिन्द्र हुआ।

गर्भ कल्याणक—वज्र देश में मिथिला नगरी थी। वहाँ के शासक इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्री, महाराज विजय थे। उनकी महारानी का नाम वप्पिला था। जब उक्त अहमिन्द्र की आयु में छह मास शेष रह गये तबसे देवों ने इन्द्र की आज्ञा से महाराज विजय के महलो में रत्नवर्षा प्रारम्भ कर दी। जब अहमिन्द्र की आयु पूर्ण हुई उस दिन अर्थात् आश्विन कृष्णा द्वितीया के दिन आश्विनी नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर में सुख निद्रा में सोई हुई महारानी को तीर्थकर प्रभु के गर्भावतरण के सूचक सोलह शुभ स्वप्न दिखाई दिये। उसी समय उन्होंने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। तभी अहमिन्द्र के जीव ने महारानी के गर्भ में अवतार लिया।

स्वप्नों के देखने के पश्चात् महारानी की निद्रा भंग होगई। वे आवश्यक कृत्यों से निवृत्त होकर मंगल वस्त्राभूषण धारण करके महाराज के निकट पहुँची और देशावधि ज्ञान के धारक महाराज से देखे हुए स्वप्नों का वर्णन करके उनका फल पूछा। राजा ने विस्तार से स्वप्नों का फल बताकर कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थकर प्रभु ने अवतार लिया है। उसी समय इन्द्रो और देवों ने आकर तीर्थकर प्रभु का गर्भकल्याणक महोत्सव किया।

जन्म कल्याणक—वप्पिला महादेवी ने आषाढ कृष्णा दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र के योग में समस्त लोक के स्वामी महाप्रतापी पुत्र को जन्म दिया। देवों और इन्द्रों ने उसी समय आकर भगवान का जन्म कल्याणक

भगवान नमिनाथ

महोत्सव किया। बालक को सुमेरु पर्वत पर लेजाकर उनका क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया। सौधर्मन्द्र ने बालक का नाम नमिनाथ रखा।

भगवान नमिनाथ की आयु दस हजार वर्ष की थी। उनका शरीर पन्द्रह घनुप ऊँचा था। शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनका चिन्ह नील कमल था। उनकी आयु के ढाई हजार वर्ष कुमार काल में व्यतीत हुए। उसके पश्चात् पिता ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। उन्होंने ढाई हजार वर्ष पर्यन्त राज्य शासन किया।

एक दिन आकाश मेघाच्छन्न था। शीतल पवन वह रही थी। मौसम सुहावना था। ऐसे समय भगवान नमिनाथ हाथी पर आरूढ होकर वन विहार के लिये निकले। वहाँ आकाश मार्ग से दा देव आये और भगवान को नमस्कार करके हाथ जोड़कर अपना परिचय देते हुए अपने आने का प्रयोजन कहने लगे—

दीक्षा कल्याणक देव। हम दांती पूर्व जन्म में घातकोखण्ड द्वाप में रहते थे। वहाँ हमने तपस्या की। फलत

हम सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुए। उत्पन्न होने के दूसरे दिन पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित वत्सकावती देश की सुसीमा नगरी में भगवान अपराजित तीर्थकर के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा के लिये अन्य देवों के साथ हम दोनों भी गये। वहाँ समवसरण में प्रश्न हुआ कि इस समय भरत क्षेत्र में भी क्या कोई तीर्थकर है? तब सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान अपराजित ने उत्तर दिया—‘वग देश की मिथिला नगरी में अपराजित स्वर्ग से अवतरित होकर नमिनाथ हुए हैं। उन्हें जल्दी ही केवलज्ञान उत्पन्न होगा और वे धर्म तीर्थ की स्थापना करेंगे। इस समय ग्रहस्थ अवस्था में राज्य लक्ष्मी का भोग कर रहे हैं।’ भगवान के वचन सुनकर कुतूहलवश हम लोग आपके दर्शनों के लिये आये हैं।’

देवों की बात सुनकर भगवान नगर में लौट आये। उन्होंने अवधिज्ञान से जाना कि अपराजित तीर्थकर और मेरा जीव पिछले भव में अपराजित विमान में देव थे। उन्होंने मनुष्य भव पाकर जन्म-मरण की श्रृंखला का नाश करने का उद्योग किया, जिसमें वे सफल हुए और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। किन्तु मैं अनादिकाल के सत्कारवश अभी तक राग-द्वेष के इस प्रपच में पडा हुआ हूँ। मेरा कर्तव्य इस प्रपच को समाप्त करना है। मुझे अब उसी का उद्योग करके शुद्ध आत्म स्वरूप की उपलब्धि करना है।

भगवान के मन से राग की वासना क्षण मात्र में तिरोहित हो गई और भोगों के प्रति उनके मन में निर्वेद भर उठा। भगवान की वैराग्य-भावना होते ही सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा और भगवान के विचारों की सराहना की तथा वे अपने स्थान को लौट गये। भगवान ने अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य-भार सौंप दिया। तभी देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान का दीक्षाभिषेक किया। फिर भगवान उत्तर कुहू नामक पालकी में आरूढ होकर चैत्रवन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने बेला का नियम लेकर आषाढ कृष्ण दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सायंकाल के समय सम्पूर्ण आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके एक हजार राजाओं के साथ जेनेन्दी दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हें मन पर्यय नामक ज्ञान प्राप्त हो गया।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान पारणा के लिए वीरपुर नामक नगर में पधारे। वहाँ राजा दत्त ने परमान्न का आहार देकर अक्षय पुण्य का लाभ लिया।

भगवान ग्रामानुग्राम विहार करते हुए नाना प्रकार के कठोर तप करते रहे। इस प्रकार नौ वर्ष तक उन्होंने आत्म-साधना में वित्तये। तब वे विहार करते हुए अपने दीक्षा-वन में पहुँचे। वहाँ वे एक वकुल वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ हो गये। यही पर इन्हें मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन सायंकाल के समय समस्त लोकालोक के सम्पूर्ण द्रव्यों और पर्यायों का युगपत् ज्ञान करने वाला निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रों और देवों ने उसी समय आकर केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने दिव्य समवसरण की रचना की, जिसमें गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान ने जगत् का कल्याण करने वाला उपदेश देकर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। भगवान का उपदेश सुनकर अनेक मनुष्यों ने सकल समय धारण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यंचो ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक मनुष्यों, तिर्यंचो और देवों ने सम्यग्दर्शन धारण किया।

भगवान का चतुर्विध संघ—भगवान के चतुर्विध संघ में सुप्रभार्य आदि सत्रह गणधर थे। ४५० मुनि समस्त पूर्वो के ज्ञाता, १२६०० व्रती शिक्षक मुनि, १६०० अघिज्ञानी, १६०० केवलज्ञानी, १५०० विक्रियाऋद्धिधारी, १२५० मन पर्ययज्ञानी और १००० वादो मुनि थे। इस प्रकार समस्त मुनियों की संख्या २०००० थी। मगिनो आदि ४५००० आर्थिकाये थी। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकार्ये थी। उनके, भक्तो मे संख्यात तिर्यंच और असख्यात देव-देवियां थी।

भगवान ने सम्पूर्ण आर्यक्षेत्र में विहार करके समीचीन धर्म का उपदेश दिया। जब उनकी आयु मे एक माह जेप रह गया, तब उन्होने विहार बन्द कर दिया और सम्मेद शिखर पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और वैशाख कृष्णा चतुर्दशी के दिन रात्रि के निर्वाण कल्याणक— अन्तिम प्रहर मे अश्विनी नक्षत्र मे अघातिया कर्मों का क्षय करके अक्षय पद प्राप्त किया। वे सिद्ध परमेष्ठी बन गये। देवो और इन्द्रो ने आकर नमिनाथ स्वामी का निर्वाण कल्याणक महोत्सव किया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान नमिनाथ के सेवक यक्ष का नाम भ्रुकुटि और यक्षिणी का नाम चामुण्डी था।

जयसेन चक्रवर्ती—

ऐरावत क्षेत्र के श्रीपुर नगर मे वसुन्धर नामक राजा शासन करता था। वह बड़ा प्रतापा और न्यायवान था। दैव-दुविपाक से उसकी स्त्री पद्मावती का असमय निघन हो गया। वह अपनी इस रानी से बड़ा प्रेम करता था। अतः उसके मरण से राजा को बहुत दुःख हुआ। उसका मन राज्य और परिवार से विरक्त हो गया। तभी मनोहर उद्यान मे वरचर्म नामक केवली भगवान पधारे। राजा उनके दर्शनों के लिए गया और उनका उपदेश सुनकर उसने मुनि-दीक्षा लेने का निश्चय किया। उसने अपने पुत्र विनयन्धर को राज्य-भार सौंप कर केवली भगवान के पाद मूल मे दैगम्बरी दीक्षा लेली। वह घोर तप करने लगा। आयु के अन्तिम समय मे समाधि द्वारा मरण किया। मरकर वह महाशुक्र स्वर्ग मे मर्हद्विक देव हुआ। वहाँ उसकी सोलह सागर की आयु थी। वह महा विभूतिसम्पन्न था। दिव्य भोगो को भोगते हुए उसने यह काल आनन्दपूर्वक बिताया।

ग्यारहवां चक्रवर्ती—वत्स देश की कौशाम्बी नगरी का अधिपति इक्ष्वाकुवशी राजा विजय प्रभावशाली नरेश था। उसकी पट्टमहिषी प्रभाकरी की कुक्षि से एक कान्तिमान पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम जयसेन रक्खा गया। उसकी जन्म-लगन और लक्षणो को देखकर ज्योतिषियो ने भविष्यवाणी की कि यह बालक सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का अधिपति चक्रवर्ती बनेगा।

जयसेन बचपन से ही तेजस्वी था। उसकी लीलार्ये और चेष्टार्ये असाधारण थी। बचपन से ही शासन करने की उसकी प्रकृति थी। बड़े-बड़े अभिमानी और उदृण्ड व्यक्ति भी उसकी भगिमा देखते ही विनीत बन जाते थे। ऐसा था उसका प्रभाव।

जयसेन की आयु तीन हजार वर्ष की थी। उसकी अवगाहना साठ हाथ की थी। उसके शरीर की कान्ति तप्त स्वर्ण के समान थी। कुमार काल बीतने पर पिता ने उसे राज्य का भार सौंप दिया। कुछ दिनों के बाद उसके शस्त्रागार मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। अब महाराज जयसेन ने दिग्विजय करने का विचार किया। वह चारो दिशाओ मे गया। उसकी शक्ति और तेज के आगे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के राजाओ का दर्प चूर-चूर हो गया और सबने उसकी आधीनता स्वीकार की। जब जयसेन सम्पूर्ण भरतक्षेत्र की विजय करके अपनी नगरी कौशाम्बी वापिस लौटा

तो समस्त राजाओं और प्रजा ने मिलकर चक्रवर्ती पद पर उसे अभिषिक्त किया। वह ग्यारहवाँ चक्रवर्ती कहलाया। वह चौदह रत्न और नौ निधियों का स्वामी था। दस प्रकार के भोग उसे प्राप्त थे। वह इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ के तीर्थ में हुआ था।

उसे भोग भोगते हुए जब बहुत समय बीत गया, तब एक दिन उसने देखा कि आकाश से उल्कापात हुआ है। उसे देखते ही उसके मन में चिन्तन की एक कोमल धारा प्रवाहित होने लगी—यह प्रकाश-पूँज ऊपर आकाश में स्थित था, किन्तु वह नीचे आगिरा और अन्धकार में विलीन हो गया। 'मेरा तेज भी बहुत ऊँचा है' इस प्रकार का अभिमान जो मनुष्य करता है, उसका तेज भी इस उल्का-पूँज के समान अघोगति को प्राप्त होता है।

यह विचार कर चक्रवर्ती ने साम्राज्य त्यागकर दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। उसने युवराज को राज्य देना चाहा, किन्तु उसने राज्य न लेकर दीक्षा लेने की इच्छा की। तब उसने क्रम से अन्य पुत्रों को यह भार स्वीकार करने के लिए कहा, किन्तु सबका एक ही उत्तर था—'यदि आप राज्य-भोग में सुख मानते हैं तो आप ही इसका त्याग क्यों कर रहे हैं। आप हमारे शुभाकांक्षी हैं। आप तपस्या करके सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें भी उसी मार्ग पर चलने की अनुमति दीजिए।'।

पुत्रों का यह उत्तर सुनकर चक्रवर्ती निरुत्तर हो गया। अन्त में उसने छोटे पुत्र को राज्य-भार स्वीकार करने के लिए सहमत कर लिया और उसका राज्याभिषेक करके जयसेन अपने पुत्रों और अनेक राजाओं के साथ वरदत्त नामक केवली भगवान के पास समस्त बाह्य और आभ्यन्तर आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके प्रव्रजित हो गये। उन्होंने विविध तप करना प्रारम्भ किया। अल्प समय में ही उन्हें ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। अन्त में प्रायोपगमन सन्यास मरण करके सम्मेदशिखर के चारण नामक शिखर से जयन्त नामक विमान में अहमिन्द्र हुए।

पंचविंशतितम परिच्छेद

भगवान् नेमिनाथ

पश्चिम विदेह क्षेत्र में सोतादा नदी के उत्तर तट पर सुगन्धिला नामक देश था। उस देश में सिंहपुर नगर का स्वामी ग्रहदास था। उसकी महारानी का नाम जिनदत्ता था। राज-दम्पति आनन्दपूर्वक राज्य-मुखी का भोग कर रहे थे। एक बार अष्टान्हिका पर्व में भगवान् जिनेन्द्र की महा पूजा कराई। पूजा के पश्चात् पूर्व भव महारानी ने मन में यह इच्छा की कि मैं कुलगौरव पुत्र प्राप्त करूं। उसी रात्रि को महारानी ने स्वप्न में सिंह, हाथी, सूर्य, चन्द्रमा और लक्ष्मी का अभिपेक देखा। स्वप्न देखने के बाद ही महारानी के गर्भ में पुण्यात्मा जीव अवतीर्ण हुआ। नौ माह व्यतीत होने पर रानी ने अति बलवान पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के जन्म के बाद उसके पुण्य प्रताप से राजा ग्रहदास को कोई शत्रु पराजित नहीं कर सका। इसलिये पुत्र का नाम सोच समझकर अपराजित रक्खा गया।

बालक अत्यन्त रूपवान् और बलवान् था। गुणों के साथ बढ़ता हुआ वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन राजोद्यान में विमलवाहन तीर्थकर पधारे। राजा परिजनो और पुरजनो के साथ उनके दर्शनो के लिये गया। राजा ने वहाँ जाकर भगवान् के दर्शन करके तीन प्रदक्षिणाएँ दी, अष्ट द्रव्य से पूजन की और यथास्थान बैठकर उनका दिव्य उपदेश सुना। उपदेश सुनकर उसके मन में भोगों से निर्वेद हो गया। वहाँ से लौट कर उसने पुत्र अपराजित का राज्याभिषेक करके पाच सौ राजाओं के साथ सयम ग्रहण कर लिया।

अपराजित ने भी अणुव्रत धारण कर लिये। यद्यपि वह राज्य-शासन करता था, किन्तु उसका मन धर्म में रूपा हुआ था। एक दिन उसे समाचार मिला कि भगवान् विमलवाहन और पिता मुनि ग्रहदास गन्धमादन पर्वत में मुक्त होगये। समाचार सुनते ही उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं भगवान् विमलवाहन के दर्शन नहीं कर लूँगा, तब तक भोजन नहीं करूँगा। मत्रियो और परिवार के लोगो ने समझाया कि भगवान् मुक्त होचुके हैं, उनके दर्शन किस प्रकार संभव है, ऐसी असंभव प्रतिज्ञा करने से क्या लाभ है। किन्तु राजा ने किसी की बात नहीं सुनी, वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। इस प्रकार उसे निराहार रहते हुए आठ दिन बीत गये। तब सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने भगवान् विमलनाथ का दिव्य रूप बनाकर राजा को दर्शन कराये। राजा ने गद्गद होकर भक्तिभाव से उनका पूजन किया, तब भोजन किया।

एक दिन राजा अपराजित अष्टान्हिका पर्व में पूजन करने के पश्चात् बैठा हुआ था। तभी आकाश से दो चारण ऋद्धिधारी मुनि आकाश मार्ग से विहार करते हुए वहाँ पधारे। राजा ने उठकर बड़ी विनयपूर्वक उनकी पाद-वन्दना की, उनका धर्मोपदेश सुना। तदनन्तर राजा हाथ जोडकर बोला—'पूज्य ! मैंने आपको कही पहले भी देखा है।'

ज्येष्ठ मुनि कहने लगे—'राजन् ! तुम यथार्थ कह रहे हो। तुमने हम दोनों को देखा है। किन्तु इस जन्म में नहीं, पूर्व जन्म में देखा है।' राजा को यह सुनकर बड़ा विस्मय हुआ। वह पूछने लगा—'प्रभु ! कहाँ देखा है, यह

जानने की मुझे जिज्ञासा है।' तब मुनि कहने लगे—'पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम सुमेरु की पश्चिम दिशा में महानदी के उत्तर तट पर गन्धिल नामक एक देश है। उसके विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में सूर्यप्रभ नगर का स्वामी राजा सूर्यप्रभ राज्य करता था। उसकी रानी का नाम धारिणी था। उसके तीन पुत्र थे—चिन्तागति, मनोगति और चपलगति। उसी विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अरिन्दमपुर नगर का शासक अरिजय था। अजितसेना उसकी रानी और प्रीतिमती पुत्री थी। पुत्री ने प्रतिज्ञा की थी कि जो विद्याधर मेरु पर्वत की तीन प्रदक्षिणा देने में मुझे जीत लेगा उसे ही मैं वरण करूँगी। इस प्रतियोगिता में चिन्तागति ने उसे जीत लिया। किन्तु उसे जीतकर चिन्तागति कहने लगा—'तू मेरे लघु भ्राता को स्वीकार कर ले।' किन्तु प्रीतिमती ने उत्तर दिया—'मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे जीत लेगा, उसे ही वरण करूँगी। तुमने मुझे जीता है। तुम्हें छोड़कर मैं अन्य को किस प्रकार वरण कर सकती हूँ।' चिन्तागति बोला—'तूने उसे प्राप्त करने की इच्छा से ही उसके साथ गति-स्पर्द्धा की थी, अतः तू मेरे लिये त्याज्य है।'

चिन्तागति का उत्तर सुनकर प्रीतिमती अत्यन्त निराश हो गई। उसे ससार से ही विरक्ति होगई और उमने विवृता नामक अजिका के पास जाकर आर्थिका दीक्षा लेली। राजकुमारी के इस साहस से प्रेरित होकर उन तीनों भाइयों ने भी दमवर नामक मुनिराज के पास जाकर मुनि-दीक्षा लेली। वे तप करने लगे और मरकर चौथे स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए। आयु पूर्ण होने पर दोनों छोटे भाई पूर्व विदह क्षेत्र के पुष्कलावती देश में विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में गगनवल्लभ नगर के राजा गगनचन्द्र और रानी गगनसुन्दरी के हम दोनों अमितगति तथा अमित-तेज नामक पुत्र हुए। हम तीनों प्रकार की विद्याओं से युक्त थे। एक दिन हम दोनों पुण्डरीकिणी नगरी में स्वयंप्रभ तीर्थकर के दर्शनों के लिये गये। हमने भगवान् से अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त पूछे तथा यह भी पूछा कि हमारा बड़ा भाई इस समय कहाँ उत्पन्न हुआ है। भगवान् ने बताया कि वह इस समय सिंहपुर नगर में अपराजित नाम का राजा है। हम लोगों ने भगवान् के समीप ही दीक्षा ले ली। हम लोग पूर्व जन्म के स्नेहवश तुम्हारे पास आये हैं। तेरी आयु केवल एक माह की शेष है। इसलिये तू आत्म कल्याण कर।

राजा ने मुनिराज से अपने जन्म का वृत्तान्त सुनकर उनकी वन्दना की और निवेदन किया—'भगवन्! यद्यपि आप वीतराग निर्णन्थ हैं। फिर भी आपने पूर्व जन्म के स्नेहवश मेरे बड़ा उपकार किया है।

मुनि-युगल वहाँ से विहार कर गया। राजा ने अपने पुत्र प्रीतिकर को राज्यालूढ करके सन्यास ले लिया और प्रायोपगमन सन्यास धारण कर लिया। आयु पूर्ण होने पर वह सोलहवें स्वर्ग के सातकर नामक विमान में देव हुआ। वहाँ सागर की उसकी आयु थी।

कुरुजागल देश में हस्तिनापुर के राजा श्रीचन्द्र की श्रीमती रानी थी। वह देव आयु पूर्ण होने पर रानी के गर्भ में आयी और सुप्रतिष्ठ नामक पुत्र हुआ। कुमार अवस्था पूर्ण होने पर उसका विवाह मुनन्दा के साथ हो गया। सुयोग्य जानकर पिता ने उसे राज्य सोप दिया और सुमन्दर नामक मुनि के पास दीक्षा लेली। सुप्रतिष्ठ कुशलता पूर्वक राज्य शासन करने लगा। एक दिन सुप्रतिष्ठ ने यशोधर नामक मुनिराज को नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। आहार निरन्तराय समाप्त हुआ। देवों ने पचाश्चर्य किये। राजा ने मुनिराज से अणुव्रत धारण किये और सम्यग्दर्शन की विशुद्धि की। एक दिन राजा राजमहलो के ऊपर बैठा हुआ प्रकृति का सौन्दर्य निहार रहा था। निकट ही रानियाँ बैठी हुई थीं। तभी आकाश में उल्कापात हुआ। उसे देखकर राजा के मन में भावनाएँ उद्बलित होनी लगी और उसे ससार की क्षणभंगुरता का विचार हो आया। उसे राज्य, भोग सब कुछ निस्सार जचने लगे। उमने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुदृष्टि का राज्याभिषेक कर दिया और सुमन्दर नामक जिनेन्द्र के निकट मुनि दीक्षा लेली। उसने ग्यारह अंगों का अभ्यास किया और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे सातिशय पुण्य वाले तीर्थकर नाम कर्म का बन्धन कर लिया। आयु का अन्त निकट जानकर एक माह का सन्यास ले लिया, जिससे वह जयन्त नामक अनुत्तर विमान में महद्विक अहमिन्द्र हुआ। उसकी आयु तेतीस सागर की थी।

हरिवंश की उत्पत्ति—

कौशाम्बी नगरी का राजा सुमुख प्रतापी राजा था। उस नगर में व्यापारिक कारणों से वीरक नामक एक सेठ अपनी स्त्री वनमाला के साथ आकर रहने लगा। एक दिन राजा सुमुख वन-विहार के लिये गया। उसकी दृष्टि वन में भ्रमण करती हुई सुन्दरी वनमाला पर पड़ी। उसे देखते ही वह वनमाला पर हरिवंश की स्थापना आसक्त हो गया। उसने किसी उपाय से वीरक सेठ को व्यापार के बहाने विदेश भेज दिया और प्रच्छन्न रूप में वनमाला को अपने महलों में बुलाकर उसके साथ भोग करने लगा। बारह वर्ष पश्चात् सेठ वीरक विदेश से लौटा। जब उसे अपनी स्त्री का पापाचार ज्ञात हुआ तो वह शोकाकुल होकर पागलो के समान इधर उधर फिरने लगा। फिर एक दिन विरक्त होकर प्रोष्ठिल मुनि के पास जाकर मुनि बन गया और मरकर सौधर्म स्वर्ग में चित्रागद नामक देव हुआ।

कुछ काल पश्चात् सुमुख और वनमाला ने धर्मासिंह नामक मुनिराज को आहार दिया। उस समय दोनों के मन में अपने कृत्य के प्रति भारी आत्मग्लानि और पश्चाताप के भाव थे। दूसरे दिन विजली गिरने से दोनों की मृत्यु हो गई। सुमुख का जीव भोगपुर के राजा प्रभजन का पुत्र सिंहकेतु हुआ और वनमाला का जीव वस्वालय नगर के नरेश वज्रचाप की विद्युन्माला पुत्री हुई। विद्युन्माला का विवाह सिंहकेतु के साथ हो गया। एक दिन पति पत्नी वन विहार के लिए गए। उन्हें चित्रागददेव ने देखा। देखते ही उसे पूर्व जन्म के वैर का स्मरण हो आया। उसने मन में निश्चय कर लिया कि 'मैं इन्हें मारूंगा। यह विचार कर वह उन्हें उठाकर ले चला। मार्ग में सूर्यप्रभ नामक एक देव ने उसका अभिप्राय जान लिया। सूर्यप्रभ पूर्व जन्म में राजा सुमुख का प्रिय मित्र रघु था। उस देव ने चित्राङ्गद को समझाया—'भद्र! इन दोनों का वध करने से तेरा क्या हित होगा। तू व्यर्थ ही पाप बन्ध क्यों करता है।' यह सुनकर चित्रागद को भी दया आ गयी और उन्हें छोड़कर चला गया। तब सूर्यप्रभ देव ने दोनों को आस्वासन दिया और उन्हें ले जाकर चम्पापुर के वन में छोड़ दिया। इसका कारण यह था कि वह भविष्य में इनको मिलने वाले सुख को जानता था। दैवयोग से उसी समय चम्पापुर का राजा चन्द्रकीर्ति बिना पुत्र के मर गया था। राज्य-परम्परा अक्षुण्ण रखने के लिए मन्त्रियों ने विचार कर किसी योग्य पुरुष की तलाश करने के लिए एक समझदार हाथी को छोड़ दिया। वह हाथी घूमता हुआ वन में पहुँचा और सिंहकेतु तथा विद्युन्माला को अपने कंधे पर बैठाकर नगर में पहुँचा। मन्त्रियों ने बड़े आदर के साथ सिंहकेतु का अभिषेक किया और उसे राज सिंहासन पर बैठाया। तब मन्त्रियों ने उससे परिचय पूछा। उत्तर में सिंहकेतु ने कहा—'मेरे पिता का नाम प्रभजन है और माता का नाम मृकण्डू है। कोई देव पत्नी सहित मुझे लाकर यहाँ वन में छोड़ गया है।' उसका परिचय सुनकर लोग बड़े प्रसन्न हुए और मृकण्डू का पुत्र होने के कारण उसका नाम मार्कण्डेय रख दिया। वह चिरकाल तक राज्य सुख का भोग करता रहा। ये दोनों भगवान शीतलनाथ के तीर्थ में हुए।

इन दोनों के हरि नामक पुत्र हुआ। यौवन अवस्था को प्राप्त होने पर पिता ने उसे राज्य-भार सौंप दिया। हरि बड़ा प्रतापी और वीर था। उसने बाहुबल द्वारा अनेक राजाओं को पराजित करके अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। उसकी ख्याति सम्पूर्ण लोक में फैल गई। इसी से 'हरिवंश' की प्रसिद्धि हुई।

राजा हरि के महागिरि नामक पुत्र हुआ। महागिरि का हिमगिरि, हिमगिरि का वसुगिरि, वसुगिरि का गिरि हुआ। इस प्रकार इस वंश में अनेक राजा हुए। फिर सुमित्र हुए। सुमित्र के बीसवें तीर्थ कर मुनि-सुव्रतनाथ हुए। मुनिसुव्रतनाथ के सुव्रत, सुव्रत के दक्ष, दक्ष के ऐलेय पुत्र हुआ। उसने हरिवंश की परम्परा इलावर्धन, ताम्रलिप्ति, माहिष्मती, नामक नगर बसाये। ऐलेय के कुणिम पुत्र हुआ। उसने कुण्डिन नगर बसाया। कुणिम के पुलोम पुत्र हुआ। उसने पुलोमपुर बसाया। पुलोम के पीलोम और चरम नामक पुत्र हुए। उन्होंने रेवा के तट पर इन्द्रपुर नगर बसाया। चरम ने जयन्ती तथा वनवास्य नगरियाँ बसाईं। पीलोम के महीदत्त और चरम के सजय पुत्र हुए। महीदत्त ने कल्पपुर बसाया। उसके अरिष्ट-

नेमि और मत्स्य नामक पुत्र हुए। मत्स्य हस्तिनापुर में रहने लगा। मत्स्य के अयोधन, अयोधन के मूल, मूल के शाल, शाल के सूर्य नामक पुत्र हुआ। सूर्य ने शुभ्रपुर नगर बसाया। सूर्य के अमर पुत्र हुआ। उसने वज्र-पुर बसाया। अमर के देवदत्त, देवदत्त के हरिषेण, हरिषेण के नभसेन, नभसेन के शङ्ख, शङ्ख के भद्र और भद्र के अभिचन्द्र नामक पुत्र हुआ। अभिचन्द्र ने विन्ध्याचल के ऊपर चेदि राष्ट्र की स्थापना की और शुक्तिमती नदी के किनारे शुक्तिमती नगरी बसाई। अभिचन्द्र से वसु हुआ। वसु का पुत्र बृहद्वज्र हुआ जो मथुरा में जाकर रहने लगा। बृहद्वज्र के सुवाहु, सुवाहु के दीर्घबाहु, दीर्घबाहु के वज्रबाहु, वज्रबाहु के लब्धाभिमान, लब्धाभिमान के भानु, भानु के ययु, ययु के सुभानु और मुभानु के भीम नामक पुत्र हुआ। इस प्रकार अनेक राजा होते रहे। फिर इसी वंश में इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान् नमिनाथ हुए। आगे चलकर इसी वंश में यदु नामक राजा हुआ। यह बड़ा प्रतापी था। इससे 'यदुवंश' चला। राजा यदु के नरपति, नरपति के शूर और सुवीर नामक पुत्र हुए। वीर अथवा सुवीर मथुरा में शासन करने लगा और शूर ने कुण्ड देश में शौर्यपुर नगर बसाया और वही शासन करने लगा। शूर के अन्धकवृष्णि और सुवीर के भोजकवृष्णि पुत्र हुए। अन्धकवृष्णि के १० पुत्र हुए—१ समुद्रविजय २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमित सागर, ४ हिमवान्, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण, ८ पूरण, ९ अभिचन्द्र, और १० वसुदेव, इनके अतिरिक्त दो पुत्रियाँ हुईं—कुन्ती और माद्री। भोजक वृष्णि के उग्रसेन, महासेन और देवसेन नामक पुत्र हुए।

राजा वसु का एक पुत्र सुवसु था जो कुञ्जरावर्त नगर (नागपुर) में रहने लगा था। सुवसु के बृहद्रथ पुत्र हुआ। वह मागधेशपुर में जाकर राज्य करने लगा। बृहद्रथ के दृढरथ दृढरथ के नरवर, नरवर के दृढरथ, दृढरथ के सुखरथ, सुखरथ, के दीपन, दीपन के सागरसेन, सागरसेन के सुमित्र, सुमित्र के वप्रथु, वप्रथु के

वसु की वंश— विन्दुसार, विन्दुसार के देवगर्भ, देवगर्भ के शतघनु पुत्र हुआ। इसी प्रकार इस वंश में अनेक परम्परा में जरासन्ध राजा हुए। फिर इस वंश में निहतशत्रु हुआ। उसके शतपति, शतपति के बृहद्रथ और बृहद्रथ के जरासन्ध पुत्र हुआ। वह राजगृह नगर का स्वामी था। वह अर्धचक्री था। उसने भरत क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त करके अर्धचक्री का विरुद्ध पाया था। वह नौवाँ प्रतिनारायण था। कालिन्दसेना उसकी पटरानी थी। कालयवन आदि नीतिज्ञ पुत्र थे। अपराजित आदि अनेक वीर भाई थे।

जरासन्ध ने दक्षिण श्रेणी के समस्त विद्याधरो, उत्तरापथ और दक्षिणापथ के समस्त राजाओं, पूर्व पश्चिम समुद्र के तटवर्ती नरेशों और मध्य देश के सम्पूर्ण शत्रुओं को जीत लिया था।

एक बार शौर्यपुर के उद्यान में सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज प्रतिमायोग से ध्यानारूढ थे। एक यक्ष ने उनके ऊपर भयानक उपसर्ग किये। किन्तु मुनिराज अपने ध्यान में अचल रहे और उन भयानक उपसर्गों के कारण उनके मन की शान्ति और समता भाव तनिक भी भंग नहीं हुए। बल्कि वे आत्मा में स्थित रहकर महाराज समुद्र विजय सचिव कर्मों का शुक्ल ध्यान द्वारा क्षय करने लगे। वे श्रेणी आरोहण करके उस स्थिति को का राज्याभिषेक—प्राप्त हो गये, जहाँ ध्यान, ध्याता, और ध्येय, चैतन्य भाव, चैतन्य कर्म और चैतन्य की क्रिया अभिन्न एकाकार हो जाती है। उसी समय उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और

अन्तराय इन घातिया कर्मों का विनाश कर दिया। तभी उनकी आत्मा विशुद्ध केवलज्ञान की अनन्त आभा से आलोकित हो उठी। तभी चारों जाति के इन्द्र और देव भगवान् सुप्रतिष्ठ की वन्दना के लिए आये। महाराज अन्धकवृष्णि भी परिजन-पुरजनों के साथ भगवान् के दर्शनो के लिये आये। आकर उन्होंने भगवान् की वन्दना और पूजा की और यथास्थान बैठ गये। तभी भगवान् का लोक हितकारी उपदेश हुआ। उपदेश सुनकर अन्धकवृष्णि के मन में सासारिक भोगों के प्रति सवेग उत्पन्न होगया। उन्होंने शौर्यपुर के राज सिंहासन पर कुमार समुद्रविजय का राज्याभिषेक करके उनका पट्टबन्ध किया और कुमार वसुदेव के सरक्षण का भार भी उन्हें सौंप दिया। अन्धकवृष्णि ने भगवान् सुप्रतिष्ठ के निकट जाकर सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। उधर भोजक वृष्णि ने भी मथुरा में मुनि व्रत धारण कर लिये। महाराज समुद्रविजय ने महारानी शिवादेवी को पट्टबन्ध करके पटरानी घोषित किया। महाराज समुद्रविजय ने यौवन प्राप्त होने पर अपने आठों अनुजों का सुन्दर राज कन्याओं के

साथ विवाह कर दिया। अक्षोभ्य का धृति के साथ, स्मिमत सागर का स्वयंप्रभा के साथ, हिमवान का सुनीता के साथ, विजय का सिता के साथ, अचल का प्रियालापा के साथ, धारण का प्रभावती के साथ, पूरण का कालिंगी के साथ और अभिचन्द्र का सुप्रभा के साथ विवाह हो गया। सब भाई आनन्दपूर्वक रहने लगे। सभी भाइयों में परस्पर में अत्यधिक स्नेह था। कुमार वसुदेव सभी के प्रिय और स्नेहभाजन थे।

वसुदेव की कुमार- लीलाए—कुमार वसुदेव यौवन में पदार्पण कर रहे थे। वे शीर्यपुर नगर में देव कुमारों के समान इच्छानुसार क्रीडा करते थे। वे कामकुमार थे। रूप, लावण्य, सीभाग्य और चतुरता में वे जन-जन के प्रिय थे। कभी वे लोकपालों का वेप रखकर नगर में निकल जाते थे। उनका शरीर सूर्य के समान तेजस्वी और मुख चन्द्रमा के समान सौम्य था। उनके अनिन्द्य सौन्दर्य को देखने के लिए स्त्रियाँ घरों में बाहर निकल आती थीं और उन्हें देखकर काम विह्वल हो जाती थी। कुमार के रूप में अद्भुत मोहिनी थी।

एक दिन मात्सर्यवंश कुछ वृद्धजन सधवद्ध होकर राज-परिपद में पहुँचे और महाराज समुद्रविजय को नमस्कार करके निवेदन करने लगे—'प्रभो! आपके राज्य में सम्पूर्ण प्रजाजन आनन्दपूर्वक और निर्भय होकर रह रहे हैं। आपके पुण्य प्रभाव से यहाँ की भूमि शस्य श्यामला बन गई है। वणिक वर्ग समृद्ध और सुसम्पन्न है। गाय-भैंस-क्षीरवर्षी है। प्रजा के सभी वर्गों को सब प्रकार का आनन्द है, किन्तु थोड़ा-सा दुःख भी है। किन्तु उसे हम लोग प्रगट भी नहीं कर सकते।

यह सुनकर महाराज समुद्रविजय प्रजाजनों से बोले—'भद्रजनों! मेरे राज्य में प्रजाजनों को कष्ट हो, यह मेरे लिये गौरव की बात नहीं है। आप लोग निर्भय होकर अपना कष्ट बताइये। मैं उसे प्राणपण से भी दूर करूँगा।

वृद्धजन महाराज से आश्वासन पाकर कहने लगे—'प्रभो! हमारे अविनय को क्षमा करें। कुमार वसुदेव धीर-वीर, शील शिरोमणि और शुद्ध हृदय वाले हैं। किन्तु जब वे नगर में निकलते हैं तो उनका रूप लावण्य देखकर नगर की कुल स्त्रियाँ रागान्व होकर अपने तन वदन की सुधबुध भूल जाती हैं। वे सारा कार्य छोड़कर घर से बाहर दौड़ पडती हैं। नगरवासियों का चित्त उद्भ्रान्त हो जाता है। हम लोगों ने अपनी मनोव्यथा निवेदन कर दी। अब जो करणीय हो, वह आप कीजिये।

महाराज प्रजाजनों की बात सुनकर विचारमग्न हो गये। कुछ समय पश्चात् प्रजाजनों को आश्वासन देकर विदा किया। प्रजाजन भी सन्तुष्ट होकर अपने घरों को लौट गये। तभी कुमार वसुदेव नगर-भ्रमण के वाद लौटे। आकर उन्होंने महाराज को प्रणाम किया। महाराज ने बड़े प्रेमपूर्वक आलिंगन किया और बालक के समान उन्हें अपनी गोद में बैठाकर मस्तक सूँघा और स्नेहसिक्त स्वर में बोले—'कुमार! तुम वन-भ्रमण से परिभ्रान्त हो गये हो। देखो तो, तुम्हारा मुख कैसा मुरझा गया है। तुम्हें भ्रमण के चाव में अपने शरीर की भी सुध नहीं रहती। अब भविष्य में तुम्हें स्नान और भोजन के समय का अतिक्रमण नहीं करना है। अब अन्त पुर के उद्यान में ही तुम क्रीडा किया करो।

इस प्रकार अपने प्रिय अनुज को समझाकर महाराज समुद्रविजय उनका हाथ पकड़ कर अपने प्रासाद में ले गये। उन्होंने वसुदेव के साथ ही स्नान और भोजन किया। उन्होंने इस प्रकार कौशल से व्यवस्था कर दी कि कुमार बाहर न जा पावे और कुमार को प्रतिबन्ध का अनुभव भी न हो। कुमार भी अन्त पुर के उद्यान में विविध क्रीडाये करने लगे।

एक दिन एक कुब्जा दासी महारानी शिवादेवी के लिये विलेपन लिये जा रही थी कि कुमार ने विनोद में उससे विलेपन छीन लिया। दासी रुष्ट होकर बोली—'कुमार! तुम ऐसी ही हरकतों के कारण कारागार में डाले गये हो।' दासी की बात सुनकर कुमार सन्निकत हो उठे और पूछने लगे—'कुब्जे! तूने यह क्या कहा? मुझे कैसा कारागार?' तब दासी ने कुमार को सब सत्य बात सुना दी। सुनकर वे गम्भीर हो गये और सोचने लगे-निश्चय ही मेरे साथ धोका हुआ है। वे इस बात पर विचार करते रहे और अन्त में एक निर्णय पर पहुँचने का उन्हें सन्तोष हुआ। वे चुपचाप राजप्रासाद और नगर को त्यागकर चल दिये एक लक्ष्यहीन दिशा की ओर। वे

अपने साथ एक विश्वस्त अनुचर को साथ ले गये और नगर के श्मशान में जा पहुँचे और नौकर को एक स्थान पर बैठाकर उससे कहा—‘मे मत्र सिद्ध करता हूँ। जब मैं आवाज दूँ, तभी तुम उत्तर देना।’ इस प्रकार कहकर वे कुछ दूर चले गये। वहाँ एक चिता जल रही थी तथा एक शव पड़ा हुआ था। कुमार ने अपने आभूषण उस शव को पहना कर उसे जलती चिता में रख दिया और जोर से कहा—‘पिता के समान राजा और चुगली करने वाले नागरिक सुख से रहे। मैं तो अग्नि-प्रवेश करता हूँ।’ इस प्रकार कहकर और दौड़ने का अभिनय करके, मानो वे अग्नि में प्रवेश कर रहे हों, वे अन्तर्हित हो गये। अनुचर ने सुना तो वह दौड़कर आया और चिता में कुमार के दग्ध शव को देखकर बड़ी देर तक विलाप करता रहा। फिर वह अत्यन्त शोकानुल होकर राजमहली को वापिस लौट गया। वहाँ जाकर उसने सम्पूर्ण घटना महाराज को सुना दी। यह हृदय विदारक घटना सुनकर सारे राजकुल और नगरवासियों में शोक छा गया। महाराज समुद्रविजय तत्काल बन्धु-बाधवी, नगरवासियों और राज्याधिकारियों को लेकर श्मशान पहुँचे। वहाँ शव की भस्म के साथ कुमार के आभूषणों को देखकर सबको निश्चय हो गया कि कुमार अवश्य ही अग्नि में भरम हो गये हैं। यह विश्वास होने पर सभी करुण विलाप करने लगे। राजा समुद्रविजय को घोर पश्चात्ताप हुआ और अपने प्रिय अनुज की मृत्यु से उन्हें हार्दिक दुःख हुआ। उन्होंने शोक सन्तप्त हृदय से मरणोत्तर क्रियायें कीं और सब लोग नगर में वापिस लौट आए।

कुमार वसुदेव निश्चिन्त मन से पश्चिम दिशा की ओर चल पड़े। उन्होंने एक ब्राह्मण कुमार का वेष धारण कर लिया। चलते-चलते वे विजयपेट नगर में पहुँचे। उस नगर में सुग्रीव नामक एक गन्धर्वाचार्य रहता था। उसकी दो पुत्रियाँ थी सोमा और विजयसेना। दोनों ही अपूर्व सुन्दरी थीं। गन्धर्वाचार्य अनेक कन्याओं के साथ विवाह—ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो गन्धर्व विद्या में मेरी पुत्रियों को जीतेगा, वही इनका स्वामी होगा। किन्तु आज तक उन दोनों को कोई पराजित नहीं कर सका था। किन्तु वसुदेव ने उन्हें थोड़े समय में ही पराजित कर दिया। सुग्रीव ने दोनों पुत्रियों का विवाह, कुमार वसुदेव के साथ कर दिया। वे वही पर सुखपूर्वक रहने लगे। कुछ काल के पश्चात् विजयसेना ने पुत्र प्रसव किया, जिसका नाम अक्रूर रखा गया।

एक दिन कुमार गुप्त रूप से वहाँ से भी निकल गये। भ्रमण करते हुए वे एक अटवी में पहुँचे। वहाँ एक सुन्दर सरोवर को देखकर वे उसमें बहुत देर तक जलक्रीडा करते रहे और हयेलियों से जल को बजाने लगे। उस आवाज से तट पर सोया हुआ एक हाथी जाग गया। वह क्रुद्ध होकर कुमार के ऊपर भ्रपटा। कुमार बड़ी चपलता से उसके दातों को पकड़ कर उसके मस्तक पर आरूढ हो गये और मुष्टिका प्रहारों से उस गजेन्द्र को अपना वशवर्ती बना लिया। उसी समय दो विद्याधर कुमार आये और कुमार को हाथी के मस्तक से अपहरण करके विजयार्ध पर्वत के मध्य में स्थित कृजरावर्त नगर में ले गये और कुमार को उस नगर के बाह्य उद्यान में छोड़ दिया। कुमार एक अशोक वृक्ष के नीचे सुखपूर्वक बैठ गये, तब उन दोनों विद्याधर कुमारों ने आकर उन्हें नमस्कार किया और निवेदन किया—‘स्वामिन्! आप यहाँ विद्याधर नरेश अशनिवेग की आज्ञा से लाये गये हैं। आप उन्हें अपना स्वसुर समझे। मेरा नाम अर्चिमाली है और यह दूसरा वायुवेग है।’ यों कहकर उनमें से एक तो नगर की ओर चला गया और दूसरा वही सुरक्षा के निमित्त रह गया। नगर में जाकर उसने नरेश को यह शुभ सवाद सुनाया कि हाथी के मान का मर्दन करने वाला सुदर्शन कुमार लाया जा चुका है। सुनकर नरेश बहुत हर्षित हुआ और उसे पुरस्कृत करके नरेश ने मगलाचार पूर्वक कुमार वसुदेव का नगर प्रवेश कराया और शुभ मुहूर्त में नरेश ने अपनी रूपवती कन्या श्यामा का विवाह कुमार के साथ कर दिया। निमित्तज्ञानियों ने भविष्यवाणी की थी कि जो व्यक्ति गजेन्द्र का मान मर्दन करेगा, वही राजपुत्री का पति बनेगा। इसीलिए नरेश ने दो युवकों को गजेन्द्र के निकट पहरा देने के लिए नियुक्त कर दिया था। निमित्तज्ञानियों की भविष्यवाणी पूरी हुई। कुमार राजकन्या के साथ सुखपूर्वक भोग भोगते हुए कुछ काल पर्यन्त वही रहे और वहाँ रहकर गन्धर्वविद्या का अध्ययन किया।

एक दिन श्यामा का चचेरा भाई अगारक रात्रि के समय सोते हुए कुमार का अपहरण कर ले गया। वह आकाश मार्ग से जा रहा था। तभी श्यामा की नीद खुल गई। वह भी हाथों में शस्त्रास्त्र लेकर विद्या-बल

से आकाश में पहुँची। वहाँ अंगारक और श्यामा का भयानक युद्ध हुआ। कुमार ने शत्रु की छाती पर मुष्टिका प्रहार किया जिससे वह व्याकुल होकर कुमार को छोड़कर भाग उठा हुआ। कुमार चपानगरी के एक सरोवर में गिरे। वहाँ से निकलकर नगर में गये। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि इस नगर के कुवेर चारुदत्त की पुत्री गन्धर्वसेना के लिए आज गायन-वाद्य प्रतियोगिता होने वाली है। श्रेष्ठी-पुत्री ने नियम किया है कि जो मुझे गान-वाद्य विद्या में पराजित कर देगा, वही मेरा पति होगा। इस समाचार को सुनकर कुमार भी प्रतियोगिता सभा में पहुँचे और वीणावादन और गायन कला में कुमार ने उस मानवती का मान भंग करके विजय प्राप्त की। श्रेष्ठी कन्या ने हर्ष से वरमाला उनके गले में डालकर उनका वरण किया। श्रेष्ठी ने विधिपूर्वक दोनों का विवाह कर दिया। चिर-काल तक कुमार ने वहाँ रहकर आनन्दपूर्वक भोग भोगे।

एक दिन रात्रि में एक वृंताल कन्या ने आकर कुमार वसुदेव को जगाया और बलात् वह उन्हें श्मसान में ले गई। वहाँ उसने नीलयशा नामक एक सुन्दरी कन्या को दिखाया और कहा कि यह कन्या आपके प्रेम में ग्रस्त है और आपसे विवाह की इच्छुक है। यह असित पर्वत नगर के राजा सिंहदत्त की पुत्री है। कुमार ने उससे विवाह करने की स्वीकृति दे दी। तब विद्याधरियाँ कुमार को आकाशमार्ग से असित पर्वत नगर ले गई। वहाँ शुभ मुहूर्त में कुमार के साथ नीलयशा का विवाह हो गया। कुमार वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे।

इस प्रकार कुमार वसुदेव ने विभिन्न स्थानों पर अनेक कन्याओं के साथ विवाह किया। उनके रूप-गुण और वीरता पर मुग्ध होकर अनेक राजाओं ने उन्हें अपनी कन्यायें प्रदान की। उनके आकर्षक व्यक्तित्व पर मुग्ध होकर अनेक कन्याओं ने उन्हें स्वेच्छा से वरण किया। अनेक कन्याओं को विभिन्न प्रतियोगिताओं में उन्होंने जीता। गिरित्त नगर वासी ब्राह्मण पुत्री सोमश्री, अचलगाम की श्रेष्ठी पुत्री वनमाला, वेदसामपुर की कपिला, शालगुहा नगर की पद्मावती, भद्रिलपुर की राजकुमारी चारुहासिनी, जयपुर की राजकन्या, इलावर्धन नगर की श्रेष्ठी-पुत्री रत्नवती तथा राजकुमारी सोमश्री, विद्याधर-कन्या मदनवेगा, वेगवती, गगनवल्लभपुर की राजकन्या बालचन्द्रा, श्रावस्ती की श्रेष्ठी-पुत्री बन्धुमती, और राजपुत्री प्रियगुसुन्दरी, विद्याधर पुत्री प्रभावती, कुण्डपुर की राजकुमारी, चम्पानगरी के मन्त्री की कन्या, म्लेच्छराज की कन्या जरा, अवन्तिसुन्दरी, शूरसेना, जीवद्यशा आदि अनेक कन्याओं के साथ कुमार वसुदेव का विवाह हुआ। तथा जरत्कुमार, पीण्डू आदि अनेक पुत्र हुए।

इस बीच में राजगृह नरेश जरासन्ध को निमित्तज्ञानियों ने यह बताया कि जो पुरुष जुए में एक करोड़ मुद्रायें जीतकर वही सब वाट देगा, वह तुम्हें मारने वाले पुत्र को जन्म देगा। निमित्तज्ञानियों के वचनानुसार जरासन्ध ने ऐसे पुरुष की खोज करने के लिए चर नियुक्त कर दिए। एक बार दुर्घटनावश कुमार वसुदेव राजगृह नगर में पहुँचे। वहाँ वे जुए में एक करोड़ मुद्रायें जीत गये और उन्होंने वे सब मुद्रायें वही वाट दी। चरो ने आकर कुमार को पकड़ लिया और उन्हें चमड़े की एक भाथड़ी में बन्द करके पर्वत के ऊपर से पटक दिया, जिससे वे मर जायें। किन्तु जब वे गिरे, तभी विद्याधरी वेगवती ने वेग से आकर उन्हें बीच में ही थाम लिया। इस प्रकार वे बच गये।

रोहिणी की प्राप्ति—देशाटन करते हुए कुमार वसुदेव अरिष्टपुर नगर में आये। वहाँ उन्होंने राजपथों पर मनुष्यों की भारी भीड़ और कोलाहल को देखकर एक नागरिक से कुतूहलवश पूछा—‘भद्र ! यह मनुष्यों का कैसा समुदाय है ? ये सब लोग कहाँ जा रहे हैं ?’ उस नागरिक ने उत्तर दिया—‘आर्य ! इस नगर के महाराज रुधिर की सुलक्षणा कन्या रोहिणी का स्वयंवर है। यह मनुष्य-समुदाय वही पर जा रहा है।’

वसुदेव यह समाचार सुनकर कुतूहलवश स्वयंवर देखने की इच्छा से स्वयंवर मण्डप में पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि मण्डप में जरासन्ध, समुद्रविजय आदि अनेक नरेश आये हुए हैं और मणिजटित महार्घ्य आसनो पर विराजमान हैं। सबके मुखों पर दर्प और आशामिश्रित भाव है। कुमार ने उस समय पणव वाजा बजाने वाले का वेष धारण कर रखा था, जिससे उन्हें उनके बन्धुजन भी न पहचान सके। उनके हाथ में भी पणव नामक वाद्य यन्त्र था तथा जहाँ पणव वाद्य बजाने वाले बैठे हुए थे, वे वही जाकर बैठ गये।

तभी रूप और शोभा की आगार, सौन्दर्य में रति को लज्जित करने वाली राजकुमारी रोहिणी ने घाय के

साथ स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश किया। तभी शंख और त्यों का मंगल-निनाद हुआ। राजाओं ने कुमारी रोहिणी के अर्निध सौन्दर्य की प्रशंसा भर सुनी थी। अब अनर्घ्य वस्त्रालकारों से सुसज्जित मूर्तिमती लक्ष्मी के समान रोहिणी की रूपछटा देखकर विस्मयविभूषण होकर देखने लगे। सबके मन में उस लालित्य मूर्ति की प्राप्ति की आशा की किरण प्रस्फुटित हो रही थी।

बाघों का तुमुल रव शान्त हुआ। घाय कुमारी रोहिणी को साथ में लेकर यथाक्रम सब राजाओं का परिचय देने लगी—हे पुत्रि ! ये श्वेत छत्रधारी त्रिलण्डाधिपति महाराज जरासन्ध है, ये जरासन्ध के प्रतापी पुत्र है, ये मथुरा के तेजस्वी नरेश उग्रसेन है, ये शौर्यपुर के स्वामी महा बलवान समुद्रविजय है। यदि तेरी रुचि हो तो इनमें से किसी के गले में वरमाला डाल दे। किन्तु घाय ने देखा कि इनमें से किसी के ऊपर कन्या का अनुराग प्रतीत नहीं होता, तब उसने आगे बढ़कर महाराज पाण्डु, विदुर, दमघोष, दत्तवक्त्र, शल्य, शत्रुजय, चन्द्राभ, कालमुख, पीण्डू, मत्स्य, सजय, सोमदत्त, भूरिश्रवा, अशुमान, कपिल, पद्मरथ, सोमक, देवक, श्रीदेव आदि राजाओं के वश, शौर्य आदि गुणों का परिचय देते हुए कहा—हे सौम्य वदने ! इन नरेशों में से जो तुम्हारे चित्त को हरण करने वाला हो, उसके सौभाग्य को प्रकाशित कर।

किन्तु राजकुमारी ने उत्तर दिया—हे मात ! आपने उचित ही कहा है। किन्तु आपके द्वारा बताये हुए इन राजाओं में से किसी के प्रति मेरा मन अनुरक्त नहीं है।

तभी राजवाला के कर्णकुहरो में पणव की मधुर ध्वनि पड़ी। कन्या ने मुड़कर उस ओर देखा। तभी उसे राजलक्षणों से युक्त कुमार वसुदेव दृष्टिगोचर हुए। उन्हें देखते ही रोहिणी का सम्पूर्ण शरीर हर्ष से रोमांचित हो उठा। वह राजहसी के समान मन्थर गति में आगे बढ़ी और कुमार वसुदेव के गले में वरमाला डाल दी। काम-देव और रति के समान इस सुदर्शन युगल को देखकर कुछ राजाओं ने हर्ष से कहा—जिस प्रकार रत्न और सुवर्ण का संयोग होता है, उसी प्रकार इन वर-वधू का संयोग हुआ है। इस रत्न पारखी कन्या को धन्य है।

किन्तु कुछ राजा मात्सर्यवश कहने लगे—यह तो घोर अन्याय है। एक पणववादक को वर कर राजकन्या ने सम्पूर्ण नरेश मण्डल का अपमान किया है। इस अपमान का प्रतिकार होना ही चाहिए। यदि प्रतिकार नहीं किया गया तो इससे कुल मर्यादा भंग हो जाएगी। यदि यह व्यक्ति कुलीन है तो अपना कुल बतावे, अन्यथा इसे यहाँ से निष्कापित करके यह कन्या किसी राजपुत्र को दे देनी चाहिए।

राजाओं का यह अनर्गल प्रलाप सुनकर धीरे धीरे वसुदेव बोले—राजागण हमारे वचन सुनें। स्वयंवर में आई हुई कन्या अपनी इच्छा के अनुरूप किसी का वरण करने के लिए स्वतंत्र है। उसमें कुलीन-अकुलीन का कोई प्रश्न नहीं है। यदि कन्या ने मुझ अपरिचित का सौभाग्य प्रगट किया है तो इस विषय में आप लोगों को कुछ नहीं कहना चाहिए। इतने पर भी पराक्रम के अहंकारवश कोई शान्त नहीं होता है तो मैं कान तक खोचकर छोड़े हुए बाणों से उसे शान्त कर दूँगा।

इस दर्पयुक्त धमकी को सुनकर जरासन्ध कुपित होकर बोला—इस उद्दण्ड और वाचाल पुरुष को तथा पुत्र सहित राजा रुधिर को पकड़ लो। चरुवर्ती की आज्ञा पाते ही मात्सर्यदग्ध राजा युद्ध के लिए उद्यत हो गये। कुछ राजा तटस्थ होकर अपनी सेना लेकर अलग जा खड़े हुए। जो राजा रुधिर के पक्ष के थे, वे अपनी सेना लेकर वहाँ आ पहुँचे। राजा रुधिर का पुत्र स्वर्णनाभ रोहिणी को अपने रथ पर आरूढ़ कर खड़ा हो गया। वसुदेव अपने श्वसुर से बोले—'पूज्य ! मुझे अस्त्र-शस्त्रों से भरा हुआ रथ दे दीजिये। ये दम्भी क्षत्रिय एक अज्ञात कुलशील व्यक्ति के बाणों की तीक्ष्णता का अनुभव करे।' राजा रुधिर ने तत्काल अस्त्र-शस्त्रों से भरा हुआ तीव्रगामी अश्वों से युक्त महारथ मगवा दिया। तभी दधिमुख विद्याधर कुमार के पास आकर बोला—'आप मेरे रथ में आरूढ़ होकर शत्रु दल का सहार कीजिये। मैं आपका सारथी बनूँगा। कुमार ने वैसा ही किया। राजा रुधिर की सेना कुमार के चारों ओर एकत्रित हो गई। उस सेना में दो हजार रथ थे, छह हजार हाथी, चौदह हजार घोड़े और एक लाख पदाति थे।

प्रतिपक्ष की सेना का कोई पार नहीं था। दोनों सेनाओं ने आमने-सामने मोर्चा जमा लिया। शंख, तुरही

आदि के तुमुलनाद के होते ही दोनो सेनाये एक दूसरी से जूझ पडी। मनुष्यो की लागो से मैदान पट गया। घोडो और हाथियो की भयकर चीत्कारो से आकाश पट गया। बाणो की अजन्म वर्षा से सूर्य तक ढक गया। तलवार, चक्र, गदा, परशु और नाना अस्त्र-शस्त्रो के प्रहारो से रुधिर की नदी बहने लगी। कुमार वसुदेव के हस्त-लाघव और शस्त्र-संचालन की निपुणता ने शत्रु-पक्ष के महावीरो को हतप्रभ कर दिया। तब उन्हाने मिलकर एक साथ वसुदेव पर आक्रमण किया। किन्तु कुमार ने बडी कुशलता से उनका सामना किया। कुछ न्यायप्रिय राजाओ ने कहा कि एक व्यक्ति के ऊपर अनेक वीरो का आक्रमण करना घोर अन्याय है। तब जरासन्ध ने आज्ञा दी कि अब एक-एक राजा इस युवक के साथ युद्ध करे। जरासन्ध का आदेश पाकर एक-एक राजा क्रम से कुमार के साथ युद्ध करने लगा। किन्तु कुमार ने असह्य बाणो के प्रहार के आगे टिक नहीं सके।

तब राजा समुद्रविजय की वारी आई। वे रथ में आरूढ थे। रथ वेग से वसुदेव की ओर बढ़ा। वसुदेव ने अपने पूज्य अग्रज को देखकर सारथी दधिमुख से कहा—‘दधिमुख! ये मेरे पिता के तुल्य हैं। इनकी सुरक्षा का ध्यान रखते हुए मुझे युद्ध करना है।’ जब दोनो रथ आमने-सामने आगये तो उस युवक को देखकर समुद्रविजय सारथी से बोले—‘भद्र! इस सौम्य युवक को देखकर मेरा मन स्नेहाकुल हो रहा है। मेरी दाहिनी आँख और भुजा भी फड़क रही हैं। इसका फल तो वन्दु-मिलन है। किन्तु युद्ध भूमि में यह कैसे संभव हो सकता है?’ सारथी बोला—‘स्वामिन्! यह शत्रु अजेय है। आप इसे जीतकर यश के भागी बनेंगे। तब वन्दु-समागम भी होगा।’

समुद्रविजय कुमार से बोले—‘प्रिय! तुमने अब तक कौशल का प्रदर्शन किया है। अब भी वही कौशल दिखाना। ध्यान रहे, मैं समुद्रविजय हूँ।’ कुमार वेष बदले हुए थे ही, आवाज भी बदल कर बोले—‘तात! चिन्ता न करे। वही कौशल अब भी दिखाऊँगा। आप समुद्रविजय हैं तो मैं सग्रामविजय हूँ। पहले बाण आप चलावे।’

समुद्रविजय ने बाण सन्धान किया, किन्तु कुमार ने उसे मार्ग में ही अपने बाण से काट दिया। समुद्रविजय ने जितने बाण चलाये, सबको कुमार ने काट दिया तब क्रोध में भरकर समुद्रविजय ने दिव्यास्त्र चलाना प्रारम्भ किया। कुमार ने भी उनका उसी प्रकार उत्तर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने समुद्रविजय के रथ, सारथी, और घोडो को भी आहत कर दिया। तब समुद्रविजय ने भयानक रौद्रास्त्र चलाया, कुमार ने ब्रह्मशिर नामक दिव्यास्त्र से उसे भी काट डाला। कुमार के रण कौशल और हस्तलाघव को देखकर शत्रु पक्ष के योद्धा भी उनकी प्रशंसा करने लगे। दोनो ही वीर अप्रतिम थे। जब बहुत समय युद्ध करते हुए व्यतीत हो गया, तब कुमार ने अपने नाम से अकित एक बाण अपने बड़े भ्राता के पास भेजा। बाण के साथ एक सन्देश भी सलग्न था। बाण मन्थर गति से चलकर समुद्रविजय के पास पहुँचा। समुद्रविजय ने सन्देश पढ़ा। उसमें लिखा था—जो अज्ञात रूप से निकल गया था, वही मैं आपका अनुज वसुदेव हूँ। आज सौ वर्ष पश्चात् पुन आत्मीय जनो के निकट आया हूँ। मैं आपको सादर प्रणाम करता हूँ।’

सन्देश प्राप्त होते ही समुद्रविजय रथ से कूदकर भुजा पसारते हुए अपने छोटे भाई की ओर दौड़े। वसुदेव भी रथ से उतर कर आगे बढ़े और अपने आदरणीय अग्रज के चरणों में गिर पड़े। बड़े भाई ने उन्हें उठाकर अपने अक में भर लिया। दोनो की आँखों से आनन्दाश्रु बहने लगे। उनके अन्य भाई भी आ गये। सभी गले लगकर मिले। जरासन्ध आदि राजा भी वसुदेव का परिचय पाकर बड़े सन्तुष्ट हुए। फिर शुभ बेला में वसुदेव का रोहिणी के साथ विवाह हो गया।

विवाह के बाद महाराज जरासन्ध, समुद्रविजय आदि नरेश और वसुदेव एक वर्ष तक राजा रुधिर के अतिथि रहे। एक दिन देवी रोहिणी सुख शैया पर सो रही थी। उन्होंने रात्रि के अन्तिम प्रहर में चार शुभ स्वप्न देखे। प्रथम स्वप्न में गर्जन करता हुआ श्वेत गज देखा। द्वितीय स्वप्न में उन्होंने उन्नत

बलभद्र बलराम
का जन्म

लहरो वाला गर्जन करता हुआ समुद्र देखा। तृतीय स्वप्न में षोडशकलायुक्त पूर्ण चन्द्र देखा और चतुर्थ स्वप्न में उन्होंने मुख में प्रवेश करता हुआ श्वेत सिंह देखा। प्रातः काल जागने पर उन्होंने अपने पति से स्वप्नों का वर्णन करते हुए उनका फल पूछा। स्वप्न सुनकर वसुदेव

अत्यन्त हर्षित होकर बोले—‘प्रिये ! तुम्हारे ऐसा पुत्र होगा जो अत्यन्त धीर, वीर, अजेय, पृथ्वी का स्वामी और प्रजाबल्लभ होगा’। स्वप्नो का फल जानकर देवी रोहिणी भी बहुत सन्तुष्ट हुई । महाशुक्र स्वर्ग से च्युत होकर एक महासामानिक देव रोहिणी के गर्भ में आया ।

नौ माह पूर्ण होने पर शुभ नक्षत्र में पुत्र-जन्म हुआ । राजा रुधिर ने दौहित्र का धूम-धाम से जन्मोत्सव मनाया और बालक का नाम ‘राम’ रक्खा ।

एक दिन राज-मण्डप में सब लोग बैठे हुए थे । एक विद्याधरी आकाश मार्ग में मण्डप में आई और आकर वसुदेव से बोली—‘देव ! आपकी पत्नी वेगवती और हमारी पुत्री बालचन्द्रा आपके चरणों के दर्शनो के लिए व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रही है । पुत्री बालचन्द्रा ने आपको अपने मन में वरण कर लिया है । इसलिए उसके साथ विवाह करके उसके प्राणों की रक्षा कीजिए ।’ विद्याधरी के वचन सुनकर व्यवहारज्ञ वसुदेव ने अपने अग्रज समुद्र विजय की ओर देखा । समुद्रविजय बोले—‘वत्स ! तुम्हें वहाँ अवश्य जाना चाहिये ।’ वसुदेव भ्राता की आज्ञा मिलने पर गगनवल्लभपुर गये और अपनी प्रिया वेगवती से मिले तथा बालचन्द्रा के साथ विवाह किया । इधर जरासन्ध और समुद्रविजय आदि नरेश भी अपने-अपने नगरों को लौट गये । राजा रुधिर ने सबका यथोचित सत्कार कर उन्हें विदा किया । कुमार वसुदेव भी गगनवल्लभपुर से अपनी दोनों स्त्रियों को लेकर और विभिन्न नगरों से अपनी सभी पत्नियों को लेकर शौर्यपुर पहुँच गये । राजा और जनता ने चिर वियोग के पश्चात् कुमार को पाकर बड़ा हर्षोत्सव मनाया और उनका अभिनन्दन किया ।

कस का जन्म और वसुदेव द्वारा वचन-दान—वसुदेव भाइयों के आग्रह को मानकर शौर्यपुर में रहने लगे और राजकुमारों को शस्त्र-विद्या सिखाने लगे । उनके शिष्यों में कस नामक एक कुमार भी था । एक दिन वसुदेव अपने कस आदि शिष्यों के साथ सम्राट जरासन्ध से मिलने राजगृह गये । वहाँ पहुँच कर उन्होंने एक राजकीय घोषणा सुनी—‘जो व्यक्ति सिंहपुर के स्वामी सिंहरथ को जीवित पकड़कर सम्राट के समक्ष उपस्थित करेगा, सम्राट उसका बड़ा सम्मान करेगा, अपनी अद्वितीय सुन्दरी पुत्री जीवद्यशा का विवाह उसके साथ करेगा और उसे इच्छित देश का राज्य देगा ।’

वसुदेव ने भी यह राज-घोषणा सुनी । उन्होंने कस से प्रेरणा करके पताका उठवाई, जिसका अर्थ था कि वह सम्राट के इस कार्य को करने के लिए तैयार है और सेना लेकर सिंहरथ से लड़ने के लिए चल दिये । सिंहपुर के बाहर मैदान में दोनों ओर की सेनायें आ डटी । सिंहरथ केवल नाम से ही सिंहरथ नहीं था, उसके रथ में वास्तव में जीवित सिंह जुते हुये थे । वसुदेव ने क्रीडा मात्र में अपने वाणों द्वारा सिंहों की रास काट दी । सिंह स्वतन्त्र होकर भाग गये । उसी समय बड़ी फुर्ती से वसुदेव की आज्ञा से कस ने सिंहरथ को बाँध लिया । वसुदेव अपने शिष्य के इस शौर्य और फुर्ती को देखकर बड़े प्रसन्न हुये । उन्होंने प्रसन्न हाकर कस से कोई वरदान मागने के लिए कहा । कस बड़ा चालाक था । वह विनयपूर्वक बोला—‘देव ! अभी वरदान को मेरी धरोहर समझकर अपने पास ही रखिये । मुझे जब आवश्यकता होगी, मैं आपसे माँग लूँगा ।’ वसुदेव ने भी उससे कह दिया—‘तथास्तु ।’

वसुदेव और कस शत्रु को लेकर राजगृह पहुँचे और जरासन्ध से मिले । जरासन्ध वसुदेव की वीरता पर प्रसन्न होकर बोला—‘कुमार ! जीवद्यशा पुत्री का मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ ।’ किन्तु कुमार ने उसे बाव में ही टोक कर बड़ी विनय के साथ कहा—‘आय ! शत्रु को कस ने पकड़ा है, मैं नहीं ।’ तब जरासन्ध ने कस से उसका कुल, गोत्र पूछा । कस बोला—‘मेरी माता मजोदरी कौशाम्बी में रहती है और मदिरा बनाने का काम करती है । जरासन्ध कस के रूप और शौर्य को देखकर विचार करने लगा ‘यह वीर युवक मदिरा बनाने वालों का पुत्र नहीं हो सकता ।’ उसने तत्काल कुछ सैनिक कौशाम्बी भेजकर वहाँ से मजोदरी को बुलवा लिया । सम्राट ने उससे कस के कुल, गोत्र का मृत्यु समाचार बताने की आज्ञा दी । मजोदरी बोली—‘एक दिन मैं यमुना तट पर गई हुई थी । वहाँ मैंने एक मजूषा बहती देखी । उसे मैंने निकाल लिया । उसमें एक शिशु का देखकर मुझे दया आई और उसे निकाल कर मैं पालन लगी । जब यह किशोर अवस्था में पहुँचा तो इसकी उद्वृण्डता बढ़ने लगी । साथी बालकों को यह मारता-पीटता था । इससे नित्य ही उलाहने और शिकायतें आने लगी । तब दुःखित हाकर मैंने इसे घर से निकाल दिया । ज्ञात हुआ कि यह कहीं शस्त्र-विद्या सीखने लगा । कस को मजूषा में निकला था, इसलिए इसका नाम कस

रख दिया था। वास्तव में उसकी माता नहीं हैं। वह मजूपा यह है।' यह कहकर उसने मजूपा सम्राट् को देदी। जरासन्ध ने मजूपा खोलकर देखी तो उसमें एक मुद्रिका तथा लेख मिला। लेख में लिखा था—यह राजा उग्रसेन और रानी पद्मावती का पुत्र है। जब यह गर्भ में था, तभी मे यह उग्र था। अतः अनिष्टकारी समझकर उसे त्याग दिया है।

जरासन्ध को अब कोई सन्देह नहीं रहा कि वह राजपुत्र है। उसने अपनी पुत्री जीवद्यया का विवाह प्रसन्नतापूर्वक कस के साथ कर दिया। कस को अपने पिता के ऊपर अत्यन्त क्रोध आया। प्रतिशोध लेने का सकल्प करके उसने जरासन्ध के मथुरा का राज्य मांगा। जरासन्ध ने उसे स्वीकार कर लिया। तब कम विशाल सेना लेकर मथुरा आया और अपने पिता उग्रसेन से युद्ध करके उन्हें कौशल में बाध लिया। इतना ही नहीं, उसने अपने पिता को नगर के मुरय द्वार के ऊपर कारागार में डाल दिया। अब वह मथुरा का शासक हो गया।

वसुदेव-देवकी का विवाह—कस अपने विद्या-गुरु वसुदेव के उपकारों को भूला नहीं था। उसने उन्हें अत्यन्त आग्रह और सम्मान के साथ मथुरा बुलाया और गुरु-दक्षिणा के रूप में अपनी बहन देवकी का विवाह उनके साथ कर दिया। वसुदेव उसके आग्रह को मानकर वही पर रहने लगे।

एक दिन अतिमुक्तक नामक एक निर्ग्रन्थ मुनि आहार के समय राज मन्दिर पधारे। कस-पत्नी जीवद्यया ने उन्हें देवकी का आनन्द-वस्त्र दिखाकर उनके उपहास किया। उसमें मुनि को क्षोभ आ गया। उन्होंने क्रोध में कहा—'मूर्ख! तू शोक के स्थान में आनन्द मान रही है। इसी देवकी के गर्भ से उत्पन्न बालक तेरे पति और पिता का सहार करेगा।' यह कहकर वे वहाँ से विहार कर गये।

इस भविष्यवाणी को सुनकर जीवद्यया भय में कापन लगी। उसे विश्वास था कि निर्ग्रन्थ मुनि के वचन कभी मिथ्या नहीं होते। वह पति के पास पहुँची और उसने सब समाचार उसे बता दिये। घृत् कस ने विचार किया और वह वसुदेव के पाम पहुँचा। उसने उन्हें प्रणाम करके बड़ी विनम्रता से धरोहर स्वरूप रखा हुआ वरदान देने की प्रार्थना की। वह बोला—'आर्य! आपने मुझे वरदान देने का वचन दिया था। मैं वह वर माँगता हूँ कि बहन देवकी प्रसूति के समय मेरे घर पर रहा करे। वसुदेव को इस समाचार का कुछ ज्ञान नहीं था, अतः उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया।

किन्तु उन्हें शीघ्र ही कस की दुरभिसन्धि का पता चल गया। तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे देवकी को लेकर वन में अतिमुक्तक मुनिराज के पास गये। मुनिराज को नमस्कार करके दोनों उनके पास बैठ गये। मुनिराज ने उन्हें आशीर्वाद दिया। तब वसुदेव ने उनसे पूछा—'भगवन्! मेरा पुत्र इस पापी कस का सहार कैसे करेगा, यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ।' अतिमुक्तक मुनिराज अवधिज्ञान के धारक थे। वे बोले—'राजन्! इस देवकी का सातवाँ पुत्र शङ्ख, चक्र, गदा और घनुष का धारक नारायण होगा। वह कस और जरासन्ध आदि शत्रुओं का वध कर अर्धचक्रेश्वर बनेगा। शेष छहों पुत्र चरम शरीरी होंगे। रोहिणी का पुत्र रामभद्र बलभद्र है। तुम्हें किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

वसुदेव और देवकी सन्तुष्ट मन से लौट गये। वसुदेव चूँकि वचन दे चुके थे। अतः उन्होंने कस के साथ मित्रता तो रक्खी, किन्तु उसमें उपेक्षा आ गई। वे दोनों आनन्दपूर्वक मथुरा में रहने लगे। कस मृत्यु को शका से शक्ति हुआ उनकी पहल की अपेक्षा अधिक अभ्यर्थता और सेवा सुश्रूपा करने लगा।

देवकी ने तीन बार गर्भ धारण किये और तीनों बार युगल पुत्र उत्पन्न हुए। इन्द्र की आज्ञा से सुनैगम देव ने प्रत्येक बार देवकी के पुत्रों को सुभद्रिलनगर के सेठ सुदृष्टि की पत्नी अलका के यहाँ और अलका के युगल मृत पुत्रों को देवकी के यहाँ पहुँचा दिया। कस ने उन मृत पुत्रों को शिला पर पछाड़ दिया। वे छहों पुत्र अलका संठानों के घर पर रह कर दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। उनका रूप, लावण्य और पुण्य अद्भुत था। उनके नाम इस प्रकार थे—नृपदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न और जितशत्रु।

नारायण कृष्ण

एक दिन देवकी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सात शुभ स्वप्न देखे। प्रथम स्वप्न में उगता हुआ सूर्य, दूसरे में पूर्ण चन्द्र, तीसरे में दिग्गजों द्वारा अभिषिक्त लक्ष्मी, चौथे में आकाश से नीचे उतरता हुआ विमान, पाचवें में ज्वालाओं से युक्त निर्धूम अग्नि, छठे में रत्नों की किरणों से दीप्त देव-ध्वज और सातवें में

कृष्ण-जन्म स्वप्न में अपने मुख में प्रवेश करता हुआ सिंह देखा। प्रातः काल उठकर उन्होंने पतिदेव से अपने स्वप्नों का वर्णन करके उनका फल पूछा। वसुदेव स्वप्नों का हाल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—'देवी! तुमने जो स्वप्न देखे हैं, उनका फल यह है कि तुम्हारे ऐसा प्रतापी पुत्र होगा जो समस्त पृथ्वी का स्वामी होगा। वह सूर्य के समान प्रतापी, चन्द्रमा के समान सर्वजन प्रिय, दिग्गजों द्वारा अभिषिक्त लक्ष्मी के समान अतुल राज्य लक्ष्मी का स्वामी, स्वर्ग से अवतरित होकर, अत्यन्त कान्ति युक्त, स्थिर प्रकृति और सिंह के समान निर्भय वीर होगा।

स्वप्नों का फल सुनकर देवकी को अपार हर्ष हुआ। उसी दिन देवकी ने गर्भ धारण किया। गर्भ धीरे धीरे बढ़ने लगा। कुटिल कस अलक्ष्य रूप से गर्भ के महीनो और दिनों की गिनती करता हुआ पूर्ण देख रेख कर रहा था। अन्य बालक नौ माह पूर्ण होने पर उत्पन्न हुए थे। परन्तु कृष्ण का जन्म श्रवण नक्षत्र में भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को सातवें माह में ही गया। सद्य जात बालक के शरीर पर शख, चक्र आदि शुभ लक्षण थे। शरीर का वर्ण और कान्ति नीलमणि के समान थी। उनकी कान्ति से प्रसूति गृह प्रकाशित हो उठा। बालक के पुण्य प्रभाव से बन्धु बान्धवों के घरों में शुभ शकुन होने लगे और शत्रुओं के घरों में अशुभ शकुन होने लगे।

सात दिनों से आकाश में घान्छन्न था। काली अधियारी सारे नगर पर छाई हुई थी। घनघोर वर्षा हो रही थी। वसुदेव और बलराम ने परामर्श करके निश्चय किया कि बालक को यथाशीघ्र नन्दगोप के घर पहुँचा देना चाहिये, वही इसका पालन पोषण होगा। उन्होंने अपनी योजना देवकी को भी बना दी। बलराम ने बालक को गोद में उठा लिया, वसुदेव ने उस पर छत्र लगा लिया और वे उस घोर अधियारी रात में वर्षा में ही चल दिये। सारा नगर बेसुध सो रहा था। अन्धेरे में राह नहीं सूझती थी। किन्तु बालक के असीम पुण्य के प्रभाव से नगर देवता बल का रूप धारण करके आगे-आगे चलने लगा। उसके सींगों पर दो रत्न-दीप जल रहे थे, जिससे रास्ते में प्रकाश विकीर्ण हो रहा था। गोपुर के द्वार बन्द थे किन्तु बालक का चरण स्पर्श होते ही द्वार खुल गये। तभी पानी की एक बूद बालक की नाक में घुस गई, जिससे उसे छीक आ गई। छीक का शब्द विजली के समान गम्भीर था। उस गोपुर के ऊपरी भाग में कस के पिता महाराज उग्रसेन बन्दी थे। छीक के शब्द को सुनकर बोले—'तू निर्विघ्न रूप से चिरकाल तक जीवित रह' पिता-पुत्र इस आशीर्वचन को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—'पूज्य! रहस्य की रक्षा की जाय। देवकी का यह पुत्र ही आपको बन्धन-मुक्त करेगा।' यो कहकर वे नगर के बाहर निकल गये।

बरसात की यमुना घहराती हुई प्रवल वेग से बह रही थी। किन्तु कृष्ण के पुण्य से यमुना ने दो भागों में विभक्त होकर उन्हें मार्ग दे दिया। यमुना पारकर वे अपने विश्वासपात्र नन्दगोप के घर की ओर जा रहे थे। तभी उन्होंने देखा—नन्दगोप सद्य जात एक बालिका को लिये हुए आ रहे हैं। वसुदेव ने उनसे पूछा—'नन्द! तुम यह बालिका कहाँ लिये जा रहे हो?' नन्द बोले—'कुमार! मेरी स्त्री ने देवी देवताओं की बड़ी मनौती मनाई थी कि सन्तान हो जाय। किन्तु जब यह कन्या उत्पन्न हुई तो वह कहने लगी—'ले जाओ इस कन्या को। मुझे नहीं चाहिये। उन्हीं देवताओं को दे जाओ। उसके कहने से मैं इस कन्या को लिये जा रहा हूँ।' नन्दगोप की बात सुन कर वसुदेव बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'मित्र! यह कन्या तुम मुझे दे दो और इसके बदले तुम यह पुत्र ले लो और अपनी पत्नी को यह कहकर सोप दो कि देवताओं ने तुम्हारी प्रार्थना सुनकर स्वीकार करली है और पुत्री के बदले यह पुत्र दे दिया है।' इसके बाद उन्होंने अपने उस विश्वासपात्र मित्र नन्दगोप को सारा वृत्तान्त सुना कर कहा—

मित्र । इस रहस्य की तुम प्राण पण से रक्षा करना । मैं इस भावी अर्धचक्री को तुम्हें सोप रहा हूँ । इसको तुम अपना ही बालक मानकर पालन पोषण करना ।’

नन्दगोप ने जब उस राजीव लोचन श्याम सलोने कामदेव के समान सुन्दर बालक को देखा तो हर्ष से उनका रोम-रोम खिल उठा । वे बालक को लेकर चल दिये । वसुदेव और बलराम भी बालिका को लेकर उसी रहस्यमय ढग से वापिस गये, जिस प्रकार वे आये थे और ले जाकर देवकी को सोप दिया ।

जब कस को बहन की प्रसूति का समाचार ज्ञात हुआ ता वह प्रसूति-गृह में घुस गया । जब उसने बहन के बगल में कन्या देखी तो उसके मन में भय दूर हो गया । फिर भी उसने सोचा-कदाचित् इसका पति मेरा शत्रु हो सकता है । यह विचार कर उसने कन्या को उठा लिया और उसकी नाक मसल कर उसे चपटी कर दिया । उसे यह भी विश्वास हो गया कि अब देवकी के सन्तान होना बन्द हो गया है । अतः वह निश्चित मन से वापिस लौट गया ।

उधर यथासमय नन्दगोप के घर पर बालक का जात सस्कार हुआ और उसका नाम ‘कृष्ण’ रखा गया ।

कृष्ण का बाल्य-जीवन—कृष्ण धीरे धीरे बढने लगे । बालक की अद्भुत बाल-क्रीडाओं को देख देख कर नन्द और यशोदा फूले नहीं समाते थे । वह बालक माता पिता की आँखों का तारा था । उसका रूप मोहक था । गाव की गोपिकायें बालक को खिलाने के बहाने वहाँ आती और उसे घण्टों तक अपलक नेत्रों से निहारती रहती । यही दशा वहाँ के गोपों की थी । नन्द का घर दिन रात इन गोप-गोपिकाओं से सकुल रहता था और वे बालक की एक भलक पाने के लिये व्याकुल रहते थे ।

कृष्ण द्वारा देवियों का मान-मर्दन—एक दिन वरुण नामक एक निमित्तज्ञानी ने कस से निवेदन किया—‘राजन् ! तुम्हारा घातक शत्रु उत्पन्न हो गया है और वह छद्म रूप में बढ रहा है । तुम उसका पता लगाओ ।’ निमित्तज्ञानी की बात सुनकर कस को चिन्ता होने लगी । उसने तीन दिन का उपवास किया । उससे उसके पूर्वजन्म की हितैषी सान देवियाँ आई और वे बोली—‘हम तुम्हारे पूर्व भव में किये हुए तप से सिद्ध हुई हैं । आपका हम क्या प्रिय कार्य कर सकती हैं ।’ कस बोला—‘देवियों ! मेरा शत्रु कहीं उत्पन्न हो चुका है । तुम उसका पता लगाओ और उसका विनाश कर दो ।’

कस की आज्ञा पाते ही वे सातों देवियाँ चल दी । एक देवी भयकर पक्षी का रूप धारण करके कृष्ण के पास पहुँची और अपनी तेज चोचों से उन पर प्रहार करने लगी । किन्तु बालक कृष्ण ने उसकी चोच इतनी जोर से दबाई कि वह प्राण बचाकर भागी । दूसरी देवी पूतना का रूप धारण कर बालक को विषमय स्तन पिलाने लगी । कृष्ण ने स्तन इतनी जोर से चूसा कि वह भी भयभीत होकर भाग गई । तीसरी पिशाची शकट का रूप धारण करके कृष्ण के सम्मुख आई किन्तु कृष्ण ने उसे लात मारकर भगा दिया ।

बालक कृष्ण अब कुछ बडे हो गये । उनकी शरारतें दिनो दिन बढती जाती थी । वे निगाह बचते ही मक्खन चुराकर खाजाते थे । परेशान होकर माता यशोदा ने एक दिन कृष्ण को उखली से बाँध दिया । तभी दो देवियाँ जमल और अर्जुन वृक्ष का रूप धारण करके कृष्ण को मारने आयी । किन्तु कृष्ण ने उन्हें धराशायी कर दिया । एक दिन एक देवी मत्त बैल का रूप बनाकर आई । वह बैल गोपों की बस्ती में भयकर शब्द करता हुआ फिरने लगा । फिरता हुआ वह घोर गर्जना करता हुआ कृष्ण की ओर झपटा । कृष्ण यमराज के समान उस भयकर बैल को आते देखकर जरा भी विचलित नहीं हुए । उन्होंने बैल की गर्दन जोरों से पकड कर मरोड दी । बेचारी देवी अपने प्राण बचाकर भागी । जब वे छह देवियाँ असफल होकर लौट गईं तो सातवीं देवी को भयकर क्रोध आया । उसने गोकुल के ऊपर पाषाण और जल की भयकर वर्षा प्रारम्भ कर दी । गोकुल वासी सम्पूर्ण गोप और गाये व्याकुल होकर इधर उधर भागने लगे । तब कृष्ण ने सबको एक जगह गोवर्धन पर्वत के ऊपर एकत्रित किया और सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया । इस प्रकार उन्होंने सारे गोवर्धन का भार उठा लिया अर्थात् गोवर्धन पर्वत पर रहने वाले गोपों और गायों की रक्षा का दायित्व उन्होंने अपने ऊपर ले लिया और सकलनापूर्वक उसे पूरा किया ।

कुछ लोगो का विश्वास है कि कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को ऊपर उठा लिया और सम्पूर्ण गोप और गाये उसके नीचे इन्द्र के प्रकोप से सुरक्षित रहे। हिन्दू पुराणो के इस आलंकारिक वर्णन का रहस्य न समझ कर कुछ लोग उनके शब्दो को पकड लेते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू पुराणो मे गोवर्धन पर्वत उठाने का रहस्य पहचान सके तो वे द्रोणाचल को ही उठा लाये। साधारण जनता ने इसका अर्थ यही निकाला कि वे वास्तव मे पर्वत को उठा लाये। किन्तु क्या पर्वत को उठा लाना संभव है, इस पर विचार नहीं किया। जैसे किसी नौकर को किसी ने साग लाने के लिये कुछ रुपये दिये। नौकर अपनी इच्छा और बुद्धि से दस पाच तरह के साग खरीद लाया। तब सागो को देखकर मालिक बोला अरे! तू तो सारा बाजार ही उठा लाया। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह बाजार की सारी चीजे ले आया, बल्कि इसका आशय वस्तुओ की बहुलता है। इसी प्रकार गोवर्धन पर्वत को कृष्ण ने उठा लिया, इसका आशय यह नहीं है कि उन्होंने पर्वत को पकड कर ऊपर उठा लिया। पर्वत को ऊपर उठाना संभव भी नहीं है। इसका आशय यह है कि कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत पर रहने वाले गोपो और गायो की जिम्मेदारी उठाई। जैसे बोलचाल मे कहते हैं—घर का सारा भार मेरे ऊपर है। इसका अर्थ यह नहीं है कि घर का सारा सामान और मकान वह अपने ऊपर लिये फिरता है, बल्कि इसका आशय यह है कि घर की सारी जिम्मेदारी मेरे ऊपर है। ऐसे ही कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उठाया अर्थात् उन्होंने गायो और ग्वालो को गोवर्धन पर्वत के किसी सुरक्षित स्थान पर ले जाकर हिन्दू पुराणो के अनुसार इन्द्र के प्रकोप से अर्थात् वर्षा आदि से रक्षा की।

कृष्ण की वीरता की गाथाये वसुदेव और देवकी के कानो तक पहुँची। देवकी का मातृ-हृदय अपने पुत्र से मिलने के लिये आतुर हो उठा। वह व्रत का बहाना करके पुत्र को देखने के लिये गोकुल पहुँची। वहाँ वह पीनस्तनी गायो और हृष्ट-पुष्ट गोप-बालको को देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। वह यशोदा से मिलने उसके घर पहुँची। नन्द और यशोदा अपनी स्वामिनी एव सखी को देखकर बडे प्रसन्न हुए और उन्होंने उसका बडा आतिथ्य किया। तभी बालक कृष्ण वहाँ आये। वे उस समय पीताम्बर धारी थे। सिर पर मोर-पखो का मुकुट धारण कर रक्खा था। गले मे नील कमल की माला धारण कर रक्खी थी। कानो मे स्वर्णभरण धारण किए हुए थे। कलाइयो मे स्वर्ण के कडे सुशोभित थे। माथे पर दुपहारीया के फूल लटक रहे थे। उनके साथ अनेक बाल गोपाल थे। देवकी अपने पुत्र के इस अद्भुत परिधान और मनभावन रूप को अपलक देखती ही रह गई। यशोदा के कहने पर कृष्ण ने देवकी को प्रणाम किया। देवकी ने उसे अक मे भर लिया। पुत्र-वात्सल्य के कारण उसके स्तनो से दूध भरने लगा। बुद्धिमान बलदेव ने रहस्य खुल जाने के भय से दूध के घडे से माता का अभिषेक कर दिया और शीघ्र ही माता को लेकर मथुरा पहुँचा दिया।

कृष्ण को शस्त्र विद्या का शिक्षण—वसुदेव ने अपने पुत्र कृष्ण की सुरक्षा और देख-भाल के लिये अपने बडे पुत्र बलदेव को नियुक्त कर दिया। रहस्य प्रगट न हो जाय, इसलिये बलदेव भी यदा-कदा जाकर अपने अनुज को देख आते थे और वहाँ जाकर वे कृष्ण को राजकुमारोचित अस्त्र-शस्त्र-संचालन की शिक्षा देते थे। कृष्ण अत्यन्त मेधावी थे। उन्होंने अल्पकाल मे ही अस्त्र-शस्त्र-संचालन मे पूरी निष्णता प्राप्त कर ली। वे मल्ल-विद्या मे भी पारङ्गत हो गये।

चाणूर और कंस का बध—कृष्ण की शौर्य गाथायें नाना रूप मे लोक मे फैल रही थी। उन्हे सुन-सुन कर कंस को विश्वास होने लगा कि मेरा शत्रु छद्म रूप मे बढ रहा है। उसने कृष्ण को मारने के लिये नानाविध उपाय किए, किन्तु वे सब व्यर्थ हो गये। तब ऐसी दशा मे उसका चिन्तित होना स्वाभाविक था। उसके अत्याचारो को वसुदेव मीन होकर देख रहे थे क्योकि वे वचनबद्ध थे।

एक दिन अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना हो गई। कंस के यहाँ सिंहावाहिनी नागशय्या, अजितजय नामक

धनुष और पाञ्चजन्य नामक शस्त्र ये तीन अद्भुत शस्त्र उत्पन्न हुए ।^१ ये शस्त्र असाधारण थे । देव लोग इनकी रक्षा करते थे । कस द्वारा इन शस्त्रों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पूछने पर वरुण ज्योतिषी ने कहा—‘राजन्’! जो व्यक्ति नागशय्या पर चढ़कर धनुष पर प्रत्यचा चढादे और पाञ्चजन्य शस्त्र को फूँक दे, वही तुम्हारा शत्रु है ।’ ज्योतिषी के वचन सुनकर कस की चिन्ता और भी बढ़ गई । उसने धनु का पता लगाने के लिये नगर में घोषणा करा दी—‘जो कोई यहाँ आकर नागशय्या पर चढ़कर एक हाथ से पाञ्चजन्य शस्त्र बजावेगा और दूसरे हाथ से धनुष पर डोरी चढा देगा, वह पराक्रमी माना जाएगा । महाराज कस उसका बहुत सम्मान करेंगे और अपनी पुत्री उसे देंगे ।’

घोषणा अन्य नगरों में भी प्रचारित की गई । उसे सुनकर अनेक देशों के राजा मथुरापुरी आने लगे । राजगृह से कस का साला स्वर्भानु अपने पुत्र भानु के साथ बड़े वंभव के साथ आ रहा था । मार्ग में वह ब्रज के गोधावन के एक सरोवर के तट पर ठहरने का उपक्रम करने लगा । इस सरोवर में भयकर सर्पों का निवास था । उसे ठहरते देखकर ग्वाल वालों ने उससे कहा—यहाँ ठहरना असंभव है । इस सरोवर से कृष्ण के अतिरिक्त कोई व्यक्ति पानी नहीं ले सकता ।’ यह सुनकर स्वर्भानु ने अन्यत्र अपनी सत्ता का पढाव डाल दिया और कृष्ण को अपने निकट बुलाकर बात करने लगा । कृष्ण के पराक्रम की बातों को सुनकर वह बड़ा प्रभावित हुआ और उन्हें स्नेह-वश अपने साथ मथुरापुरी ले गया ।

मथुरा पहुँचने पर वे लोग कस से मिले । उन्होंने उन लोगों को भी देखा, जिन्होंने नागशय्या पर चढ़ने का प्रयत्न किया था किन्तु असफल रहे । यह देखकर साहसी कृष्ण आगे बढ़े । उन्होंने भानु को पास ही खड़ा कर लिया और देखते-देखते उस नागशय्या पर साधारण शय्या के समान चढ़ गये, जिसके ऊपर भयकर सर्पों के फण लहरा रहे थे । तब उन्होंने एक हाथ से अजितजय धनुष की प्रत्यचा चढाकर दूसरे हाथ से शस्त्र को पकड़कर फूँका । इसके बाद स्वर्भानु का संकेत पाकर कृष्ण वहाँ से चल दिये । कृष्ण के लोकोत्तर प्रभाव को देखकर बलदेव को दुष्ट कस से आशंका हो गई । अतः उन्होंने कृष्ण को अकेला नहीं जाने दिया, बल्कि एक विजयी योद्धा के समान उनके साथ अनेक आत्मीय जनों को भी भेजा ।

इधर समारोह से विजयी योद्धा के अन्तर्धान होने से नाना भाँति की चर्चा होने लगी । किसी ने कहा—यह महान् कार्य राजकुमार भानु ने किया है । किसी ने कहा—यह कार्य भानु ने नहीं, अन्य राजकुमार ने किया है । यह सुनकर कस ने कहा—‘कौन राजकुमार था वह, उसका नाम, धाम पता लगाना होगा । मुझे उसके लिये अपनी कन्या देनी है ।’ जब नन्द गोप को पता लगा कि यह असाध्य काम मेरे पुत्र ने किया है तो वे स्त्री-पुत्र और गायों को लेकर कस के भय से भाग गये ।

यद्यपि कस को ज्ञात हो गया था कि यह कार्य कृष्ण ने किया है, किन्तु उसने अपना सदेह प्रगट नहीं किया और उन्हें मारने का उपाय सोचने लगा । उसने विचार करके गोपों को आदेश दिया—‘नाग हृद के सहस्रदल कमल की मुझे आवश्यकता है । तुम लोग उस सरोवर से मुझे कुछ कमल लाकर दो ।’ कस का यह आदेश सुनकर कृष्ण निर्भय होकर उस सरोवर में घुस गये । तभी वहाँ के सापो का अधिपति मणिधारी कालिय नाग भयकर फण फैलाकर कृष्ण की ओर तीव्र वेग से आया । किन्तु कृष्ण ने क्रीडा मात्र में उस विषधर का मान मर्दन कर दिया । समस्त गोप उस सर्प की भयकर आकृति को देखकर ही भयभीत हो गये थे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि कृष्ण ने उस सर्प का वध कर दिया है तो वे हर्ष के मारे उनकी जय-जयकार करने लगे । पीताम्बरधारी कृष्ण कमल तोड़कर ज्यों ही सरोवर से निकले, नीलाम्बरधारी बलभद्र ने उन्हें प्रगाढ़ आलिंगन में भर लिया ।

समस्त गोप सहस्र दल कमल लेकर कस के पास पहुँचे और उसके समक्ष उन कमलों का ढेर लगा दिया । यह देखकर कस ईर्ष्या से दग्ध हो गया । उसने तत्काल आदेश दिया—‘नन्द गोप के पुत्र और समस्त गोप मल्लयुद्ध के लिये तैयार हो जाये । उन्हें हमारे मल्लों के साथ युद्ध करना है ।’

१ उत्तर पुराण के अनुसार मथुरा में जैन मन्दिर के समीप पूर्व दिशा में दिग्गल के मन्दिर में ये तीनों शस्त्ररत्न उत्पन्न हुए थे ।

वसुदेव क्रूर कस के दुष्ट अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने अपने अनावृष्टि नामक पुत्र से परामर्श किया और उसे शौर्यपुर अपने सब भाईयो को बुलाने भेज दिया। समाचार मिलते ही महाराज समुद्रविजय और उनके आठो भाई रथ, घोड़े, हाथी और पदाति सेना लेकर चल दिये और मथुरा जा पहुँचे। जब कस को उनके आगमन की सूचना मिली तो उसका हृदय शक्ति हो उठा। किन्तु उसे आश्वस्त कर दिया गया कि ये लोग चिरकाल से वियुक्त अपने भाई वसुदेव से मिलने आये हैं, तब वह उनके स्वागत के लिये पहुँचा और सबको सम्मानसहित नगर में लाया, उन्हें उत्तम भवनो में ठहराया और सब प्रकार का उचित आतिथ्य किया।

समय अनुकूल समझ कर वलभद्र कृष्ण को लेकर नदी पर स्नान करने गये और वहाँ उन्हें कस की दुरभिसन्धि, कृष्ण के जन्म से पूर्व कस द्वारा देवकी के सभी पुत्रो की तथाकथित हत्या, समय से पूर्व कृष्ण का जन्म और छिपाकर नन्द गोप के घर पहुँचाने आदि के समाचार विस्तार से बताये। साथ ही अतिमुक्तक मुनि की भविष्यवाणी सुनाते हुये कहा—‘कस मल्ल विद्या के बहाने तुम्हारा वध करना चाहता है। उसने इस प्रकार के कई प्रयत्न किये हैं।’ कृष्ण वलभद्र से अपने वास्तविक वंश, माता-पिता-बन्धु और दुष्ट कस के समाचार सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। फिर दोनो भाई तैयार होकर गोपो के साथ मथुरा की ओर चले।

वे लोग नगर में प्रवेश करते हुए जब द्वार पर पहुँचे तो शत्रु की योजनानुसार चम्पक और पादाभर नामक दो हाथी उन लोगो की ओर हूल दिये गये। वे लोग/पहले से ही सावधान थे। तुरन्त ही वलभद्र ने चम्पक को धर दवाया और कृष्ण पादाभर से जूझ गये। उन मत्त गयन्दो ने अपने दात, सूड और पैरो के प्रहार से उन दोनो नरसिंहो को चूर-चूर करना चाहा, किन्तु सिंह के समान उन दोनो वीरो ने अपनी मुष्टिका और पाद-प्रहारो से उन गजो का मद विगलित कर दिया और वे उनके काँठन प्रहारो से चीत्कार करने लगे।

शत्रु की योजना को इस प्रकार विफल करके दोनो वीर भ्राता गोपमण्डली के साथ रगभूमि में पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही वलभद्र ने सकेत से कृष्ण को समझा दिया कि यह है शत्रु कस और ये हैं शत्रु-पक्ष के लोग। ये सामने अपने पुत्रो सहित समुद्रविजय आदि बन्धु बैठे हैं।

वहाँ मल्ल-युद्ध देखने के लिए अनेक नगरवासी, नगर के अधिकारी और राजा लोग एकत्रित थे। कस की आज्ञानुसार मल्ल-युद्ध प्रारम्भ हुआ। मल्लो के कई जोड़े रगभूमि में आये और अपने-अपने कौशल दिखाकर चले गये। तब कस ने कृष्ण से युद्ध करने के लिये अपने राजकीय मल्ल चाणूर को भेजा। उसने सकेत से मुष्टिक मल्ल को भी कृष्ण के ऊपर टूट पड़ने का सकेत कर दिया।

कृष्ण और चाणूर दोनों मुष्टिक-युद्ध में जुट गये। भ्रवसर देखकर मुष्टिक मल्ल आकर पीछे से कृष्ण पर प्रहार करना ही चाहता था, तभी विद्युत् गति से बढ़कर ‘बस-बस ठहर’ कहते हुए वलभद्र ने मुष्टिक के जवडो और सिर पर भारी मुष्टिका प्रहार करके उसे प्राणरहित कर दिया। उधर कृष्ण के साथ विशाल आकारधारी दैत्य सम चाणूर जूझ रहा था। कृष्ण ने चाणूर को अपने वक्ष स्थल से लगाकर इतनी जोर से दवाया कि उसके मुख से रुधिर की धारा वह निकली और गतप्राण हो गया। जब कस ने अपने दोनो मल्लो को प्राणरहित देखा तो वह क्रोध से नथुने फुलाता हुआ तलवार लेकर उन्हें मारने दौड़ा। कृष्ण ने सामने आते हुए शत्रु के हाथ से तलवार छीन ली और मजबूती से उसके बाल पकड़ कर उसे पृथ्वी पर पटक दिया। तत्पश्चात् उसके पैरो को पकड़कर उसे पत्थर पर पछाड़ कर मार डाला। कस को मारकर कृष्ण हँसने लगे।

राजा की हत्या से क्षुब्ध होकर कस की सेना शस्त्र सभाले आगे बढ़ी। वलभद्र ने क्रोधवश मच का एक स्तम्भ उखाड़ लिया और उसी से सेना पर बख्त तुल्य प्रहार करने लगे। उन्होंने कस को सेना का अल्पकाल में ही परास्त कर दिया। तब कस की सेवा में नियुक्त जरासन्ध की सेना आगे आई। उस सेना को बढ़ते देखकर यादवों का सेना उस पर टूट पड़ा और शत्रु-सैनिको को समाप्त करने में उन्हें विशेष समय नहीं लगा।

माता-पिता से कृष्ण का मिलन—वलभद्र और कृष्ण दोनों भाई अनावृष्टि के साथ रथ में आरुढ़ होकर अपने पिता के घर गये। वहाँ पर महाराज समुद्रविजय और उनके सभी भाई पहले ही पहुँच चुके थे। दोनों भाइयों ने जाकर समुद्रविजय आदि गुहजनों को तमस्कार किया। गुहजनों ने उन्हें आशीर्वाद दिया। अपने चिर वियुक्त पुत्र

को पाकर वसुदेव और देवकी के हर्ष का पार नहीं था। आज उन्होंने पहली बार अपने पुत्र का मुख निश्चक रूप से देखा था।

इसके बाद सबने मिलकर राज के भविष्य के बारे में निर्णय किया। तदनुसार कृष्ण ने कारागार में पड़े हुए महाराज उग्रसेन को वहाँ से मुक्त किया तथा राजसिंहासन पर लेजाकर बैठाया। फिर सबने मिलकर कस आदि का अन्तिम सस्कार किया। कस की पत्नी जीवद्यया रदन करती हुई तथा क्रोध में भरी हुई वहाँ से चलकर अपने पिता राजगृह नरेश जरासन्ध के पास पहुँच गई।

सत्यभामा और रेवती का विवाह—एक दिन यादववंशी नरेश गण राजभामा में बैठे हुए थे, तभी विजयार्ध-पर्वत की दक्षिण श्रेणी के नगर रथनूपुर चक्रवाल के नरेश सुकेतु का दूत मभा में आया। उसने बड़े आदर और विनय के साथ अनुओं का सहार करने वाले श्रीकृष्ण में कहा—‘हे देव! विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्रवाल प्रसिद्ध नगर है। वहाँ के अधिपति महाराज सुकेतु ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है। उन्होंने सिंहाहिनी नागगर्भा पर आरोहण, पांचजन्य शर को फूटने और अजितजय धनुष के सन्धान से आपकी परीक्षा करके यह निवेदन किया है कि आप मेरी मुलक्षणा पुत्री सत्यभामा को अगोकार कर लें। इससे विद्याधर लोक का गौरव बढ़ेगा।’ दूत के वचन सुनकर प्रसन्न चित्त से कृष्ण ने अपनी सहमति दे दी।

सहमति प्राप्त होते ही दूत वहाँ से रथनूपुर पहुँचा और वहाँ अपने स्वामी सुकेतु से कृष्ण और बलभद्र भाइयों की प्रशंसा करके कार्य सिद्ध होने की सूचना दी। दूत-मुस से यह हर्ष-समाचार सुनकर राजा सुकेतु और उसका भाई रतिमाल अपनी-अपनी कन्याओं को लेकर चल दिए। सुकेतु की कन्या का नाम सत्यभामा था और वह रानी स्वयप्रभा की पुत्री थी। रतिमाल की कन्या का नाम रेवती था। मथुरा पहुँच कर उन्होंने बड़े समारोह के साथ विवाह-मण्डप तैयार कराया। उसमें रतिमाल ने अपनी पुत्री रेवती बलभद्र के लिए अर्पित की और सुकेतु ने अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह कृष्ण के साथ कर दिया। इस विवाह-सम्बन्ध से समस्त यादव, विशेषतः माता रोहिणी और देवकी अत्यन्त सन्तुष्ट थी।

यादवों के प्रति जरासन्ध का अभियान—कस की स्त्री जीवद्यया जब गिरिव्रज पहुँची और जरासन्ध के आगे कर्ण विलाप करते हुए उसने यादवों का नाश करने के लिए अपने पिता को भडकाया तो जरासन्ध भी अपनी पुत्री और दामाद के प्रति यादवों द्वारा किये गये अनुचित कार्य से क्षुब्ध हो उठा। उसने पुत्री को सान्त्वना देकर यादवों के विनाश का निश्चय किया। उसने अपने महारथी पुत्र कालयवन को चतुरगिणी सेना के साथ यादवों का समूल विनाश करने के लिये भेजा।

इधर श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को कारागार से मुक्त करके उन्हें मथुरा का राज्य सौंप दिया तथा अपने पिता मन्द तथा अपने बालसखा गोपालो का धन आदि से उचित सम्मान करके उन्हें आदर सहित विदा कर दिया। सब कार्यों से निवृत्त होकर वे शौर्यपुर नगर चले गये और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे।

कालयवन विशाल सेना लेकर चला। दूतों द्वारा समाचार जानकर यादव लोग भी सेना सजाकर शत्रु का प्रतिरोध करने आगे बढ़े। मार्ग में दोनों सेनाओं का सामना हुआ और भयकर युद्ध हुआ। कालयवन को श्रीकृष्ण के हाथों करारी पराजय मिली और उसे रणभूमि छोड़कर भागना पड़ा। किन्तु वह पुनः सेना लेकर जा चढ़ा। इस प्रकार उसने सोलह बार आक्रमण किया और प्रत्येक बार उसे पलायन करना पड़ा। सत्रहवीं बार अनुल मालावर्त पर्वत पर यादवों के साथ उसकी करारी मुठभेड़ हुई किन्तु इस युद्ध में श्रीकृष्ण के द्वारा उसकी मृत्यु हो गई।

अपने पुत्र की मृत्यु के दारुण समाचार सुनकर जरासन्ध को यादवों पर भयकर क्रोध आया और उसने अप्रतिभ वीर भ्राता अपराजित को यादवों से बदला लेने के लिये भेजा। उसने तीन सौ छयालीस बार यादवों के साथ युद्ध किया। अन्त में श्रीकृष्ण के वाणों ने उसे भी कालयवन के निकट पहुँचा दिया।

भगवान का गर्भ कल्याणक—तीर्थंकर प्रभु शौर्यपुर में माता शिवादेवी के गर्भ में आने वाले हैं। यह बात अवधिज्ञान से जानकर इन्द्र ने छह माह पूर्व कुबेर को रत्नवर्षा की आज्ञा दी। कुबेर ने भगवान के जन्म पर्यन्त-पन्द्रह माह तक महाराज समुद्रविजय के महलो में प्रतिदिन तीन बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की एक बार के हिसाब से

वर्षा की। महाराज समुद्रविजय इस घन को याचको मे वितरित कर देते थे। इन्द्र के आदेश से छप्पन दिक्कुमारियाँ माता की सेवा करती थी।

एक दिन माता शिवादेवी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह शुभ स्वप्न देखे। उसी दिन कार्तिक शुक्ला षष्ठी को जयन्त विमान से अहमिन्द्र का जीव चलकर माता के गर्भ मे अवतरित हुआ। प्रातः काल वन्दोजनों की मागलिक विरुदावलियों और भेरियो की ध्वनि सुनकर माता शिवादेवी शय्या छोडकर उठ बैठी और मगल स्नान किया, वस्त्राभरण धारण किये और बडी विनय के साथ अपने पति के निकट जाकर अर्घासन पर आसीन हो गई। पश्चात् उन्होंने रात को देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनका फल पूछा। महाराज ने स्वप्न सुनकर उनका फलादेश बताते हुए कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ मे तीन लोक के स्वामी तीर्थकर अवतीर्ण हुए है। स्वप्न फल सुनकर रानी अत्यन्त हर्षित हुई। उसी समय इन्द्रो ने चिन्हो से तीर्थकर का गर्भावतरण जान लिया और उन्होंने देवो के साथ आकर भगवान का गर्भ कल्याणक महोत्सव किया।

जन्म कल्याणक—भगवान त्रिलोकीनाथ गर्भ मे थे, इसलिये माता को किमी प्रज्ञार का कण्ट नहीं होता था। देवागनाओ द्वारा सपादित अमृतमय आहार करने के कारण उनका शरीर कृश होने पर भी सुवर्ण की कान्ति जैसा देदीप्यमान हो गया था। महाराज समुद्रविजय का यश-वैभव भी निरन्तर वृद्धिगत हो रहा था। इस प्रकार गर्भ के नौ मास आनन्दपूर्वक व्यतीत हुए।

नौ माह पश्चात् वैशाख शुक्ला त्रयोदशी की शुभतिथि मे जब चन्द्रमा का चित्रा नक्षत्र के साथ सयोग था और शुभग्रह अपने उच्च स्थान पर थे, तब शिवादेवी ने अतिशय सुन्दर बालक को जन्म दिया। बालक तं न ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान से युक्त था, उसका शरीर एक हजार लक्षणो से युक्त था और नील कमल की आभा का धारक था। प्रसूतिगृह मे मणिमय दीपको की कान्ति उस बालक के तेज से और भी अधिक उद्योत को प्राप्त हो गई।

भगवान के जन्म लेते ही उनके पुण्य-प्रभाव से भवनवासी देवो के लोक मे स्वय ही शखो का जोरदार शब्द होने लगा, व्यन्तर लोक मे पटह बजने लगे, ज्योतिष्क लोक मे सिहनाद होने लगा और कल्पवासी देवो के विमानो मे घण्टे बजने लगे। सभी इन्द्रो के मुकुट और सिंहासन चचल हो उठे। तब चारो निकाय के समस्त इन्द्र देवो के साथ भगवान का जन्म कल्याणक मनाने चल पडे। अहमिन्द्र यद्यपि अपने-अपने स्थान पर हो रहे, किन्तु उन्होंने अपने सिंहासनों से सात कदम सामने जाकर वही से जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार किया था।

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा प्रथम स्वर्ग से लेकर सोलहवे स्वर्ग तक के कल्पवासी देव और उनके इन्द्र वहाँ आये। इन सबमे सोधमैन्द्र को शोभा अद्भूत थी। वह इन्द्राणी के साथ ऐरावत गजराज पर बैठा हुआ था। गजराज के दातो पर अप्सरायें नृत्य कर रही थी। इन्द्र के पीछे उसको सात प्रकार की देवनेना चल रही थी। सबसे आगे पदाति थे। फिर अश्व-सेना थी। उसके पीछे बैली की सेना थी। तदनन्तर रथो की सेना थी। फिर हाथियो की सेना चल रही थी। इसके बाद गन्धर्व-सेना थी जिसने मधुर मूर्च्छनासे कोमल वीणा, उत्कृष्ट बासुरी और ताल के शब्द से मिश्रित सातो प्रकार के आश्रित स्वरो मे मध्यलोकको व्याप्त कर दिया था और सबके अन्त मे थी नर्तकियो की सेना जो नृत्य द्वारा रस-सृष्टि कर रही थी। इन सेनाओ मे प्रत्येक की सात कक्षाये थी। प्रथम कक्षा मे चौरासी हजार घोडे, इतने ही हाथी, रथ आदि थे। इससे आगे की कक्षाओ मे क्रम से दूने-दूने होते गये थे।

ये देव और इन्द्र शौर्यपुर मे आये, तब तक दिक्कुमारी देवियो ने भगवान का जात कर्म निष्पन्न किया। रत्नाभरण धारण करने वाली विजया, वैजयन्ती, अपराजिता, जयन्ती, नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्धना और नन्दोत्तरा देवियाँ जल से पूर्ण भारियाँ लिये खडी थी। यशोधरा, सुप्रसिद्धा, सुकीर्ति, सुस्थिता, प्रणिधि, लक्ष्मीमती, चित्रा और वसुन्धरा देवियाँ मणिमय दर्पण लिये हुए थी। इला, नवमिका, सुरा, पीता, पद्मावती, पृथ्वी, प्रचर काचना और चन्द्रिका नामक देवियाँ माता के ऊपर श्वेत छत्र ताने हुए थी। श्री, धृति, अज्ञा, वारुणी, पुण्डरीकीणी, अलम्बुसा, मिश्रकेशी और ह्री देवियाँ चमर लिये खडी थी। कनकचित्रा, चित्रा, त्रिशिरा और सूत्रामणि ये विद्युत्कुमारी देवियाँ भगवान के समीप खडी थी। विद्युत्कुमारियो मे प्रधान रुचकप्रभा, रुचका, रुचकाभा और

रुचकोज्वला तथा दिवकुमारियो मे प्रधान विजया आदि चार देवियो ने विधिपूर्वक भगवान का जात कम सम्पन्न किया ।

भगवान के जन्मोत्सव के पूर्व ही कुबेर ने शौर्यपुर को दुलहिन की तरह सजा रक्खा था । उसके महलों पर ऊँची-ऊँची ध्वजाये फहरा रही थी, राज्य पथ और वीथियाँ विलकुल स्वच्छ थीं । सारे नगर में तोरणो और वन्दनमालाओ की शोभा अद्भुत थी । चारो निकाय के इन्द्रो और देवो ने नगर की तीन प्रदक्षिणायेँ दी । फिर इन्द्र ने कुछ देवो के साथ नगर मे प्रवेश किया और इन्द्राणी को सद्योजात बाल भगवान को लाने का आदेश दिया । तब इन्द्राणी ने प्रसूतिका-गृह मे प्रवेश करके आदर पूर्वक जिन-माता को प्रणाम किया और उनकी बगल में मायामय बालक सुलाकर और उन्हे मायामयी निद्रा में सुलाकर जिन बालक को लाकर इन्द्र को सौंप दिया । इन्द्र भगवान को ऐरावत हाथी पर विराजमान करके समस्त देवो के साथ सुमेरु पर्वत पर ले चला । उस समय की शोभा अचर्यनीय थी । ऐरावत हाथी के बत्तीस मुख थे । प्रत्येक मुख मे आठ-आठ दात थे । प्रत्येक दात पर एक-एक सरोवर था । प्रत्येक सरोवर मे एक-एक कमलिनो थी । एक-एक कमलिनो मे बत्तीस-बत्तीस पत्र थे । एक-एक पत्र पर अक्षय यौवना अप्सरा नृत्य कर रही थी । इस प्रकार की देवी विभूति के साथ देव लोग सुमेरु पर्वत के निकट पहुँचे और उसकी प्रदक्षिणा देकर पाण्डुक नामक वन-खण्ड मे पहुँचे । वहाँ पाण्डुक शिला पर स्थित सिंहासन पर भगवान को विराजमान किया । उस समय देवाङ्गनायेँ और नृत्यकार देव भक्ति नृत्य कर रहे थे , नगाडे, गल और भेरियो का तुमुलनाद हो रहा था । सुगन्धित धूप घटो मे जल रही थी । सुगन्धित वायु वातावरण को सुवासित कर रही थी । सुमेरु पर्वत और क्षीरसागर के मध्य देदीप्यमान कलश हाथ मे लिये हुए देवो की पक्तियाँ खडी थी और वे कलश एक हाथ से दूसरे हाथ मे जा रहे थे । इन्द्रो ने और फिर देवो ने भगवान का अभिषेक किया । इन्द्राणी और देवियो ने भगवान का श्रृंगार किया । तब देव लोग भगवान को लेकर शौर्यपुर वापिस लौटे और प्रासाद मे पहुँच कर इन्द्राणी ने बालक को जिन-माता को गोद मे दिया । तब इन्द्र ने आनन्दनाटक और भक्तिपूरित हृदय से ताण्डव नृत्य किया । फिर इन्द्र ने माता-पिता को प्रणाम किया, जिन बालक के दाहिने हाथ के अंगूठे मे अमृत निक्षिप्त किया और कुबेर को ऋतु, अवस्था आदि के अनुसार भगवान की सब प्रकार की व्यवस्था करने का आदेश देकर समस्त देवो के साथ वापिस प्रस्थान किया । इस प्रकार भगवान नेमिनाथ का जन्म महोत्सव समस्त इन्द्रो और देवो ने मिलकर मनाया ।

यादवों द्वारा शौर्यपुर का परित्याग—अपने पुत्रो और प्राणोपम भ्राताकी मृत्यु से जरासन्ध जितना शोका-कुल हुआ, उससे कही अधिक उनका घात करने वाले यादवो पर क्रोध आया । उसने यादवो का समूल विनाश करने का निश्चय कर लिया । उसने अविलम्ब चरो द्वारा मित्र नरेशो और अधीन राजाओं को सन्देश भेज दिये । फलतः नाना देशो के नरेश अपनी-अपनी चतुरगिणी सेना लेकर आ पहुँचे ।

यादवो को अपने चतुर चरो द्वारा जरासन्ध की विशाल युद्ध तैयारियों का पता चल गया । अतः युद्ध-स्थिति पर विचार करने और अपनी भावी नीति निर्धारित करने के लिये शौर्यपुर मे शौर्यपुर, मथुरा और वीर्यपुर के वृष्णिवशी और भोजवशी यादवो के प्रमुख लोगो की मन्त्राणागार मे सभा जुड़ी । मन्त्रणा का निष्कर्ष इस प्रकार रहा—

जरासन्ध की आज्ञा भरतक्षेत्र के तीन खण्डो मे कभी अतिक्रान्त नहीं हुई । चक्र, खड्ग, गदा और दण्डरत्न के कारण वह अजेय समझा जाता है । हम लोगो पर वह सदा उपकार करता रहा है किन्तु अब वह अपने भ्राता और पुत्रो के वध के कारण यादवो पर अत्यन्त क्रुद्ध हो रहा है । वह इतना अहकारी है कि हम लोगो के देव और पुरुषार्थ सम्बन्धी सामर्थ्य को जानता हुआ भी उसे अनदेखा कर रहा है । कृष्ण और बलराम का पौरुष और प्रताप बालकपन से ही प्रगट हो रहा है । इन्द्र और देव भी जिनके चरणो मे नम्रीभूत होते है और लोकपाल जिनके लालन-पालन करने के लिये व्यग्र रहते है, वे नेमिनाथ तीर्थकर यद्यपि अभी बालक ही है, किन्तु तीर्थकर के कुल का अपकार करने का सामर्थ्य तीन लोक में किसी में नहीं है ।

फिर भी हमें उसकी असंख्य सेना और अपार बल का सामना करने के लिए शक्ति-संग्रह करना आवश्यक है और उसके लिये हमें कुछ समय के लिये क्षान्तिपूर्ण अवसर प्राप्त होना चाहिये । इसलिये हमें अभी इस स्थान का परित्याग करके पश्चिम दिशा की ओर किसी सुरक्षित स्थान पर चलना चाहिये । यदि जरासन्ध हमारा

सामना करना चाहेगा तो हम लोग दण्डनीति का आश्रय करके उसे मृत्युलोक में पहुँचा देंगे। तीर्थंकर नेमिनाथ, नीति विचक्षण कृष्ण और महाबली बलराम के रहते हम लोगो को चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

निर्णय हो गया कि यादवो को अविलम्ब प्रस्थान करना है। कटक में आदेश प्रचारित कर दिया गया। भेरी-घोष सुनकर वृष्णिवश और भोजवश के समस्त यादव शुभ मुहूर्त में वहाँ से चल पडे। मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुर की समस्त प्रजा भी स्वामी के अनुराग से उनकी अनुगत हुई। उस समय अपरिमित धन से युक्त अठारह कोटि यादवो ने वहाँ से प्रस्थान किया।

यादव थोड़ी-थोड़ी दूर पर पडाव डालते हुए पश्चिम दिशा की ओर बढ़ रहे थे। जब वे विन्ध्याचल पर पहुँचे तो चरो द्वारा उन्हें समाचार प्राप्त हुआ कि मार्ग में जरासन्ध विशाल सेना लेकर शीघ्रता पूर्वक पीछे-पीछे आ रहा है। यादव वीरो ने यह समाचार सुना तो उनकी भुजायें फडकने लगी। जरासन्ध से निवटने के लिये वे लोग उसकी प्रतीक्षा अधीरतापूर्वक करने लगे।

किन्तु प्रकृति को कुछ और ही इष्ट था। जब दोनो सेनाओ में थोडा ही अन्तर रह गया तो अर्धभरत क्षेत्र में निवास करने वाली देवियो ने अपनी दिव्य सामर्थ्य से असह्य जलती हुई चिताये बनादी। जब जरासन्ध सेना सहित वहाँ पहुँचा तो उसने चिताओ में जलती हुई सेना को देखा। जरासन्ध यह देखकर विस्मित रह गया। उसने अपनी सेना वही ठहरा दी। तभी उसकी दृष्टि चिताओ के निकट रोती हुई एक वृद्धा पर पडी। जरासन्ध उसके निकट पहुँचा और पूछने लगा—'वृद्धे! यह किसका कटक जल रहा है और तू यहाँ बैठी क्यों रो रही है? मुझे सच-सच बता।' वह वृद्धा कठिनाई से अपना रुदन रोक कर उच्छ्वसित कण्ठ से बोली—'राजन्! मैं आपको सम्पूर्ण घटना बताती हूँ। आपके समक्ष अपना दुःख निवेदन करने से शायद मेरा दुःख कम हो जाय। सुना है, राजगृह नगर में जरासन्ध नामक कोई प्रतापी सम्राट है, जिसके प्रताप की अग्नि समुद्र में भी बडवानल बनकर जलती है। यादव लोग अपने अपराधो के कारण उस सम्राट से भयभीत होकर अपना नगर छोड़कर भागे जा रहे थे। परन्तु समस्त पृथ्वी में भी उन्हें किसी ने शरण नहीं दी। तब उन्होंने अग्नि में प्राण विसर्जन करके मरण की शरण को ही उत्तम समझा। मैं यादव-नरेशो की वंश परम्परागत दासी हूँ। मुझे अपने प्राण प्रिय थे, इसलिये मैं नहीं मर सकी, किन्तु अपने स्वामी के इस क्रमरण के दुःख से दुखी होकर यहाँ बैठी रो रही हूँ।'

वह वृद्धा के वचन सुनकर अत्यन्त विस्मित हुआ और यादवो के जल मरने की बात पर उसने विश्वास कर लिया। वह वहाँ से राजगृही को लौट गया। यादव लोग भी वहाँ से चलकर पश्चिम समुद्र के तट पर जा पहुँचे।

द्वारिका नगरी का निर्माण—शुभ मुहूर्त में कृष्ण और बलभद्र स्थान प्राप्त करने के उद्देश्य से तीन दिन के उपवास का नियम लेकर पंच परमेष्ठियो का ध्यान करते हुए दर्भासन पर स्थित हो गये। उनके पुण्य से और तीर्थंकर नेमिनाथ की भक्ति से प्रेरित होकर सौधर्मन्द्र की आज्ञा से गौतम नामक शक्तिशाली देव ने समुद्र को दूर हटा दिया और कुबेर ने उस स्थान पर द्वारका नामक नगरी की रचना कर दी। यह नगरी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी तथा बज्रमय कोट से युक्त थी। समुद्र उसकी परिखा का काम करता था। उस नगरी में सुगन्धित कमलो से भरी हुई पुष्करिणी, वापिका, सरोवर और तड़ाग थे, अनेक जाति के फलवाले वृक्ष और पुष्पो वाली लतायें थी, रत्ननिर्मित प्राकार और तोरणो से युक्त जिनालय थे, स्वर्णमय प्राकार और गोपुरो से युक्त अनेक खण्डो वाले प्रासाद थे। उस नगरी के बीचो-बीच समुद्रविजय आदि दसों भाइयो के महल थे और उनके बीच में कृष्ण का अठारह खण्डो वाला सर्वतोभद्र प्रासाद था। इस प्रासाद के निकट अन्तःपुर और पुत्रों आदि के योग्य महलों की पक्कियाँ बनी हुई थी। अन्तःपुर की पक्कियो से घिरा हुआ एवं वापिका, उद्यान आदि से सुशोभित बलभद्र का महल था। इस महल के आगे एक सभामण्डप बना हुआ था। अग्रसैन आदि राजाओ के महल आठ-आठ खण्ड के थे।

नगरी की रचना पूर्ण होने पर कुबेर ने श्रीकृष्ण को इसकी सूचना दी तथा उन्हें मुकुट, उत्तम हार, कौस्तुभ मणि, दो पीत वस्त्र, नक्षत्रमाला आदि आभूषण, कुमुदवती नामक गदा, शक्ति, नन्दक नामक सङ्ग, शार्ङ्ग धनुष, दो तरकश, बज्रमय वाण, दिव्यास्त्रों से युक्त और गरुड की ध्वजा वाला दिव्य रथ, चमर और श्वेत छत्र प्रदान किये।

बलभद्र के लिये दो नील वस्त्र, माला, मुकुट, गदा, हल, मूमन, वाणो में भरे दो तरकश, रथ एवं छत्र दिये। समुद्र विजय आदि राजाओं का भी कुवेर ने वरशाभरणों से सत्कार किया। बाल तीर्थंकर नेमिनाथ का विशेष रीति में कुवेर ने पूजन, सत्कार किया। सबका सत्कार करने पर कुवेर ने प्रार्थना की—आप लोग नगर में प्रवेश कीजिये। इसके पश्चात् पूर्णभद्र को नगर की सुरक्षा के लिये नियुक्त करके वह स्वर्ग को लौट गया।

यादवों के सघ ने समुद्र के तट पर श्रीकृष्ण और बलभद्र का अभिषेक कर के उनकी जयजयकार की। तब सब यादवों ने प्रसन्न मन से द्वारिका नगरी में प्रवेश किया। पूर्णभद्र यक्ष ने सबको यथायोग्य म्यान पर ठहराया। तब कुवेर ने सगस्त द्वारिका नगरी में साढ़े तीन दिन तक अटूट धन-धाय्यादि की वर्षा की।

धीरे-धीरे महाराज श्रीकृष्ण का प्रभाव चारों ओर फैलने लगा। इनमें पश्चिम के सभी नरेश उनकी आज्ञा मानने लगे।

रुक्मिणी के साथ कृष्ण का विवाह—द्वारिका में यादवों की सभा हो रही थी। तभी आकाश-मार्ग में नारद जी पधारे। उनकी जटाएँ, दाढ़ी और मूँछें पीत वर्ण की थीं। उनका वर्ण इतना था। वे रग-विरगे योगपट्ट से विभूषित थे। वे कौपीन और चादर धारण किये हुए थे। वे तीन लर वाला यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। राजप्रासादों के अन्त पुरों में उनका अव्याहत प्रवेश था। किन्तु वे कलह-प्रिय, स्वाभिमानों और क्रोधी थे। शिशु वय में उनका पालन जम्भक नामक देव ने वंताह्य पर्वत पर किया था। देव उनमें अत्यन्त स्नेह करते थे। आठ वर्ष की अवस्था में देवों ने उन्हें जिनागम की विद्या और आकाशगामिनी विद्या प्रदान की थी। वही शिशु नारद नाम से विख्यात हुआ। नारद श्रावक के अणुव्रतों के भी पालक थे।

नारद ने आकर तीर्थंकर नेमि प्रभु, कृष्ण और बलराम को नमस्कार किया। शेष व्यक्तियों ने उन्हें नमस्कार किया। आसन ग्रहण करने पर उन्होंने इधर-उधर की चर्चा की। फिर वे अन्त पुर में पहुँचे। उस समय कृष्ण की महादेवी अपने शृंगार में लीन थी। वह नारद को नहीं देख पाई। नारद के स्वाभिमान को इससे बहुत ठेस पहुँची। उन्होंने मन में निश्चय किया कि मैं इसकी एक सपत्नी लाकर इसके सौन्दर्य के अहंकार को अवश्य चूर-चूर करूँगा। यह निश्चय करके वे वापिस लौट आये और आकाश-मार्ग से वे कुण्डिनपुर जा पहुँचे। वे वहाँ के नरेश भीष्म के अन्त पुर में पहुँचे। रानियों तथा भीष्म की बहन ने आकर उन्हें नमस्कार किया। वहाँ रति के समान एक रूपवती कन्या को देखकर वे विचार करने लगे—यह कन्या कृष्ण की पट्टमहिषी पद पर अधिष्ठित होने योग्य है। इस कन्या के द्वारा ही मैं रुक्मिणी सत्यभामा का दर्प चूर्ण करूँगा।

रूप की खान उस कन्या का नाम रुक्मिणी था। उसने विनय और सभ्रम के साथ नारद को नमस्कार किया। नारद ने उसे आशीर्वाद दिया—द्वारिका के स्वामी कृष्ण तुम्हारे पति हो। रुक्मिणी के पूछने पर नारद ने द्वारिका के वैभव और कृष्ण के प्रभाव, पौरुष का ऐसा सरस वर्णन किया कि रुक्मिणी के मन में कृष्ण के प्रति तीव्र अनुराग उत्पन्न हो गया।

नारद रुक्मिणी के मन में प्रेम की ज्वाला सुलगा कर वहाँ से चल दिये। उन्होंने एकान्त में बैठकर चित्र पट पर रुक्मिणी का मनमोहन चित्र अंकित किया। वे पुनः द्वारिका पहुँचे और कृष्ण को वह चित्रपट दिखाया। कृष्ण उस चित्र को विमुग्ध भाव से निहारते रहे। उन्होंने मनोभावों को वाणी का रूप देकर पूछा—‘देवर्षि! कौन है यह कन्या? क्या यह कोई सुरवाला है अथवा कोई नाग-कन्या है?’ नारद ने किञ्चित् मुस्कराकर उनका परिचय दिया। परिचय ऐसा सरस था कि कृष्ण के मन में उसे पाने की तीव्र ललक जागृत हो गई।

उधर रुक्मिणी को एकान्त में ले जाकर उसकी बूआ बोली—पुत्री! मेरी बात सुन। एक बार अतिमुक्तक नामक अवधिज्ञानी मुनि यहाँ पधारे थे। उन्होंने तुम्हें देखकर कहा था—‘यह सुलक्षणा कन्या त्रिखण्डाधिपति नारायण की सोलह हजार रानियों में पट्टमहिषी पद से विभूषित होगी। आज देवर्षि नारद ने भी वही आशीर्वाद तुम्हें दिया है। लगता है, भविष्य दृष्टा मुनि के वचन यथार्थ सिद्ध होंगे। किन्तु समस्या यह है कि तेरे प्रतापी सहोदर रुक्मी ने तुम्हें शिशुपाल की देने का सकल्प किया है। और शिशुपाल आजकल में यहाँ आने ही वाला है।’

रुक्मिणी बोली—मुनिराज के वचन अन्यथा कैसे हो सकते हैं। इस जीवन में कृष्ण ही मेरे पति होंगे, मेरा

यह सकल्प है। किन्तु मेरे इस सकल्प की सूचना कृष्ण तक पहुँचाने की आप कोई व्यवस्था कर दीजिये।'

बुआ ने तत्काल कृष्ण को एक पत्र लिखा—'महाबली कृष्ण! पुत्री रुक्मिणी ने जबसे आपका नाम सुना है, वह आपमें हृदय से अनुरक्त हो उठी है। वह केवल आपके नाम के सहारे जीवन धारण कर रही है। किन्तु उसके पिता और बन्धुजन उसे शिशुपाल को अर्पित करना चाहते हैं। यदि आप माघ शुक्ला अष्टमी के दिन उसका अपहरण करके नहीं ले जाते तो वह शिशुपाल को अर्पित कर दी जायगी। उस दशा में उसका मरण निश्चित है। वह नागदेव की पूजा के बहाने नगर के बाह्य उद्यान में स्थित नाग मन्दिर में उस दिन आपकी प्रतीक्षा करेगी।' इस पत्र को गुप्त रूप से एक विश्वस्त व्यवित के द्वारा कृष्ण के पास भेज दिया। पत्र मिलते ही कृष्ण अपने भ्राता बलभद्र के साथ कुण्डिनपुर पहुँच गये। शिशुपाल भी विदमं नरेश भीष्म का निमन्त्रण पाकर चतुरगिणी सेना लेकर वहाँ जा पहुँचा।

रुक्मिणी विवाह की धूमधाम में नाग-पूजा के बहाने अपनी बुआ के साथ नगर के बाह्य उद्यान में नाग-मन्दिर में जा पहुँची। वहाँ पहुँचकर वह वडी अधीरतापूर्वक कृष्ण की प्रतीक्षा करने लगी। क्षण क्षण का विलम्ब उसे युगो जैसा प्रतीत हो रहा था। उसके प्राण कठ में अटक रहे थे। कृष्ण-मिलन अथवा मृत्यु-वरण यही उसका सकल्प था। प्रियतम की श्रक या मृत्यु का आर्लिंगन, तीसरा कोई विकल्प नहीं था उसके मन में।

कृष्ण ने तभी प्रगट होकर रुक्मिणी से कहा—'प्रिये! मैं आ गया हूँ। जिसकी तुम प्रतीक्षा कर रही हो, वह मैं ही हूँ।' रुक्मिणी ने ये अमृतवर्षी वचन सुने तो उसका रोम-रोम अपूर्व पुलक से भर गया। उसके कमल नयन ऊपर को उठे और लज्जा से फिर अवनत हो गये। कृष्ण ने आगे बढ़कर उसे आर्लिंगन में बाध लियो। प्रेमी-युगल के इस प्रथम मिलन के साक्षी थे पाषाण के नाग देवता। एक बार तो जैसे वे भी सरस अभिष्वग पर मुस्करा दिये।

कृष्ण ने अपनी उस कोमल नव परिणय मुग्धा को हौले से उठाकर रथ में बैठा दिया। प्रथम स्पर्श-सुख से दोनों ही प्रेमी कुछ समय के लिये अभिभूत हो गये। कुछ क्षण के पश्चात् जब कृष्ण को नाजुक परिस्थिति का बोध हुआ तो उन्होंने भीष्म, रुक्मी और शिशुपाल को रुक्मिणी-हरण का समाचार देकर रथ आगे बढ़ा दिया। तभी कृष्ण ने अपना विख्यात पाचजन्य शस्त्र और बलभद्र ने सुधोष नामक शस्त्र फूँका। समाचार मिलते ही रुक्मी और शिशुपाल रथों में आरूढ होकर कृष्ण और बलभद्र का सामना करने पहुँच गये। उनके साथ अपार सेना थी। किन्तु कृष्ण निर्भयता और आनन्द के साथ रुक्मिणी से बात करते हुये धीरे-धीरे रथ ह्राक रहे थे।

रुक्मिणी ने जब अपार सेना के साथ अपने भाई और शिशुपाल को आते हुए देखा तो वह अत्यन्त व्याकुल होकर कहने लगी—'नाथ! मेरा भाई महाबली रुक्मी और शिशुपाल विशाल अक्षौहिणी लेकर आ रहे हैं। इस विशाल सेना के साथ एकाकी आप दोनों किस प्रकार युद्ध कर सकेंगे।' कृष्ण ने उसे धैर्य बधाते हुए कहा—'प्रिये! चिन्ता मत करो। हम दोनों के रहते तुम्हें भय नहीं करना चाहिये।' उन्होंने अपनी भयभीत प्रियतमा को आश्वासन देते हुए अपनी अगूठी के हीरे को लेकर चुटकियों से चूर-चूर कर दिया तथा एक ही बाण से सामने खड़े हुए तमाल वृक्ष को काट दिया। कृष्ण के इस अलौकिक बल को देखकर रुक्मिणी हाथ जोड़कर बोली—'नाथ! युद्ध में मेरे भाई का कोई अनिष्ट न हो।' कृष्ण ने उसे अपनी स्वीकृति देकर रथ शत्रु-सेना की ओर मोड़ दिया। कृष्ण शिशुपाल के सामने जा डटे और बलराम ने रुक्मी का सामना किया। कृष्ण के एक बाण से ही शिशुपाल का मस्तक कटकर भूलु ठित हो गया। उधर बलराम ने रुक्मी के रथ और सारथी का विनाश करके रुक्मी को बुरी तरह परास्त कर दिया। सारी सेना उन दोनों वीरों के बाणों से आहत होकर इधर-उधर भाग गई।

दोनों भाई युद्ध में विजयी होकर आनन्दपूर्वक वहाँ से चल दिये। रैवतक पर्वत पर जाकर कृष्ण ने विधिपूर्वक रुक्मिणी के साथ विवाह किया और भाई बलराम के साथ बड़े वैभव के साथ द्वारकापुरी में प्रवेश किया। दोनों भाई अपने-अपने महल में चले गये।

दूसरे दिन कृष्ण ने रुक्मिणी के लिए सब प्रकार की सम्पदाओं और सुविधाओं से युक्त एक पृथक् महल दिया तथा उसे पटरानी का पद प्रदान किया। सत्यभामा को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो वह सापत्न्य-द्वेष से जलने लगी।

अनेक पट्यन्त्र रचे, किन्तु प्रवण पुण्य का स्वाग्नी प्रद्युम्न न केवल हर बार उन पट्यन्त्रों में सुरक्षित रहा, अपितु उनके फलस्वरूप प्रत्येक बार उसे लाभ ही हुआ। एक बार मिद्रायतन के गौपुर के ऊपर भाइयों के कहने से वह चढ़ गया और वहाँ के रक्षक देव से विद्या, कोप और अनर्घ्य मुकुट प्राप्त हुआ, महाकाल गुफा में निर्भय होकर प्रवेश किया और वहाँ के देव से छत्र, चमर, ढाल और तलवार का लाभ हुआ। नागगुफा में प्रवेश करने पर देव ने उसे उत्तम पादपीठ, नागशय्या, आसन, वीणा और भवन निर्मात्री विद्या प्रदान की। एक वापिका में जाने पर मकर चिन्ह वाली ध्वजा प्राप्त की। मेघाकृति पर्वत में प्रवेश करने पर दो कुण्डल मिले। इस प्रकार भाइयों ने उसे विभिन्न भयानक स्थानों पर जाने के लिए प्रेरित किया और वहाँ से कुछ न कुछ लाभ प्राप्त करके वह वापिस लौटा, इस प्रकार उसे सोलह लाभ प्राप्त हुए।

प्रद्युम्न की दृढ़ शील-निष्ठा—प्रद्युम्न कुमार मेघकूट गगन में वापिस आया और अपने पिता कालसवर के दर्शन किये। उसके पदचातु वह अपनी माता कनकमाला के पाग पहुँचा। माता ने बड़े दुलार में उसका मस्तक सूँघा और निकट बैठकर उसके शरीर पर हाथ फेरा। किन्तु उसके कामदेव के समान माहुर रूप को देखकर उसके मन में कामवासना जागृत हो गई। वह मन में विचार करने लगी 'उस स्त्री का जन्म सार्धक है, जिसे इसके अगो का स्पर्श प्राप्त हो।' प्रद्युम्न माता को प्रणाम करके चला गया।

दूसरे दिन माता की अस्वस्वता के समाचार सुनकर प्रद्युम्न उसे देखने आया। किन्तु कनकमाला काम विवहल होकर काम-नेष्टा करने लगी। प्रद्युम्न उस अप्रत्याशित प्रसंग से मर्माहत हो उठा। उसने माता और पुत्र के सम्बन्ध का स्मरण करते हुए माता को उस प्रकार की चेष्टा में विरत करने का प्रयत्न किया। कनकमाला ने अब उसे सारा वृत्तान्त गुना दिया कि वह भयानक श्रद्धा में कंम मिला था। प्रद्युम्न इस बात पर विश्वास न कर सका। किन्तु उसे सन्देह अवश्य हो गया। वह जिनालय पहुँचा, जहाँ मुनिराज सागरचन्द्र विराजमान थे। मुनिराज को नमस्कार करके उनसे अपने सम्बन्ध में पूछा। अवधिज्ञानी मुनिराज ने उसे उसके पूर्व भव बताकर उसके अपहरण, श्रद्धा में उसके मिलने आदि का गणपूर्ण वृत्तान्त बताया तथा यह भी सूचित किया—'वत्स! अभी तुम्हें कनकमाला से प्रज्ञप्ति विद्या का लाभ मिलने वाला है।'

प्रद्युम्न वहाँ से पुनः कनकमाला के आवास में पहुँचा। कनकमाला ने समझा कि इसने मेरी मूक प्रार्थना स्वीकार कर ली है। वह बड़ी प्रसन्न होकर बोली—'कामदेव! मैं तुम्हें गौरी और प्रज्ञप्ति नामक दो विद्यायें देती हूँ, तू मेरी इच्छा पूरी कर।' प्रद्युम्न ने विनय से माता के चरणों में सिर झुकाया। कनकमाला ने विधिपूर्वक उसे दोनों विद्यायें प्रदान कीं। प्रद्युम्न ने सिर झुका कर निवेदन किया—'आपने वचन में मुझे प्राण-दान दिया था और अब आपने विद्यायें देकर विद्या-दान दिया है। अतः आप मेरे चिन्ते पूज्य हैं।' यो कहकर वह वहाँ से चला गया।

तभी वहाँ नारद आ गये। प्रद्युम्न ने उन्हें नमस्कार किया और बड़ा सम्मान किया। नारद ने उसे उसके वास्तविक माता-पिता का परिचय दिया। प्रद्युम्न अपने माता-पिता से मिलने के लिए आतुर हो गया। उसने कालसवर आदि को नमस्कार करके वहाँ से जाने की आज्ञा मागी। उन्होंने उसे सहर्ष आज्ञा प्रद्युम्न कुमार का दे दी। प्रद्युम्न ने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक नारद के साथ विमान में द्वारका के लिये प्रस्थान माता-पिता से मिलन किया। जब विमान हस्तिनापुर के ऊपर आया तो उसने देखा कि एक विशाल सेना जा रही है। उसने नारद से उसके बारे में पूछा। नारद ने सत्यभामा और उसकी माता रुक्मिणी में हुई शर्त की बात बताकर कहा—'रुक्मिणी के सेवकों ने तुम्हारे जन्म का समाचार श्रीकृष्ण को पहले दिया था और सत्यभामा के सेवक उसके पुत्र भानुकुमार के जन्म की बात बाद में बता पाये। अतः तुम अग्रज घोषित किये गये। किन्तु वृष्णकेतु असुर तुम्हारा अपहरण करके ले गया। हस्तिनापुर नरेश दुर्योधन ने प्रतिज्ञा की थी कि यदि मेरे पुत्री हुई और रुक्मिणी या सत्यभामा के पहले पुत्र होगा, उसे मैं अपनी पुत्री दूँगा। वह पुत्री तुम्हें मिलनी थी, किन्तु तुम्हारा अपहरण होने के कारण अब यह भानुकुमार को अर्पण करने सेना के साथ द्वारका जा रही है।'

प्रद्युम्न विमान को आकाश में स्थिर करके भूमि पर उतर गया और कौतुक मात्र में सेना को जीत कर दुर्योधन-पुत्री उदधिकुमारी का अपहरण करके विमान में ले गया। विमान द्वारका पहुँचा। वहाँ उसने अनेक कौतुक दिखाये। नारद ने सोलह वर्ष पूर्व प्रद्युम्न के आने पर जिन चिन्हों के प्रगट होने की सूचना दी थी, वे चिन्ह प्रगट हो गये। इससे रुक्मिणी को पुत्र-मिलन की आशा हो गई। तभी प्रद्युम्न विमान से उतरकर नाना प्रकार के कौतुक दिखाता हुआ वेष बदलकर माता रुक्मिणी के प्रासाद में पहुँचा। उमें देखते ही रुक्मिणी के स्तनों से दूध भरने लगा। उसे विश्वास हो गया कि हो न हो, मेरा पुत्र यही है। यह वेष बदलकर आया है। प्रद्युम्न के मन में भी माता से मिलने की ललक थी। वह अपने वास्तविक वेष में माता के समक्ष पहुँचा और उनके चरणों में नमस्कार किया। माता हर्ष से रोमांचित हो गई, नेत्र हर्षाश्रुओं से पूरित हो गये। सोलह वर्ष का वियोग-जन्य दुःख क्षण मात्र में सुख के रूप में परिवर्तित हो गया। मा ने अपने विछुड़े हुए छोना को अक में भर लिया। विछुड़े हुए माता-पुत्र का यह मिलन कितना रोमांचक, कितना आल्हादक और कितना मार्मिक था, इसके साथी थे दोनों के नेत्रों से बहते हुए हर्ष के आँसू। रुक्मिणी माता अपने नन्हे मुन्हे को कभी अक में कस लेती, कभी वह उसका चुम्बन लेती, कभी उसके सिर को सूँघती और कभी वात्सल्य से उसके सारे शरीर पर अपना हाथ फेरती। किन्तु उसे तृप्ति नहीं हो रही थी। उसके नेत्र हर्ष की वर्षा कर रहे थे, अधर कपित थे, गला अवरुद्ध था। स्तनों से वात्सल्य बरस रहा था।

हर्ष में बेसुध माता और पुत्र न जाने कितनी देर इसी दशा में रहे। तब प्रद्युम्न ने माता से ऊपर विमान में चलने का आग्रह किया। माता ने स्वीकृति दे दी। प्रद्युम्न अपनी माता को लेकर विमान में पहुँचा। वहाँ रुक्मिणी नारद और उदधिकुमारी से मिली। तभी प्रद्युम्न के मन में कौतुक जागा। वह आकाश में स्थिर होकर बोला—‘यादवगण सुने। मैं आप लोगों की पटरानी रुक्मिणी का अपहरण करके ले जा रहा हूँ। जिसमें साहस हो, वह छुड़ा ले।’ यो कहकर उसने शख-नाद किया।

समस्त यादव इस चुनौती को सुनकर अपने अस्त्र-शस्त्रों को लेकर निकल पडे। किन्तु प्रद्युम्न ने समस्त यादव-सेना को अपनी विद्या से मूर्च्छित कर दिया। यह देखकर नारायण कृष्ण युद्ध के लिये आये। पिता-पुत्र में बहुत समय तक नाना प्रकार का युद्ध हुआ। दोनों ही अप्रतिम वीर थे। बालक प्रद्युम्न के आगे श्रीकृष्ण का सारा अस्त्र-कौशल निष्फल हो गया। तब दोनों बाहु-युद्ध के लिए तैयार हुए। श्रीकृष्ण मन में विचार कर रहे थे—आज मेरी भुजाओं का बल कहाँ चला गया। एक बालक ने समस्त यादव-सेना को निश्चेष्ट कर दिया है। इसे देखकर मेरे मन में रोष के स्थान में वात्सल्य क्यों उमड़ रहा है ?

रुक्मिणी पति और पुत्र के इस अकारण युद्ध से चिन्तित थी। वह अनिष्ट की आशंका से बार-बार काँप उठती थी। उसने बड़े अनुनय के साथ नारद से इस गृह-युद्ध को रोकने की प्रार्थना की। तब नारद ने आकाश में स्थित होकर कहा—‘नारायण! अपने मन में से ग्लानि दूर कर दो। तुम जिस बालक के साथ युद्ध कर रहे हो, वह तुम्हारा शत्रु नहीं पुत्र है। वह रुक्मिणी का अपहृत पुत्र प्रद्युम्न कुमार है जो सोलह वर्ष पश्चात् आपके दर्शनों के लिए आया है।’

नारद की यह घोषणा सुनते ही श्रीकृष्ण ने दौड़कर अपने चिरवियुक्त पुत्र को गाढ आलिंगन में भर लिया और प्रद्युम्न ने झुककर अपने पिता के चरण-स्पर्श किये। फिर उसने माया से निद्रित सेना को विद्या द्वारा जागृत कर दिया। पिता और पुत्र ने स्वजनो और परिजनो के साथ हर्ष के साथ नगर में प्रवेश किया।

महाभारत युद्ध

भगवान ऋषभदेव के काल में कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में सोमप्रभ और श्रेयान्स दो नररत्न हुए। श्रेयान्स ने भगवान ऋषभदेव को सर्वप्रथम आहार देकर दान तीर्थ की प्रवृत्ति की। सोमप्रभ से सोमवश अर्थात् चन्द्रवश और कुरुवश चला। सोमप्रभ के जयकुमार हुआ जो प्रथम चक्रवर्ती भरत का प्रधान सेनापति था। जयकुमार के कुरु हुआ। इसी प्रकार क्रम से कुरुचन्द्र, शुभकर, धृतिकर आदि हुए।

कुरुवंश— फिर इसी वंश में चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार, सोलहवें तीर्थकर एव चक्रवर्ती शान्तिनाथ, सत्रहवें कुन्थुनाथ और अठारहवें अरनाथ हुए। इनके पश्चात् महापद्म चक्रवर्ती, उनके विष्णु और पद्म नामक दो पुत्र हुए। इन्हीं विष्णुकुमार ने मुनि अवस्था में बलि आदि मंत्रियों द्वारा अकपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर प्राणघातक उपसर्ग करने पर वामन रूप धारण कर उपसर्ग दूर किया था। इनके अनन्तर सुपद्म, पद्मदेव, कुलकीर्ति, कीर्ति, सुकीर्ति, कीर्ति, वसुकीर्ति, वासुकि, वासव, वसु, सुवसु, श्रीवसु, वसुन्धर, वसुरथ, इन्द्रवीर्य, चित्रविचित्र, वीर्य, विचित्र, विचित्रवीर्य, चित्ररथ, महारथ, धृतरथ, वृषानन्त, वृषध्वज, श्रीव्रत, व्रतधर्मा, धृत, धारण, महासर, प्रतिसर, शर, पारशर, शरद्वीप, द्वीप, द्वीपायन, सुशान्ति, शान्तिभद्र, शान्तिषेण हुए। शान्तिषेण के शन्तनु हुए। उनकी रानी का नाम योजनगन्धा था। शन्तनु के धृतव्यास, तदनन्तर धृतधर्मा, धृतोदय, धृततेज, धृतयश, धृतमान और धृत धृतराष्ट्र, अम्बालिका से पाण्डु और अम्बा से विदुर नामक पुत्र हुए। धृतराज के भाई रुक्मण और उनकी रानी गंगा से भीष्म नामक पुत्र हुआ।

धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए। इनमें परस्पर में बड़ा प्रेम था। राजकुमार पाण्डु ने यदुवशी समुद्रविजय की बहन कुन्ती के साथ गुप्त रूप से गन्धर्व विवाह किया था। उससे कर्ण नामक पुत्र हुआ। पश्चात् उन दोनों का सार्वजनिक रूप से विवाह हो गया। तब उनके युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नामक पुत्र उत्पन्न हुए। पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री से नकुल और सहदेव नामक दो पुत्र हुए। पाण्डु के ये पाँचो पुत्र पाण्डव कहलाये। इन पाँचो भाइयों में भी परस्पर में अत्यन्त स्नेह था। दुर्योधन आदि सौ भाई कौरव कहलाते थे। जब पाण्डु और रानी माद्री का स्वर्गवास हो गया, तब राज्य के अधिकार के प्रश्न पर कौरवों और पाण्डवों में वैमनस्य हो गया। तब भीष्म, विदुर, मंत्री शकुनि आदि ने बीच में पड़कर कुरु राज्य के दो समान भाग कर दिये। एक भाग पाण्डवों को और दूसरा भाग कौरवों को मिला।

दुर्योधन कूटनीति में निपुण था, जबकि युधिष्ठिर धर्मानुकूल नैतिक मूल्यों के प्रति दृढ़ निष्ठावान् थे। कर्ण को कुन्ती ने अपवाद के भय से जन्म होते ही एक मजूषा में रखकर नदी में प्रवाहित कर दिया था। किन्तु उसे एक सूत ने नदी में से निकाल लिया था। वह बालक बड़ा होने पर शस्त्रास्त्र-संचालन में अत्यन्त निष्णात हो गया। दुर्योधन की सूक्ष्म दृष्टि में वह समा गया और उसने उससे मित्रता करली। दुर्योधन ने अपना बल बढ़ाने के लिए सम्राट् जरासन्ध से भी घनिष्टता बढ़ाली।

राजकुमारों का प्रशिक्षण—कौरवों और पाण्डवों को शस्त्रास्त्र विद्या सिखाने के लिए उस युग के सर्वश्रेष्ठ विद्यागुरु द्रोणाचार्य को नियुक्त किया गया। द्रोणाचार्य भार्गववंशी ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज भार्गवाचार्य थे। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ धनुर्वेत्ता थे। भार्गवाचार्य से यह विद्या मात्रेय को प्राप्त हुई। इसी प्रकार क्रमशः पुत्र-परम्परा

से यह विद्या कौथुभि, अमरावर्त, सित, वामदेव, कपिष्ठल, जगत्स्थामा, सरवर, शरासन, रावण और विद्रावण को मिली, विद्रावण ने यह विद्या अपने पुत्र द्रोण को दी। द्रोणाचार्य की स्त्री का नाम अश्विनी था और उनका पुत्र अश्वत्थामा था। द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र को धनुर्विद्या में पारंगत कर दिया।

द्रोणाचार्य कौरवों एवं पाण्डवों को समान रूप से शस्त्र-संचालन का प्रशिक्षण देते थे। किन्तु अपनी प्रतिभा, रुचि और विनय के द्वारा अर्जुन धनुर्विद्या में अप्रतिम रूप से पारंगत होगया। दुर्योधन और भीम गदा-युद्ध में निष्णात होगये। नकुल और सहदेव ने तलवार संचालन में दक्षता प्राप्त की। इसी प्रकार अन्य राजकुमार भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न शस्त्रास्त्र संचालन के विशेषज्ञ बन गये। किन्तु उस युग में धनुर्विद्या ही प्रभावक और निर्णायक मानी जाती थी। अतः अर्जुन की धनुर्विद्या में निष्णाता देखकर दुर्योधन आदि कौरव पाण्डवों से ईर्ष्या करने लगे। उनकी ईर्ष्या के मूल में वस्तुतः उनके मन में समाया हुआ भय था।

पाण्डवों का अज्ञातवास—कुछ समय पश्चात् कौरव ईर्ष्यावश दोनों पक्षों में राज्य विभाजन के सम्बन्ध में हुई सन्धि में दोष निकालने लगे। उनका तर्क था कि सन्धि दवाव में आकर हमें करनी पड़ी थी किन्तु यह सन्धि नितान्त अनुचित है। एक ओर आधे राज्य का भोग केवल पाच पाण्डव कर रहे हैं, जबकि दूसरी ओर हम सौ भाइयों के लिए आधा राज्य मिला है यह अन्यायपूर्ण है। कौरवों की यह बात पाण्डवों के कानों में भी पहुँची। उससे भीम आदि चारों भाई एकदम क्षुब्ध हो उठे किन्तु धीर गम्भीर युधिष्ठिर ने उनको शान्त कर दिया।

किन्तु कौरव अक्सर की प्रतीक्षा में थे। वे पाण्डवों का कण्ठक सदा के लिये निकालना चाहते थे। एक दिन दुर्योधन ने योजना बनाकर राजप्रासाद में सोते हुए पाण्डवों के घर में आग लगा दी। सहसा उनकी नींद खुल गई और पाचो पाण्डव माता कुन्ती को लेकर गुप्त मार्ग द्वारा निकल गए। इस अन्यायपूर्ण घटना से जनता में रोष छा गया। वह दुर्योधन के विरुद्ध हो गई। जनता के इस उमड़ते हुए विद्रोह को देखकर बुद्धिमान मंत्रियों ने जनता में प्रचारित कर दिया कि पाण्डवों के महल में आग स्वतः लगी है और पाचो पाण्डव एवं उनकी माता उसी में भस्म हो गये हैं। उन्होंने शीघ्रता से पाण्डवों की मरणोत्तर क्रिया भी सम्पन्न करा दी जिससे जनता का विद्रोह शान्त हो जाय।

पाण्डव माता के साथ गंगा को पार कर पूर्व दिशा की ओर चल दिये। वे अपना काल स्वयं अगीकृत अज्ञातवास में बिताने लगे।

पाण्डवों के दाह का समाचार द्वारका में पहुँचा। राजा समुद्रविजय, उनके भाई और समस्त यादव अपनी बहन कुन्ती और भागिनेय पाण्डवों को जलाकर हत्या करने की इस अन्यायपूर्ण घटना को सुनकर दुर्योधन के प्रति अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। इस अन्याय का प्रतिशोध लेने के लिए वे विशाल सेना लेकर हस्तिनापुर को ओर चल पड़े। उनके इस अभियान का समाचार चरो द्वारा जरासन्ध को भी ज्ञान हुआ। वह भी सेना लेकर चल दिया। वहाँ पहुँचकर वह यादवों से आदरपूर्वक मिला और उसने दोनों पक्षों में सम्मानपूर्ण सन्धि करा दी।

पाण्डव कौशिक आदि नगरो में होते हुए ईहापुर पहुँचे। वहाँ प्रजा को अत्यन्त सन्वस्त और भयभीत देखकर पाण्डवों ने उसके कारण का पता लगाया। वे जिस गृहपति के आवास में ठहरे थे, उससे ज्ञात हुआ कि इस नगर में एक महा भयानक और क्रूर नरभक्षी भृङ्ग नामक राक्षस आता है, वह मनुष्यों की हत्या करता है और उन्हें खाता है। नगरवासियों ने इन हत्याओं से त्रस्त होकर प्रतिदिन एक घर से एक मनुष्य को भेजने की पारी वाध दी है। आज हमारे घर की पारी है। अतः हम लोग दुखी हैं। गृहपति की यह दुःखभरी गाथा सुनकर माता कुन्ती को बड़ी दया आई। उन्होंने गृहपति को आश्वासन देकर कहा—'आर्य! आपको दुखी होने की आवश्यकता नहीं है। आपने हमारा आतिथ्य किया है। हमारा कर्तव्य है कि आपके कुछ काम आवें। मेरे ये पाँच पुत्र हैं। आपके स्थान पर मेरा एक पुत्र आज जायगा। आप चिन्ता न करें।' गृहपति यह सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गया। वह हाथ जोड़कर बोला—माता! मुझ जैसा अधम और कौन होगा जो अपने अतिथि को ही स्वेच्छा से मृत्यु के मुख में धकेल दे। मेरे पुण्य के बल से आप यहाँ पधारें और आपके दर्शन हुए। आपके ऊपर मेरे घर में निवास करने के समय कोई संकट आवे, इससे तो मृत्यु श्रेष्ठ है। मैं आपको यह कार्य नहीं करूँगा।' कुन्ती

ने उसकी आगका को यह कहकर बड़ी कठिनता से दूर किया कि मेरा पुत्र महाबली है, उसके प्राणों को कोई संकट नहीं है। वह राक्षस को मार कर अभी लौट आवेगा और इस नगर के निवासियों का सकृद सदा के लिये दूर कर आवेगा।' बड़ी कठिनाई से कुन्तो गृहपति को सहमत कर सकी। तब उन्होंने भीम से कहा—'वत्स! हमें गृहपति ने आश्रय दिया और हमारा समुचित आतिथ्य किया है। हमें इनके उपकार के ऋण से मुक्त होने का सुयोग प्राप्त हुआ है। पुत्र! तुम जाओ और उस नराधम के सत्राम में इन्हे मुक्ति दिलाओ।' महाबली भीम माता का आदेश मिलते ही उन्हें और अपने अग्रज को नमस्कार करके चल दिया और निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा, जहाँ वह नर राक्षस अधीरता पूर्वक अपने भोज्य की प्रतीक्षा कर रहा था। हृष्ट पुष्ट भीम को देखकर वह अट्टहास करता हुआ कहने लगा—'अहा! आज मेरी उदरदरी की तृप्ति होगी। स्थूल शरीर में मांस की अधिकता होती है। कई दिनों से पर्याप्त आहार न मिलने से मेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई थी। तुम्हें देखकर वह और अधिक उद्दीप्त हो उठी है।' वह नर राक्षस अपने भोज्य को ललचाई आँसों से देख रहा था, उसकी जीभ बार-बार लपलपाने लगती थी।

भीम ने उसके निकट पहुँच कर वज्र निर्घोष स्वर में कहा—'अरे अधम! देखता क्या है। आज तेरा आहार काल बनकर आया है। यदि तुझमें शक्ति हो तो भक्षण कर।' राक्षस ने मुनकर पुन अट्टहास किया और अपने तीक्ष्ण नाखूनों वाले पंजों को फैलाये हुए वह भीम की ओर लपका। भीम भी सावधान था। उसने राक्षस के जबड़ों पर कसकर मुष्टिका का प्रहार किया, ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वज्रपात हुआ हो। वह दैत्याकार राक्षस एक ही प्रहार में रक्त वगन करने लगा। भीम ने उसे सावधान होने का अवसर दिये बिना लगातार वज्र तुल्य कई प्रहार किये और उनसे वह प्राणहीन होकर भूमि पर गिर पड़ा।

जब भीम राक्षस का वध करके लौटा तो नगरवासियों ने सकटमोचक इस देवपुरुष का हर्षपूर्वक जय घोष किया। भीम सबका आदर और अभ्यर्थना ग्रहण करता हुआ अपार जन-समूह के साथ अपने आवास को लौटा। उसने आकर माता और आता के चरण स्पर्श किये। उसके मुख से सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर सभी बड़े हर्षित हुए।

पाण्डव लोग वेश बदलकर विचरण कर रहे थे। मार्ग में कौशिक नगर के नरेश वर्ण की पुत्री कुसुमकोमला ने युधिष्ठिर की प्रशंसा सुनकर हृदय में उन्हें ही पति मान लिया था। वसुन्धरपुर के राजा विन्ध्यसेन की पुत्री वसन्तसुन्दरी को युधिष्ठिर को अर्पित करने का सकल्प गुरुजनों ने कर रखा था। किन्तु द्रौपदी-स्वयंवर पाण्डवों के अग्नि-दाह के समाचार सुनकर कन्या निराश होकर श्लेष्मान्तक वन में एक आश्रम में तापसी बनकर रहने लगी। त्रिशूङ्ग नगर के नरेश प्रचण्ड वाहन की दस पुत्रियाँ थी—गुण प्रभा, सुप्रभा, ह्री, श्री, रति, पद्मा, इन्दीवरा, विश्वा, आचर्या और अशोका। इन्हे भी युधिष्ठिर को प्रदान करने का सकल्प किया गया था। अग्नि दाह का समाचार सुनकर ये राजकुमारियाँ श्राविका के व्रत लेकर विरक्त जीवन विताने लगी। इसी प्रकार इसी नगर के श्रेष्ठी प्रियमित्र की कन्या नयनसुन्दरी भी युधिष्ठिर के सम्बन्ध में अन्यथा समाचार सुनकर उक्त राजकुमारियों के समान अणुव्रत धारण करके रहने लगी।

चलने-चलते पाण्डव चम्पापुरी में पहुँचे। वहाँ कर्ण शासन करता था। वहाँ एक मदोन्मत्त राजहस्ती नगर में बड़ा उपद्रव मचा रहा था। भीम ने उसे मुष्टिका प्रहारों द्वारा वश में कर लिया। भीम की इस वीरता से कर्ण क्षुब्ध हो उठा। तब पाण्डव विदिशा पहुँचे। एक दिन ब्राह्मण वेशधारी भीम भिक्षा के लिए राजमहलो में पहुँचा। राजा वृषध्वज ने भीम को देखते ही अनुमान लगाया कि छद्म वेश में यह कोई महापुरुष है। वह अपनी कन्या दिशानन्दा को लेकर भीम के आगे खड़ा हो गया और बड़ी विनयपूर्वक बोला—'महाभाग! यह कन्या ही आपके लिये उपयुक्त भिक्षा है, इसलिए आप इसे स्वीकार कीजिए और पाणिग्रहण के लिए हाथ बढ़ाइये।' भीम बोला—'राजन्! यह भिक्षा तो अपूर्व है। किन्तु ऐसी भिक्षा ग्रहण करने के लिए मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। यो कहकर भीम वहाँ से वापिस लौट आया। किन्तु कन्या ने मन में उसे ही अपने पति के रूप में स्वीकार कर लिया।

तदनन्तर पाण्डव नर्मदा नदी को पाकर विन्ध्याचल में पहुँचे। वहाँ सध्याकार नगर में हिडम्बवशी राजा सिंहघोष राज्य करता था। उसकी सुदर्शना रानी और हृदयसुन्दरी नामक पुत्री थी। राजकुमारी के सम्बन्ध में

निमित्तज्ञानियो ने यह बताया था कि जो व्यक्ति विन्ध्याचल पर्वत पर गदा विद्या को सिद्ध करने वाले विद्याधर को मारेगा, वह हृदयसुन्दरी का पति होगा। एक दिन भीम भ्रमण करते हुए विन्ध्याचल पर्वत पर पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि एक व्यक्ति वृक्ष की कोटर में बैठकर गदा को सिद्ध कर रहा है। देखते ही भीम ने गदा उठा ली और उस गदा के एक प्रहार से वृक्ष को घराशायी कर दिया। वृक्ष के साथ विद्याधर की भी मृत्यु हो गई। राजा ने बड़े सम्मानपूर्वक हृदयसुन्दरी का विवाह भीम के साथ कर दिया।

वहाँ कुछ दिन रह कर पाण्डव लोग विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए हस्तिनापुर की ओर चल दिये। वे चलते-चलते माकन्दी नगरी में पहुँचे। वहाँ का राजा द्रुपद था और भोगवती नामक रानी थी। इनके धृष्टद्युम्न आदि पुत्र और द्रौपदी नामक पुत्री थी। द्रौपदी अत्यन्त सुन्दरी थी, रूप की खान थी और सोन्दर्य में रति को भी लज्जित करती थी। अनेक राजाओं और राजकुमारों ने उसकी याचना की। अन्ततः राजा द्रुपद ने स्वयंवर का आयोजन किया और यह शर्त रखी कि जो घूमते हुए चन्द्रक यन्त्र का वेध कर देगा, वही राजकुमारी के हाथों वरमाला धारण करने का अधिकारी होगा।

इसी अवसर पर सुरेन्द्रवर्धन नामक विद्याधर राजा वहाँ आया। उसने राजा द्रुपद की आज्ञा से यह शर्त रख ली कि जो गाण्डीव धनुष पर प्रत्यचा चढ़ा देगा, और उससे चन्द्रक-वेध करेगा, वही राजकुमारी को पा सकेगा।

स्वयंवर का निमन्त्रण पाकर दुर्योधन आदि अनेक राजा और राजकुमार वहाँ एकत्रित हुए। पाण्डव भी कृतहलवश वहाँ पहुँच गये। सब राजाओं ने गाण्डीव धनुष पर प्रत्यचा चढ़ाने का प्रयत्न किया, किन्तु उस दिव्य धनुष को उठाकर कोई भुका भी नहीं सका। जब सब परास्त हो गये, तब अर्जुन उठा, बड़े आताओं के चरणस्पर्श किये, जाकर गाण्डीव धनुष उठाया और लीला मात्र में उसकी प्रत्यचा चढ़ा दी। दुर्योधन कर्ण आदि राजा अर्जुन के हस्तलाघव को देखकर मन में विचार करने लगे—अर्जुन तो अग्नि में भस्म हो गया, दूसरा अर्जुन कौन उत्पन्न हो गया ?

नरेशगण मन में नाना भाँति की कल्पना करने में लगे हुए थे, तभी अर्जुन ने निरन्तर घूमते हुए चन्द्रक यन्त्र में स्थित नेत्र की ओर अपने बाण का लक्ष्य साधा और निमिष मात्र में लक्ष्य वेध कर दिया। तभी लज्जा से अवनतमुखी द्रौपदी दोनों हाथों में वरमाला लिये हुए आगे बढ़ी और अर्जुन के गले में डाल दी। उस समय वायु वेग से चल रही थी, चारों भाई अर्जुन के पास खड़े हुए थे। गले में वरमाला डालते समय वह टूट गई और वायु के वेग से उड़कर अर्जुन के साथ अन्य चारों भाइयों के ऊपर जा गिरी। किसी रसिक व्यक्ति ने विनोद में कह दिया कि राजकुमारी ने पाँच कुमारों का वरण किया है। एक क्षणिक विनोद स्थाई किम्बदन्ती बन गया।

पाण्डव बधु वर-बधू को लेकर माता कुन्ती के पास ले चले। किन्तु कुछ मात्सर्यदग्ध नरेश एक अज्ञात कुलशील युवक को वरमाला धारण करते हुए देखकर उत्तेजित हो उठे और वे युद्ध के लिए तैयार हो गये। इधर अर्जुन, भीम और धृष्टद्युम्न ने भी अपने धनुष सभाल लिये। उन्होंने अपने बाणों से युद्धलिप्सु नरेशों को रोक दिया। तब अर्जुन ने धृष्टद्युम्न के रथ पर आरूढ़ होकर अपना नामाङ्कित बाण गुरु द्रोणाचार्य के चरणों में फेंका। द्रोण, अश्वत्थामा भीष्म, विदुर आदि ने अर्जुन का नाम पढ़ कर पाँचों पाण्डवों को पहचान लिया। सभी पाण्डवों को जीवित देखकर बड़ प्रसन्न हुए। सारा वातावरण ही बदल गया, हर्षनाद होने लगा, शखवादित्रों का तुमुल घोष होने लगा। नीतिविचक्षण दुर्योधन और उसके भाइयों ने बन्धु-समागम पर हर्ष व्यक्त किया और पाण्डवों का अभिनन्दन किया। अर्जुन और द्रौपदी का विवाह सानन्द सम्पन्न हुआ। दुर्योधन पाँचों पाण्डवों के प्रति प्रेम प्रगट करता हुआ माता सहित उन्हें हस्तिनापुर ले गया और वहाँ कौरव और पाण्डव पूर्व के समान आधे-आधे राज्य का भोग करने लगे।

अज्ञातवास के समय युधिष्ठिर और भीम ने जिन कुल कन्याओं को स्वीकार करने का आश्वासन दिया था, उन्हें बुलाकर उनके साथ विवाह कर लिया। सब लोग आनन्दपूर्वक रहने लगे।

कौरवों और पाण्डवों का समय सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। किन्तु कुटिल दुर्योधन पाण्डवों के वैभवं और उत्कर्ष को देखकर ईर्ष्या से दग्ध रहता था, किन्तु प्रकट में वह प्रेम प्रदर्शित करता था। एक बार दुर्योधन

पाण्डवों का पुनः
अज्ञातवास

ने अपने भाइयों के साथ मन्त्रणा की कि पाण्डवों को किस प्रकार राज्यच्युत करके उनके राज्य पर अधिकार किया जाय। इस मन्त्रणा में शकुनि भी सम्मिलित था। वह दुर्योधन का मामा था और अमात्य भी था। वह अत्यन्त धूर्त और कुटिल व्यक्ति था। धूर्त विद्या में वह पारंगत था। उसने परामर्ष दिया—युधिष्ठिर धर्मनिष्ठ व्यक्ति है, किन्तु उन्हें धूर्त क्रीडा की बहुत रुचि है। उन्हें प्रेरित करके धूर्त क्रीडा के लिए तैयार करो। शर्त यह रहे कि पराजित पक्ष को बारह वर्ष अज्ञातवास में रहना होगा। यदि उनका परिचय प्रगट हो जाय तो पुनः वाह्य वर्ष का अज्ञातवास होगा। आप लोग चिन्ता न करें, मेरे कुटिल दाव को युधिष्ठिर समझ भी न पावेंगे और उन्हें पराजित होना पड़ेगा। युधिष्ठिर प्रतिज्ञा निभायेंगे और उनके भाई उनकी आज्ञा का अतिक्रमण नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार आप लोग निष्कण्ठक राज्य भोगना।

धूर्त शकुनि का परामर्ष सबको रुचिकर लगा। तदनुसार एक दिन दुर्योधन ने युधिष्ठिर से कहा—धर्म-राज! मेरी इच्छा है कि हम दोनों शर्त रखकर धूर्त क्रीडा करें। इससे मनोरंजन भी होगा और भाग्य-निर्णय भी होगा। इस क्रीडा में जो पराजित होगा, उस पक्ष को बारह वर्ष पर्यन्त अज्ञातवास करना होगा। समय से पूर्व प्रगट होने पर पुनः बारह वर्ष तक इसी प्रकार अज्ञातवास धारण करना होगा। क्या आप यह चुनौती स्वीकार करने के लिये तैयार हैं?

युधिष्ठिर क्षत्रिय थे। कोई उन्हें चुनौती दे और वे स्वीकार न करें, ऐसा क्या संभव था? उन्होंने दुर्योधन की बात स्वीकार कर ली। चौसर बिछ गई। दोनों पक्ष आ जुटे। युधिष्ठिर और दुर्योधन धूर्त क्रीडा में उस युग के प्रख्यात विशेषज्ञ माने जाते थे। शकुनि इस विद्या का मर्मज्ञ था। पासे उसके इच्छानुवर्ती थे। वह इस विद्या के गूढ़ रहस्यो, कुटिल दावों और वचना-प्रवचनाओं में कुशल था। ऐसे महारथियों की प्रतिद्वन्द्विता का समाचार चारों ओर फैल गया। कुतूहलवश दर्शक बहुसंख्या में आ जुटे।

पासे फेंके जाने लगे। दाव जीतने पर दर्शक ही नहीं, क्रीडकों, परामर्षकों, पक्षधरों के मुख से भी हर्ष-नाद निकल पड़ता था। बाजी जमी, खूब जमी। पहले युधिष्ठिर की निरन्तर विजय होती रही। युधिष्ठिर इससे उत्साहित होकर लम्बे दाव लगाने लगे। कुटिल शकुनि की यह भी एक चाल थी, वह दाना डालकर चिड़िया को फसाना चाहता था।

कुछ समय बाद बाजी बदली। पासे युधिष्ठिर को धोका देने लगे, वे ही दुर्योधन की इच्छानुकूल पड़ने लगे। कहाँ प्रवचना है, इसे पाण्डव नहीं समझ पाये। कौरव प्रसन्न थे। शकुनि युधिष्ठिर को बड़ा दाव लगाने को बार-बार प्रोत्साहित करता। गया हुआ वापिस प्राप्त करने की संभावना से युधिष्ठिर मूढों के समान अधिक-अधिक लगाते गये और हारते गये। अन्त में सब कुछ दाव पर लगा दिया और सब कुछ चला गया। अब पाण्डवों को वहाँ से चले जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं बचा था। नीतिज्ञ वृद्ध जन कह रहे थे—पाण्डवों के साथ धोका हुआ है, अन्याय हुआ है। चारों भाई भी क्षुब्ध थे, वे अन्याय का प्रतीकार करने को तत्पर थे। किन्तु युधिष्ठिर ने उन्हें शान्त कर दिया। प्रतिज्ञा के अनुसार वे चारों भाइयों को लेकर चल दिये। उनके साथ केवल द्रौपदी ही गई।

पाण्डव चलते-चलते कालाजला अटवी में पहुँचे। उस वन में असुरोद्गीत नगर का प्रकीर्णकासुरी का पुत्र सुतार नामक विद्याधर किरात का वेष धारण करके अपनी हृदयवल्लभा कुसुमावली के साथ क्रीडा कर रहा था। अर्जुन भ्रमण करते हुए उधर ही जा निकला। किरात अर्जुन के आगमन से बड़ा क्रोधित होकर धनुष-बाण लेकर मारने दौड़ा। अर्जुन ने भी अपना गाण्डीव सम्हाल लिया। दोनों में भयकर युद्ध होने लगा। फिर बाहु युद्ध हुआ। अर्जुन ने किरात की छाती पर कस कर मुष्टिका-प्रहार किया। इससे वह अस्त-व्यस्त हो गया। पति की दुर्दशा देखकर विद्याधरी दीनतापूर्वक अर्जुन से पति के प्राणों की भिक्षा मांगने लगी। अर्जुन ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके किरात को छोड़ दिया।

सदमन्तर विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुए पाण्डव रामगिरि पहुँचे। यह वही पवित्र क्षेत्र था—जहाँ राम, लक्ष्मण और सीता के साथ छहरे थे और जहाँ उन्होंने सैकड़ों जिनालय बनवाये थे। पाण्डव लोग उन्हीं

जिनालयो मे दर्शन-पूजन करते थे। वह स्थान उन्हें इतना रुचिकर लगा कि वे वहाँ ११ वर्ष तक ठहरे।

पाण्डव विराट नगर मे—वहाँ से वे चलकर विराटनगर पहुँचे। वहाँ विराट नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम सुदर्शना था। पाण्डवों और द्रौपदी ने वेप बदल कर विराट के यहाँ नौकरी करली। द्रौपदी को सैरन्धी का काम मिला। वह रानी के शरीर मे तेल मर्दन और श्रृ गार का कार्य करती थीं। उन्हीं दिनों रानी सुदर्शना का सहोदर कीचक अपनी बहन से मिलने आया। कीचक बड़ा बलवान, दुष्ट और क्रूरकर्मा था।

एक दिन उसने द्रौपदी को देख लिया। देखते ही वह उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गया। वह नाना उपायो से द्रौपदी को आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु द्रौपदी ने उसकी ओर एक बार देखा तक नहीं। जब उसकी चेष्टाये सीमा का अतिक्रमण करने लगी, तब एक दिन अवसर पाकर द्रौपदी ने भीमसेन से उसकी शिकायत कर दी। सुनते ही भीमसेन क्रोध से उवल पडा। उसने द्रौपदी को उपाय बता दिया, जिसके अनुसार द्रौपदी ने कीचक को सायकाल के समय एकान्त स्थान मे मिलने का सकेन कर दिया। यथासमय कीचक उस स्थान पर पहुँचा। द्रौपदी का वेष धारण करके भीमसेन भी उस अन्धकारपूर्ण मिलन-स्थान पर जा पहुँचा। काम विह्वल कीचक ज्यो ही आलिंगन के लिए आगे बढ़ा, भीमसेन ने कीचक के गने मे दोना भुजाये डाल कर ऐसा आलिंगन किया कि कीचक भूमि पर जा गिरा। भीम ने उसकी छाती पर चढकर कस कर मुष्टिका प्रहार किये, जिससे उसका अंग-अंग चूर-चूर हो गया। इस प्रकार उसकी परस्त्री विषयक आकाक्षा का पूर्णकर दयालु भीमसेन ने 'जा पापी तुझे आज छोडे देता हूँ' यह कहकर छोड दिया। भयकर रूप से दण्डित और अपमानित होने से कीचक को वैराग्य हो गया। उसने मुनि-दीक्षा लेली। मुनि बनकर कीचक घोर तप करने लगे और निरन्तर आत्मा की निर्मलता बढ़ाते रहे। आयु के अन्त मे समस्त कर्मों का नाश करके वे जन्म-मरण से मुक्त हो गये।

जब कीचक के सौ भाइयो को कीचक की दुर्दशा और अपमान का समाचार ज्ञात हुआ तो वे लोग वहाँ आये और सैरन्धी को ही इसका कारण समझ कर उसे एक जलती हुई चिता मे डालने का उपक्रम करने लगे। भीम ने वहाँ पहुँचकर उन सबको यमघाम पहुँचा दिया।

दुर्योधन निश्चिन्त नहीं बैठा था। उसे अपने विश्वस्त चरो द्वारा समाचार प्राप्त हुआ कि एक ही व्यक्ति ने कीचक के महाबलवान सौ भाइयो का वध कर दिया है। इस समाचार से उसे सन्देह हो गया कि हो न हो, यह कार्य भीम ने किया है। फिर भी उसने अपने सन्देह की निवृत्ति के लिए एक उपाय किया। उसने एक सेना विराट नगर की ओर भेजी। सेना ने विराट नगर के बाहर राजा विराट की चरती हुई गायो को घेर लिया और उन्हें हाँक कर ले जाने लगी। रोते चिल्लाते ग्वालो ने आकर यह समाचार राजा को दिया। विराट ने तत्काल अपनी सेना भेज दी। यह समाचार अर्जुन के कानो मे भी पडा। वह विराट की पुत्री उत्तरा को नृत्य विद्या सिखाने के कार्य मे नियुक्त था। उसने महाराज से एक रथ और उपयुक्त शस्त्रास्त्र देने की प्रार्थना की। राजा ने वैसा ही किया। अर्जुन रथ मे आरूढ होकर युद्ध स्थल की ओर रवाना हुआ। मार्ग मे उसने एक शमी वृक्ष पर छिपाये हुए अपने गाण्डीव धनुष और शस्त्रास्त्रो को उतारा और जाकर कौरव सेना पर भयकर वेग से आक्रमण कर दिया। नकुल और सहदेव दोनो भ्राता तलवार मे पटु थे। वे भी अपने शस्त्रो से सज्जित होकर मोर्चे पर पहुँचे। उन तीनों भाइयो के हस्तलाघव और वीरता के आगे कौरव सेना युद्ध क्षेत्र और गायो को छोडकर प्राण बचाकर भागी।

अब दुर्योधन को सन्देह का कोई कारण शेष नहीं रहा। उसे विश्वास हो गया कि पाण्डव विराट नगर मे छद्म वेष मे अज्ञातवास का काल यापन कर रहे हैं। किन्तु अज्ञातवास का काल समाप्त हो गया था। अत पाण्डव पुन, हस्तिनापुर को लौट गये और वहाँ राज्य-शासन करने लगे।

किन्तु कौरव शान्त रहने वाले नहीं थे। उन्होंने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि पाण्डव अज्ञातवारा के निश्चित समय से पूर्व आ गये हैं। अत उन्हें बारह वर्ष का अज्ञातवास पुन स्वीकार करना चाहिए। सन्धि की यह शर्त बहुत स्पष्ट है। कौरवो की ये अनर्गल बातें सुनकर भीम आदि चारो भाई उत्तेजित हो जाते, किन्तु

युधिष्ठिर नहीं चाहते थे कि भाइयो में परस्पर कटुता उत्पन्न हो। अतः उन्होंने राज्य का परित्याग करके अपने भाइयों के साथ बाहर जाना ही उचित समझा। अतः वे दक्षिण की ओर चले गये। वे पाण्डव द्वारिका में यात्रा करते-करते विन्ध्यवन में पहुँचे। वहाँ एक आश्रम में तपस्या करते हुए महामना विदुर मिले। पाण्डवों ने उन्हें सम्मानपूर्वक नमस्कार किया। वहाँ से चलकर वे लोग द्वारिका पुरी में पहुँचे। उनके आगमन का समाचार सुनते ही समस्त यादव अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। महाराज समुद्र विजय आदि दसों भाई, नेमिनाथ, बलभद्र-कृष्ण आदि समस्त यादवप्रमुख पाण्डवों के आगमन पर अत्यन्त हर्षित हुए। यादव और पाण्डव परस्पर प्रेमपूर्वक मिले। स्वागत सम्मान के बाद श्रीकृष्ण ने उन्हें सम्पूर्ण भोगोपभोग सामग्री से युक्त प्रासादों में पृथक्-पृथक् ठहरा दिया। वहाँ रहते हुए उनका विवाह पाँच यादव राजकुमारियों के साथ हो गया—युधिष्ठिर का लक्ष्मीमती के साथ, भीम का शेषवती के साथ, अर्जुन का सुभद्रा के साथ, नकुल का रति के साथ और सहदेव का विजया के साथ।

एक बार कुछ व्यापारी राजगृह पहुँचे। वे सम्राट् जरासन्ध की राज्य सभा में पहुँचे और उन्हें अनर्घ्य रत्न अर्पित किये। जरासन्ध ने उन रत्नों को बड़े विस्मय से देखा और पूछने लगा—ये बहुमूल्य रत्न तुम्हें कहाँ प्राप्त हुए? व्यापारियों ने उत्तर दिया—राजन्! हम लोग सिंहल, स्वर्णद्वीप आदि देशों में व्यापार के निमित्त भ्रमण करते हुए द्वारिकापुरी पहुँचे। उस नगरी की समृद्धि और सम्पन्नता को देखकर हम विस्मित रह गये। वहाँ महापराक्रमी श्रीकृष्ण राज्य करते हैं। जब महाराज समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी के तीर्थकर नेमिनाथ का जन्म हुआ, उससे पन्द्रह मास पूर्व से उस नगरी में देवों ने रत्न वर्षा की। उन्हीं रत्नों में से कुछ रत्न हम लोग आपकी सेवा में लेकर आये हैं। व्यापारियों की यह बात सुनकर और यादवों

यादव कुल के प्रात की सुख-समृद्धि की बात जानकर जरासन्ध अत्यन्त कुपित होकर बोला—मैं तो समझता था जरासन्ध का कोप कि यादव मेरे भय से पलायन करते हुए जलती हुई चिताओं में जल मरे हैं। मुझे अब तक ज्ञात ही नहीं हुआ कि मेरे शत्रु, मेरे दामाद और पुत्रों-बाधवों को मारने वाले अधम यादव अब तक जीवित हैं और सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। क्या अपने चरो की इसी योग्यता के बल पर गिरिव्रज का शासन अपने सम्राट् का शासनादेश स्थिर रख सकेगा। अब तक मेरे अमात्य ही मुझे और स्वयं को धोका देते रहे हैं। जब तक मुझे ज्ञात नहीं था, तब तक मेरे शत्रु जीवित रहे। अब ज्ञात हो गया है तो वे मेरे विमुख रहकर एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकेगे। अभी मेरे सभी मित्र नरेशों के पास सेना सहित उपस्थित होने की सूचना भेज दी जाय। अभी यादवों के विरुद्ध अभियान करके उन्हें शीघ्र समूल विनष्ट करना है।

मंत्रियों ने अपने सम्राट् को नेमिनाथ-बलभद्र और श्रीकृष्ण के अजेय बल-विक्रम की बात बताकर निवेदन किया—देव! यादवों की शक्ति इस समय अजेय है। उनसे सामनीति के अनुसार शान्ति-सन्धि करना अधिक विवेकपूर्ण रहेगा।

जरासन्ध ने मंत्रियों के इस परामर्श की उपेक्षा करके अपने मित्र नरेशों के पास सहायता के उद्देश्य से राजदूत भेज दिये तथा एक चतुर दूत द्वारिकापुरी के लिए भी भेज दिया। जरासन्ध का वह राजदूत अजितसेन द्वारिका पुरी पहुँचा और यादवों की राज्य सभा में पहुँचा। यादवों ने उसका समुचित आतिथ्य करके उपयुक्त स्थान दिया। राजदूत ने अपने प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करके अपने आने का उद्देश्य बताते हुए कहा—राजन्यवर्ग! समस्त यादवगण सुनें। परम भट्टारक चक्रवर्ती सम्राट् जरासन्ध के मन में यादवों के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है। उनके भय से आप लोग अपनी जन्म-भूमि त्याग कर समुद्र के बीच में आकर बस गये हैं। चक्रवर्ती आपको आश्वासन देते हैं कि यदि आप चाहे तो पुनः अपनी जन्म-भूमि में लौट जायें, उन्हें इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि आप लोग यही निवास करना चाहे तो भी चक्रवर्ती की आपके ऊपर कृपा-दृष्टि रहेगी। सम्राट् आप लोगों के हित में और शान्ति एवं सौहार्द के महान प्रयोजनवश केवल यत्न चाहते हैं कि आप लोग उन्हें नमस्कार करके अपना सम्राट् स्वीकार कर लें और उनकी छत्रछाया में निर्वाध राज्य-सुख का भोग करें। यदि सम्राट् की आज्ञा का पालन नहीं हुआ तो यादव कुल का विनाश अनिवार्य है।

दूत के राजनयिक निवेदन का विपरीत ही प्रभाव पडा। स्वाभिमानी और स्वातन्त्र्य प्रेमी यादव किसी सम्राट् की दासता को अगीकार करने को तत्पर नहीं थे। महाराज श्रीकृष्ण ने दूत को सबोधन करते हुए उत्तर दिया—'शृगाल की मृत्यु आती है तो वह नगर की ओर जाता है। तुम्हारा वह दम्भी राजा सेना सज्जित करके यादव कुल के विरुद्ध अभियान करना चाहता है, यादव कुल रणभूमि में आकर उसका स्वागत करेगा और उसके दर्प का समुचित उत्तर देगा। यादव कुल का यह उत्तर अपने राजा से जाकर कह देना।'

यह कह कर उन्होंने दूत को वहाँ से विदा कर दिया। दूत ने यादवों का यह उत्तर अपने सम्राट् को निवेदन कर दिया।

इधर यादवों ने परिवर्तित परिस्थिति पर मन्त्रणागार में मन्त्रणा की। निर्णय हुआ कि यादवों को कुछ अवसर प्राप्त करने के लिये जरासन्ध से कुछ निश्चित अवधि के लिए शान्ति-सन्धि कर लेना उपयुक्त होगा। इस कार्य के लिए कुमार लोहजघ को भार सौपा गया। कुमार लोहजघ शूरवीर, चतुर, व्यवहार कुशल और नीतिज्ञ पुरुष था। वह गिरिब्रज पहुँच कर जरासन्ध से मिला। उसने उसे सम्भाषित किया कि युद्ध से दोनों पक्षों की ही जन-धन-हानि होगी। यह बुद्धिमत्तापूर्ण होगा कि सम्राट् और यादव कुल में एक सीमित अवधि के लिए शान्ति सन्धि निष्पन्न हो जाय। अवधि के पश्चात् इसका पुनर्नवीकरण करने अथवा अन्यथा प्रवृत्ति करने का दोनों पक्षों को अधिकार होगा। यादवों के इस नीतिज्ञ राजदूत की नर्कसगत बातों का जरासन्ध पर भी प्रभाव पडा। वह भी तैयारी के लिए कुछ समय चाहता था। अन्त में दोनों पक्षों की पारस्परिक सहमति द्वारा एक वर्ष की शान्ति सन्धि पर दोनों ओर के हस्ताक्षर हो गये।

कुरुक्षेत्र में महाभारत युद्ध

एक वर्ष की अवधि के पश्चात् जरासन्ध विशाल वाहिनी लेकर कुरुक्षेत्र के विस्तृत मैदान में जा पहुँचा। श्रीकृष्ण भी अपनी सेना सज्जित करके वहाँ जा डटे। श्रीकृष्ण के पक्ष में समस्त यादवों के अतिरिक्त पाण्डव, दशार्ह, भोज, पाण्ड्य, इक्ष्वाकु वंशी मेरु, राष्ट्रवधेन, सिंहल, बर्बर, यमन, आभीर, काम्बोज, द्रविड देश के नरेश, शकुनि का भाई चारुदत्त, पद्मरथ, आदि अनेक नरेश थे। इनके पक्ष में सात अक्षौहिणी सेना^१ थी। दूसरी ओर जरासन्ध के पक्ष में कौरवों के अतिरिक्त गान्धार, सिन्ध, मध्य देश के नरेश कर्ण आदि नरेश थे। उसकी सेना का संख्या-बल ग्यारह अक्षौहिणी था।

दोनों पक्षों की सेनायें जब आमने-सामने डट गईं, तब कुन्ती बड़ी चिन्तित हो गई। वह युधिष्ठिर आदि पुत्रों की सहमति से कर्ण के पास पहुँची। उसने कर्ण को कण्ठ से लगाकर उसे सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रारम्भ से

१ अक्षौहिण्यामित्यधिकं सप्तत्या ह्यष्टभि शतै ।
 सयुक्तानि सहस्राणि गजानामेकविंशति ॥
 एवमेव रथाना तु सख्यान् कीर्तितं वृषं ।
 पञ्चषष्टि सहस्राणि षट्शतानि दशैव तु ॥
 सख्यातास्तुरगास्तज्जैविना रथतुरगम् ।
 नृणां शतसहस्राणि सहस्राणि तथा नव ।
 शतानि त्रीणि चान्यानि पञ्चाशच्च पदातय ॥

—अमरकोश टीका

भारते अक्षौहिणी प्रमाणम्—

अक्षौहिण्या प्रमाणं तु साङ्गाष्टकद्विकैर्गजै ।
 रथैरेतैर्ह्यैस्त्रिघ्नं पञ्चघ्नैश्च पदातिभि ॥

—एक अक्षौहिणी में २१८७० हाथी, २१८७० रथ, ६५६१० अश्व, १०६३५० पदाति सैनिक होते हैं।

माता कुन्ती और कर्ण की भेंट

अन्त तक का सुनाया कि किस प्रकार लोक-लाज के कारण उसने अपने पुत्र को कम्बल में लपेट कर छोड़ दिया था। फिर बोली—पुत्र ! मैं तेरी अपराधिनी हूँ, किन्तु तू है तो पाण्डु-कुल का ही एक रत्न और युधिष्ठिर आदि पाण्डवों का अग्रज। वत्स ! चल वहाँ, जहाँ तेरे बन्धु-बान्धव हैं और कुरु-वंश का स्वामी तू ही है। तू कृष्ण और बलदेव के लिए प्राणों से भी प्रिय है। चतकर तू अपना राज्य सभाल। युधिष्ठिर तेरे ऊपर छत्र लगायेगा, भीम चवर ढोरेगा, धनजय तेरा मन्त्री बनेगा, नकुल और सहदेव तेरे द्वारपाल होंगे। फिर तুম सबकी हितकामना करने वाली तुम्हारी माता तुम्हारे साथ है।’

कर्ण माता के स्नेह रसपूरित वचन सुनकर द्रवित हो उठा, किन्तु जगमग ने उसके प्रति जो उपकार किये थे, उन्हें भूलकर वह कृतघ्न नहीं बनना चाहता था। अतः वह बोला—‘मसार मे माता, बन्धु-बान्धव दुर्जभ है, यह मैं जानता हूँ, किन्तु युद्ध उपस्थित होने पर स्वामी का कार्य छोड़कर बन्धु-बान्धवों का कार्य करना अनुचित होगा। मैं वचन देता हूँ कि मैं अपने भाइयों के साथ युद्ध न करके अन्य योद्धाओं के साथ युद्ध करूँगा। यदि युद्ध के पश्चात् हम लोग जीवित रहे तो बन्धुओं के साथ समागम अवश्य हागा।’ इतना कहकर उसने माता कुन्ती के चरणों का स्पर्श किया।

व्यूह-रचना—जरासन्ध के पक्ष ने चक्र-व्यूह की रचना की। इस चक्र-व्यूह में मेना की चक्राकार रचना की गई। इस चक्र के एक हजार आरे थे। उसकी रक्षा के लिए एक-एक आरे पर एक-एक राजा अपनी मेना के साथ उपस्थित था। चक्र के मध्य भाग में जरासन्ध स्थित था। उसकी रक्षा के लिये कर्ण, दुर्योधन आदि सौ भाई, गान्धार, सिन्ध और मध्य देश के राजा सन्नद्ध खड़े थे। जरासन्ध ने राजा हिरण्यनाभ को आज का सेनापति नियुक्त किया।

दूसरी ओर वसुदेव ने चक्र-व्यूह के उत्तर में गरुड व्यूह की रचना की। इस व्यूह के मुख पर यादव कुमार नियुक्त किये गये। अतिरथ, बलदेव और श्रीकृष्ण उसके मस्तक पर स्थित हुए। वसुदेव के पुत्र अक्रूर, कुमुद, वीर, सारण, विजय, जय, पद्म, जरत्कुमार, सुमुख, दुर्मुख, दृढमुष्टि, विदूरथ और अनावृष्टि बलदेव और श्रीकृष्ण के रथ की रक्षा करने के लिए पृष्ठरक्षक नियुक्त किये गये। राजा भोज गरुड के पृष्ठ भाग पर स्थित हुआ और धारण, सागर आदि अनेक वीर भोज के पृष्ठरक्षक बनाये गये। महाराज समुद्रविजय गरुड के दाये पक्ष पर स्थित हुए। बलदेव-पुत्र और पाण्डव गरुड के बाँये पक्ष पर स्थित हुए। उनके पृष्ठ भाग पर सिंहल, बर्बर, कम्बोज, केरल, कोसल और द्रमिल देश के राजा नियत किये गये।

तृतीये अनेक विद्याधर नरेश अपनी-अपनी सेनायें लेकर वसुदेव के पक्ष में आये। उनसे यह भी समाचार मिला कि विद्याधरों की एक विशाल सेना जरासन्ध की सहायता करने के लिए आने वाली है। तब मन्त्रणा करके यादव प्रमुखों ने उन्हीं विद्याधर नरेशों के साथ प्रद्युम्न, शम्भु आदि पुत्रों सहित वसुदेव को विजयाधं पर्वत की ओर इस शत्रु विद्याधर सेना का प्रतिरोध करने के लिए भेज दिया।

सभी वीर युद्ध के लिए सन्नद्ध थे। वीरों की भुजायें अपना कशल प्रस्तुत करने के लिए फड़क रही थी। महाबली बलदेव कुवेर द्वारा समर्पित दिव्य अस्त्रों से परिपूर्ण सिंह रथ पर आखंड हुए। महामना श्रीकृष्ण गरुडाकित पताका से सुशोभित दिव्य अस्त्र शस्त्रों से परिपूर्ण गरुड रथ में विराजमान हुए। भगवान् नेमिनाथ इन्द्र द्वारा प्रेषित और मातलि सारथी से युक्त रथ में जा विराजे। उनकी दिव्य कांति से सम्पूर्ण युद्ध-भूमि प्रभासित थी। तब यादव प्रमुखों ने परामर्ष करके वसुदेव के महावीर पुत्र अनावृष्टि को सेनापति बनाकर उसके ललाट पर कुकुम का तिलक लगाया।

युद्ध का भेरी-घोष—दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ करने की सूचना देने वाले शख और भेरियों का तुमुल घोष होने लगा। भेरी-घोष सुनते ही दोनों सेनायें परस्पर जूझ पड़ीं। गज सेना गज सेना के साथ, अश्व सेना अश्व सेना के साथ, रथारोही रथारोहियों के साथ और पदाति पदातियों के साथ भिड़ गये। वीरों की हुकारों और ललकारों, धनुष की टकारों, हाथी और घोड़ों की चीत्कारों से दसों दिशाये फटने-सी लगी।

जरासन्ध की सेना ने यादव सेना को दबाना प्रारम्भ कर दिया। यह देख कर नेमिनाथ, अर्जुन और अनावृष्टि श्रीकृष्ण के सकेत पर आगे बढ़े। भगवान नेमिनाथ ने इन्द्र द्वारा प्रदत्त ऐन्द्र, अर्जुन ने देवदत्त और सेनापति अनावृष्टि ने बलाहक शस्त्र फूका। शस्त्र-ध्वनि सुनते ही यादव-सेना में उत्साह भर गया। अनावृष्टि ने चक्रव्यूह का मध्य भाग, नेमिनाथ ने दक्षिण भाग और अर्जुन ने पश्चिमोत्तर भाग क्षणमात्र में भेद दिया। तब प्रतिपक्ष का सेनापति हिरण्यनाभ अनावृष्टि के साथ, रुक्मो नेमिनाथ के साथ और दुर्योधन अर्जुन के साथ भिड़ गये। भगवान नेमिनाथ ने भयकर बाणवर्षा से रुक्मी को रथ के नीचे गिरा दिया और असह्य वीरो को तितर-वितर कर दिया। उपयुक्त अवसर पाकर पाँचों पाण्डवों ने कौरवों के साथ भयकर युद्ध किया। युधिष्ठिर शल्य के साथ, भीम दु-शासन के साथ, सहदेव अकुनि के साथ और नकुल उलूक के साथ युद्ध करने लगे। पाण्डवों ने दुर्योधन के अनेक भाइयों को मार डाला, जो जीवित रह गये, उन्हें मृतक के समान कर दिया।

उधर दोनों पक्षों के सेनापतियों का लोभहर्षक द्वन्द्व युद्ध हो रहा था। हिरण्यनाभ ने अनावृष्टि को बाण वर्षा द्वारा सत्ताईस बार आहत किया। उत्तर में अनावृष्टि ने अपने भयकर बाणों द्वारा सौ व्रण दिये। हिरण्यनाभ ने अनावृष्टि की ध्वजा भग कर दी और अनावृष्टि ने उसके धनुष, छत्र और सारथि को भेद दिया। हिरण्यनाभ ने दूसरा धनुष, सभाल लिया तो अनावृष्टि ने उसका रथ तोड़ दिया। तब हिरण्यनाभ तलवार हाथ में लेकर कूद पड़ा। अनावृष्टि ने भी तलवार और ढाल लेकर उसका सामना किया। दोनों वीरों में भयानक युद्ध हुआ। अन्त में अनावृष्टि ने हिरण्यनाभ पर घातक प्रहार किया। उससे उसकी दोनों भुजायें कटकर अलग जा पड़ी, छाती फट गई और निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़ा। सेनापति के गिरते ही शत्रु-सेना प्राण लेकर भागने लगी। यादव-सेना में हर्ष-नाद होने लगा। बलदेव और श्रीकृष्ण ने चक्रव्यूह का भेदन करने वाले भगवान नेमिनाथ, अर्जुन और सेनापति अनावृष्टि का प्रेमपूर्ण आलिंगन किया। प्रथम दिन के युद्ध में यादवों की विजय हुई और शत्रु सेना में शोक छा गया।

श्रीकृष्ण द्वारा जरासन्ध का वध—दूसरे दिन सूर्योदय होते ही मैदान में दोनों सेनायें आ डटी। व्यूह-रचना पूर्ववत् की गई। तब रथ में आरूढ जरासन्ध अपने मंत्री हसक से बोला—हसक! मुझे यादव पक्ष के महावीरों के नाम, चिन्ह और परिचय बता, जिससे मैं उन्हीं का वध करूँ, अन्य साधारण जनो के वध से क्या लाभ है।

तब हसक अपने स्वामी को शत्रु पक्ष के सेनानियों का परिचय देते हुए कहने लगा—‘देव! स्वर्ण शृङ्खलाओं से युक्त श्वेत अश्वों और गरुड ध्वजा वाला श्रीकृष्ण का रथ है। स्वर्ण साँकलो वाला, हरे अश्वों वाला और वृषभ ध्वजा वाला अरिष्टनेमि का रथ है। कृष्ण के दाईं ओर रीठा के समान वर्ण वाले अश्वों और ताल ध्वज वाला बलदेव का रथ है। इसी प्रकार अमात्य ने अनावृष्टि, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, समुद्र विजय, अक्रूर, सात्यकि, भोज, जरत्कुमार, सिंहल, मरुराज पद्मरथ, सारण, मेरुदत्त, विदूरथ आदि महारथियों का परिचय दिया।

सबका परिचय पाकर जरासन्ध ने सारथि को आदेश दिया - ‘सारथि! मेरा रथ यादवों की ओर ले चल। तब जरासन्ध और उसके पुत्रों ने यादव सेना पर बाण-वर्षा करके उसे व्याकुल कर दिया। जरासन्ध के पुत्र कालयवन ने अनेक यादव कुमारों के शिर छेद दिये। तब क्रुद्ध होकर सारण आगे बढ़ा और उसने खड्ग के एक ही तीव्र प्रहार में कालयवन को यमराज के घर भेज दिया। जरासन्ध के अन्य पुत्र प्रतिरोध करने आगे बढ़े, उन्हें श्रीकृष्ण ने अपने घातक बाणों से सदा के लिए सुला दिया।

पुत्रों की मृत्यु से भयकर क्रोध में भरकर अपने नेत्रों से आग बरसाता हुआ जरासन्ध श्रीकृष्ण के समक्ष पहुँचा। दोनों अप्रतिम वीरों में उस समय दारुण युद्ध हुआ। जरासन्ध ने दिव्य नागास्त्र छोड़ा। कृष्ण सावधान थे। उन्होंने गरुडास्त्र छोड़कर उसे व्यर्थ कर दिया। तब जरासन्ध ने प्रलयकाल के मेघ के समान वर्षा करने वाला सवर्तक अस्त्र छोड़ा तो श्रीकृष्ण ने महाश्वसन नामक अस्त्र के द्वारा भयकर आंधी चलाकर उसे दूर कर दिया। इस प्रकार दोनों वीर वायव्य अस्त्र, अन्तरीक्ष अस्त्र, आग्नेय बाण, वारुणास्त्र, वैरोचन अस्त्र, माहेन्द्र अस्त्र, राक्षसबाण, नारायण बाण तामसास्त्र, भास्कर बाण, अश्वग्रीव बाण, ब्रह्मशिरस बाण आदि दिव्य शस्त्रास्त्र चलाते और

एक दूसरे को छकाते रहे। जब जरासन्ध के सभी दिव्यास्त्रों को कृष्ण ने निष्प्रभ कर दिया, तो जरासन्ध ने हजार यक्षों द्वारा रक्षित चक्ररत्न को स्मरण किया। स्मरण करते ही चक्ररत्न समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ उसकी उ गली पर आकर ठहर गया। तब उसने वह चक्ररत्न श्रीकृष्ण की ओर फेंका। उस प्रकाशमान चक्ररत्न को आते हुए देखकर समस्त यादव सेना में आतंक छा गया। समस्त यादवपक्षी वीर उस चक्ररत्न को रोकने का प्रयत्न करने लगे। सभी वीर भय से अस्थिर हो रहे थे, केवल एक ही व्यक्ति स्थिर और शान्त था और वे थे भगवान नेमिनाथ, वे अवधिज्ञान के द्वारा इसका परिणाम जानते थे। इसलिए वे श्रीकृष्ण के पास शान्त भाव से खड़े हुए देख रहे थे। वह कान्तिमान चक्ररत्न धीरे-धीरे बढ़ता हुआ आया। उसने भगवान नेमिनाथ और श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा दी और श्रीकृष्ण के शख, चक्र, अक्रुश से चिन्हित दाये हाथ पर आकर ठहर गया। उसी समय आकाश में देव-दुन्दुभि बजने लगी, पुष्प वर्षा होने लगी, यह नौवा नारायण है, इस प्रकार देव कहने लगे। सुगन्धित पवन बहने लगा।

जरासन्ध को अपनी मृत्यु का निश्चय हो गया, किन्तु वह वीर निर्भय होकर बोला—अरे गोप! एक चक्र चला गया तो क्या हुआ, मेरे पास अभी बल और शस्त्रास्त्र सुरक्षित है। तू इसे चला कर देख ले।

स्वभाव से धीर गम्भीर श्रीकृष्ण शान्त भाव से बोले—‘अब तो तुम्हें विश्वास हो गया होगा कि मैं नारायण हूँ। यदि अब भी तुम मेरी आधीनता स्वीकार करके मुझे नमस्कार करो तो मैं तुम्हें क्षमा कर सकता हूँ।’ किन्तु जरासन्ध गर्व से बोला—‘इस कुम्हार के चाक को पाकर तुम्हें व्यर्थ ही अभिमान हो गया है। मैं समस्त यादवों सहित तुम्हें अभी यमपुर पहुँचाता हूँ।’

श्रीकृष्ण ने कुपित होकर घुमाकर चक्ररत्न छोड़ा। उसने शीघ्र ही जरासन्ध के वक्षस्थल को भेद दिया। जरासन्ध टूटे हुए वृक्ष के समान निष्प्राण होकर भूलु ठित हो गया। चक्ररत्न पुनः लौट कर श्रीकृष्ण के हाथ में आ गया। श्रीकृष्ण ने अपना पाँचजन्य शख फूका। भगवान नेमिनाथ, अर्जुन और सेनापति अनावृष्टि ने भी अपने-अपने शख फूके। शत्रु-सेना में अभय घोषणा कर दी गई। सब श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी बन गये। दुर्योधन, द्रोण, दुःशासन, कर्ण आदि ने विरक्त होकर मुनि-दीक्षा ले ली।

दूसरे दिन जरासन्ध आदि मृत व्यक्तियों का सम्मानपूर्वक दाह सस्कार किया गया। इधर शत्रु-पक्ष तो पराजित हो गया था, किन्तु वसुदेव अपने पुत्रों और पौत्रों के साथ विद्याधरो के प्रतिरोध के लिए गये थे, किन्तु वे अभी तक नहीं लौटे थे, न कोई समाचार ही मिला था। यादव इसी चिन्ता में बैठे हुए थे। तभी अनेक विद्याधरियाँ वेगवती, नागकुमारी के साथ आकाश-मार्ग से आईं। आकर उन्होंने सबको नमस्कार किया और यह शुभ समाचार सुनाया कि विद्याधरो के ऊपर वसुदेव ने विजय प्राप्त कर ली है और सभी विद्याधर उनके आज्ञानुवर्ती बन गये हैं। वे कुछ समय में आने ही वाले हैं। तभी विमानों में विद्याधरो के साथ वसुदेव और उनके सभी पुत्र और पौत्र आये। आकर सब विद्याधरों ने नारायण कृष्ण और बलभद्र बलदेव के चरणों में नमस्कार किया। वसुदेव ने अपने दोनों विजयी पुत्रों का आर्लिगन किया, दोनों ने पिता के चरणों में नमस्कार किया। फिर वसुदेव और पुत्रों पौत्रों ने महाराज समुद्रविजय आदि को नमस्कार किया।

महाभारत युद्ध में विजय प्राप्त करके श्रीकृष्ण और बलदेव दिग्विजय के लिए निकले। उन्होंने अल्प समय में ही भरत क्षेत्र के तीन खण्डों अर्थात् अर्ध भरत क्षेत्र के सभी राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली। तब वे दक्षिण दिशा से कोटिशिला पर पहुँचे। वहाँ पहुँच कर श्रीकृष्ण ने उस एक योजन श्रीकृष्ण द्वारा दिग्विजय ऊँची, एक योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी शिला की पूजा करके उसे अपनी भुजाओं से चार अंगुल ऊपर उठा लिया। प्रथम त्रिपृष्ठ नारायण ने इस शिला को भुजाओं से सिर से ऊपर उठाया था। द्वितीय नारायण ने मस्तक तक, तीसरे स्वयम्भू ने कण्ठ तक, चौथे पुरुषोत्तम ने वक्षस्थल तक, पाचवें नृसिंह ने हृदय तक, छठवें पुण्डरीक ने कमर तक, सातवें दत्तक ने जाँघों तक, आठवें लक्ष्मण ने घुटनों तक और नौवें नारायण श्रीकृष्ण ने उसे चार अंगुल ऊपर तक उठाया। शिला उठाने के कारण समस्त नरेशों और सेना ने उन्हें नारायण स्वीकार कर लिया।

दिग्विजय करके श्रीकृष्ण और बलराम द्वारिका वापिस आये। समस्त नरेशो ने दोनो भाइयो को अर्ध-चक्रीश्वर पद पर आसीन करके अभिषिक्त किया। फिर श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के द्वितीय पुत्र सहदेव को मगध का राज्य प्रदान किया। उग्रसेन के पुत्र द्वार को मथुरा का, महानेमि को शौर्यपुर का, पाण्डवो को हस्तिनापुर का, राजा रुधिर के पौत्र रुक्मनाभ को कोशल देश का राज्य प्रदान किया।

श्रीकृष्ण का वैभव अपार था। उनके पास सुदर्शन चक्र, शार्ङ्ग धनुष, सौनन्दक खड्ग, कौमुदी गदा, अमोघ-मूला शक्ति, पाचजन्य शस्त्र, कौस्तुभ मणि ये सात दिव्य रत्न थे। इसी प्रकार बलदेव के पास अपराजित हल, गदा, मूसल, शक्ति और माला ये पांच दिव्य रत्न थे। नारायण की आज्ञा शिरोधार्य करने वाले राजाओ की सख्या सोलह हजार थी। उनकी सोलह हजार रानियाँ थी तथा बलदेव की आठ हजार रानियाँ थी। श्रीकृष्ण की आठ पटरानियाँ थी, जिनके नाम इस प्रकार थे—रुक्मिणी, सत्यभामा, जामवती, लक्ष्मणा, सुसीमा, गौरी, पद्मावती और गान्धारी।

पाण्डव आनन्दपूर्वक हस्तिनापुर में राज्य कर रहे थे। उनका प्रताप चारो ओर ध्याप्त हो रहा था। नारायण श्रीकृष्ण उनके मित्र थे। एक दिन घुमन्तू नारद पाण्डवो के महलो में पधारे। पाण्डवो ने पाण्डवो का निष्कासन उनका यथोचित सम्मान किया। फिर वे अन्त पुर में गये। द्रौपदी उस समय श्रृ गार में लीन थी, इसलिये नारद कब आये और चले गये उसे इसका कुछ पता नहीं चला किन्तु नारद को द्रौपदी का यह व्यवहार असह्य लगा। उन्होंने द्रौपदी का आन-मर्दन करने का निश्चय किया और वे आकाश-मार्ग से पूर्व घातकी खण्ड के भरत-क्षेत्र की अमरककापुरी के नरेश पद्मनाभ के महलो में पहुँचे। पद्मनाभ ने उनकी अभ्यर्थना की और अपनी स्त्रियो को दिखाकर कहा—वया आपने ऐसी रूपवती स्त्रियाँ ससार में कही अन्यत्र देखी हैं? तब नारद ने द्रौपदी के रूप लावण्य का ऐसा सरस वर्णन किया कि पद्मनाभ उस स्त्री रत्न को पाने के लिए ललक उठा। नारद द्रौपदी के क्षेत्र, नगर, भवन आदि का पता बताकर चले गये।

तब पद्मनाभ ने सगमक नामक देव द्वारा सोती हुई द्रौपदी को पर्थक सहित अपने महलो में मगा लिया। जब द्रौपदी सो कर उठी तो वह आश्चर्य से चारो ओर देखने लगी। तभी पद्मनाभ आकर बोला—‘देवि! तुम घातकी खण्ड में हो, मैं यहाँ का नरेश पद्मनाभ हूँ। मैंने तुम्हें यहाँ मगवाया है। मैं तुम्हें अपनी पटरानी बनाना चाहता हूँ। अब तुम अपने पति को भूल जाओ और मेरे साथ इच्छानुकूल भोग भोगो।’ द्रौपदी कृपित होकर बोली—‘तुम नहीं जानते, नारायण कृष्ण और बलभद्र बलराम मेरे भाई हैं, जगद्विख्यात धनुर्धर अर्जुन मेरे पति हैं। मेरे ज्येष्ठ और देवर अतुल बल विक्रमधारी हैं। उनको कोई स्थान अगम्य नहीं है। यदि तुम्हें मृत्यु प्रिय नहीं है तो तुम अभी मुझे मेरे स्थान पर पहुँचा दो।’ यह सुन कर पद्मनाभ खिलखिला कर हँस पडा।

द्रौपदी इस सकट से विचलित नहीं हुई। उसने नियम कर लिया कि जब तक मुझे मेरे पति अर्जुन के दर्शन नहीं होंगे, तब तक मेरे अन्न-जल का त्याग है।

इधर जब आकस्मिक रूप से द्रौपदी अदृश्य हो गई तो पाण्डव किकर्तव्य विमूढ हो गये। वे सीधे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे और उन्हें यह दुःसवाद सुनाया। सुनकर उन्हें बडा दुःख हुआ। उन्होंने सभी नगरो में खोज कराई, किन्तु कोई पता नहीं लगा।

एक दिन श्रीकृष्ण की सभा में नारद का आगमन हुआ। यादवो से अभ्यर्थना पाकर नारद बोले—‘मैंने द्रौपदी को घातकी खण्ड द्वीप की अमरककापुरी में राजा पद्मनाभ के महलो में देखा है। वह निरन्तर अश्रुपात करती रहती है। उसे केवल अपने शीलव्रत का ही भरोसा है।’ द्रौपदी के समाचार पाकर श्रीकृष्ण, पाण्डव और समस्त यादव अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे नारद की प्रशंसा करने लगे।

समाचार पाकर श्रीकृष्ण और पाँचो पाण्डव द्रौपदी को लाने के लिए रथ में आरूढ होकर चल दिये। दक्षिण समुद्र के तट पर पहुँच कर उन्होंने लवण समुद्र के अधिष्ठाता देवता की आराधना की और तीन दिन का उपवास करके बैठ गये। देवता ने प्रसन्न होकर उन्हें छह रथो में आरूढ करके घातकी खण्ड पहुँचा दिया। वहाँ से वे लोग अमरककापुरी पहुँच और बाह्य उद्यान में ठहर गये। उद्यान में नियुक्त प्रहरियो ने जाकर महाराजा

पद्मनाभ को समाचार दिया कि श्रीकृष्ण आदि आ गये हैं। राजा ने उनसे युद्ध करने के लिये अपनी सेना भेजी। उसे श्रीकृष्ण आदि ने बुरी तरह परास्त कर दिया। अवशिष्ट सेना भागकर नगर में पहुँची। राजा ने नगर कोट के द्वार बन्द करा दिये। श्रीकृष्ण ने पैर की एक ठोकर से द्वार और प्राकार तोड़ दिये, नगर का विध्वंस करना आरम्भ कर दिया। नगर में त्राहि-त्राहि मच गई। हाथी और घोड़े बन्वन तुडाकर भागने लगे। तब भयभीत होकर पद्मनाभ स्त्रियो और नागरिको को लेकर द्रौपदी की शरण में पहुँचा और दीनतापूर्वक अपने अपराध की क्षमा-याचना करता हुआ प्राण की भिक्षा मागने लगा। तब उसकी दीन दशा देखकर दयाद्वं होकर द्रौपदी ने कहा— तू स्त्री वेप धारण करके चक्रवर्ती श्रीकृष्ण की शरण में जा। वे ही तुझे क्षमा करेंगे। पद्मनाभ ने ऐसा ही किया और स्त्री वेप धारण करके द्रौपदी को आगे करके स्त्रियो के साथ श्रीकृष्ण की शरण में जा पहुँचा। श्रीकृष्ण ने शरणागत को अभय-दान दिया और उसे वापिस लौटा दिया। द्रौपदी ने श्रीकृष्ण के चरणों में नमस्कार किया तथा वह पाण्डवों से विनय के साथ मिली तथा अपना दुःख रोते-रोते प्रगट किया, जिससे दुःख का भार उतर गया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण द्रौपदी को रथ में बैठाकर पाण्डवों के साथ समुद्र तट पर आये और अपना पांचजन्य शख बजाया। उसके शब्द से दिशाये प्रतिध्वनित होने लगी। उस समय चपा नगरी के बाहर विराजमान जितेन्द्र भगवान के दर्शन करने के लिये घातकी खण्ड का नारायण कपिल आया था। उसने भी शख का शब्द सुना। अतः उसने जितेन्द्र भगवान से पूछा—‘भगवन् ! मेरे समान शक्तिसम्पन्न किस व्यक्ति ने यह शख ध्वनि की है। इस क्षेत्र में तो मेरे समान अन्य कोई नारायण नहीं है।’ तब जितेन्द्र देव ने श्रीकृष्ण नारायण और पाण्डवों के सम्बन्ध में सारा वृत्तान्त बताया। नारायण कपिल नारायण कृष्ण को देखने की इच्छा से वहाँ से चलने लगा ता भगवान बोले—‘राजन् ! कभी तीर्थंकर-तीर्थंकर की, चक्रवर्ती-चक्रवर्ती की, नारायण-नारायण की, बलभद्र-बलभद्र की और प्रतिनारायण-प्रति नारायणकी भेंट नहीं होती। केवल चिन्ह मात्र ही कृष्ण नारायण का तुम देख पाओगे।’

कपिल नारायण जब समुद्र-तट पर पहुँचा, तब तक श्रीकृष्ण समुद्र में जा चुके थे। केवल उनकी ध्वजा के ही दर्शन हो सके। वहाँ लौट कर नारायण कपिल ने राजा पद्मनाभ को खूब डाटा।

कृष्ण और पाण्डव समुद्र को पारकर इस तट पर आ गये। वहाँ श्रीकृष्ण तो विश्राम करने लगे और पाण्डव नौका द्वारा गंगा को पार कर उसके दक्षिण तट पर ठहर गये। भीम ने विनोदवश नौका वहीं छोपा दी। श्रीकृष्ण ने घोड़ों और सारथी सहित रथ को उठाकर गंगा को पार किया। तट पर आकर श्रीकृष्ण ने पाण्डवों से पूछा—‘तुम लोगो ने नाव क्यों नहीं भेजी?’ भीम बोला—‘हम आपकी शक्ति देखना चाहते थे।’ यह बात सुन कर श्रीकृष्ण को क्रोध आ गया और उन्होंने क्रोधवश कहा—‘क्या तुमने अब तक मेरी शक्ति नहीं देखी थी? तुम लोग हस्तिनापुर से निकल जाओ।’ उन्होंने हस्तिनापुर जाकर वहाँ का राज्य सुभद्रा के पुत्र आर्यसूनु को दे दिया।

पाण्डव कृष्ण के आदेश से हस्तिनापुर त्याग कर अपने अनुकूल जनो के साथ दक्षिण दिशा की ओर चले गये और वहाँ दक्षिण मथुरा नाम की नगरी बसा कर रहने लगे।

नेमिनाथ का शौर्य प्रदर्शन—एक दिन भगवान नेमिनाथ यादवों की कुसुमचित्रा नामक सभा में गये। उनके पहुँचने पर सभी यादवों ने खड़े होकर भगवान के प्रति सम्मान प्रगट किया। नारायण श्रीकृष्ण ने आगे जाकर उनकी अभ्यर्थना की और उन्हें अपने साथ सिंहासन पर बैठाया। सबके बैठने पर राजाओं में चर्चा चली कि सबसे अधिक बलवान इस समय कौन है। किसी ने पाण्डवों का नाम लिया, किसी ने श्रीकृष्ण का, किसी ने बलराम का किन्तु अन्त में अधिकांश राजाओं और बलदेव ने कहा कि भगवान नेमिनाथ के समान तीनों लोको में अन्य कोई पुरुष बलवान नहीं है। ये अपनी हथेली से पृथ्वी को उठा सकते हैं, समुद्रों को दिशाओं में फेंक सकते हैं, सुमेरु पर्वत को कम्पायमान कर सकते हैं। ये तो तीर्थंकर हैं। इनसे उत्कृष्ट दूसरा कौन हो सकता है।

बलदेव के ये वचन सुनकर श्रीकृष्ण ने भगवान की ओर देखकर मुसकराते हुए कहा—‘भगवन् ! यदि आपके शरीर में ऐसा उत्कृष्ट बल है तो क्यों न बाहु-युद्ध में उसकी परीक्षा कर ली जाय।’ भगवान ने किंचित् मुसकरा कर कहा—‘हे अग्रज ! इसकी क्या आवश्यकता है। यदि आपको मेरा बाहु-बल ही जानना है तो इस

आसन से मेरा पैर ही विचलित कर दीजिये।' श्रीकृष्ण कमर कसकर उठे और वे पूरे बल से भगवान के पैर से जूझ गये किन्तु पैर को तो क्या हटा पाते, पैर को एक उगली तक को न हिला सके। उनके मस्तक पर श्रम-बिन्दु झलमलाने लगे, श्वास प्रवल वेग से चलने लगी। अन्त में श्रान्त होकर श्रीकृष्ण हाथ जोड़कर बोले—भगवन् ! आपका बल लोकोत्तर है।

किन्तु इस घटना से श्रीकृष्ण के मन में एक शका बद्धमूल होकर जम गई कि भगवान का बल अपार है, इनके रहते मेरा राज्य-शासन स्थिर कैसे रह पाएगा।

तभी एक घटना और हो गई। वसन्त ऋतु थी। श्रीकृष्ण अपने परिवार और समस्त यादवों के साथ वन-क्रीडा के लिए प्रभास पर्वत पर गये। भगवान नेमिनाथ भी साथ में थे। सभी लोग यथायोग्य वाहनो में बैठकर गिरनार पर्वत पर पहुँचे। वनश्री पूरे यौवन पर थी। नाना जाति के पुष्प विकसित थे। भ्रमरावलियाँ मधु-पान करती हुई गुंजन कर रही थी। कोकिल कूज रही थी। मलय पवन बह रहा था। ऐसे मादक वातावरण में सभी लोग क्रीडा में रत हो गये। श्रीकृष्ण की रानियों ने अपने देवर नेमिनाथ को घेर लिया। वे उनके साथ नाना प्रकार की क्रीडाये करने लगीं। फिर वे सरोवर में जल क्रीडा करने लगीं। भगवान भी उनके साथ इस आमोद-प्रमोद में पूरी तरह भाग ले रहे थे। जब सभी परिश्रान्त हो गईं तो वे लोग जल से बाहर निकली और वस्त्र बदलने लगीं। भगवान ने वस्त्र बदलकर विनोद-मुद्रा में नारायण की प्रेमपात्र महारानी जाम्बवती से उतारे हुए गोले वस्त्र निचोड़ने के लिए कहा। यह सुनते ही महारानी जाम्बवती छद्म क्रोध प्रगट करती हुई कहने लगी—कौस्तुभ मणि धारण करने वाले, नागशय्या पर आरूढ होकर शख की ध्वनि से तीनों लोको को कपाने वाले, शाङ्ग धनुष की प्रत्यञ्चा चढाने वाले, राजाओं के भी महाराज श्रीकृष्ण मेरे पति हैं, वे भी मुझे कभी ऐसी आज्ञा नहीं देते। किन्तु आश्चर्य है कि आप मुझे अपने कपड़े निचोड़ने की आज्ञा दे रहे हैं।

महारानी की यह बात सुनकर अन्य रानियों ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—तीन लोक के स्वामी और इन्द्रो से पूजित भगवान के लिए तुम्हें इस प्रकार अयुक्त वचन बोलना क्या शोभा देता है ?

किन्तु भगवान ने मुस्कराते हुए कहा—'महाराज श्रीकृष्ण के शौर्य की जो प्रशंसा तुमने की है, वैसा शौर्य क्या कठिन है ?' यो कहकर वे वेग से राजमहलो में पहुँचे और फुंकारते हुए नागों के फणों से मण्डित नागशय्या पर चढकर उन्होंने शाङ्ग धनुष को झुकाकर उसकी प्रत्यञ्चा चढा दी तथा पाञ्चजन्य शख को जोर से फूका। शख के भयकर शब्द से आकाश और पृथ्वी व्याप्त हो गई। हाथी और घोड़े बन्धन तुडाकर चिघाड़ने और हिनहिनाने लगे। श्रीकृष्ण ने शख-ध्वनि सुनी तो उन्होंने तलवार खींचली। नगरवासी आतक से विजडित हो गये। जब श्रीकृष्ण को ज्ञात हुआ कि यह तो हमारे ही शख का शब्द है तो आशकाओं से त्रस्त होकर वे शीघ्र आयुधशाला में पहुँचे, किन्तु जब उन्होंने कुमार नेमिनाथ को नागशय्या पर अनादर-पूर्वक खडा हुआ क्रोधित मुद्रा में देखा तो उन्हें सन्तोष का अनुभव हुआ। उन्होंने कुमार को प्रेमपूर्वक आलिगनबद्ध कर लिया और अपने साथ ही उन्हें घर लेगये। घर पहुँचने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वन विहार में मेरी ही रानियों के कारण कुमार को कामोद्दीपन हुआ है तो वे बड़े हर्षित हुए।

नेमिनाथ के विवाह का आयोजन—श्रीकृष्ण ने भोजवशी उग्रसेन की पुत्री राजीमती की कुमार नेमिनाथ के लिए याचना की। उन्होंने राजाओं को रानियों सहित आने के निमन्त्रण भेज दिए तथा अपने बन्धुजनों के पास भी पाणिग्रहण सस्कार के समाचार भेज दिये।

श्रावण मास की वर्षा ऋतु में यादवों की बरात सजधज कर द्वारिका से निकली। बरात में अगणित बराती थे। अनेक नरेश राजसी वैभव का प्रदर्शन करते हुए जा रहे थे। बराती नानाविध वाहनो में बैठे थे। श्रीकृष्ण, बलराम आदि से घिरे हुए कुमार नेमिनाथ वर की वेषभूषा धारण किए और रत्नालकारों से अलंकृत हुए रथ में विराजमान थे। त्रिलोकसुन्दर भगवान अलंकार धारण करके रूप के साकार रूप लग रहे थे। यादव कुमारियाँ सृष्टिमान कामदेव के मार्ग में पलक पाँवड़े बिछाये उनके ऊपर अक्षत-राजा की वर्षा कर रही थी। शीशुवती, विप्रधा, राजवर्षा के किनारे वर-जल के परिपूर्ण स्वर्ण घड लिए खड़ी थीं। सुवती, विप्रधा, राजवर्षा

और भवनों के गवाक्षों से वर के ऊपर पुष्प-पराग बरस रही थी। यादवों की यह वरात जब जूनागढ पहुँची तो वरात का दूसरा सिरा द्वारिका में था। वर का रथ शनैः शनैः आगे बढ़ रहा था। भोजवशी उनकी अभ्यर्थना के लिए आगे बढ़े। राजकुमारी राजमती वधू के वेप में साक्षात् रति लग रही थी। उसकी सहेलियाँ उसे नेमिकुमार के रूप लावण्य को लेकर बार-बार छेड़ रही थी और राजमती लाज के मारे सिकुड़ जाती थी किन्तु उसके हृदय की हर धड़कन में 'नेमि पिया' का ही स्वर गूँज रहा था। वह अपने साजन की एक झलक पाने के लिए अधीर हो रही थी। वह अपनी भावनाओं के गगन में ऊँची उड़ानें भर रही थी। तभी नानाविध वाद्यों का तुमुल नाद सुनाई पड़ा। सहेलियाँ आईं और उसे घसीटती हुईं प्रासाद के बाहरी छज्जे पर ले गईं। राजीमती सहेलियों के बीच में तारों के मध्य चन्द्रमा के समान शोभा पा रही थी।

वर का रथ आगे बढ़ा, तभी उनकी दृष्टि एक मैदान में बाड़े में घिरे हुए भयविह्वल तृणभक्षी वन्य पशुओं पर पड़ी। नेमिकुमार ने सारथी से पूछा—'भद्र ! ये नाना जाति के पशु यहाँ किसलिए रोकें हुए हैं ?' सारथी ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—'प्रभो ! आपके विवाहोत्सव में जो मासभक्षी म्लेच्छ राजा आये हैं, उनके लिए नाना प्रकार का मास तैयार करने के लिए यहाँ पशुओं का निरोध किया गया है।'

सारथी के वचन सुनकर नेमिकुमार कहने लगे—'एक की प्रसन्नता के लिये दूसरे की हिंसा करना घोर अधर्म है। सारथि ! मैं विवाह के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं हूँ। तुम इन प्राणियों को बन्धनमुक्त कर दो।' भगवान का हृदय दया से ओत-प्रोत था। वे राजकुमारों से कहने लगे—'मनुष्यों की निर्दयता तो देखो। वन ही जिनका घर है, तृण और जल ही जिनका आहार जल है और जो अत्यन्त निरपराध है, ऐसे दीन मृगों का भी मनुष्य वध करते हैं। जो शूर वीर होकर भी पैर में काटा न चुभ जाय, इस भय से जूता पहनते हैं, वे इन मृगों, शशकों की गरदन पर तीक्ष्ण धार वाले शस्त्र चलाते हैं, यह कैसा आश्चर्य है ! यह प्राणी जिन्हा की लोलुपता की तृप्ति के लिए भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक खो देता है। किन्तु क्या ससार में किसी की भी तृप्ति हुई है ? मैंने स्वयं असंख्य वर्षों तक इन्द्र, धरणेन्द्र, और नरेन्द्रों के सुख भोगे हैं, किन्तु मुझे उनसे भी तृप्ति नहीं हुई। ये सासारिक सुख असार हैं और मेरी आयु भी असार है। मैं इन असार सुखों का त्याग करके नित्य, अनन्त और अविनाशी सुख के उपार्जन का पुरुषार्थ करूँगा।

भगवान के मन में इन अनित्य सुखों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो गई। उन्हें आत्म विमुख होकर सासारिक सुखों में क्षणभर भी अटकना निष्प्रयोजन लगने लगा। तभी लौकान्तिक देव आये और भगवान के चरणों में सिर झुका कर विनत मुद्रा में निवेदन करने लगे—'प्रभो ! भरत क्षेत्र में पाप की प्रवृत्ति बढ़ गई है, जन-जन के मन में मिथ्या का तमस्तोम छा रहा है। अब तीर्थ-प्रवर्तन का काल आ पहुँचा है। ससार के दिग्भ्रान्त और दुखी प्राणियों पर दया करके आप तीर्थ-प्रवर्तन कीजिये।' देव यो निवेदन करके अपने आवास को लौट गये।

भगवान ने दयाद्वं होकर मृगों को बन्धनमुक्त कर दिया। मृग मुक्त होकर भागे नहीं, किन्तु जगद् बन्धु भगवान के चरणों में सिर झुकाकर खड़े हो गये और अपने त्राता की ओर निहारने लगे। भगवान ने हाथ उठाकर उन्हें मानो सुरक्षा का आश्वासन दिया। आश्वस्त होकर वे सूक प्राणी वन में चले गये।

भगवान का दीक्षा-कल्याणक—भगवान ने वरोचित ककण और मोहर उतार दिया। वे वापिस लौटकर नगरी में पहुँचे और राज सिंहासन पर विराजमान हो गये। तभी इन्द्र और देव वहाँ आये। इन्द्रों ने भगवान को स्नान पीठ पर विराजमान करके देवों द्वारा लाये हुए क्षीरोदक से उनका अभिषेक किया और उन्हें स्वर्गीय माला, विलेपन, वस्त्र और आभूषणों से विभूषित किया। सभी यादव प्रमुख श्रीकृष्ण, बलराम आदि भगवान को घेर कर खड़े हुए थे। भगवान मोह-माया को तोड़कर वन में जाने को तैयार थे। मोह का कोई बन्धन उन्हें उनके सकल्प से विचलित न कर सका।

भगवान माता, पिता, बन्धु बान्धवों को समझाकर कुवेर द्वारा निर्मित उत्तरकुरु पालकी में आरूढ़ हुए। देवों ने पालकी को ध्वजाओं और छत्र से मण्डित किया था। उसमें मणियों के बेल बूटे बने हुए थे। राजाओं ने पालकी को अपने कंधे पर उठाया और कुछ दूर ले गए। उसके बाद पालकी को इन्द्रों ने उठाया और आकाश

मार्ग से ले चले । उस समय अद्भुत दृश्य उरस्थित था, आकाश में देव हर्ष-ध्वनि कर रहे थे और पृथ्वी पर यादव वशी और भोजवशी करुण विलाप कर रहे थे । भगवान को तप के लिए जाने के अवसर पर अप्सरायें हर्षित होकर भगवान के आगे भक्ति-नृत्य कर रही थीं और पृथ्वी पर यादवों की कुलवधुएँ और रानियाँ शोक विन्हल हो रही थीं । देव लोग पालकी को लेकर गिरनार पर्वत पर पहुँचे ।

भगवान पालकी से उतर कर एक शिलातल पर, विराजमान हुए । उन्होंने अलंकार और वस्त्र उतार दिए और पंचमुष्ठीयों से केशलुंचन किया । वे पद्मासन से विराजमान होकर 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहकर ध्यान में लीन हो गये । भगवान की दीक्षा से प्रभावित होकर तत्काल एक हजार राजाओं ने भी दिग्म्बर मुनिदीक्षा लेली । उस समय उन राजाओं ने केशलोचन किया, वह दृश्य अनुपम था । वह केशलोचन नहीं था, किन्तु वे वस्तुतः कुटिल केशों के उखाड़ने के वहाने मानो कुटिल शल्यों को ही उखाड़ रहे थे । सौधर्मेन्द्र ने भगवान के केशों को एक मणिमय पिटारे में बन्द करके उन्हें क्षीरसागर में क्षेपण कर दिया । दीक्षा लेते ही भगवान को मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया । उस दिन श्रावण शुक्ल चतुर्थी का दिन था । उस दिन भगवान ने वेला का नियम लेकर दीक्षा ली थी । भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाकर देव और मनुष्य अपने अपने स्थान पर चले गये ।

भगवान पारणा के लिए द्वारकापुरी में पहुँचे । वहाँ प्रवरदत्त को भगवान को आहार देने का सीभाग्य प्राप्त हुआ । उस उत्तम दाता ने भगवान को परमान्न का आहार दिया । देवों ने पचाइचर्य किये—देवों ने रत्न वर्षा की, सुगन्धित जल की वर्षा हुई, शीतल सुगन्धित हवा बहने लगी, देव हर्ष में भरकर दुन्दुभि बजाने लगे और जयजयकार करने लगे—धन्य यह उत्तम दाता, धन्य यह उत्तम पात्र और धन्य है यह उत्तम दान ।

वधू के रत्नाभरणों से मण्डित राजमती—जिसे परिवार वाले प्यार में राजुल कहते थे सखियों के साथ वरात की धूमधाम में कल्पनालोक में विहार कर रही थीं । वह अपने पिया के प्रेम के झूने पर लम्बी-लम्बी पेगें ले रही थीं । तभी बिस्फोट के समान यह समाचार सुनाई पड़ा कि नेमिकुमार विवाह से मुख राजीमती द्वारा दीक्षा मोड़कर लौट गए हैं और उन्होंने दीक्षा लेली है । समाचार क्या था, मानो वज्रपात था ।

समाचार सुनते ही राजमती कटे वृक्ष के समान सज्ञाहीन होकर भूमि पर गिर पड़ी । जब वह होश में आई तो वह करुण विलाप करने लगी । वह बार-बार अपने भाग्य को दोष देती थी । वह बार-बार कहती—नेमिकुमार महान है । मैं ही शायद उनके उपयुक्त नहीं थी । मैं तो वामन थी और मैंने आकाश को छूना चाहा । किन्तु यह कैसे संभव हो सकता था । भाग्य ने नेमिकुमार को मेरे लिए वर बनाया था किन्तु दुर्भाग्य ने मेरा मार्ग अवरुद्ध कर दिया । अब मैं उसी दुर्भाग्य से सघर्ष करूँगी । मेरे नेमिकुमार मुझे सासारिक दशा में प्राप्त नहीं होसके, किन्तु वे ही मेरे इहभव और परभव के पति हैं । वे जिस राह गये हैं, वही मेरी राह है । उन्होंने मुझे राह दिखा दी है । मैं अब उसी राह पर चलूँगी ।

माता-पिता और परिजनो ने उसे बहुत समझाया—तेरी वय अभी तप करने की नहीं है । किसी उपयुक्त राजकुमार के साथ तेरा विवाह किये देते हैं । किन्तु राजमती का एक ही उत्तर था—पतिव्रता स्त्री के जीवन में एक ही पति होता है । नेमिकुमार ही मेरे इस जीवन में पति हैं, उनका स्थान दूसरा कोई कैसे ले सकता है । वे मुझे छोड़ कर चले गये हैं । उनसे मुझे कोई शिकायत नहीं है । उनके कार्य को मोमासा करने का मेरा क्या अधिकार है । मैं उनके चरणों की दासी हूँ । वे ही मेरे सर्वस्व हैं । वे गये हैं और मुझे भी आने का सकेत कर गये हैं ।

राजीमती अपने पति की जोगन बनकर अकेली उसी पथ पर चलती जिस पथ पर उसके महान पति गये थे । उसने सारे आभरण, शृंगार के साधन और माजसज्जा त्याग दी, शरीर पर केवल एक श्वेत शाटिका धारण कर ली । वह परिजनो और पुरजनो से सकुल राजपथ पर होकर अवनतमुखी गिरनार पर्वत पर धीरे-धीरे चढ़ने लगी । उसका रूप लावण्य और वय तप के उसके महान सकल्प से और भी अधिक सतेज हो उठे । उसका प्रयोजन महान था । वह ससार की सारी माया से निर्लिप्त, शरीर से निर्मोह होकर उस कण्टकाकीर्ण मार्ग पर बढ़ती गई, जो आत्म स्वातन्त्र्य के लिए जाता है ।

ससार की किस वधू ने अपने निर्मोही पति के लिए इतना महान और सर्वस्व त्याग किया होगा ! जिसकी रगीन कल्पनायें और मीठे सपने एक अप्रत्याशित ऋटक से बिखर गये, किन्तु जिसने उसके प्रतिरोध का न कोई

प्रयत्न किया, न जिसने अपने भावी पति के विरुद्ध कोई अभाव अभियोग ही उपरिधन किया, बल्कि केवल कर्ण की लाज को ही सन कुछ मानकर उसी ठुकराने वाले निष्ठुर पति का ही अनुगमन किया, वह नागे नारीत्व का महानतम शृंगार है। राजुत ! तुमने अपनी कामनाओं का होम करके श्रीर आत्माहृति देकर जो ज्योति जलाई, वह युग-युगो तक दिग्भ्रान्त नारी जाति का पथ आनोक्त करती रहेगी। देवो ! तुमने अपने जीवन को धन्य किया, समग्र नारी जाति को धन्य किया और मानव की महानता को धन्य किया। तुम अपने उम महान तप और त्याग के कारण जगन्माता के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होकर अगिल मानव जाति की श्रद्धारूपद बन गई हो। तुम्हें सहस्र प्रणाम !

मुनिराज नेमिनाथ अन्तर वाह्य परिग्रह का त्याग करके घोर तप करने लगे। वे प्रायः आत्म ध्यान में लीन रहते थे। उन्हें एकाग्र, प्रायुक्त तथा क्षुद्र जीवों के उपद्रव से रहित धौत्र, वच्यवृषभनागव महानन रूप द्रव्य, उष्णता आदि बाधा में रहित गाल और निर्मल अभिप्राय रूप श्रेष्ठ भाव यह धौत्रादि चतुष्टय रूप भगवान नेमिनाथ का सामग्री उपनद्य थी। अतः वे प्रशस्त ध्यान में लीन रहते थे। ध्यान के समय उनके नेत्र न तो केवलज्ञान कल्याणक प्रत्यन्त रूले रहते थे, न बन्द ही रहते थे। नोने के दातां के अग्रभाग पर उनके ऊपर के दांत न्यित रहते थे। उनकी उन्त्रियों का समस्त ध्यागार निवृत्त ही चुला था। उनके ध्यामोच्छवास का सञ्चार धर्म धर्म होता था। वे अपनी मनोवृत्ति को नाभि के ऊपर मन्त्र पर, हृदय में अथवा ललाट में स्थिर कर आत्मा को एकाग्र करने प्रशस्त ध्यान करते थे। उनकी तर्कशृंगारों टूटनी गईं और केवल छपन दिन की कठोर साधना के पश्चात् उन्हें आश्विन शुक्ला प्रतिपदा के दिन अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुगम और अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय प्राप्त हो गया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। उन्त्रों के आमन और मुकुट कम्पित होने लगे। चारों जाति के देवों के आवासी में ऋणों के शब्द, सिंहनाद, दुन्दुभि के शब्द और शर्वा के शब्द हाने लगे। देवों और इन्द्रों ने अवधिज्ञान से जान लिया कि भगवान को केवलज्ञान प्राप्त होगया है, वे सब गिरनार पर्वत पर भगवान का केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाने आए। कवेर ने समवसरण की रचना की। देवों और इन्द्रों ने भगवान का ज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाया और भगवान को पूजा की, भगवान को दिव्य ध्वनि सारि। इस प्रकार भगवान ने धर्म चक्र प्रवर्तन किया।

भगवान का धर्म विहार—भगवान नेमिनाथ ने विभिन्न देशों में धर्म विहार किया। वे सीराण्ड्र, लाट, मत्स्य, धूरसेन, पटच्चर, कुरुजागल, पाञ्चाल, कुशाग, मगध, अञ्जन, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, आदि देशों में विहार करते हुए गए। उनके उपदेश सुनकर सभी वर्गों के लोग जैनधर्म में स्थित हुए।

तदनन्तर वे विहार करते हुए मलय नामक देश में आये। वे भद्रिलपुर नगर के सहस्राब्ज वन में ठहरे। उस नगर का राजा पौण्ड्र नगरवासियों के साथ भगवान के दर्शनों के लिए आया। महारानी देवकी के छोटे पुत्र, जिनका लालन-पालन सुदृष्टि सेठ और अलका सेठानी ने किया था, अलग-अलग रथ में आरूढ होकर भगवान के समवसरण में आये। उनमें से प्रत्येक की वत्तीस-वत्तीस स्त्रियाँ थी। वे भगवान को नमस्कार करके मनुष्यों के कोष्ठ में बैठ गये। भगवान का उपदेश सुनकर उन छोटे भाइयों को ससार से वैराग्य हो गया और उन्होंने भगवान के चरणों में मुनि-दीक्षा ले ली। उन्होंने घोर तप किया। उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं। वे छोटे मुनि साथ-साथ ही उपवास, पारणा, ध्यान, धारणा, शयन, आसन और त्रैकालिक योग करते थे।

एक दिन भगवान नेमिनाथ के दर्शन करने के लिए राजमाता देवकी समवसरण में पहुँची। उन्होंने भगवान की प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया और उनकी स्तुति करके स्त्रियों के कक्ष में बैठ गईं। उनके मन में एक शका कई घण्टों से पल रही थी। उसके निरास के लिये वे हाथ जोड़कर बोली—'भगवन् ! आज मेरे आवास में अत्यन्त तेजस्वी दो मुनि आये। दोनों का रूप-लावण्य, तेज-कान्ति समान थी। मैंने उन्हें आहार दिया। किन्तु आहार के पश्चात् वह मुनि-युगल पुनः दो बार आया और पुनः आहार लिया। प्रभो ! क्या उन मुनियों का एक ही भवन में एक ही दिन तीन बार आहार लेना उचित है ? यह भी सम्भव है, तीन बार आने वाला यह मुनि-युगल रूप-सावृष्य के कारण एक ही प्रतीत होता हो। किन्तु भगवन् ! इन मुनियों को देखकर मेरे हृदय में वास्तव्य धर्मों उमड़ पड़ा। उन्हें देखते ही मेरा आन्तरिक ब्रह्म से भर गया और उन्हें आहार देते समय मेरे मन में यह भाव धर्मों जागा कि मैं मुनियों को नहीं; अपने ही पुत्रों को भोजन करा रही हूँ ?

भगवान बोले—देवी ! ये छोहो मुनि वास्तव मे तुम्हारे पुत्र है । उन्हे कृष्ण-जन्म से पहले तीन युगल मे तुमने ही जन्म दिया था । देव ने कस से इनकी रक्षा की । उसने इनका जन्म होते ही भद्रिलपुर के श्रेष्ठी मुदृष्टि और उनकी अलका सेठानी के यहाँ पहुँचा दिया तथा उनके सद्योजात मृत पुत्र-युगलो को तुम्हारे पास लाकर सुला दिया । उन छोहों पुत्रो का लालन-पालन उन सेठ-सेठानी के घर पर हुआ । वे ही छोहो आता धर्म श्रवण कर मेरे पास मुनि बन गये । वे कर्मों का क्षय करके इसी जन्म मे मुक्ति प्राप्त करेगे । पुत्र होने के कारण ही तुम्हारे मन मे इनके प्रति वात्सल्य जागृत हुआ था ।

देवकी यह सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुई । उन्होने तथा श्रीकृष्ण आदि ने उन मुनियो को नमस्कार किया ।

भगवान का धर्म-परिकर—भगवान के समवसरण मे वरदत्त आदि ११ गणधर, ४०० पूर्वधारी, ११८०० शिक्षक, १५०० अवधिज्ञानी, १५०० केवलज्ञानी, ६०० विपुलमति मन पर्ययज्ञानी, ८०० वादो और ११०० वित्रिया अट्टिधारी मुनि थे । राजीमती आदि ४०००० अजिकाये थी । १६६००० श्रावक और ३३६००० श्राविकाये थी ।

गजकुमार मुनि पर उपसर्ग श्रीकृष्ण के अनुज का नाम गजकुमार था । वह अत्यन्त तेजस्वी, सुदर्शन और सौम्य था । श्रीकृष्ण उससे अत्यन्त स्नेह करने थे । कुमार का विवाह अनेक राजकुमारियो के साथ कर दिया गया । श्रीकृष्ण ने उसके लिये सोमशर्मा नामक ब्राह्मण को पुत्रो सोमा का भो वरण कर लिया । यह विवाह होने ने पूर्व भगवान नेमिनाथ विहार करते हुए द्वारकापुरी पधारे । भगवान गिरनार पर्वत पर विराजमान थे । यादव नांग भगवान के दर्शनो के लिये गये । यादवो को गिरनार पर्वत पर जाते देखकर गजकुमार भी समवसरण मे जा पहुँचा । वह भगवान की नमस्कार करके मनुष्यो के कोठे मे बैठ गया । भगवान का उपदेश सुनकर उसे भोगो से विराग हो गया । वह माता-पिता, बन्धु-बान्धवो से अनुमति लेकर भगवान के चरणो मे मुनि-दीक्षा लेकर घोर तप करने लगा ।

एक दिन मुनि गजकुमार एकान्त मे रात्रि मे प्रतिमा योग से विराजमान थे, तभी सोमशर्मा उधर आ निकला । वह मुनि गजकुमार को देखकर अपनी पुत्री का त्याग करने के कारण क्रोध से विवेकहीन हो गया । उसने जलता हुई अगीठी मुनिराज के सिर पर रखदी और वह क्रूर पिशाच के समान मुनिराज को जलते हुए देखने लगा । ज्या-ज्यो मुनिराज का शरीर जलने लगा, वह दुष्ट उतना ही प्रसन्न होने लगा । इस रोमहर्षक प्रतिशोध से निकाचित कर्मो द्वारा उसकी आत्मा तयसावृत्त हो गई । उधर मुनिराज ने साम्यभाव से इस दारुण यत्रणा को सहकर शुक्ल ध्यान द्वारा कर्मो का विनाश कर दिया और वे अन्तकृत केवली होकर सिद्ध परमात्मा बन गये ।

गजकुमार मुनि को सिद्ध पद की प्राप्ति होने पर देवो ने आकर उनके शरीर की पूजा की । उनके मरण से दुखी होकर वसुदेव को छोडकर समुद्रविजय आदि भाई तथा अनेक यादव ससार की असारता पर विचार करके दीक्षित हो गये । देवकी और रोहिणी को छोडकर शेष रानियो और श्रीकृष्ण की पुत्रियो ने भी दीक्षा ले ली ।

भगवान की भविष्यवाणी—भगवान वहाँ से विहार करके उत्तर दिशा, मध्यदेश और पूर्व दिशा के देशो मे धर्मोद्योत करते रहे । विहार करते हुए एक बार वे पुन द्वारका पधारे और रैबतक पर्वत पर विराजमान हो गये । उनके पधारने की सूचना पाकर वसुदेव, बलदेव और श्रीकृष्ण परिजनो और पुरजनो के साथ भगवान के दर्शनो के लिये आये । भगवान को नमस्कार करके सब यथास्थान बैठ गये और भगवान का कल्याणकारी उपदेश श्रवण करने लगे । धर्मकथा के पश्चात् बलदेव ने हाथ जोडकर भगवान से पूछा—भगवन् ! इस द्वारकापुरी की रचना कुवेर ने की है । इसका अन्त कितने समय मे होगा ? प्रभो ! कृष्ण की मृत्यु किस निमित्त से होगी ? देवाधिदेव ! मेरा चित्त कृष्ण के स्नेह-पाश से बघा हुआ है, क्या ऐसी स्थिति मे मैं कभी सयम ग्रहण कर सकूँगा ? प्रभो ! मेरी जिज्ञासा का समाधान करने की कृपा करे ।

त्रिकालदर्शी भगवान कहने लगे—हे बलराम ! तुमने भविष्य जानने की इच्छा प्रगट की है, वह सुनो । द्वारकापुरी आज से बारहवें वर्ष मे मद्यप यादवो की उदृष्टता के कारण द्वैपायन मुनि के द्वारा क्रोध करने पर भस्म होगी । अन्तिम समय मे श्रीकृष्ण कौशाम्बी के वन मे शयन करेगे । उस समय जरत्कुमार के निमित्त से

श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी। उसी समय श्रीकृष्ण की मृत्यु का निमित्त पाकर तुम्हें वैराग्य उत्पन्न होगा और तुम तप करके ब्रह्म स्वर्ग में उत्पन्न होगे। आभ्यन्तर कारण के रहते हुए बाह्य निमित्त मिलने पर जगत में अभ्युदय और क्षय होता है। इसलिये विवेकी जन जगत का स्वभाव जानकर उस अभ्युदय और क्षय में समान भाव रखते हैं, वे कभी हर्ष और विषाद नहीं करते।

बलराम के मामा द्वैपायनकुमार भगवान के वचन सुनकर मगार में विरक्त होकर मुनि बन गये तथा अप्रिय प्रसंग को टालने के लिये वे पूर्व देश की ओर विहार कर गये एव कठोर तप करने लगे। जर्त्कुमार भगवान के वचन सुनकर बड़ा दुःखी हुआ, 'मेरे अग्रज की मृत्यु का मैं ही कारण बनूँगा' इस मनस्ताप के कारण वह बन्धु-बान्धवों को त्याग कर अज्ञात ग्यान की ओर चल दिया, जहाँ श्रीकृष्ण दिगार्ई भी न दे। जर्त्कुमार के जाने से श्रीकृष्ण को बड़ा दुःख हुआ। वह तो उनका प्राणोपम बन्धु था। यादव लोग भी सन्तप्त मन में नगर को लौट गये।

बलदेव और श्रीकृष्ण ने नगर में आदेश प्रचारित कर दिया—'आज से नगर में मद्य-निषेध आदेश लागू किया जाता है। न नगर में कोई मद्य पीएगा, न मद्य बनाएगा, न नग्रह करेगा। जो मद्य नगर में विद्यमान है, उसे नष्ट कर दिया जायगा तथा मद्य-निर्माण के माधन भी नष्ट कर दिये जायेंगे।' मद्य-प्रतिबन्धक आदेश के लागू होते ही मद्यपी लोगों ने मदिरा बनाने के साधन और मद्य को पर्वत के कुण्डों में फेंक दिया। पाषाण-कुण्डों में वह मदिरा भरी रही।

मदिरा पर प्रतिबन्ध लगाने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने यह घोषणा की कि 'यदि मेरे माता, पिता, पुत्रियाँ अथवा अन्तपुर की स्त्रियाँ भगवान के निकट दीक्षा लेना चाहे, तो उन्हें मेरी ओर से कोई बाधा नहीं होगी, वे तप करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं।' यह घोषणा होते ही प्रद्युम्नकुमार, भानुकुमार आदि पुत्रों ने दीक्षा ले ली। रक्षिणी, सत्यभामा आदि स्त्रियों ने भी आज्ञा नेवर मयम ग्रहण कर लिया। जब बलदेव का भ्राता सिद्धार्थ दीक्षा लेने के लिये तत्पर हुआ, तो बलदेव ने उससे याचना की—'यदि मयम ग्रहण करते समय मुझे मोह उत्पन्न हो तो तुम मुझे सवोधन करके मार्ग में स्थित करना।' सिद्धार्थ ने प्रार्थना स्वीकार करके तप ग्रहण कर लिया।

भगवान वहाँ से अन्यत्र विहार कर गये। भवितव्य टलता नहीं। द्वैपायन मुनि भ्रान्तिवश बारहवें वर्ष को समाप्त हुआ जानकर बारहवें वर्ष में द्वारकापुरी में आ पहुँचे। वे पर्वत के निकट आतापन योग धारण करके प्रतिमायोग से विराजमान थे। उस समय शम्भु आदि यादव कुमार वन क्रीडा के लिए पर्वत पर गये। वहाँ से वे जब लौटे तो पिपासा से क्लान्त होकर उन्होंने कादम्ब वन के कुण्डों में भरे हुए जल को पी लिया, जो वस्तुतः जल न होकर मदिरा थी। मदिरा पुरानी थी, अतः उसमें मादकता अधिक बढ़ गई। उस मदिरा को पीते ही यादव कुमार मद विव्हल होगए। वे असयत होकर अनर्गल प्रलाप करने लगे। जब वे लौट रहे थे तो मार्ग में सूर्य के सन्मुख खडे होकर तप करने वाले द्वैपायन मुनि को उन्होंने देखा। वे उन पर व्यग्य करने लगे, अश्लील परिहास करने लगे, कुछ यादव कुमारों ने उन्हें पत्थर मारना प्रारम्भ कर दिया। इससे मुनि आहत होकर गिर पड़े। उन्हें यादव कुमारों की उद्दण्डता को देखकर भयानक क्रोध आया। उनकी भृकुटी तन गई, ओठ फडकने लगे, नेत्र रक्तवर्ण हो गये।

यादव कुमार भूमते इठलाते हुए द्वारका नगरी पहुँचे। किसी ने द्वैपायन मुनि के साथ किए गए दुर्व्यवहार का समाचार श्रीकृष्ण को सुनाया। समाचार सुनते ही श्रीकृष्ण और बलराम ने समझ लिया कि भगवान ने द्वैपायन मुनि द्वारा द्वारका के विनाश की जो घडी बताई थी, वह आ पहुँची है। दोनों भाई अनिष्ट की आशका से व्याकुल होकर शीघ्रतापूर्वक उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ द्वैपायन मुनि क्रोधमूर्ति बने हुए थे। दोनों ने मुनि को आदरपूर्वक प्रणाम किया और यादव कुमारों द्वारा किए गये अभद्र व्यवहार के लिए उनसे बार-बार क्षमा-याचना की और शान्त होने की प्रार्थना की। किन्तु अविवेकी मुनि के ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने द्वारकापुरी को भस्म करने का निश्चय कर लिया था। उन्होंने बलराम और श्रीकृष्ण के लिए दो अगुलिया दिखाई जिसका स्पष्ट आशय था कि तुम दोनों ही बच सकोगे, अन्य नहीं।

दोनो भाई मुान को दुष्ट निर्णय से विरत न कर सके और वे निराश होकर लौट आये । शम्भुकुमार आदि अनेक यादव कुमार विरक्त होकर मुनि वन गये । द्वैपायन मुनि उसी क्रोध में मरकर अग्नि कुमार नामक भवनवासी देव बने । जब उस देव को अवधिज्ञान द्वारा द्वैपायन मुनि की पर्याय में यादवकुमारो द्वारा किये गए उपसर्ग और भयकर अपराध का ज्ञान हुआ तो उसने यादवों से भयकर प्रतिशोध लेने का निश्चय किया । वह क्रूर परिणामी भयकर क्रोध में भर कर द्वारकापुरी पहुँचा और उसे जलाना प्रारम्भ कर दिया । उसने स्त्री-पुरुष तो क्या, पशु-पक्षियों तक को वच निकलने का अवसर नहीं दिया । जिन्होंने वच निकलने का प्रयत्न भी किया, उन्हें पकड़-पकड़ कर अग्नि में फेंकने लगा । श्रीकृष्ण और बलराम ने आग बुझाने का असफल प्रयत्न किया । उन्होंने माता-पिता और बन्धु जनो को भी बचाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु इसमें भी वे सफल नहीं हो सके । अन्त में हताश होकर, अपने प्रियजनो और अपनी इन्द्रपुरी जैसी नगरी का दारुण विनाश देखते हुए वे दोनो उदास चित्त से बाहर निकल गये ।

इस प्रकार वह नगरी, जिसकी रचना स्वयं कुवेर ने की थी, देव जिसकी रक्षा करते थे, भस्म होगई ।

शोकाभिभूत दोनो भाई—बलराम और श्रीकृष्ण वहाँ से चल दिए, निरुद्देश्य, अन्तहीन लक्ष्य की ओर । क्षुधा और तृषा से क्लान्त वे हस्तवप्र नामक नगर में पहुँचे । श्रीकृष्ण तो उद्यान में ठहर गए और बलराम अन्न जल जुटाने के लिए नगर में गये । उस नगर का नरेश अन्धदन्त यादवों का शत्रु था । बलराम श्रीकृष्ण का ने किसी व्यक्ति से अपना स्वर्ण कडा और कुण्डल देकर खाने-पीने की सामग्री खरीदी । जब वे सामग्री लेकर लौट रहे थे, नगर रक्षको ने उन्हें पहचान लिया । उन्होंने यह समाचार राजा से निवेदन किया । राजा सेना लेकर वहाँ आया । बलराम ने सकेत द्वारा श्रीकृष्ण को बुला लिया । बलराम ने हाथी दाधने का एक खम्भा उखाड़ लिया और श्रीकृष्ण ने एक लौह अगंला ले ली । उन्हीं से उन दोनो ने सेना का प्रतिरोध किया । उनकी भयकर मार से सेना भाग गई । तब उन दोनो ने जाकर भोजन किया ।

भ्रमण करते हुए दोनो भाई कौशाम्बी के भयानक वन में पहुँचे । उस समय सूर्य सिर के ऊपर तप रहा था, भयकर गर्मी थी । मार्ग की अविरत यात्रा से क्लान्त और तृषार्त श्रीकृष्ण एक स्थान पर रुक गये । वे अपने ज्येष्ठ भ्राता से बोले—‘आर्य ! मैं प्यास से बहुत व्याकुल हूँ । मेरा तालू तृषा से कण्टकित हो रहा है । अब मैं एक ढग भी चलने में असमर्थ हूँ । कहीं से जल लाकर मुझे दीजिए ।’ बलराम अपने प्राणोपम अनुज की इस असहाय दशा से व्याकुल होगए । वे सोचने लगे—भरत क्षेत्र के तीन खण्डों का अधिपति और बल-विक्रम में अनुपम यह मेरा भाई आज इतना अवश क्यों हो रहा है । जो जीवन में कभी थका नहीं, वह आज अकस्मात् ही इतना परिश्रान्त क्यों हो उठा है ? कोटिशिला को अपने बाहुबल से उठाने वाला नारायण आज सामान्य व्यक्ति के समान निर्बलता अनुभव कर रहा है । क्या कारण है इसका ?

वे बोले—‘भाई ! मैं अभी शीतल जल लाकर तुम्हें पिलाता हूँ । तुम इस वृक्ष की शीतल छाया में तब तक विश्राम करो ।’ यो कहकर वे जल की तलाश में चल दिये । श्रीकृष्ण वृक्ष की छाया में वस्त्र ओढकर लेट गए । थकावट के कारण उन्हें शीघ्र ही नीद आ गई । भवितव्य दुर्निवार है । जरत्कुमार भ्रमण करता हुआ उसी वन में आनिकला । दूर से उसने वायु से श्रीकृष्ण के हिलते हुए वस्त्र को हिरण का कान समझा । उसने मृग का शिकार करने की इच्छा से कान तक धनुष खींचकर शर सन्धान किया । सनसनाता वाण श्रीकृष्ण के पैर में जाकर विध गया । श्रीकृष्ण ने उठकर चारों ओर देखा, किन्तु उन्हें वहाँ कोई दिखाई नहीं पडा । तब उन्होंने जोर से कहा—‘किस प्रकार वारी ने मेरे पादतल को वेधा है ? वह आकर अपना कुल और नाम मुझे बतावे । जरत्कुमार ने यह सुनकर अपने स्थान से ही उत्तर दिया—‘मैं हरिवश में उत्पन्न वसुदेव नरेश का पुत्र जरत्कुमार हूँ । भगवान नेमिनाथ ने भविष्य कथन किया था कि जरत्कुमार के द्वारा कृष्ण का वध होगा । भगवान के इस कथन से डरकर मैं बारह वर्ष से इस वन में रह रहा हूँ । मुझे अपना अनुज कृष्ण प्राणो से भी प्यारा है । इसलिए मैं इतने समय से इस एकान्त में जन जन से दूर, बहुत दूर रहा हूँ । मैंने इतने समय से किसी आर्य का नाम भी नहीं सुना । फिर आप कौन हैं ?’

जरत्कुमार की बात सुनकर श्रीकृष्ण बोले—‘भाई ! तुम यहाँ आओ, मैं कृष्ण हूँ, तुम शीघ्र आओ ।’ जरत्कुमार को ज्ञात तो गया कि यह तो मेरा कृष्ण है । वह शोक करता हुआ शीघ्रता से वहाँ आया । वह पश्चाताप

और ग्लानि की आग में जला जा रहा था। उसने धनुष-बाण दूर फेंक दिया और श्रीकृष्ण के चरणों में गिरकर अश्रु बहाने लगा। श्रीकृष्ण ने उसे उठाकर गले से लगाया और सान्त्वना देते हुए बोले—आर्य! शोक न करे, भवितव्य अलङ्घ्य है। आपने राज वैभव छोड़कर वन में निवास स्वीकार किया, किन्तु दैव के आगे सब व्यर्थ होता है।

श्रीकृष्ण द्वारा समझाने पर भी जरत्कुमार विलाप करता रहा। श्रीकृष्ण बोले—‘आर्य! बड़े भाई राम मेरे लिए जल लाने गए हैं। उनके आने से पूर्व ही आप यहाँ से चले जाँय। संभव है, वे आपके ऊपर क्षुब्ध हों। आप पाण्डवों के पास जाकर उन्हें सब समाचार बतादे। वे हमारे प्रियजन हैं। वे आपकी रक्षा अवश्य करेंगे।’ इतना कहकर उन्होंने जरत्कुमार को परिचय के लिए कौस्तुभ मणि देदी और उसे विदा कर दिया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण यन्त्रणा के कारण व्याकुल हो गए, किन्तु उन्होंने अत्यन्त शान्त भाव से उसे सहन किया। उन्होंने पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करके भगवान् नेमिनाथ का ध्यान किया और पृथ्वी पर सिर झुकाकर लेट गए। उन्होंने मोह का परित्याग करके शुभ भावनाओं के साथ शरीर का परित्याग किया। वे भविष्य में भरत क्षेत्र में तीर्थंकर बनेंगे।

संसार कितना असार है! जो एक गोप के घर में मक्खन और दूध पीकर बड़े हुए, जो अपने शौर्य और नीति विचक्षणता द्वारा सम्राट् जरासन्ध जैसे प्रतापी नरेश पर विजय पाकर अर्ध चक्रेश्वर के पद पर आरूढ हुए, जिनकी आखों के सकेत ने एक हजार वर्ष के इतिहास का सृजन किया, वे ही महापुरुष श्रीकृष्ण एकान्त वन में असहाय दशा में निधन को प्राप्त हुए। वे जब उत्पन्न हुए तो कोई मंगल गीत गाने वाला नहीं था और जब उन्होंने मरण का वरण किया तो वहाँ कोई रोने वाला नहीं था। लगता है, दैव अपने निष्ठुर निर्मम हाथों से सबकी भाग्य लिपि लिखता है। उसका अतिक्रमण करने का साहस किसी में नहीं है।

स्नेहाकुल बलराम अपने तृपित प्राणोपम भाई के लिए जल की तलाश में बहुत दूर निकल गए, किन्तु कहीं जल नहीं मिल रहा था। मार्ग में अपशकुन हो रहे थे, किन्तु उनका ध्यान एकमात्र जल की ओर था। जल मिल नहीं रहा था, विलम्ब हो रहा था, उधर उनके मन में चिन्ता का ज्वार बढ़ता जा रहा था—मेरा मोहविह्वल बलराम प्यारा भाई प्यासा है, न जाने प्यास के मारे उसकी कैसी दशा होगी। तब उन्होंने वेग से दौड़ना प्रारम्भ कर दिया, उनकी दृष्टि जल की तलाश में चारों ओर थी। पर्याप्त विलम्ब और दूरी के बाद उन्हें जलाशय दिखाई पड़ा—जल से परिपूर्ण, कमल पुष्पों से सकुल। वे जलाशय पर पहुँचे। उन्होंने जल में अवगाहन करके शीतल जल पिया और कमल-दलका पात्र बनाकर जल भरकर ले गए। उन्होंने देखा। श्रीकृष्ण वस्त्र ओढ़कर सो रहे हैं। उन्होंने विचार किया—संभवतः थक जाने पर मेरा भाई सुख निद्रा में सो रहा है। इसे स्वयं ही जगने दिया जाय। जब बहुत देर हो गई और श्रीकृष्ण नहीं जागे तो उन्होंने श्रीकृष्ण को जगाना उचित समझा। उन्होंने कहा—वीर! इतना अधिक क्यों सो रहे हो। निद्रा छोड़ो और उठकर यथेच्छ जल पिओ।

इतना होने पर भी श्रीकृष्ण की निद्रा भंग नहीं हुई। तभी बलराम ने देखा कि एक बड़ी मक्खी व्रण के रुधिर की गन्ध से कृष्ण के ओढ़े हुए वस्त्र के भीतर घुस गई है किन्तु निकलने का मार्ग न पाने से व्याकुल है। उन्होंने श्रीकृष्ण का मुख उघाड़ दिया। उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण निष्प्राण पड़े हुए हैं। उन्होंने समझा कि मेरा प्यारा भाई प्यास से मर गया है। उनके मुख से आर्त गिरा निकली और वे अचेत होकर गिर पड़े। सचेत होने पर वे श्रीकृष्ण के शरीर पर हाथ फेरने लगे। तभी उनकी दृष्टि पैर के व्रण पर पड़ी, जिसके रुधिर से वस्त्र रक्त वर्ण हो गया था। उन्हें निश्चय ही गया कि सोते समय किसी ने इनके पैर में वाण से प्रहार किया है। वे भयकर गर्जना करते हुए कहने लगे—किस अकारण शत्रु ने मेरे सोते हुए भाई पर प्रहार किया है, वह मेरे सामने आवे। किन्तु उनका गर्जन-तर्जन निष्फल रहा, कोई भी अकारण शत्रु उनके समक्ष उपस्थित नहीं हुआ और न उस शत्रु का कोई चिह्न ही मिला।

निरुपाय वे पुनः श्रीकृष्ण को गोद में लेकर करुण विलाप करने लगे। वे मोहान्ध होकर बार-बार श्रृं ण को जल पिलाने लगे। कभी वे जल से उनका मुख धोते, कभी उन्हें चूमते, कभी उनका सिर सूँघते। फिर वे अर्गल प्रलाप करने लगते। फिर वे श्रीकृष्ण के शव को लेकर वन में निरुद्देश्य भ्रमण करते रहे। इस प्रकार न जाने कितनी ऋतुएँ उनके सिर के ऊपर से गुजर गईं।

उधर जरत्कुमार श्रीकृष्ण के आदेशानुसार पाण्डवों की सभा में पहुँचा और अपना परिचय दिया। तब युधिष्ठिर ने उससे स्वामी की कुशल-वार्ता पूछी। जरत्कुमार ने शोकोच्छ्वसित अवरुद्ध कण्ठ से द्वारका-दाह तथा अपने प्रमाद से श्रीकृष्ण के निधन के करुण समाचार सुनाये और विश्वास दिलाने के लिये उसने श्रीकृष्ण की दी हुई कौस्तुभमणि दिखाई। ये हृदय विदारक समाचार सुनते ही पाण्डव और उनकी रानियाँ, जरत्कुमार और उपस्थित सभी जन रुदन करने लगे। जब रुदन का वेग कम हुआ, तो पाण्डव, माता कुन्ती, द्रौपदी आदि रानियाँ जरत्कुमार को आगे कर सेना के साथ दुःख से पीड़ित बलदेव को देखने के लिये चल दिये। कुछ दिनों में वे उसी वन में पहुँचे। वहाँ उन्हें बलदेव दिखाई पड़े। वे उस समय श्रीकृष्ण के मृत शरीर को उबटन लगाकर उसका शृङ्गार कर रहे थे। यह देखकर पाण्डव शोक से अधीर होकर उनसे लिपट गये और रोने लगे। तब माता कुन्ती ने और पाण्डवों ने बलदेव से श्रीकृष्ण का दाह-संस्कार करने की प्रार्थना की। किन्तु बलदेव यह सुनते ही आग बबूला हो गये। वे प्रलाप करते हुए श्रीकृष्ण के निष्प्राण शरीर को गोद में लेकर निरुद्देश्य चल दिये। किन्तु पाण्डवों ने उनका साथ नहीं छोड़ा, वे भी उनके पीछे-पीछे चलते रहे।

बलदेव का भाई सिद्धार्थ, जो सारथी था, मरकर स्वर्ग में देव हुआ था तथा जिससे दीक्षा लेने के समय बलदेव ने यह वचन ले लिया था कि यदि मैं मोहग्रस्त हो जाऊँ तो तुम मुझे उपदेश देकर मार्गच्युत होने से बचाओगे, वह देव बलदेव की इस मोहान्ध अवस्था को देखकर वहाँ आया। वह रूप बदलकर एक रथ में बैठकर बलदेव के सामने आया। रथ पर्वत के विषम मार्ग पर तो टूटा नहीं, किन्तु समतल भूमि में चलते ही टूट गया। वह रथ को ठीक कर रहा था, किन्तु वह ठीक ही नहीं होता था। यह देखकर बलदेव बोले—'भद्र ! तेरा रथ पर्वत के ऊबड़ खावड़-मार्ग पर टूटा नहीं, किन्तु समतल मार्ग में टूट गया, यह बड़ा आश्चर्य है। अब यह ठीक नहीं हो सकता, इसे ठीक करना व्यर्थ है। देव ने बलदेव को आश्चर्य मुद्रा में देखा और बोला—महाभारत युद्ध में जिन महारथी कृष्ण का बाल बाका नहीं हुआ, वे जरत्कुमार के एक साधारण बाण से भूमि पर गिर पड़े। अब इस जन्म में उनका फिर से उठना क्या संभव है ?

बलदेव उसकी बात की उपेक्षा करके आगे बढ़ गये। आगे जाने पर उन्होंने देखा—एक व्यक्ति शिलातल पर कमलिनी उगाने का प्रयत्न कर रहा है। यह देखकर बलदेव बोले—'क्यों भाई ! क्या शिलातल पर भी कमलिनी उग सकती है ?' देव जैसे इस प्रश्न के लिये तैयार ही बैठा था—'आप ठीक कहते हैं, पाषाण के ऊपर तो कमलिनी नहीं उग सकती है किन्तु निर्जीव शरीर में कृष्ण पुनः जीवित हो उठेंगे ?'

बलदेव आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि एक मूर्ख व्यक्ति सूखे वृक्ष को सींच रहा है। बलदेव से नहीं रहा गया, वे पूछ ही बैठे—'क्यों भाई ! इस सूखे वृक्ष को सींचने से क्या लाभ है, यह क्या पुनः हरा हो जायगा ? देव ने उत्तर दिया—'मेरा वृक्ष सींचने से तो हरा नहीं होगा, किन्तु आपके निर्जीव कृष्ण स्नान-भोजनादि कराने से अवश्य जीवित हो उठेंगे।' बलदेव 'उह' करके आगे चल दिये।

उन्होंने देखा—'एक मनुष्य मृत बैल को घास-पानी दे रहा है। उन्होंने सोचा—दुनिया में मूर्खों की कमी नहीं है। वे कहने लगे—अरे भोले मानस ! इस मृतक को घास-पानी देने से क्या लाभ है ? यह सुनते ही वह मनुष्य तन कर खड़ा हो गया और बोला—दूसरों को उपदेश देने वाले सप्तराज में बहुत हैं, किन्तु स्वयं उस उपदेश पर अमल करने वाले कम ही मिलते हैं। मेरा मृतक बैल तो दाना-पानी नहीं खा सकता, किन्तु आपके मृतक कृष्ण अवश्य खाना-पानी खा सकते हैं। क्या यही आपका विवेक है ?' यह सुनते ही बलदेव के अन्तर में एक झटका-सा लगा और प्रकाश की एक ज्योति कोष गई। वे बोले—'भद्र ! आप ठीक कह रहे हैं। मैं अब तक मोह में अन्धा हो रहा था। कृष्ण का शरीर तो सचमुच ही प्राणरहित हो गया है।' देव बोला—'जो कुछ भी हुआ, भगवान् नेमीश्वर पहले ही सब कुछ बता चुके हैं। किन्तु सब कुछ जानते हुए भी आप जैसे विवेकी महापुरुष ने छह माह व्यर्थ ही खो दिये। संयोग वियोगपरिणामी है। जन्म में मरण की विभीषिका छिपी हुई है, सुख के फूल दुःख के काटो में बिधे हुए हैं। केवल मोक्ष-सुख ही अविनाशी है। उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।' इस प्रकार कहकर देव ने अपने वास्तविक रूप में प्रगट होकर अपना परिचय दिया। बलदेव ने जरत्कुमार और पाण्डवों की सहायता से तुङ्गीगिरि

पर कृष्ण का दाह-संस्कार किया, जरत्कुमार को राज्य दिया और नेमीश्वर भगवान की साक्षी से वही उन्होंने दिग्-म्बरी दीक्षा धारण कर ली।

मुनि बलदेव अत्यन्त रूपवान् थे। व जब नगर में चर्या के लिये जाते थे, तो उन्हें देखकर कामिनियाँ काम-विह्वल हो जाती थी। यह देखकर उन्होंने नियम लिया कि यदि मुझे वन में ही आहार मिलेगा, तो लेंगे, अन्यथा नहीं। वे कठोर तप द्वारा शरीर का कृश करने लगे, किन्तु उसमें आत्मा की निर्मलता बढ़ती गई। वे वन में ही विहार करते थे। यह बात राजाओं के भी कान में पड़ी। व अपने पुराने वैर-विरोध को स्मरण कर शस्त्रसज्जित होकर उसी वन में आगये। सिद्धाथ दब ने यह देखकर वन में सिंह ही सिंह पैदा कर दिये। जब उन राजाओं ने मुनि बलदेव के चरणों में अनेक सिंह दगे तो उनकी सामर्थ्य देखकर घान्त हो गये। तभी से जगत में बलदेव मुनिराज नरसिंह नाम से विख्यात हो गये।

उन्होंने सौ वर्ष तक घोर तप किया। अन्त में ममाधि धारण करके वे ब्रह्मलोक में इन्द्र बने। अवधिज्ञान से उसने पूर्व जन्म के बन्धु-बान्धवों को जान लिया। वह अपने पूर्वजन्म के प्राणोपम भाई कृष्ण के जीव के पास गया। उसने कृष्ण को अपने साथ ले जाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु सफल नहीं हो सका। तब कृष्ण के जीव ने उसे समझाया—देव! सब जाव अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभ-अशुभ गति और सुख-दुःख पाते हैं। कोई किसी को सुख देने और दुःख हरने में समर्थ नहीं है। हम दोनों अपनी वर्तमान आयु पूर्ण करके मनुष्य पर्याय प्राप्त करेंगे और वहाँ तप करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

ब्रह्मन्द् वहाँ से वापिस आ गया और कृष्ण के जीव के अनुरोध के अनुसार उसने इस पृथ्वी पर कृष्ण के अनेक मन्दिर बना दिये, कृष्ण की मूर्तियाँ, शस्त्र, चक्र और गदा युक्त बनाई और कृष्ण को भगवान का अवतार बताकर लोगों को भ्रमित कर दिया। उसने बलदेव को शेषनाग का अवतार बताकर एक विमान में कृष्ण और बलदेव का रूप बनाकर लोगों को दर्शन दिये। इस प्रकार सत्सार में कृष्ण को भगवान का अवतार मानने की मान्यता और कृष्ण-पूजा प्रचलित हुई। उनके नानाविध मोहन रूपों की कल्पना की गई और उन्हें सोलह कला का अवतारी पूर्ण पुरुष मान लिया गया।

पाण्डवों ने जरत्कुमार का राज्याभिषेक किया, उसका विवाह अनेक सुलक्षणा कन्याओं के साथ कर दिया। इस काम से निश्चिन्त होकर वे पल्लव देश में गये, जहाँ भगवान नेमिनाथ विराजमान थे। उन्होंने भगवान को

नमस्कार किया और प्रदक्षिणा देकर यथोचित स्थान पर बैठकर भगवान का अमृत उपदेश सुना। सुनकर उन्होंने भगवान के चरणों में मुनिदीक्षा लेली। कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि पाण्डवों की सुनारियाँ राजीमती आर्यिका के समीप दीक्षित हो गईं।

एक बार पाँचों पाण्डव मुनि शत्रुजय पर्वत पर प्रतिमायोग से विराजमान थे। तभी दुर्योधन का भानजा घूमता-फिरता उधर ही आ निकला। उसने पाण्डवों को देखा। उसके मन में यह सोचकर अत्यन्त क्षोभ हुआ कि मेरे मातुल वश का उच्छेद करने वाले ये ही दुष्ट पाण्डव हैं। मुझे अपने मातुल वश के इन शत्रुओं से प्रतिशोध लेने का आज यह स्वर्ण सुयोग प्राप्त हुआ है। यह विचारकर वह गाव में जाकर लोहे के आभूषण ले आया और उन्हें प्रज्वलित अग्नि में तपाकर पाँचों पाण्डवों को पहना दिये। उन तप्त लौहाभरणों से मुनियों के शरीर तिल-तिलकर जलने लगे। किन्तु धीर वीर और आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जानने वाले वे मुनिराज आत्मस्वभाव में लीन हो गये। शरीर जलता रहा और उनके वीतराग परिणामों से कर्म जलते रहे। उनका ध्यान आत्मा में था, शरीर की ओर उनका उपयोग नहीं था, अतः शरीर के दाह का अनुभव भी उन्हें नहीं हुआ। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मुनिराज तो शुक्लध्यान द्वारा कर्मों का क्षय कर सिद्ध परमात्मा बन गये और नकुल, सहदेव मुनिराज, सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए।

भगवान नेमिनाथ उपदेश करते हुए उत्तरापथ से सौराष्ट्र देश में गिरनार पर्वत पर पहुँचे। वहाँ आकर भगवान ने समवसरण में विराजमान होकर उपदेश दिया। फिर समवसरण विसर्जित हो गया। भगवान एक माह तक योग निरोध कर ध्यानलीन हो गये। उन्होंने अघातिया कर्मों का नाश करके आषाढ कृष्णा अष्टमी के दिन

प्रदोष काल में अपने जन्म नक्षत्र के रहते ५३६ मुनियों के सहित सिद्धपद प्राप्त किया। उनके भगवान नेमिनाथ का ८००० शिष्यों ने मुक्ति प्राप्त की। भगवान नेमिनाथ के कुल ४ अनुबद्ध केवली हुए। चारों निर्वाण कल्याणक निकाय के इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने गिरनार पर्वत पर वज्र से उकेरकर पवित्र सिद्धशिला का निर्माण किया और उस पर जिनेन्द्र भगवान के लक्षण अंकित किये।

यादवों में समुद्रविजय आदि नौ भाई, देवकी के युगल छह पुत्र, शव, प्रद्युम्नकुमार आदि मुनि भी गिरनार पर्वत से मोक्ष को प्राप्त हुए।

जरत्कुमार पृथ्वी का शासन करने लगा। कर्लिंग नरेश की पुत्री जरत्कुमार की पटरानी थी। उसके वसुध्वज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वसुध्वज राज्य-शासन करने योग्य हो गया, तब जरत्कुमार पुत्र पर राज्य-भार सौंप कर मुनि-दीक्षा लेकर तप करने लगा। वसुध्वज के सुवसु नामक पुत्र जरत्कुमार की पुत्री सुवसु के भीमवर्मा पुत्र हुआ जो कर्लिंग का शासक था। इस प्रकार इस वंश में अनेक वंश-परम्परा राजा हुए। फिर कपिष्ठ, उसके अजातशत्रु, उसके शत्रुसेन, शत्रुसेन के जितारि और जितारि के जितशत्रु हुआ। जितशत्रु के साथ भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ की छोटी बहन का विवाह हुआ। जब भगवान महावीर का जन्मोत्सव हो रहा था, तब जितशत्रु कुण्डलपुर आया था। उस समय महाराज सिद्धार्थ ने अपने इस पराक्रमी मित्र का बड़ा सम्मान किया था। सिद्धार्थ का बहन का नाम यशोदया था। उसके यशोदा नामक पुत्री हुई। जितशत्रु अपनी पुत्री का विवाह महावीर के साथ करना चाहता था, किन्तु महावीर ने विवाह करने से इनकार कर दिया और तप करने चले गये। जितशत्रु और यशोदा दोनों ने भी दीक्षा ली। बाद में मुनिराज जितशत्रु को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे मोक्ष गये।

भगवान नेमिनाथ : एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व

कुछ वर्ष पूर्व तक विद्वानों को श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता में सन्देह था, किन्तु अब उन्हें ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर लिया गया है। ऐसी दशा में श्रीकृष्ण के समकालीन और उनके ताऊ समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ की ऐतिहासिकता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० राय चौधरी ने 'वैष्णव धर्म का इतिहास' ग्रन्थ में नेमिनाथ को श्रीकृष्ण का चचेरा भाई लिखा है। उन्होंने श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं किन्तु नेमिनाथ के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य नहीं दिया। संभवतः इसका कारण यही रहा है कि उनकी दृष्टि और उनका वर्णन विषय श्रीकृष्ण ही थे। उन्होंने नेमिनाथ का चरित्र-चित्रण करने में जैन ग्रन्थों का उपयोग करने में कोई रुचि नहीं दिखाई।

पी० सी० दीवान^१ ने इसके दो कारण बताये हैं। प्रथम तो यह कि हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे वर्तमान ज्ञान के लिए यह संभव नहीं है कि जैन ग्रन्थकारों द्वारा एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर के बीच सुदीर्घकाल का अन्तराल कहने में उनका क्या अभिप्राय है, इसका विश्लेषण कर सकें। किन्तु केवल इसी कारण से जैन ग्रन्थों में वर्णित अरिष्टनेमि के जीवन वृत्तान्त को, जो अति प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है, दृष्टि से ओझल कर देना युक्तियुक्त नहीं है। दूसरे कारण का स्पष्टीकरण स्पष्ट है। भागवत सम्प्रदाय के ग्रन्थकारों ने अपने परम्परागत ज्ञान का उतना ही उपयोग किया है जितना श्रीकृष्ण को परमात्मा सिद्ध करने के लिए आवश्यक था। जैन ग्रन्थों में ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथ्य वर्णित हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया है, जो भागवत साहित्य के वर्णन में नहीं मिलते।”

वैदिक साहित्य में यादव वंश का विस्तृत वर्णन मिलता है। उसमें अरिष्टनेमि का उल्लेख भी अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि हिन्दू पुराणों में भी यादव वंश का वर्णन एक-सा नहीं है, उसमें पर्याप्त असमानता है। हिन्दू पुराण 'हरिवंश' में यादव वंश-परम्परा इस प्रकार दी है—

महाराज यदु के सहस्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अजिक नामक देवकुमारों के तुल्य पाच पुत्र हुए। क्रोष्टा की माद्री नाम की दूसरी रानी से युधाजित और देवमीढुप नामक दो पुत्र हुए। युधाजित के वृष्णि और अन्धक नामक दो पुत्र हुए। वृष्णि के दो पुत्र हुए—स्वफटक और चित्रक। स्वफटक के अनूर हुआ। चित्रक क वारह पुत्र हुए जिनके नाम इस प्रकार थे—

चित्रकस्याभवन् पुत्रा पृथुविपृथुरेव च।
अश्वग्रीवोऽश्ववाहुश्च सुपाश्वकगवेपणी ॥१५॥
अरिष्टनेमिरश्वश्च सुधर्माधर्मभृत्तथा।
सुवाहुर्वहुवाहुश्च श्रविष्ठाश्रवणं स्त्रियौ ॥१६॥

—हरिवंश पु०, पर्व १, अध्याय ३४

चित्रक के पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव, अश्ववाहु, सुपाश्वक, गवेपण, अरिष्टनेमि, अश्व, मुधर्मा, धर्मभृत्, सुवाहु और बहुवाहु नामक वारह पुत्र और श्रविष्ठा एव श्रवणा नाम की दो पुत्रियाँ हुईं।

यहाँ चित्रक के एक पुत्र का नाम अरिष्टनेमि दिया है।

हरिवंश पुराण में श्रीकृष्ण की वंश-परम्परा इस प्रकार दी है—

क्रोष्टा के दूसरे पुत्र देवमीढुप के शूर, शूर के दस पुत्र और पाच पुत्रियाँ हुईं। पुत्रों के नाम इस प्रकार थे—वसुदेव, देवभाग, देवश्रवा, अनावृष्टि, कनकक, वत्सवान्, गृजिम, ज्याम, शमीक और गण्डूप। पुत्रियों के नाम ये थे—पृथुकीर्ति, पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी

—हरिवंश पर्व १, अ० ३४, श्लोक १७-२३

हरिवंश पुराण पर्व २ अध्याय ३७ और ३८ में एक दूसरी वंश-परम्परा दी है जो इस प्रकार है—

इक्ष्वाकु वंश में हर्यश्व हुआ। उसकी रानी मधुमती से यदु नामक पुत्र हुआ। यदु के पाच पुत्र हुए—मुच-कुन्द, माधव, सारस, हरित और पार्थिव। माधव से मत्तवत्, सत्तवत् से भीम, भीम से अन्धक, अन्धक से रैवत, रैवत से विश्वगर्भ, विश्वगर्भ की तीन स्त्रियों से चार पुत्र हुए—वसु, वभ्रु, सुपेण और सभाक्ष। वसु से वसुदेव और वसुदेव से श्रीकृष्ण हुए।

हरिवंश पुराण के समान महाभारत में भी यदुवंश की दो परम्परायें दी गई हैं—

प्रथम परम्परा के अनुसार बुध से पुरुरव, पुरुरव से आयु, आयु से नहुप, नहुप से ययाति, ययाति से यदु, यदु से क्रोष्टा, क्रोष्टा से वृजिनिवान्, वृजिनिवान् से उपगु, उपगु से चित्ररथ, चित्ररथ का छोटा पुत्र शूर, शूर से वसुदेव और वसुदेव से चतुर्भुजाधारी श्रीकृष्ण हुए।

—महाभारत, अनुशासन पर्व, अ० १४७ श्लोक २७—३२

महाभारत की द्वितीय परम्परा के अनुसार ययाति की रानी देवयानी से यदु हुआ। उसके वंश में देवमीढ हुआ। देवमीढ से शूर, शूर से शौरि वसुदेव हुए।

—महाभारत, द्रोणपर्व, अ० १४४, श्लोक ६—७

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू पुराणों में यदुवंश की परम्परा के सम्बन्ध में अनेक मत प्राप्त होते हैं। काल के लम्बे अन्तराल में यदु वंश परम्परा को विस्मृति के कुहासे में ढक दिया। जिन ऋषियों ने जैसा सुना, वैसा लिख दिया।

दूसरी ओर जैन परम्परा में यदु-वंश की एक ही परम्परा उपलब्ध होती है। दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों की अपनी-अपनी निरवच्छिन्न परम्परा रही है। इसी कारण दोनों ही सम्प्रदायों में यदु-वंश-परम्परा में एकरूपता और समानता मिलती है। जैन परम्परा के अनुसार यदुवंश परम्परा इस भाँति है—

हरिवंश में यदु नामक प्रतापी राजा हुआ। इसी से यदुवंश चला। यदु से नरपति, नरपति के दो पुत्र हुए—शूर और सुवीर। सुवीर मथुरा में शासन करने लगा। शूर ने कुशद्य देश में शौर्यपुर नगर बसाया और वही शासन करने लगा। शूर के अन्धकवृष्णि और सुवीर के भोजकवृष्णि पुत्र हुए। अन्धकवृष्णि के १० पुत्र हुए—

१ समुद्रविजय, २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमितसागर, ४ हिमवान, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण, ८ पूरण, ९ अभिचन्द्र और १० वसुदेव। दो पुत्रियाँ हुई—कुन्ती और माद्री। समुद्रविजय के नेमिनाथ अथवा अरिष्टनेमि हुए, जो वाईसवे तीर्थंकर थे। वसुदेव के बलराम और श्रीकृष्ण हुए जो नौवे बलभद्र और नारायण थे। इस प्रकार नेमिनाथ और श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे।

जैन परम्परा के समान हिन्दू पुराण 'हरिवंश' के अनुसार भी श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे। इन दोनों के परदादा युधाजित और देवमीढुष दोनों सहोदर थे।

हिन्दू पुराणों में हरिवंश पुराण और महाभारत के अतिरिक्त प्रभास पुराण में रैवत (गिरनार) पर्वत पर नेमि जिन का उल्लेख मिलता है और उन्हें मुक्तिमार्ग का कारण बताया है। वह उल्लेख इस प्रकार है—

“रेवताद्रौ जिनो नेमियुं गार्दिं विमलाचले।

ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥

स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड में शिव और नेमिनाथ को एक माना है। सन्दर्भ इस प्रकार है—

“भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम्।

तेनैव तपसाकृष्ट शिवः प्रत्यक्षतां गत ॥

पद्मासनः समासीनः श्यामवर्णः श्याममूर्तिर्दिग्म्बरः।

नेमिनाथ शिवोऽथैव नाम चक्रोऽस्य वामन ॥

कलिकाले महाघोरे सर्वपापप्रणाशकः।

दर्शनात् स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः ॥

अर्थात् जन्म के अन्तिम भाग में वामन ने तप किया। उस तप के कारण शिव ने वामन को दर्शन दिया। वे शिव पद्मासन से स्थित थे। श्याम वर्ण थे और दिग्म्बर थे। वामन ने उन शिव का नाम नेमिनाथ रक्खा। ये नेमिनाथ इस घोर कलिकाल में सब पापों के नाश करने वाले हैं। उनके दर्शन और स्पर्शमात्र से करोड़ों यज्ञों का फल होता है।

यहाँ शिव को पद्मासनासीन, श्याम वर्ण और दिग्म्बर बताया है और उनको नेमिनाथ नाम दिया है। जैन परम्परा में नेमिनाथ कृष्ण वर्ण, पद्मासनासीन और दिग्म्बर माने गये हैं। उनकी मूर्तियों में ये तीन विशेषताएँ होती हैं। जबकि शिव वस्तुतः कृष्ण वर्ण के नहीं थे। हिन्दू पुराणों की एक विशेष शैली है। वे वैदिकेतर महा-पुरुषों को शिव या विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित करते हैं। उन्होंने ऋषभदेव को विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया है। इसी प्रकार नेमिनाथ को शिव के रूप में लिखा है।

हिन्दू पुराणों में शौरिपुर के साथ यादवों का कोई सबन्ध स्वीकार नहीं किया। किन्तु महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १४६ में विष्णुसहस्र नाम में दो स्थानों पर 'शूर शौरिर्जनेश्वर' पद आया है। यथा—

‘अशोकस्तारणस्तार शूरः शौरिर्जनेश्वरः ॥५०॥

कालनेमिनिहा वीरः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ॥६२॥

इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें श्रीकृष्ण को शौरि लिखा है। आगरा से ४० मील दूर शौरीपुर नामक स्थान है। जैन साहित्य में नेमिनाथ का जन्म इसी शौरीपुर में माना गया है। यादवों की अन्धकवृष्णि शाखा की राजधानी यही नगरी थी। यही पर नेमिनाथ और श्रीकृष्ण के पिता रहते थे। हिन्दू 'हरिवंश पुराण' में भी श्रीकृष्ण को एक स्थान पर शौरि लिखा है। यथा—

‘वसुदेवाच्च देवक्या जज्ञे शौरिर्महायशाः ॥७॥

—हरिवंश पुराण पर्व १, अध्याय ३५

महाभारत में तो वसुदेव के विशेषण के रूप में शौरि पद प्रयुक्त हुआ है। यथा—

शूरस्य शौरिर्नृवरो वसुदेवो महायशाः ॥७॥

—महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय १४४

इन उल्लेखों से इस जैन मान्यता की पुष्टि होती है कि वसुदेव, श्रीकृष्ण और नेमिनाथ शीरीपुर के रहने वाले थे, जबकि हिन्दू मान्यता में शीरीपुर को कोई स्वीकृति नहीं मिलती। जैन मान्यता के अनुसार जरासन्ध के आक्रमणों से परेशान होकर और युद्ध की तैयारी के लिये ममय प्राप्त करने के उद्देश्य में यादवों ने शीरीपुर से पलायन किया था और द्वारका नगरी का निर्माण करके वहाँ रहने लगे थे।

जब हम हिन्दू पुराणों से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें उसमें भी अरिष्टनेमि के उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद को प्राचीनतम रचना स्वीकार किया जाता है। उसमें अनेक मन्त्रों का देवता अरिष्टनेमि है और उसकी बार-बार स्तुति की गई है।^१

अथर्ववेद के गाण्डूक्य, प्रश्न और गुण्डक उपनिषदों में भी अरिष्टनेमि के उल्लेख मिलते हैं।

हिन्दू साहित्य के समान बौद्ध साहित्य में भी अरिष्टनेमि का स्मरण अनेक स्थानों पर किया गया है। 'लकावतार' के तृतीय परिवर्तन में लिखा है—जैसे एक ही वस्तु के अनेक नाम होते हैं, ऐसे ही बुद्ध के भी असंख्य नाम हैं। लोग इन्हें तथागत, स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, ईश्वर विष्णु, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि आदि नामों में पुकारते हैं।

'ऋषि भाषित सुत्त' में अरिष्टनेमि और कृष्ण निरूपित पैंतालीस अध्ययन हैं। उनमें बीस अध्ययनों के प्रत्येक बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हुए थे।

इतिहासकारों में कर्नल टाउ लिखते हैं—'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में चार बुद्ध या मेघावी महापुरुष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्फेण्डोनेविया निवासियों के प्रथम 'ओडिन' और चीनियों के प्रथम 'फो' देवता थे।'

श्रीकृष्ण के गुरु

छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण का उल्लेख मिलता है। उसमें उनके गुरु का नाम घोर आङ्गिरस बताया है। आङ्गिरस ऋषि ने श्रीकृष्ण को नैतिक तत्वों एवं अहिंसा का उपदेश दिया। जैनो की मान्यतानुसार भगवान नेमिनाथ ने श्रीकृष्ण को अहिंसा का उपदेश दिया था। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कीशाम्बी ने 'भारतीय सस्कृति और अहिंसा' पुस्तक के पृष्ठ ३८ में यह सभावना व्यक्त की है कि घोर आङ्गिरस नेमिनाथ के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकते। यद्यपि इस सभावना की पुष्टि अन्य प्रमाणों द्वारा अभी तक नहीं हो पाई है। किन्तु जैन पुराणों में श्रीकृष्ण को अहिंसा का उपदेश देने वाले नेमिनाथ और छान्दोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण को अहिंसा का उपदेश देने वाले घोर आङ्गिरस में समानता के बीज ढूँढ़े जा सकते हैं। अन्वेषण के फलस्वरूप नेमिनाथ और आङ्गिरस में ऐक्य स्थापित हो जाय तो कोई आश्चर्य न होगा।

श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार मानने की परिकल्पना

हिन्दू धर्म में श्रीकृष्ण का प्रभाव सर्वोपरि है। भागवत आदि पुराणों में विष्णु के जिन चौबीस अथवा दशावतारों की कल्पना की गई है, उनमें श्रीकृष्ण को पूर्णावतार और शेष अवतारों को अशावतार स्वीकार किया गया है। वेदों में अवतारवाद की यह कल्पना दृष्टिगोचर नहीं होती। उपनिषद् काल में भी अवतारवाद का जन्म नहीं हुआ। ब्राह्मण काल में अवतारवाद के बीज प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में सर्वप्रथम यह उल्लेख मिलता है कि प्रजापति ने मत्स्य, कूर्म और वराह का अवतार लिया था। किन्तु इसमें भी विष्णु के अवतार लेने का कोई संकेत नहीं है। पौराणिक काल में सभ्यतः इसी भावना को पल्लवित और विकसित करके विष्णु के अवतार की कल्पना की गई। इस प्रकार अवतारवाद की मान्यता वैदिक धर्म के लिये सर्वथा नवीन और अपूर्व थी। किन्तु वैदिक ऋषियों को वेदों में वर्णित भौतिक और काल्पनिक देवताओं को तिलाञ्जलि देकर विष्णु के मानव देहधारी अवतार की कल्पना क्यों करनी पड़ी, यह जानना अत्यन्त रुचिकर होगा और उससे वैदिक धर्म के क्रमिक विकास के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

जब वैदिक आर्य पश्चिमोत्तर प्रदेश से भारत में प्रविष्ट हुए, उन्हें यहाँ जिन लोगों से पाला पूड़ा, वे शिश्न-देव, व्रात्य, और वातरक्षना मुनियों की उपासना करते थे। उनकी सभ्यता अत्यन्त समुन्नत और विकसित थी। इतिहासकारों ने उसे द्रविड सभ्यता का नाम दिया है। उस सभ्यता के दर्शन हमें सिन्धुघाटी के 'मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा में मिलते हैं। उस सभ्यता को नागर सभ्यता भी कहा जाता है। नागर सभ्यता से नगर नियोजन की उस विकसित परम्परा का आशय लिया जाता है जो इन नगरों में उत्खनन के परिणामस्वरूप हमें देखने को मिलती है। इन वैदिक आर्यों ने भारत में आकर दो कार्य किये—इनके योद्धा लोगों ने यहाँ के मूल निवासियों पर क्रमशः विजय पाई और इनके विद्वान् ब्राह्मण ऋषि मन्त्रों की रचना करके प्रकृति के तत्त्वों की देवता के रूप में पूजा करते थे। जब धीरे-धीरे वैदिक आर्यों का राज्य कुछ प्रदेशों में स्थिर हो गया और स्थानीय मूल निवासियों के साथ वे घुल मिल गये तो दोनों सस्कृतियों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ और इस प्रकार सांस्कृतिक आदान-प्रदान का क्रम चालू हुआ।

यहाँ के मूल निवासियों की सस्कृति, जिसे श्रमण सस्कृति के नाम से जाना जाता है, क्षत्रियों की सस्कृति थी तथा बाहर से आने वाले आर्यों की सस्कृति, जिसे वैदिक सस्कृति पुकारा जाता है, ब्राह्मणों की सस्कृति थी। दोनों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के इस काल को हम सन्क्रान्ति काल मान सकते हैं। इस काल में युद्ध का रूप बदल गया, युद्ध का उद्देश्य बदल गया। जब आर्य आये थे, उस समय उनका एकमात्र उद्देश्य अपने लिये राज्य प्राप्त करना था, भूमि प्राप्त करनी थी, जहाँ टिक सके। जब राज्य प्राप्त हो गया और वे टिक गये, तब युद्ध का एक नया रूप उभरा। वह रूप था सांस्कृतिक। अब युद्ध न केवल राजनैतिक होते थे, अपितु उन्होंने एक सांस्कृतिक रूप ले लिया। दोनों ही सस्कृतियाँ अपने प्रचार प्रसार की ओर अधिक ध्यान देने लगी, दोनों ही सर्वसाधारण को अपनी श्रेष्ठता से प्रभावित करने के लिए सचेष्ट हो उठी, दोनों ही अपने आपको दूसरी से श्रेष्ठतर सिद्ध करने में जुट पड़ी। प्रथम चरण में इस युद्ध का गोंड जातीय श्रेष्ठता सिद्ध करने की ओर हो गया। ब्राह्मणों ने अपने आपको अन्य वर्णों से श्रेष्ठतम घोषित किया और ब्रह्मर्षि जैसे सर्वोच्च पद के लिए ब्राह्मण होना अनिवार्य करार दिया। दूसरी ओर श्रमण सस्कृति के उन्नायकों ने मानवों में श्रेष्ठतम तीर्थंकर पद के लिए केवल क्षत्रिय कुल में जन्म लेना आवश्यक बताया। इस जातीय संघर्ष के इतिहास की झलक हमें वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र बिखरी हुई देखने को मिलती है। इसका एक सशक्त उदाहरण विश्वामित्र और वशिष्ठ के युद्ध के रूप में मिलता है। वैदिक आख्यान के अनुसार गांधि के पुत्र विश्वामित्र नामक एक क्षत्रिय राजा ने राज्य का परित्याग करके ब्रह्मर्षित्व प्राप्त करने के लिए घोर तप करना प्रारम्भ कर दिया। आर्यों के उपास्य इन्द्र ने, जो वस्तुतः देव नामक मनुष्य जाति का राजा होता था, विश्वामित्र को तप से अष्ट करने के लिये अपनी जाति की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा मेनका को भेजा। उसने अपने हाव-भाव और नृत्य विलास से उस युवक क्षत्रिय ऋषि को विचलित करके अपने प्रति अनुरक्त कर लिया। फलतः शकुन्तला नामक कन्या का जन्म हुआ। किन्तु कन्या को जन्म देकर मेनका वहाँ से तिरोहित हो गई। तब विश्वामित्र को रहस्य समझते देर नहीं लगी। वे कन्या को वन में ही छोड़कर पुनः अतिशय घोर तप करने लगे। इससे ऋषि गणों में भयानक हलचल मच गई। तब भी ऋषियों ने उन्हें ब्रह्मर्षि स्वीकार नहीं किया, बल्कि विश्वामित्र के ब्रह्मर्षि बनने के दावे को झुठलाने और उन्हें दण्ड देने के लिए एक विशाल सैन्य बल के साथ महर्षि वशिष्ठ आगे आये। वैदिक आख्यान के अनुसार दोनों में साठ हजार वर्ष तक घोर युद्ध हुआ। सारे ऋषि महर्षि और देवता एक ओर थे, जबकि लगता है, क्षत्रिय वर्ग ने विश्वामित्र का पक्ष लिया। अन्त में विजय विश्वामित्र के पक्ष की हुई। ऋषियों ने विश्वामित्र के आगे झुककर उन्हीं की शर्तों पर समझौता किया। समझौते के अनुसार विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि पद प्रदान किया गया, उन्हें सप्तर्षियों में स्थान दिया गया और उनके द्वारा रचित गायत्री मंत्र को समस्त वैदिक मन्त्रों से शक्तिशाली और वेदों का सार मान लिया गया। विश्वामित्र के आग्रह का एक सीमित उद्देश्य था और वह था स्वयं को ब्रह्मर्षि पद पर प्रतिष्ठित करना। उनका उद्देश्य न तो व्यापक था और न समस्त क्षत्रिय जाति को ब्रह्मर्षि पद के लिए अधिकार दिलाने का उनका आग्रह ही था। अपने उद्देश्य में वे सफल हो गये और उन्होंने विजय प्राप्त करके ब्राह्मण जाति की सर्वश्रेष्ठता को थोथा साबित कर दिया। इसी जातीय संघर्ष की शृंखला की एक कड़ी परशुराम द्वारा इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन करने का प्रयत्न था।

इस सांस्कृतिक युद्ध का दूसरा चरण उस समय प्रारम्भ हुआ, जब जानीय युद्ध में लोग ऊब गये। उस समय तक आर्य लोग विशाल भूखण्ड पर अधिकार कर चुके थे और वे यहाँ के मूल निवासियों के साथ काफी घुलमिल गये थे और उनकी संस्कृति की अनेक विशेषताओं में वे प्रभावित हो चुके थे। उन्होंने अनुभव किया कि नीरव यज्ञ-यागों और शुष्क क्रियाकाण्डों के सहारे संस्कृति को गाड़ी को गति नहीं मिल सकती। ये जनमानस को अधिक प्रभावित भी नहीं करते। दूरी और क्षत्रिय वर्ग गम्भीर आध्यात्मिक तत्त्व चिन्तन में निरत था। उसमें अध्यात्म रसिकों की जिज्ञासा को समाधान मिलना था। क्षत्रिय वर्ग की उम्र ग्रन्थान्मविद्या में प्रभावित होकर ही वैदिक ऋषियों ने उस काल में उपनिषदों की रचना की। उपनिषदों में अनेक ग्रन्थों पर उम्र प्रकार के कथानक और परिसंवाद उपलब्ध होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि अनेक ऋषि क्षत्रियों के निकट अध्यात्मविद्या सीखने जाते थे। वस्तुतः उम्र काल तक आत्म विद्या के ग्वामी क्षत्रिय ही थे, ब्राह्मण ऋषियों को आत्म विषयक ज्ञान नहीं था।

छान्दोग्य उपनिषद् (५-३) में एक संवाद आया है, जिसका आशय उम्र प्रकार है—एक बार आरुणि का पुत्र द्येतकेतु पाञ्चाल देश के लोगों की गभा में आया। उम्रमें जीवत के पुत्र प्रवाहण ने पूछा—‘कुमार! क्या पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है?’ उम्रने कहा—‘हाँ भगवन्!’ तब प्रवाहण ने उम्रसे आत्मा और उसके पुनर्जन्म के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे किन्तु वह एक का भी उत्तर नहीं दे सका। तब निराश होकर द्येतकेतु अपने पिता के पास गया और सारी घटना बताकर कहा कि ‘आपने मुझमें यह कर्म कहे दिया कि मैंने तुम्हें शिक्षा दी है। मैं उस क्षत्रिय के एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। तब वह गौतम गोत्रीय ऋषि बोला—मैं भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता। उसके पश्चात् वह ऋषि प्रवाहण के पास गया और उम्रने आत्म-विद्या सिखाने का अनुरोध किया। राजा ने ऋषि से कहा—‘पूर्व काल में तुमने पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गई। इसी से सम्पूर्ण लोको में इस विद्या के द्वारा क्षत्रियों का ही अनुमानन होता रहा’ है। अन्त में राजा ने उसे वह विद्या सिखाई। वह विद्या थी पुनर्जन्म का सिद्धान्त। उम्रने प्रमाणित होता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से लिया^१ है।

छान्दोग्य उपनिषद् (५-११) तथा अतपथ ब्राह्मण (१०-६-१) में एक कथा आई है कि उपमन्यु का पुत्र प्राचीन शाल, पुलुप का पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लवि का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शकराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र वृडल ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्र होकर आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासा लेकर अरुण के पुत्र उद्दालक के पास गये, किन्तु वह आत्मा के सम्बन्ध में स्वयं ही नहीं जानता था। अतः वह इन्हें लेकर कैकयकुमार अश्वपति के पास गया। उसने राजा से आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। तब राजा ने उन्हें आत्म-विद्या का उपदेश दिया।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य को राजा^३ जनक ने, इन्द्र को प्रजापति^४ ने, नारद को सनत्कुमार^५ ने, नचिकेता को यमराज^६ ने आत्म-विद्या सिखाई, इस प्रकार के उपाख्यान वैदिक साहित्य में मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि यह अनुभव करते थे कि वैदिक क्रियाकाण्ड आत्मज्ञान के सामने तुच्छ है। वैदिक क्रिया काण्ड से स्वर्ग भले ही मिल जाय, किन्तु अमृतत्व और अभयत्व केवल आत्म ज्ञान से ही मिल सकता है।

इस सम्बन्ध में डॉ० दास गुप्ता का अभिमत है कि “आमतीर से क्षत्रियों में दार्शनिक अन्वेषण की उत्सुकता विद्यमान थी और उपनिषदों के सिद्धान्तों के निर्माण में अवश्य ही उनका मुख्य प्रभाव रहा है।”^७ वेदों में क्षत्रियों की आत्म-विद्या के दर्शन नहीं होते। सर्वप्रथम उपनिषदों ने क्षत्रियों से आत्म-विद्या

१ यथेय न प्राक् त्वत् पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥७॥

छान्दोग्य उपनिषद् ५-३

२ हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, डॉ० विण्टरनीट्स, जिल्द १ पृ० २३१

३ विण्टरनीट्सकृत हि० आ० इ० लि०, जि० १ पृ० २२७-८

४. छान्दोग्य उपनिषद् अ० ८

५ " अ० ७

६ कठोपनिषद्

७. History of Indian Philosophy, by Dr. Das Gupta, Vol. I, p 13

लेकर उसे आत्मसात् कर लिया और उसे ऐसा रंग प्रदान किया, जिससे यह प्रतीत होने लगा कि आत्म-विद्या उपनिषदों की मौलिक देन है। इसके पश्चात् वैदिक धर्म ने क्षत्रियों द्वारा स्वीकृत एवं व्यवहृत सन्यास मार्ग को अपनाया। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक 'गीता रहस्य' (पृ० ३४२) में लिखते हैं—'जैन और बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों ने कापिल साख्य के मत को स्वीकार करके इस मत का विशेष प्रचार किया कि ससार को त्याग कर सन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिलता। यद्यपि श्री शंकराचार्य ने जैन और बौद्धों का खण्डन किया है, तथापि जैन और बौद्धों ने जिस सन्यास मार्ग का विशेष प्रचार किया था, उसे ही श्रौत स्मार्त सन्यास कहकर आचार्य ने कायम रक्खा।' वेदों में सन्यास मार्ग का कोई वर्णन नहीं मिलता। वेद तो क्रियाकाण्ड प्रधान प्रवृत्तिपरक ग्रन्थ हैं, निवृत्ति मार्ग तो केवल क्षत्रियों की श्रमण परम्परा में ही प्रचलित था। उपनिषद् काल में उन्हीं से सन्यास मार्ग को अपनाया गया।

धीरे-धीरे वैदिक धर्मानुयायी जनता उपनिषदों के शुष्क आध्यात्मिक वितण्डावाद से भी ऊबने लगी। उसकी आध्यात्मिक चेतना और भूख को उपनिषद् भी खुराक नहीं जुटा सके। वह जनता ब्राह्मणों की एकाधिकारवादी प्रवृत्ति से भी असन्तुष्ट थी। वह देख रही थी कि जैन और बौद्ध धर्म में सभी वर्गों और वर्णों के लिये उन्नति के द्वार खुले हुए हैं। जैन तीर्थंकरों और तथागत बुद्ध का उपदेश जनता की भाषा में होता है, सभी वर्णों के लोग उसको सुनने, सुनकर उसका आचरण करने और आचरण करके अपनी सर्वोच्च आत्मिक उन्नति करने के अधिकारी हैं। सभी तीर्थंकर और बुद्ध मानव से भगवान बने हैं। उक्त धर्मों की इन विशेषताओं के कारण वैदिक जनता में वैदिक धर्म के प्रति घोर असन्तोष व्याप्त हो रहा था, बुद्धिजीवी वर्ग विद्रोह तक करने के लिये तैयार था और अनेक लोग वैदिक धर्म को त्याग कर जैन और बौद्ध धर्मों में दीक्षित हो रहे थे। अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान महावीर के ग्यारह गणधरो में सभी ब्राह्मण थे। तथागत बुद्ध के पंचवर्गीय भिक्षुओं में सभी ब्राह्मण थे। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन वैदिक जनता में अपने धर्म के प्रति कितना घोर असन्तोष था। अतः उस समय इन धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिये ऐसे धर्म की आवश्यकता थी, जो उक्त धर्मों के विरुद्ध जनता को प्रभावित कर सकता। उसी आवश्यकता के फलस्वरूप भागवत धर्म की उत्पत्ति हुई, जिसे बाद में वैष्णव धर्म कहा जाने लगा। यद्यपि इस धर्म के प्रवर्तक ब्राह्मण थे, किन्तु जन-असन्तोष को देखकर उन्हें क्षत्रिय कृष्ण को विष्णु का अवतार घोषित करना पड़ा और इस प्रकार मानव शरीरधारी ईश्वर की सृष्टि की गई।

प्रसिद्ध इतिहासकार श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखते हैं—

"बौद्ध और जैनधर्म के प्रचार से वैदिक धर्म को बहुत हानि पहुँची। इतना ही नहीं, किन्तु उसमें परिवर्तन करना पड़ा और वह नये साचे में ढलकर पौराणिक धर्म बन गया। उसमें बौद्ध और जैनो से मिलती धर्म सम्बन्धी बहुत-सी नई बातों ने प्रवेश किया।"

यद्यपि हिन्दू इतिहासकारों ने इस बात को दबे शब्दों में स्वीकार किया है, किन्तु तथ्य यह है कि जैन तीर्थंकर और तथागत बुद्ध मनुष्य थे। वे अपने आध्यात्मिक प्रयत्नों से भगवान बने थे और उनकी मान्यता एवं पूजा देवताओं से अधिक होती थी, यहाँ तक कि देवता भी उनकी पूजा करने में गौरव का अनुभव करते थे। मनुष्य भी अपने प्रयत्नों से भगवान बन सकता है, यह सिद्धान्त लोक-मानस को अधिक रुचिकर एवं प्रेरणाप्रद लगा। इसी सिद्धान्त से प्रभावित होकर ब्राह्मण धर्मनायकों ने एक ऐसे ईश्वर की कल्पना की, जो मनुष्य के रूप में अवतार लेकर अलौकिक कार्य करने की क्षमता रखता है, जो दुष्ट-दलन और शिष्ट-पालन करता है। श्रमण परम्परा के सिद्धान्त को ब्राह्मणों ने अपनी शैली में ढालकर हिन्दू-धर्म की जर्जर नाव को डूबने से बचाया। कृष्ण को अवतार मानने की यह प्रक्रिया निश्चय ही श्रमण परम्परा के व्यापक प्रभाव का परिणाम थी, यद्यपि इस प्रक्रिया में दोनों सस्कृतियों का मौलिक भेद स्पष्टतया उभर कर आने से छिपा रह नहीं सका। श्रमण परम्परा में मनुष्य भगवान बन सकता है, यह उत्तारवाद अथवा उन्नतिवाद का परिणाम है। दूसरी ओर भगवान मनुष्य बन सकता है, यह अवतारवाद अथवा अवनतिवाद का परिपाक कहा जा सकता है। दूसरी बात जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह

यह है कि श्रमण परम्परा की मौलिक विशेषता श्रम की प्रतिष्ठा है, जबकि वैदिक परम्परा श्रम को महत्व न देकर अधिनायकवाद को प्रश्रय देती है। श्रमण परम्परा में लोकतन्त्री व्यवस्था का उच्च स्थान है, वहाँ हर व्यक्ति को समान अधिकार, उन्नति के समान अवसर और कर्तव्य की प्रतिष्ठा है, जबकि वैदिक परम्परा के अवतारवाद की कल्पना में कोई अपने पुरुषार्थ से सर्वोच्च आध्यात्मिक पद प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है, वहाँ ससार से मुक्त होने या निर्वाण प्राप्त करने तथा भगवान बनने की कल्पना तक नहीं की जा सकती, बल्कि अवतारी भगवान की प्रसन्नता पाने पर विष्णु-लोक में पहुँचने तक की उड़ान की गई है। ब्राह्मणों ने दूसरों की अच्छाइयों, दूसरों के महापुरुषों और सिद्धान्तों को आत्मसात् करके उन्हें अपने रंग में रंगने का जो निष्फल प्रयास किया, उसी के फल-स्वरूप शिव, पार्वती, विष्णु, कृष्ण, ऋषभ, बुद्ध आदि को अपने अवतारों में गिन तो लिया, उससे ऋषभ, बुद्ध आदि अवतार उनके ग्रन्थों की शोभा वस्तु तो बन गये, किन्तु उनके मन्दिरों में वे प्रवेश न पा सके। शिव और विष्णु के अवतारों की भी ऐसी खिचड़ी पकी कि उनके दाने अलग थलग ही रहे, मिल नहीं पाये। शिव पुराण, लिंग पुराण आदि में विष्णु से शिव को उच्चतर पद दिया गया और महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण, हरिवंश पुराण आदि में विष्णु—विशेषतः उनके अवतार कृष्ण को सबसे उच्च पद पर आसीन किया गया। फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ब्राह्मणों की सबको पचाकर हजम करने की प्राचीन प्रक्रिया के कारण वैदिक धर्म भारत के व्यापक क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करने में समर्थ हो सका। अब शिव प्राग्यकालीन देवता नहीं प्रतीत होते, वे तो, लगता है जैसे वेदों की उपज हो। इसी प्रकार विष्णु और उनके अवतार कृष्ण पश्चात्कालीन कल्पना की उपज नहीं लगते, बल्कि गीता में कृष्ण ने अपने आपको यज्ञरूप और वेदरूप कहकर वेदों से समझौता कर लिया है, ऐसे ज्ञात होते हैं।

अधिकांश इतिहासकार इससे सहमत हैं कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया गया था। उन्हें सर्वोच्च स्थान देने की दृष्टि से ही अन्य अवतारों को विष्णु के अवतार के रूप में मान्यता दी गई। इसीलिये इन अवतारों में भी भेद रखा गया। कृष्ण को विष्णु का षोडश कलावतार अथवा पूर्णावतार माना गया, जबकि अन्य अवतारों को केवल अशावतार ही माना गया।

जैन मान्यतानुसार श्रीकृष्ण की लोकव्यापी प्रतिष्ठा स्थापित करने में उनके भाई बलराम का हाथ था। उन्होंने देव बनने के बाद पूर्व जन्म के भ्रातृस्नेहवश श्रीकृष्ण के रूप, गुण, बुद्धि, पराक्रम, वैभव आदि के चमत्कारों का ऐसा सुनियोजित प्रचार किया, जिससे लोक मानस में श्रीकृष्ण आराध्य के रूप में छा गये और वे घर-घर में प्रतिमानव के रूप में पूजे जाने लगे। यह कल्पना भी पौराणिक काल की उपज रही हो तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं होगी।

भगवान नेमिनाथ से सम्बद्ध नगर

नेमिनाथ की जन्म-नगरी-शौरीपुर—आगरा से, दक्षिण-पूर्व की ओर बाह तहसील में ७० कि० मी० दूर वटेश्वर गाव है। यहाँ से ५ कि० मी० दूर यमुना के खारों में शौरीपुर क्षेत्र अवस्थित है। बाह से वटेश्वर ८ कि० मी० और शिकोहाबाद से २५ कि० मी० है।

शौरीपुर ही वह पावन भूमि है, जहाँ भगवान नेमिनाथ वहाँ के अधिपति समुद्रविजय की महारानी शिवा-देवी के गर्भ में अवतरित हुए थे। उनके गर्भावतरण से छ. माह पूर्व से इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने रत्नवर्षा की थी, जो उनके जन्म-काल तक प्रतिदिन चार बार होती रही। उनके जन्म के सम्बन्ध में तिथि आदि ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य यतिवृषभ 'तिलोय पण्णत्ती' ग्रन्थ में लिखते हैं—

सउरीपुरम्मि जादो सिवदेवीए समुद्रविजएण ।

वइसाह तेरसीए सिदाए चित्तासु णेमिजिणो ॥४१५४७

अर्थात् नेमि जिनेन्द्र शौरीपुर में माता शिवादेवी और पिता समुद्रविजय से वैशाख शुक्ला १३ को चित्रा नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

देवी और इन्द्रो ने भक्ति और उल्लासपूर्वक भगवान के इन दो कल्याणको का महोत्सव शौरीपुर में अत्यन्त समारोह के साथ मनाया। इन दो कल्याणको के कारण यह भूमि कल्याणक भूमि, क्षेत्र मंगल और तीर्थ क्षेत्र कहलाने लगी।

पौराणिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस तीर्थक्षेत्र पर कुछ मुनियों को केवलज्ञान तथा निर्वाण प्राप्त हुआ था।

गन्धमादन पर्वत पर सुप्रतिष्ठ मुनि तप कर रहे थे। उनके ऊपर सुदर्शन नामक एक यक्ष ने घोर उपसर्ग किया। मुनिराज ने उसे समतापूर्वक सहन कर लिया और आत्म-ध्यान में लीन रहे। फलतः उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्हीं केवली भगवान के चरणों में शौरीपुर नरेश अन्धकवृष्णि और मथुरा नरेश भोजकवृष्णि ने मुनि दीक्षा लेली।

मुनि घन्य यमुना-तट पर ध्यानमग्न थे। शौरीपुर नरेश शिकार न मिलने के कारण अत्यन्त क्षुब्ध था। उसकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उस मूर्ख ने विचार किया कि शिकार न मिलने का कारण यह मुनि है। उसने क्रोध और मूर्खतावश तीक्ष्ण वाणों से मुनिराज को वीध दिया। मुनिराज शुक्लध्यान द्वारा कर्मों को नष्ट कर सिद्ध भगवान बन गये।

मुनि अलसत्कुमार विहार करते हुए शौरीपुर पधारे और यमुना-तट पर योग निरोध करके ध्यानारूढ हो गये। कर्म श्रुखलाये टूटने लगी। उन्हें केवलज्ञान हो गया और निर्वाण प्राप्त किया।

यम नामक अन्त कृत केवली यही से मुक्त हुए।

इस प्रकार न जाने कितने मुनियों को यहाँ केवलज्ञान हुआ और कितने मुनि यहाँ से मुक्त हुए। मुनियों को यहाँ से निर्वाण प्राप्त हुआ, अतः यह स्थान साधारण तीर्थ न होकर निर्वाण क्षेत्र या सिद्धक्षेत्र है।

सिद्धक्षेत्र होने के अतिरिक्त यहाँ अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक घटनायें भी हुई थी। भगवान ऋषभ-देव, भगवान नेमिनाथ, भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर का इस भूमि पर विहार हुआ था। उनका समवसरण यहाँ लगा था और उनके लोककल्याणकारी उपदेश हुए थे। यही पर प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्र के गुरु आचार्य लोकचन्द्र हुए थे। यह भी अनुश्रुति है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' की रचना यही पर की थी।

उस समय यादववंशियों के तीन राज्य थे—(१) कुशद्य-जनपद, जिसकी राजधानी शौरीपुर या शौर्यपुर थी, और जिसे शूर ने बसाया था। (२) शूरसेन जनपद, जिसकी राजधानी मथुरा थी। (३) वीर्यपुर। यह कहीं अद्वितीय था और इसका कौन राजा था, यह ज्ञात नहीं हो पाया। संभवतः चन्दवाड़ का पूर्वनाम वीर्यपुर रहा हो अथवा यह इसके कहीं आसपास रहा हो। मथुरा के नरेश भोजकवृष्णि और शौरीपुर के नरेश अन्धकवृष्णि दोनों चचेरे भाई थे। भोजकवृष्णि के तीन पुत्र थे—उग्रसेन, महासेन और देवसेन। पिता के पश्चात् मथुरा का राज्य उग्रसेन को मिला। उग्रसेन का पुत्र कस था, जिसने अपने पिता को कारागार में डाल दिया था और बाद में श्रीकृष्ण ने कस का वध करके उग्रसेन को कारागार से मुक्त किया। अन्धकवृष्णि की महारानी सुभद्रा से दस पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। दस पुत्रों में समुद्रविजय सबसे ज्येष्ठ थे और वसुदेव सबसे छोटे थे। पुत्रियों के नाम कुन्ती और मद्री थे, जिनका विवाह हस्तिनापुर के राजकुमार पाण्डु के साथ हुआ और जिनसे पाँच पाण्डव उत्पन्न हुए। समुद्रविजय की महारानी शिवादेवी से नेमिनाथ तीर्थकर का जन्म हुआ। वसुदेव की महारानी रोहिणी से बलराम हुए और दूसरी महारानी देवकी से श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए। दोनों भाई क्रमशः बलभद्र और नारायण थे। नारायण श्रीकृष्ण ने ही उस समय के सबसे प्रतापी सम्राट् राजगृह नरेश जरासन्ध का वध किया था।

जब यादव शौरीपुर, मथुरा और वीर्यपुर का त्याग करके पश्चिम की ओर चले गये और द्वारका बसाकर वही रहने लगे, तब वहाँ का शासन-सूत्र श्रीकृष्ण ने सभाला। यादवों के जाने के पश्चात् शौरीपुर की महत्ता समाप्तप्राय हो गई। जैन पुराणों में यादवों के निष्क्रमण के पश्चात् शौरीपुर का उल्लेख बहुत कम आया है। एक

वार तो उस समय, जब श्रीकृष्ण ने भरत क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त करके विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न स्थानों का राज्य प्रदान किया। उस समय उग्रसेन के पुत्र द्वार को मथुरा का राज्य दिया तथा महानेमि को शौर्यपुर का राज्य प्रदान किया। किन्तु महानेमि की वंश-परम्परा के सम्बन्ध में जैन पुराण मौन है। संभवतः इसका कारण यह रहा हो कि शौरीपुर में इसके पश्चात् कोई उल्लेखनीय घटना घटित न हुई हो और शौरीपुर का महत्त्व राजनैतिक या धार्मिक दृष्टि से नगण्य रह गया हो। दूसरी वार उस समय, जब विहार करने हुए भगवान् पाण्डिनाथ शौरीपुर पधारे। उस समय यहाँ प्रभजन नामक राजा राज्य करता था। भगवान् का उपदेश सुनकर वह उनका भक्त बन गया।

वर्तमान में यहाँ आदि मन्दिर, वरुणा मठ, शम्भुध्वज मन्दिर ये तीन मन्दिर हैं तथा पंच मठी है। एक अहाते में यम मुनि, और धन्य मुनि की छतरियाँ बनी हुई हैं, जिनमें चरण विराजमान है। दो छतरियाँ खाली पड़ी हुई हैं। एक टोक भी बनी हुई है। उसमें कोई प्रतिमा नहीं है। चरण अवश्य विराजमान है, जिनकी स्थापना भट्टारक जिनेन्द्र भूषण के उपदेश से सवत् १८२८ में हुई थी। वरुणामठ यहाँ का सबसे प्राचीन मन्दिर है, किन्तु इसकी कुछ प्राचीन प्रतिमाएँ चोरी चली गईं। इन मन्दिरों में सबसे प्राचीन मूर्ति उसके लेख के अनुसार सवत् १३०८ में प्रतिष्ठित हुई थी।

यहाँ समाज की ओर से तथा सरकार की ओर से उत्पन्न हो चुके हैं। फलतः यहाँ शिलालेख, खण्डित-अखण्डित जैन मूर्तियों और प्राचीन जैन मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए थे। एक शिलालेख के अनुसार सवत् १२२४ में मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख मिलता है। उत्पन्न में प्राप्त एक मूर्ति पर सवत् १०८२ (अथवा ६२) का लेख है। यहाँ उत्पन्न के परिणामस्वरूप सबसे महत्त्वपूर्ण जो चीज मिली है, वह है अपोलोडोटस और पाथियन राजाओं के सिक्के। अपोलोडोटस वारुणी वंश का यूनानी नरेश था। उसका तथा पाथियन राजाओं का काल ईसा पूर्व दूसरी तीसरी शताब्दी है। इन सिक्कों से ज्ञात होता है कि आज से २२००—२३०० वर्ष पहले शौरीपुर बहुत समृद्ध और प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था तथा उपयुक्त सिक्के व्यापारिक उद्देश्य से ही यहाँ लाये गये होंगे।

एक किम्बदन्ती के अनुसार प्राचीन काल में किसी रानी ने यहाँ के सम्पूर्ण जैन मन्दिरों का विध्वंस करा दिया था। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में यहाँ अनेक मन्दिर रहे होंगे और यह जैनो का प्रमुख केन्द्र रहा होगा।

यह तीर्थ मूलतः दिगम्बर जैनो का है। सभी प्राचीन मन्दिर, मूर्तियाँ और चरण दिगम्बर जैनाम्नाय के हैं। प्राचीन काल से आसपास के जैन यही पर मुण्डन, कर्णवेधन आदि संस्कार कराने आते हैं। यादववंशी जैनो में प्रथा है कि किसी आत्मीयजन की मृत्यु होने पर कार्तिक सुदी १४ को यहाँ दीपक चढ़ाते हैं। यह क्षेत्र मूलसधाम्नायी भट्टारको का प्रमुख केन्द्र रहा है। भट्टारक जगतभूषण और विश्वभूषण की परम्परा में भट्टारक जिनेन्द्र भूषण १८वीं शताब्दी में हुए हैं। वे एक सिद्ध पुरुष थे। उनके चमत्कारों की अनेक कहानियाँ यहाँ अवतक प्रचलित हैं।

इसके निकटवर्ती वटेश्वर में इन्ही भट्टारक द्वारा बनवाया हुआ तीन मजिल का एक मन्दिर है। इसकी दो मजिलें जमुना के जल में जमीन के नीचे हैं। इसका निर्माण सवत् १८३८ में हुआ था। यहाँ मन्दिर में भगवान् अजितनाथ की कृष्ण वर्ण की मूलनायक प्रतिमा विराजमान है जो महोवा से लाई गई थी और जिसकी प्रतिष्ठा सवत् १२२४ में वैशाख सुदी ७ को परिमाल राज्य में आल्हा-ऊदल के पिता जल्हन ने कराई थी। प्रतिमा अत्यन्त सात्त्विक है। इस मन्दिर में भगवान् शान्तिनाथ की एक मूर्ति है जो सवत् ११५० वैशाख वदी २ को प्रतिष्ठित हुई, ऐसा मूर्ति-लेख से ज्ञात होता है। अन्य कई प्रतिमाएँ भी ११—१२वीं शताब्दी की लगती हैं।

यहाँ दो जैन धर्मशालायें हैं। यहाँ कार्तिक शुक्ला ५ से १५ तक जैनो का मेला होता है। कार्तिक मास में यहाँ पशुओं का प्रसिद्ध मेला भरता है। मगसिर वदी १ को जैन रथयात्रा सारे बाजार में होकर निकलती है। इसमें हजारी जैन-अजैन सम्मिलित होते हैं।

भगवान् नेमिनाथ की निर्वाण-भूमि गिरनार—भगवान् नेमिनाथ सौराष्ट्र देश में स्थित गिरनार पर्वत से मुक्त हुए थे। साहित्य में गिरनार के अनेक नाम मिलते हैं, जैसे उज्जन्त, ऊर्जयन्त, गिरनार, गिरनारु, गिरनेर,

रैवतक, रेवत । हिन्दू पुराणों में रैवतक पर्वत नाम मिलता है । आचार्य जिनसेनकृत 'हरिवंश पुराण' में भगवान के अन्तिम समय का वर्णन करते हुए लिखा है—

'जब निर्वाण का समय समीप आ गया तो अनेक देव और मनुष्यों से सेविन भगवान गिरनार पर्वत पर पुन लौट आये । समवसरण की जैसी रचना पहले हुई थी, वैसी ही रचना पुन हो गई । समवसरण के बीच विराजमान होकर जिनेन्द्र भगवान ने स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का साधनभूत, रत्नत्रय से पवित्र और साधु सम्मत उपदेश दिया । जिस प्रकार सर्व हितकारी जिनेन्द्र भगवान ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद पहली बैठक में विस्तार के साथ धर्म का उपदेश दिया था, उसी प्रकार अन्तिम बैठक में भी उन्होंने विस्तार के साथ धर्म का उपदेश दिया । तदनन्तर योग निरोध करके भगवान नेमिनाथ अध्यातिया कर्मों का अन्त करके कई सौ मुनियों के साथ निर्वाण धाम को प्राप्त हो गये । समुद्रविजय आदि नौ भाई, देवकी के युगलिया छह पुत्र, शबु और प्रद्युम्नकुमार आदि मुनि भी गिरनार पर्वत से मुक्त हुए । इसलिए उस समय से गिरनार आदि निर्वाण स्थान ससार में विख्यात हुए और तीर्थयात्रा के लिये अनेक भव्य जीव आने लगे^१ ।

आचार्य यतिवृषभ ने 'तिलोय पण्णत्ती'^२ में भगवान नेमिनाथ के साथ मुक्त होने वाले मुनियों की संख्या ५३६ बताई है । उत्तर पुराण^३ में भगवान नेमिनाथ के अतिरिक्त मुक्त होने वाले मुनियों में जाम्बवती के पुत्र शबु, कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का नामोल्लेख करते हुए उनकी मुक्ति विभिन्न कूटों से बतलाई है । वर्तमान में भी दूसरे पर्वत से अनिरुद्धकुमार, तीसरे से शबुकुमार, चौथे से प्रद्युम्नकुमार और पाचवें से नेमिनाथ की मुक्ति मानी जाती है । इन ठोंको पर इन मुनिराजों और भगवान के चरण-चिन्ह बने हुए हैं । प्राकृत 'निर्वाण काण्ड'^४ में ऊर्जयन्त पर्वत से मुक्त होने वाले मुनियों के नाम और संख्या का उल्लेख करते हुए बताया है कि ऊर्जयन्त पर्वत से भगवान नेमिनाथ, प्रद्युम्न, शबुकुमार और अनिरुद्ध के अतिरिक्त ७२ करोड़ ७०० मुनि मुक्त हुए । गजकुमार भी यही से मुक्त हुए थे । इतने मुनियों का निर्वाण-धाम होने के कारण ही गिरनार की ख्याति और मान्यता सम्मोद शिखर के समान ही है ।

संस्कृत 'निर्वाण भक्ति'^५ में भी नेमिनाथ की मुक्ति-स्थलो के रूप में ऊर्जयन्त का उल्लेख किया गया है, किन्तु उदयकीर्तिकृत अपभ्रंश निर्वाण भक्ति^६ में प्राकृत निर्वाण भक्ति के समान ही वर्णन मिलता है ।

अपभ्रंश भाषा के 'णायकुमार चरिउ' में नागकुमार की ऊर्जयन्त-यात्रा का वर्णन करते हुए ऊर्जयन्त गिरि का विस्तृत वर्णन किया गया है । उसमें लिखा है कि पहले नागकुमार ने उस स्थान की वन्दना की जहाँ नेमिनाथ ने दीक्षा ली थी (यह स्थान सहस्राम्र वन है) । उपरान्त उन्होंने 'ज्ञानशिला' की वन्दना की (यह वही स्थान था, जहाँ भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था) । इसके बाद उन्होंने अनिरुद्धकुमार, शबुकुमार, प्रद्युम्नकुमार आदि मुनियों और नेमिनाथ के निर्वाण स्थानों की पूजा की । अन्त में उन्होंने यक्षीनिलय अर्थात् अम्बिका देवी के मन्दिर को देखा, जहाँ उन्होंने दीन-अनाथों को दान दिया । फिर वे वापिस गिरिनयर (जूनागढ) आ गये ।

इससे ज्ञात होता है कि नेमिनाथ भगवान के दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण स्थान अलग-अलग थे, जैसा कि वर्तमान में भी है । राजीमती ने विरक्त होकर गिरनार पर ही तप किया था ।

१ हरिवंश पुराण सर्ग ६५ श्लोक ४ से १७

२ तिलोयपण्णत्ती ४ । १२०६

३ उत्तर पुराण सर्ग ७२ श्लोक १८६—१९१

४ शोमिसामी पज्जण्णो सवुकुमारो तहेव अणिरुद्धो ।

वाहत्तार कोडीओ उज्जते सत्तसया सिद्धा ॥५॥

५ निर्वाणभक्ति श्लोक २३

६ उज्जत महागिरि सिद्धिपत्तु । सिरिशोमिणाहु जादव पवित्तु ॥

अण्णु वि पुण्णु सामि पज्जुण्णु णवेवि । अणुरुद्ध सहियर णमवि तेवि ॥३॥

अण्णु वि पुण्णु सत्त सयाइ तित्तु । वाहत्तार कोडिय सिद्ध जेत्तु ।

